PUSTAK JAGAT JAN-DEC 1961 G.K.U.

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

पुस्तकों के प्रचार-प्रसार के सरकारी आधार की प्रस्तावित रूपरेखा

श्री ओमप्रकाश

यदि हिन्दी में पुस्तकों की बिक्री की दीन-क्षीण स्थिति की बात न भी सोचें तो भी पुस्तकों के प्रचार-प्रसार में सहकारी सिद्धान्तों का प्रयोग उचित और आवश्यक जान पड़ता है—विशेषकर पूर्व के देशों में, जहाँ कि संगठित, अर्वाचीन शिक्षा का प्रारम्भ ही हो रहा है। भारत में सार्वजनिक शिक्षा पर बल पिछले १०-१२ वर्षों से ही दिया जा रहा है; और पुस्तक-व्यवसाय का किसी भी देश में शिक्षा के फैलाव से सीधा सम्बन्ध है।

हिन्दी की स्थिति भारत की कुछ अन्य प्रादेशिक भाषाओं के पुस्तक-व्यवसाय से विलक्षण है। यह सर्वविदित है कि बंगला में पुस्तकों की बिक्री कहीं अधिक है, यह भी कि तमिल और मलयालम में मासिक पत्र-पत्रिकाओं की खपत हिन्दी की पत्र-पत्रिकाओं की खपत की तुलना में कई गुना ज्यादा है। इसके कारणों की खोज करने का यहाँ उद्देश्य नहीं है। यह स्पष्ट है कि हिन्दी में मुद्रित और प्रकाशित साहित्य की, कम-से-कम ऐसे साहित्य की जो आज के युग के विचारों और आज की विभिन्न साहित्यिक विधाओं से सम्बद्ध हो, माँग और खपत अपेक्षाकृत कहीं कम है। इस माँग और खपत को बढ़ाये बिना हिन्दी पुस्तक-व्यवसाय में आवश्यक प्रगति का आना सहज और सम्भव नहीं है।

इस समस्या का एक पक्ष शायद हिन्दी में पुस्तक-विक्रय की सक्रियता की कमी है। १९४७ के बाद से प्रकाशकीय सक्रियता एकाएक बढ़ गई है—हिन्दी में अच्छे स्तर का प्रकाशन अधिक परिमाण में होने लगा है। इस प्रकाशकीय सक्रियता को सहायता मिली है देश में पुस्तकालय-आन्दोलन की अभिवृद्धि से—भारत सरकार तथा राज्यों की सरकारें नगरों, कस्बों और ग्रामों में राज्य, जिला और ग्राम-पुस्तकालयों की स्थापना कर रही हैं और इस सम्बन्ध में विस्तृत योजनाएँ हैं। यदि देश में पुस्तकालयों से नई-नई पुस्तकों की माँग न आती तो स्पष्ट है कि प्रकाशकीय सक्रियता इतनी प्रगति न कर पाती, सीमित रह जाती।

पुस्तक-व्यवसाय का प्रकाशकीय क्षेत्र जितनी पूँजी और जितना ध्यान अपनी ओर आकृष्ट कर सका है, उतना पुस्तक-विक्रय-क्षेत्र नहीं। यदि परिस्थिति यह न होती तो शायद आज हम पुस्तकों के प्रचार-प्रसार और बिक्री के लिए अन्य विस्तृत साधनों की खोज में यहाँ इकट्ठे नहीं होते। यहाँ इस बात के कारणों की विस्तार से छानबीन करना अभीष्ट नहीं है कि पुस्तक-विक्रय का कार्य उस प्रगति से क्यों नहीं बढ़ा जितना कि प्रकाशन का; लेकिन परिस्थिति वास्तव में यह है, यह जान लेना आवश्यक है।

क्षेत्र के लिहाज़ से हिन्दीभाषी प्रदेश बहुत बड़ा है। हिन्दी के प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता पुस्तकों के विशेष और चतुर्मुखी प्रचार-प्रसार के लिए न तो अपेक्षित खर्चे ही बाँध सकते हैं—क्योंकि बिक्री कम होने की वजह से प्रचार-प्रसार के मद के लिए उतना पैसा कहाँ से जुटाया जाय—और न प्रचार-प्रसार के उचित साधनों के अभाव में बिक्री ही बढ़ती है। इस कुचक्र को तोड़ना आज पुस्तक-व्यवसायियों के व्यक्तिगत प्रयास के बूते से बाहर की बात हो गयी है।

पुस्तक-विक्रय के सीमित विस्तार का एक प्रमुख कारण स्पष्ट है—वह है पुस्तकों की खरीद की माँग का अभाव। यदि यह माँग होती तो पुस्तक-विक्रय निश्चय ही बढ़ता। इस माँग को उत्तेजित करने के उपाय हमें खोजने हैं—जब ऐसी माँग देश के ही अन्य भाषियों के क्षेत्र में मौजूद है, शिक्षा के प्रसार के साथ अन्य देशों में फैली है, तो निश्चय ही हिन्दी के क्षेत्र में भी वह अंकुरित और प्रसारित हो सकती है।

और फिर, प्रश्न किन्हीं विशिष्ट पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने का नहीं है; प्रश्न समूचे हिन्दी-प्रदेश में पुस्तकों के

प्रति दिलचस्पी जगाने और फिर उस दिलचस्पी को बनाए रखने का है। पुस्तक पढ़ने, खरीदने और खास-खास सामाजिक अवसरों पर परस्पर भेंट करने की आदत और रिवाज़ डालने की आवश्यकता है। ज़ाहिर है कि यह अभीष्ट पुस्तक-व्यवसाय के सामूहिक प्रयासों से ही सिद्ध हो सकता है।

इस दिशा में एक सुनियोजित, सामूहिक प्रयास की आवश्यकता के विषय में दो राय नहीं हो सकती।

आज की सभ्यता के लिए मुद्रित अक्षर ही वेद हैं। जिस समाज में पुस्तकों के पठन-पाठन की परम्परा या रुचि नहीं है, उसे असभ्य या अर्धसभ्य ही कहा जायगा। पुस्तकों में भरे विचारों से हमारे विचारों और व्यवहारों को जो चुनौती मिलती है, वही मानव की प्रगति की प्रेरक रही है। भारत जैसे देश में, जो जनतंत्री समाज की स्थापना में सचेष्ट है, पुस्तकों का अधिकाधिक प्रचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और भारत सरकार का हमारे इस दिशा में किये गये प्रयत्नों को समर्थन और सहयोग मिलना न केवल वांछनीय है, वरन् कर्तव्य भी है।

यूनेस्को के तत्वावधान में गतवर्ष, लगभग इन्हीं दिनों, मद्रास में पुस्तकों के प्रचार और वितरण की समस्याओं पर विचार करने लिए एक प्रादेशिक सेमिनार हुआ था। यह सेमिनार इस निष्कर्ष पर पहुँचा था कि पूर्व के देशों में पुस्तकों का अधिकाधिक प्रचार-प्रसार पुस्तक-व्यवसाय के अपने सहकारी आधारों पर ही सम्भव है। इस सेमिनार ने यह सुझाव भी दिया था कि पुस्तकों के प्रचार के लिए इस देश में केन्द्रीय सहकारी प्रचार संस्थाओं का अविलम्ब स्थापित किया जाना श्रेयस्कर है।

आवश्यकता है कि हिन्दी के पुस्तक-व्यवसायी मिल कर एक ऐसी संस्था का सूत्रपात करें। लेकिन 'पुस्तक-व्यवसायी' के स्थान पर मुझे 'पुस्तक-प्रेमी' कहना चाहिए था। हम जिस आन्दोलन को चलाने जा रहे हैं, वह एक महान सांस्कृतिक आन्दोलन है। उसमें देश और समाज का, लेखकों और शिक्षाविदों का भी उतना ही हित निहित है जितना कि व्यवसाय का। पुस्तकों के प्रचार में किये गये प्रयत्नों को देश की संस्कृति के सभी अभिभावकों का समर्थन मिलना चाहिए।

इस सहकारी संस्था का उद्देश्य अपने लिए लाभ कमाना नहीं होगा, यद्यपि इसकी सक्रियताओं का लाभ परोक्ष रूप से समूचे व्यवसाय और देश को पहुँचेगा।

इस संस्था के प्रबन्ध और व्यवस्था आदि का खर्च अवश्य इसके अपने कामकाज से निकल आना चाहिए। पूँजी का अधिकांश देश के हिन्दी-प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं को स्वयं जुटाना होगा। हमसब एकमत हैं कि पुस्तकों की खपत हिन्दी-क्षेत्र में कम है, इसमें भी कि इसे कहीं अधिक बढ़ाने की जरूरत है, इसमें भी कि ऐसा सामूहिक प्रयत्नों से ही सम्भव है। तो क्यों न उत्तर से दक्षिण और पूर्व से पश्चिम तक देश भर में फैले हिन्दी के प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता पचास-पचास रुपये का एक-एक शेयर लेकर पचास हजार रुपये की पूँजी इस सहकारी संस्था के लिए जुटा लें? प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता ही नहीं; लेखक, शिक्षाविद् और पुस्तकालयाध्यक्षों से भी इसमें सहयोग देने के लिए अनुरोध करना उचित है। पुस्तकों की अधिक खपत का उद्देश्य आज मात्र व्यावसायिक उद्देश्य नहीं है।

पूँजी की यह रकम इतनी बड़ी नहीं है कि इसके लिए एक हज़ार विभिन्न व्यवसायियों अथवा व्यक्तियों से कहा जाय—लेकिन यह बहुत आवश्यक है कि पुस्तकों के सम्पर्क में आने वालों की अधिक-से-अधिक संख्या ऐसे सहकारी आयोजन में हाथ बँटाये। सहयोग का आधार जितना अधिक विस्तृत होगा, प्रयास की सार्थकता और सफलता की निश्चितता उतनी ही अधिक होगी। किसी भी व्यक्ति को ५ हिस्सों से अधिक हिस्से लेने की इजाज़त नहीं होगी, और ५ हिस्से होते हुए भी मत केवल एक ही का होगा ताकि कोई व्यक्ति-विशेष इस संस्था पर छा न सके।

हिस्सेदारों में से यह सहकार दस व्यक्तियों का एक बोर्ड आफ डायरेक्टर्स चुन ले। इस बोर्ड आफ डायरेक्टर्स में कम-से-कम आधे व्यक्ति लेखकों, शिक्षाविदों और सांस्कृतिक कार्यकर्ताओं के हिस्सेदारों में से चुने जाएँ और शेष पुस्तक-व्यवसायियों में से। हो सकता है कि सौ हिस्सों में से इनके पास केवल बीस हिस्से ही हों, फिर भी बोर्ड में इनका प्रतिनिधित्व शेष ८० हिस्सों के प्रतिनिधित्व के

बराबर रहना उचित है। बोर्ड के इन दोनों पत्तों में से दो-दो सदस्यों के स्थान पर नया निर्वाचन प्रतिवर्ष हो जाया करे। समूचे बोर्ड को प्रतिवर्ष बदल देने से प्रचलित नीतियों और सक्रियताओं की दिशा में एकाएक परिवर्तन होने का भय है जोकि हितकर नहीं होगा।

सरकार अपने को निर्दिष्ट कार्य-कलापों तक सीमित रखे। इनमें से मुख्य ये पाँच हों :

—समय-समय पर प्राप्य पुस्तकों की विषयानुसार सूचियाँ तैयार करना और उन्हें अधिक-से-अधिक संख्या में वितरित करना।

—हिन्दीभाषी जनता में पुस्तकों के प्रति अधिक लगाव उपजाने के लिए बड़े पैमाने पर विज्ञापन आदि का सहारा लेना।

—देश में विभिन्न स्थानों और अवसरों पर पुस्तक-प्रदर्शनियों का आयोजन करना।

—हिन्दीभाषी लोगों में पुस्तकें भेंट करने की आदत डालने के लिए बुक टोकन्स—पुस्तक-हुण्डियों—की विक्री की व्यवस्था करना।

—प्रतिवर्ष अखिल भारतीय स्तर पर राष्ट्रीय पुस्तक-उत्सव मनाना।

ये पाँच कार्य मुख्य हैं और इन्हें कुछ वर्ष निरन्तर सम्पन्न करते रहने से हिन्दी-पाठकों की संख्या में वृद्धि होना सम्भव है। इसके अतिरिक्त अन्य भी अनेक ऐसे कार्य हैं जिन्हें कि पुस्तकों के प्रचार-प्रसार के लिए हाथ में लेना लाभप्रद सिद्ध हो सकता है, जैसे कि लोकप्रिय लेखकों को पाठकों के करीब लाने के उद्देश्य से उनके सार्वजनिक मान के आयोजन करना, सुमुद्रित पुस्तकों को प्रतिवर्ष पुरस्कार देना आदि। सहकार अपने सामर्थ्य के अनुसार इन्हें और अन्य कार्यों को भी सम्पन्न कर सकता है।

अब हम इस सहकार की इन मुख्य सक्रियताओं पर कुछ अधिक विस्तार से ध्यान दें। पहला कार्य प्राप्य पुस्तकों की विषयानुसार सूचियाँ प्रकाशित करना है। देश के पुस्तकालयाध्यक्षों और पुस्तकों की थोक खरीद करने वाले सरकारी विभागों की अक्सर शिकायत रहती है कि उन्हें आवश्यक सम्पूर्ण सूचियाँ प्राप्त नहीं होतीं। यह शिकायत सही है। कुछ बड़े-बड़े प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता कभी-कभी बड़ी सूचियाँ प्रकाशित करते हैं लेकिन इनमें उन्हीं पुस्तकों का समावेश रहता है जो उनके यहाँ से प्राप्य हो सकें, जोकि स्वाभाविक भी है। प्रस्तावित सहकार हिन्दी में प्राप्य प्रायः सभी पुस्तकों की विषयानुसार वर्ष में कम-से-कम दो बार सूचियाँ प्रकाशित करने की व्यवस्था करें।

यह ठीक है कि पश्चिम के प्रगतिशील देशों में ऐसी सूचियाँ निःशुल्क नहीं बाँटी जातीं, लेकिन वहाँ के प्रकाशक अपने नये-पुराने प्रकाशनों की सूचना सम्भव खरीददारों तक ढंग से पहुँचाते रहते हैं। हमारे देश के प्रकाशक ऐसी व्यवस्था नहीं कर पाये हैं। अतएव इन सूचियों का वितरण बड़े पैमाने पर हुआ करे—विषयानुसार, समय-समय पर अलग-अलग भी और सम्पूर्ण जिल्दों में भी—देश का कोई भी पुस्तकालय ऐसा न रहे जहाँ ये सूचियाँ निःशुल्क न पहुँचा करें। हाँ, वितरण के लिए सूचियों का मुद्रण सस्ते कागज़ पर हो और जिल्द भी कच्ची रहे।

प्रारम्भ में इन सूचियों के २०-२५ हजार के संस्करण

तो छपने ही चाहिए। कागज़, छपाई, बँधाई और सामग्री एकत्रित करने में काफ़ी व्यय बैठेगा। इसकी पूर्ति के लिए आवश्यक है कि जिन पुस्तकों को इस सूची में सम्मिलित किया जाय, उनके प्रकाशकों से २५ या ५० नये पैसे का प्रति पुस्तक शुल्क, प्रत्येक संस्करण के लिये लिया जाय। सूची में विज्ञापन भी छापे जाएँ ताकि इतनी बड़ी सूचियाँ छापने और उन्हें इतनी बड़ी संख्या में वितरित करने का खर्च सहकार पर न पड़े।

इसके अतिरिक्त इन सम्पूर्ण सूचियों के अच्छे कागज़ पर छपे हुए और पक्की जिल्द में बँधे हुए पुस्तकालय-संस्करण भी तैयार किये जाएँ, जिन्हें अच्छे मूल्य पर बेचने की व्यवस्था की जा सकती है।

दूसरा कार्य जनता में पुस्तकों के प्रति रुचि जागृत करने के उद्देश्य से विज्ञापन का साधन अपनाने का है। यह दुर्भाग्य की बात है कि पुस्तकों का हिन्दीभाषियों के सामाजिक जीवन में अधिक स्थान नहीं है। विज्ञापन का उद्देश्य हिन्दीभाषियों को इस अभाव को जतलाने का है, इस हद तक कि उन्हें यह अभाव खटकने लगे और वे समय पाकर इस अभाव की पूर्ति को अपना कर्तव्य समझने लगें। विज्ञापन का एक उद्देश्य तो लोगों को यह प्रेरणा देने का होगा कि मेले-उत्सवों के अवसर पर, व्याह-शादी, जन्मदिवस और पूजा-त्योहार पर अन्य भेंट की वस्तुओं के साथ-साथ पुस्तकें भी भेंट दी जा सकती हैं। आज हिन्दीभाषियों के संसार में पुस्तक ही ऐसी नगण्य वस्तु है जिसकी भेंट की कोई कद्र ही नहीं; शायद इसके विपरीत अवमानना ही होगी; वह भी भेंट लेने वाले के ही नहीं, भेंट देने वाले के मन में भी। इस स्थिति को बदलना होगा, और ऐसा शायद कुछ अरसे के लिए किये गए लगातार विज्ञापन से सम्भव हो सके।

किस प्रकार के विज्ञापनों का प्रयोग मेरे मन में है, उसकी ओर संक्षेप में संकेत कर दूँ। विवाह के दिनों में विविध भूषणों और प्रसाधनों से अलंकृत नवयुवती को दिखलाया जा सकता है, संभावी विवाह का संकेत परोक्ष में बैठे एक शहनाई बजाने वाले और ऊपर की ओर पत्तों की वंदनवार को दिखलाकर, और इसके साथ ऐसी शब्दावली का प्रयोग—"आज के दिन—भेंट में इन्हें पुस्तकें दीजिए"। या किसी बालक या किशोर की बर्थ-डे पार्टी का दृश्य दिखला कर—"जन्म-दिवस पर पुस्तकें ही सर्वोपरि उपहार हैं।"

इन विज्ञापनों के अतिरिक्त पुस्तकों के महत्व को कहने वाले पोस्टर आदि भी यही सहकार छपवाए और देश भर के पुस्तक-विक्रेताओं में अपनी दूकानों में लगाने और सजाने के लिए बाँटे। इनका थोड़ा-बहुत मूल्य भी रखा जा सकता है, जिसे देने में किसी को संकोच न होगा और सहकार को सारा खर्च भी नहीं उठाना पड़ेगा।

लेकिन विज्ञापन की मद में तो अत्यधिक पैसा लगता है। प्रचार-प्रसार की सहकार संस्था को इस विज्ञापन से कोई निजी लाभ नहीं पहुँचने वाला है—लाभ तो देश को और फिर समूचे पुस्तक-संसार को होगा जिसमें पाठक, लेखक, प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता सभी शामिल हैं। लेकिन विज्ञापन के लिए प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं से ही रुपया इकट्ठा किया जा सकेगा। क्यों न अपनी नेट बिक्री का आठ आना प्रतिशत हमसब स्वेच्छा से प्रतिवर्ष इसके लिए दिया करें? अनेक अन्य व्यवसायों में तरह-तरह की कटौतियाँ करके धर्मार्थ के लिए लाखों रुपये जमा कर लिये जाते हैं। पुस्तकों की बिक्री पर जब अनेक राज्यों में तीन प्रतिशत तक टैक्स था, तब अधिकांश पुस्तक-व्यवसायी उसे अपने पल्ले से भर दिया करते थे। यहाँ स्वेच्छा से, अपनी कुल बिक्री का एक बहुत छोटा अंश, महज आठ आने सैकड़ा, हम यदि देने को राज़ी हो जाएँ तो हिन्दीभाषी जनता में पुस्तकों के लिए अधिक सम्मान की भावना पैदा हो सके।

जैसा कि कहा जा चुका है, पुस्तकों में दिलचस्पी की वृद्धि केवल व्यावसायिक उद्देश्य नहीं है। यह उद्देश्य हमारे देश की कल्याणकारी शासन में विश्वास करने वाली सरकार का भी है। यह सम्भव है कि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए न केवल भारत सरकार से वरन् यूनेस्को और विश्व की कुछ अन्य, फोर्ड फाउन्डेशन और राकफेलर जैसी संस्थाओं से भी आर्थिक सहायता प्राप्त हो सके। लेकिन, यह तभी सम्भव होगा जबकि हम सब स्वयं भी इस ओर सक्रिय होकर दिखाएँ।

समय-समय पर देश के विभिन्न भागों में पुस्तक-

प्रदर्शनियाँ आयोजित करना इस सहकार का तीसरा प्रमुख कार्य होगा। इन प्रदर्शनियों का लक्ष्य अलग-अलग रखा जा सकता है, जैसे तकनीकी और विज्ञान-साहित्य की पुस्तकों की प्रदर्शनी; ललित साहित्य की, समाज-शास्त्र के विभिन्न अंगों की पुस्तकों की प्रदर्शनी; मुद्रण और रूप-सज्जा अथवा विषय-वस्तु की दृष्टि से वर्ष की सर्वोत्कृष्ट पुस्तकों की प्रदर्शनी, आदि-आदि। ये प्रदर्शनियाँ देश भर में घुमाई जा सकती हैं जैसा कि ब्रिटिश कौंसिल इंग्लैंड में प्रकाशित पुस्तकों के लिए करती है।

पुस्तकों को भेंट में देने के रिवाज को बढ़ाने के लिए आवश्यक है कि पुस्तक-हुण्डियों की बिक्री की व्यवस्था देश में हो। ये हुण्डियाँ मुख्यतया पाँच और दस रुपयों की हों और बहुत आकर्षक ढंग से छपी हों। इन्हें पाने वाला देश की किसी भी दूकान पर जाकर उस मूल्य की पुस्तकें ले सके। बाद में पुस्तक-विक्रेता सहकार के कार्यालय से इनके बदले में रुपया पा सकें।

पुस्तक-हुण्डियों की बिक्री पर देश भर में ज़ोर देना लेखकों और पुस्तक-व्यवसाय का साझा कर्तव्य माना जाय। शिक्षा-अधिकारी इसे अपना समर्थन दें। जिस तरह कभी खादी की बिक्री के लिए हुण्डियाँ बिका करती थीं, उस तरह पुस्तकों की बिक्री के लिए भी आज बिकें। इनकी बिक्री को एक मिशन माना जाय और इनकी बिक्री के लिए किसी प्रकार का आर्थिक प्रलोभन न दिया जाय। देश की राजनीतिक और सामाजिक सार्वजनिक संस्थाओं से इनकी बिक्री के लिए सहयोग माँगा जाय।

पुस्तक-विक्रेता से जब ये हुण्डियाँ भुनाने के लिए सहकार के कार्यालय में पहुँचें तो उनपर १० प्रतिशत कमीशन काट कर शेष रकम उन्हें दी जाय। १० प्रतिशत कटौती की यह रकम सहकार को हुण्डियों की बिक्री आदि से सम्बन्धित विज्ञापन आदि पर व्यय करना है।

राष्ट्रीय पुस्तक-उत्सव जैसे समारोहों का आयोजन, जैसा कि १ नवम्बर से १४ नवम्बर तक अभी दिल्ली और अन्य स्थानों पर सम्पन्न हुआ है, पुस्तकों की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट करने में विशेष रूप से सफल हो सकता है। इन दिनों में पुस्तकों एवं लेखकों से सम्बद्ध अनेक प्रकार के कार्यक्रम आदि रखे जा सकते हैं—लेखकों और प्रकाशकों के एक साथ सम्मेलन हो सकते हैं—वर्ष की श्रेष्ठ पुस्तकों के प्रकाशकों, मुद्रकों आदि को पारितोषक बाँटे जा सकते हैं। किसी प्रकार की विशेष प्रदर्शनियाँ आयोजित की जा सकती हैं, और एक पखवारे को देश भर में विशेष रूप से पुस्तकों का मेला लगाया जा सकता है।

पुस्तकों के प्रचार-प्रसार के सामूहिक प्रयत्नों के लिए एक सहकारी आधार की जो रूपरेखा मैंने प्रस्तुत की है, आशा है विचार-विनिमय द्वारा संशोधन के उपरान्त हिन्दी-पुस्तक-व्यवसाय द्वारा उसे अपनाने के कदम उठाए जाएँगे।

विज्ञापन : एक नैतिक प्रश्न

'हिडेन परस्यूएडर्स'

श्री पुरन्दर

किसी मनिहारी की दूकान पर जाकर जब हम दूकानदार को कहते हैं कि एक टिकिया फलाना साबुन दीजिए अथवा फलाना टूथपेस्ट दीजिए; तो क्या वैसे मौके पर हम अपनी माँग वाले उस साबुन या टूथपेस्ट के गुण और अवगुण के विषय में संदेहहीन रहा करते हैं? क्या हम कह सकते हैं कि पाँच किस्म के साबुन या टूथपेस्ट का व्यवहार कर ही हमने कोई अपने लायक खास मुफीद ब्रांड का निर्वाचन किया है और यह जान लिया है कि यही और ब्रांडों में सबसे अच्छा है। अधिकांश क्षेत्रों में ही हमें इस प्रश्न का नकारात्मक उत्तर ही देना पड़ेगा।

सुबह-सुबह जब हम अखबार खोलकर बैठते हैं तो हमारी नजर में रंग-बिरंगे अनेकों चटकदार विज्ञापन पड़ते हैं। रास्ते पर रकम-रकम के पोस्टर, होर्डिं, नीयन-साइन; सिनेमा में स्लाइड, फिल्म-फीचर इत्यादि अनेकों पण्यवस्तुओं के गुणकीर्त्तन करते मिलते हैं। अधिकांश क्षेत्रों में ही देखा जाता है कि गुणागुण के संबंध में निःसंदिग्ध होकर नहीं; बल्कि इस प्रकार के अहोरात्र कर्णजापों के द्वारा ही प्रभावित होकर हम किसी विशेष ब्रांड के साबुन, तेल, सिगरेट, टूथपेस्ट या दूसरी-दूसरी चीजें खरीदने के अभ्यस्त होते हैं। इतने पर भी, हमारे देश में भोग्यवस्तुओं का उतना प्राचुर्य नहीं है, प्रतियोगिता भी अपेक्षाकृत कम है, और उत्पादक भी उतने विज्ञापन-सचेतन नहीं हैं।

हमारे अनुन्नत देश में ही जब ऐसी अवस्था है, तो अमेरिका जैसे शिल्पोन्नत देश में—जहाँ पर उपभोग्य वस्तुओं का उत्पादन ही उद्योगपतियों का जपमंत्र है—क्या अवस्था होगी, इसका हम आसानी से अनुमान कर सकते हैं। खरीददारों के मन की थाह पाने की प्रतियोगिता वहाँ इतनी प्रबल है कि एक प्रसाधन-सामग्री प्रस्तुत करने वाले का वहाँ के विषय में मन्तव्य है कि "हम लिपस्टिक नहीं बेचते हैं, बल्कि खरीददारों को ही खरीदा करते हैं।"

किन्तु खरीददार को खरीदना कोई सहज कार्य नहीं है। सिर्फ विज्ञापन में अधिक धन लगा देने से ही कुछ नहीं होता है, बल्कि जानना होता है कि खरीददार के मन की किस खास नस पर आघात करने से वह वश में लाया जा सकता है।

विभिन्न विज्ञापन-प्रतिष्ठानों की ओर से इस बात को लेकर बहुत दिनों से ही अनेक प्रकार के परीक्षण-निरीक्षण होते आ रहे हैं। लोग क्या चाहते हैं, इसके लिए ये जनरुचि को नापा करते हैं और इस नाप के फलाफल की भित्ति पर खरीददार को फँसाने का फंदा डाला करते हैं।

किन्तु, दीर्घकाल की अभिज्ञता के बीच विज्ञापन-दाताओं ने देखा है कि यह 'नाक गिनने की पद्धति' (नोज़ काउंटिंग) यथेष्ट निर्भरयोग्य नहीं है। खरीददार खुद अपने मन को नहीं जानता है और जानने पर भी, जिस किसी कारण से क्यों न हो, हर समय अनुसंधानियों के समक्ष सच बात नहीं कहा करता है। इसलिए जन-रुचि के इन आँकड़ों के आधार पर आए हुए फलाफल पर निर्भर करने जाकर अनेक बार पछताना भी पड़ता है।

इतने दिनों से उत्पादकगण अपने विज्ञापनों में सिर्फ अपनी चीजों का गुणगान ही करते रहे हैं। किन्तु आज प्रतियोगिता के बाजार में एक कम्पनी के सौदे के साथ अन्य कम्पनी के सौदे के गुणागुण का तारतम्य क्रमशः विलुप्त होता जा रहा है। अब गुणागुण की चर्चा के छीटें देकर पाठक के मन को भिंजाने जाकर यह देखा जायगा कि सभी ओर के छीटें प्रायः घुलमिल कर एक ही हो गए हैं।

मनोविज्ञानियों ने एक परीक्षण में ३०० धूम्र-पियक्कड़ों को विना मार्का-चिह्न वाले सिगरेट देकर देखा है कि प्रतिशत में केवल दो व्यक्ति ही अपने प्रिय ब्रांड को

पहचान सके थे। जबकि जोड़-तखड़ कर यह भी देखा गया है कि सिगरेटखोरों में सैंकड़े ६५ व्यक्ति अपने प्रिय ब्रांड के प्रति अन्धे होकर अनुगत रहते हैं।

ऐसा कैसे होता है? क्रेता कोई विशेष वस्तु ही क्यों खरीदते हैं? उनके पसन्द-नापसन्द की नियामक शक्ति क्या है? इन सब प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए विज्ञापनदाताओं ने मनोवैज्ञानिकों के दरवाजे पर दस्तक दिए। क्रेताओं की रुचि-अभिरुचि के रहस्य के उद्घाटन के लिए मनोवैज्ञानिकों की सहायता ली गई। फलस्वरूप विज्ञापनों के संसार में एक कायदे के मुताबिक विप्लव संघटित हुआ। इस प्रणाली से जिस नूतन पद्धति का उद्घाटन हुआ, उसका नाम है "डेप्थ एप्रोच" या मन की तह में जाकर आवेदन जानने की पद्धति।

मनोविज्ञानियों के मतानुसार मन के तीन स्तर होते हैं। प्रथम स्तर है सज्ञान मन। सज्ञान मन युक्तियों का राज्य है। वहाँ क्या होता है या नहीं होता है, इस विषय में मनुष्य सचेतन रहता है एवं उसको कह-बता सकता है। दूसरा स्तर होता है प्राक्चेतन या अवचेतन मन। यहाँ क्या होता है या नहीं होता है, इस विषय में व्यक्ति को यदि एक झुटपुटी चेतना हो भी तो वह उसे दूसरे के निकट नहीं कहेगा। इस स्तर में मनुष्य के नानाविध संस्कार, भय एवं मानसिक आवेग रहते हैं। तीसरा स्तर क्या है, इसे हम नहीं जानते; और यदि जान भी लें तो उसे कहना असंभव है। मनुष्य के मन का यही दूसरा और तीसरा क्षेत्र विज्ञापन की इस नवीन पद्धति का लीलाक्षेत्र हुआ।

विज्ञापन-सेवा में नियुक्त मनोवैज्ञानिक, क्रेता के मन के इन्हीं दोनों क्षेत्रों का विश्लेषण करके, दुर्बल स्थान को खोजा करते हैं। इसी को कहा जाता है—मोटिवेशनल रिसर्च, संक्षेप में एम्० आर्०।

तदनन्तर इस दुर्बल स्थान पर विजय पाने के लिए मनोवैज्ञानिक के निर्देशन में विज्ञापन की कापी एवं 'ले-आउट' निर्मित होता है। इस प्रकार के विज्ञापन का आवेदन क्रेता के सज्ञान मन के निकट नहीं होता। युक्ति-बुद्धि के समीप नहीं; बल्कि होता है अवचेतन या अचेतन मन की युक्तिहीनता के ही निकट। इसका उद्देश्य है

मनुष्य के अवचेतन मन को इस प्रकार नियंत्रित करना, वहाँ ऐसे कई-एक संस्कार या प्रतीक मुद्रित कर देना कि सांकेतिक शब्द (ट्रिगर वर्ड) के व्यवहार करने मात्र से ही वांछित प्रतिक्रिया दिखाई देने लगे। साधारणः सादी नजरों से नवीन विज्ञापनों का यह आवेदन पकड़ाई नहीं देगा। अमेरिकन समाज-विज्ञानी ह्वान्स पैकर्ड ने इसीलिए इसका नाम दिया है: 'हिडेन परस्यूएडर्स' या छद्म-प्रचारक। इसी नाम के तथ्यबहुल और सुलिखित ग्रंथ में पैकर्ड ने 'डेप्थ एप्रोच' और मोटिवेशनल रिसर्च पर विचार एवं विश्लेषण कर इस पद्धति का सामाजिक तात्पर्य, विशेषकर इस मानविकताविरोधी दिशा को पाठकों के समक्ष ला रखा है।

पैकर्ड ने दिखाया है कि गत दो दशकों में इस पद्धति ने प्रसार-लाभ किया है और मनुष्य के मन एवं आचरण को अनेक प्रकारों से प्रभावित तथा नियंत्रित किया है; और यह सब किया है मनुष्य के अगोचर में ही। इस

प्रणाली ने मनुष्य को पावलोव के कुत्ते की आँखों से देखा है। मनुष्य के अवचेतन मन की नाना विकृत इच्छाओं में नाना प्रकार से इंधन दिया जाता है। उसके अहमहमिकाबोध को जगा दिया जाता है। आजकल के मोटर-विक्रेता अपनी मोटर नहीं बेचा करते हैं; बल्कि अपनी मर्यादा और प्रेस्टिज की ही बिक्री करते हैं। सिगरेट के साथ बेच दिया जाता है सारा व्यक्ति-प्रतीक। केवल वस्तुओं की बिक्री के ही लिए इस पद्धति का प्रयोग होता हो इतना ही नहीं, बल्कि बड़े-बड़े उद्योग-प्रतिष्ठान अपने कर्मचारियों पर नियंत्रण पाने के लिए भी उनके आचरणों को इसी प्रणाली से अनुकूल करते हैं। आज-कल तो राजनीति में भी इसी पद्धति का प्रयोग होने लगा है।

गत निर्वाचन में रिपब्लिकन और डेमोक्रेट इन दोनों दलों ने ही प्रचार-कार्य के लिए पार्टी-यंत्र से अधिक पेशेवर विज्ञापन-प्रतिष्ठानों के ऊपर ही अपने आपको अधिक आधारित किया था। चुनाव-प्रचार ने पण्यविक्रय-अभियान का चेहरा ले लिया। इस क्षेत्र में पण्य एक विशेष प्रार्थी या नीति सिद्ध हुआ। गत निर्वाचन के पहले प्रार्थियों के मनोनयन के निमित्त रिपब्लिकन पार्टी का जो सम्मेलन हुआ था उसके परिचालन का भार एक विज्ञापन-प्रतिष्ठान के ही ऊपर था। सारा अनुष्ठान टेलिविजन द्वारा प्रचारित हुआ। नाटकीय आवेदन-वृद्धि के लिए—पार्टी-नेतागणों में से कौन कहाँ पर खड़ा होगा, क्या कहेगा, कितनी देर कोई कहेगा—सभी बातें इस विज्ञापन-प्रतिष्ठान के कर्त्ताओं द्वारा पहले से ही तय की हुई थीं। प्रेसिडेन्ट आइसनहावर को भी उनके आदेश पर पैन-केक मेक-अप पहनना पड़ा था।

डेप्थवादियों के मत से, अधिकांश मन-स्थिर-न-करने वाले वोटर, वोट देने के समय अवचेतन मन से परिचालित होते हैं, युक्ति के द्वारा नहीं। प्रेसिडेन्ट उनके निकट पितृ-प्रतीक होता है। इसीलिए प्रेसिडेन्टपद-प्रार्थी को पितृ-प्रतीक के ही नाते परिवेशन करना होगा। इस प्रकार, चुनाव-प्रचार का भी लक्ष्य हो उठता है अवचेतन मन का युक्तिहीनता वाला स्तर। पैकर्ड के मत से इस युक्तिहीनता के स्तर का उभर उठना गणतंत्र के लिए मुसीबत की जड़ सिद्ध हो सकता है। स्वाधीन बातचीत, युक्ति-तर्क, विचार-विश्लेषण ही गणतंत्र की प्राणशक्ति है। किन्तु डेप्थवादी लोग मनुष्य को अंध-प्रवृत्ति से चालित कठ-पुतली बना देना चाहते हैं—ताकि प्रतीकों की मीनाकारी पर रिझाकर उस पुतली से अपनी इच्छा के अनुसार नाच करा सकें। आरवेली के पृथ्वी संबंधी दुःस्वप्न को वे इस तरह वास्तव रूप दे रहे हैं।

पैकर्ड ने डेप्थ एप्रोच के विरुद्ध कुछ नैतिक आपत्तियाँ भी उठाई हैं। उनके विचार से मोटिवेशनल रिसर्च मनुष्य के गोपन मन की आबरू को बर्बाद कर देता है। डेप्थवादी तो शिशुओं के मन पर भी अपने प्रयोगों की ऐसी कारसाजी करने तक से नहीं चूकते। मनुष्य के मन की अवदमित यौनाकांक्षा को खोंचा देते हुए जगाकर वे खरीददार पकड़ते हैं। विस्तृत व्यवहार्य चीज जब संकुचित हो उठती है तो इस प्रकार के मनोभाव की सृष्टि करके वे जातीय संपद् का अपचय ही कर देते हैं।

पैकर्ड के मतामत और युक्ति के साथ जो लोग पूरे-पूरे सहमत नहीं भी होंगे, वे भी उनकी इस पुस्तक में अपनी चिन्ता की पूरी खूराक पायेंगे, इसमें कोई संदेह नहीं है। इसके सिवा, यह पुस्तक एक उपन्यास के ही समान सुखपाठ्य है।

The Hidden Persuaders; Vance Packard, Longmans Green & Co.; London; 18s.

सद्भिस्तु लीलया प्रोक्तं शिलालिखितमक्षरम्
असद्भिः शपथेनोक्तं जले लिखितमक्षरम् ॥

सज्जनों के मुख से मज़ाक-मज़ाक में भी निकला वाक्य शिलालेख-जैसा चिरस्थाई होता है जब कि असज्जनों के मुख से शपथपूर्वक कही हुई बात भी पानी पर लिखित बात की जैसी झूठ होती है।

अनुवादक की बात

श्री सुशील गुप्त

आज भी अपनी भाषा में टामस मैन, प्रूस्त या काफ्कर की रचनावली अनूदित नहीं हो सकी है। किन्तु तीसरे दर्जे की कहानियों और उपन्यासों के अनुवाद का अभाव नहीं है। क्यों ऐसा होता है? कारण, अपने हिसाब से प्रकाशकों का कहना है कि उनकी बिक्री नहीं हो सकेगी। अच्छी पुस्तक सुखपाठ्य नहीं हुआ करती। और, जिसे साँस रोक कर नहीं पढ़ा जाता, उसे कोई भी नहीं पढ़ता।

बात तो सच ही है। पाठकगण इसी तरह ही आत्म-हत्या किया करते हैं। लेकिन, किस उपाय से इस आत्म-हत्या को बंद किया जाय?

अच्छा साहित्य क्या चीज है, यदि इसे पाठकों को अच्छी तरह समझा दिया जाय, तो वैसा होने पर खराब साहित्य को पहचान लेना उनके लिए सीधी बात हो जायगी। यह भी सच है कि हमारी अपनी भाषा में प्रकाशित सभी रचनाएँ उच्चमानसम्पन्न नहीं हुआ करतीं। विश्वसाहित्य के मुकाबले हमारे देशी साहित्य का मान कुछ मामले में काफी नीचे है, और इसलिए इस विषय में एकमात्र उपाय है अनुवाद।

अपनी देशी भाषाओं के ज्ञाता सब-के-सब अंगरेजी या अन्यान्य विदेशी भाषाओं में भी पारंगत हों, ऐसी कोई बात नहीं। दास्तोवस्की या फ्लावेयर को पढ़ने की इच्छा रूसी या फ्रेंच को बिना जाने पूरी ही नहीं हो सकेगी—इस प्रकार का कोई दावा कम-से कम आज के लिए तो असंगत ही है। किन्तु अनुवाद करने की वासना एवं उस अनुवाद को पुस्तकाकार प्रकाशित करने के बीच अनेक चिन्ताओं और अनेक झंझटों का व्यवधान है। नुकसान उठाकर साहित्य-प्रेमी सिद्ध होने के लिए कोई भी प्रकाशक राजी नहीं होंगे। इसका नतीजा यह है कि जो अनुवाद हम पाते हैं, उनमें एक बहुत बड़ा ही परिमाण प्रथम कोटि का नहीं होता है। इसके अलावा हरेक ग्रंथ का अनुवाद भी मूल लेखक के कृतित्व को वहन करने वाला नहीं होता।

ऐसी बात क्यों हो जाती है? सोच लिया जाता है कि अनुवादक योग्य नहीं हैं, या नहीं तो, वे मन लगाकर अनुवाद नहीं करते हैं। हमारी भाषा के अधिकांश अनुवादक विख्यात या अल्पख्यात लेखक अवश्य हैं। केवल मात्र अनुवादक, अर्थात् जिन्होंने दो-चार उपन्यास तक नहीं लिखे हैं, ऐसे व्यक्तियों की संख्या इनमें से एक-दो के सिवा अधिक नहीं होगी। इसके अलावा, एमेच्योर अनुवादक भी छिटपुट मिलते ही हैं। व्यक्तिगत योग्यता के नाते, इनमें से अधिकांश ही अनुवादक होने के उपयुक्त हैं; फिर भी इनके अनुवाद मनोत्तीर्ण नहीं हो पाते। ऐसा क्यों होता है?

जितनी आसानी से एक पन्ना अपनी देशी भाषा लिखी जाती है, एक पन्ना अंगरेजी का अपनी भाषा में अनुवाद कर लेने में उससे भी अधिक परिश्रम और अध्यवसाय व्ययित होता है। तिसपर, १२८ पन्नों के दो रुपये दाम वाले एक अनुवाद-ग्रंथ के लिए अनुवादक पाते हैं सौ-दो-सौ के बीच कुछ रुपये। एवं, १२८ पन्नों के इसी मूल्य के एक स्वरचित उपन्यास के लिए कोई भी लेखक कम-से-कम तीन सौ रुपये तो पा ही जाता है। मामला यहीं नहीं खत्म होता; लेखक अपने उपन्यास के प्रत्येक संस्करण पर ही तीन सौ रुपये करके पाता जाता है, जबकि अनुवादक उस दो सौ रुपये के बाद, पुस्तक का कितना भी संस्करण क्यों न हो, उससे अधिक एक भी पैसा नहीं पाता है। इसलिए, अनुवाद-ग्रंथ-प्रकाशन के व्यवसाय में प्रकाशक खास लाभवान होते हैं। इसके अलावा, उन्हें मूल लेखक को भी पैसा नहीं देना पड़ता। छपाई-बँधाई के खर्च में भी, प्रेस के दफ्तरी-कर्मचारी, अनुवाद के नाते, अन्य मूल उपन्यास-कहानियों के काम से अधिक पाने का दावा नहीं करते। इसीलिए देखने में आता है कि सिर्फ दो सौ रुपये देकर ही प्रकाशक हमेशा के लिए एक पुस्तक पा जाते हैं। इस मामले में अनुवादक-गण हमेशा ठगे जाते हैं, और उनको ठगने के इस कारोबार में अनेक प्रगतिवादी प्रकाशक भी प्रवृत्त हैं। इस विषय

में अनुवादकगण भी यथेष्ट सचेतन हैं। एवं, इसीलिए प्रतीत होता है कि अनुवादक का मान लगभग आशानुरूप नहीं होता—कृती अनुवादक अनुवाद की राह छोड़कर अलग खड़े हो जाते हैं।

जिस किसी विदेशी लेखक की पुस्तक का अनुवाद करना होने पर, उस लेखक से संपर्कित सारे तथ्य, उसका स्टाइल, मिजाज, देशज प्रथा, आचार, आचरण और धर्म, राजनीतिक और अर्थनीतिक व्यवस्था एवं विन्यास के विषय में वाकिफहाल होना होता है; लेखक की जितनी भी रचनाएँ हैं उनसे भी परिचय पा लेने की जरूरत होती है। अर्थात्, अनुवाद का काम काफी सीधी चीज नहीं है। समय और परिश्रम लगता है। किन्तु, इस समय और परिश्रम को व्ययित कर, विनिमय में जो अर्थप्राप्ति होती है, वह यदि निराशाव्यंजक हो, तो वह अनुवादक की श्रेष्ठ गुणावलि को बिन्दुमात्र आकृष्ट नहीं करेगी। इसके अलावा भी देखा जाता है कि दो टेढ़े-तिरछे उपन्यास लिखकर भी लेखक समाज में जो प्रतिष्ठा और ख्याति पाते हैं, दस महाग्रंथों के अनुवादक उसका तिनका-बराबर भाग भी नहीं पाते हैं।

अनुवादकों की समस्या ही जब अनेकानेक है, तो महत् ग्रंथों के अनुवाद की उनसे प्रत्याशा ही निरर्थक है। सुनने में आया है कि इधर अपने यहाँ गेटे का कुछ अनुवाद हुए हैं, 'वार एंड पीस' का पूर्णांग अनुवाद आज भी नहीं हुआ, दास्तोवस्की के केवल दो उपन्यासों के अनुवाद हुए हैं। गुरुत्वपूर्ण जर्मन या फ्रेंच लेखकों की कृतियों के तमाम भाग ही, आज भी अपनी भाषा में अननूदित ही रह गये हैं।

संसार के सभी देशों के पाठक अपनी-अपनी मातृ-भाषा के माध्यम से विदेशी साहित्य के साथ परिचित होते हैं। अतएव, क्योंकि हम अंगरेजी या विशेष विदेशी भाषा नहीं जानते हैं और इसलिए उन-उन विश्वविख्यात ग्रंथावली के साथ हमें परिचय पाने का कोई अधिकार नहीं है—इस प्रकार की दलील निश्चय ही किसी अशिक्षित मनुष्य की ही हो सकती है। अनुवादक यथेष्ट अध्ययन और परिश्रम के साथ अनुवाद करें, यही हमारा अनुरोध है। और, उन्हें इस काम में उत्साह देने के लिए पारिश्रमिक भी मर्यादाकर हो। एवं यदि ऐसा न हो सका, तो निकट-भविष्य में विज्ञापन देकर भी अनुवादकों को बुलाना कठिन होने वाला है। वह भयावह दिन न आवे, ताकि अनुवादक के अभाव में हमारा विश्वसाहित्य से संपर्क ही टूट जाय।

लेखक सबसे अधिक सुखी

लेखक के लिए जीवन की सर्वाधिक संतोषप्रद अनुभूति यह है कि, वह कुछ ऐसा लिख पाये जो किसी एकाकी एवं निराश मन को प्रेरणा और व्यथित हृदय को सान्त्वना दे सके। जो लेखक यह नहीं कर पाता, वह सफल लेखक नहीं माना जा सकता और फलस्वरूप न उसे सच्चे आनंद की अनुभूति ही हो सकती है।

एक लेखक जीवन में तभी सफल हो सकता है, जबकि वह धैर्य तोड़ देने वाली सारी कठिनाइयों का साहस-पूर्वक सामना करे। अक्सर अत्यंत भावुक लेखक ऐसी परिस्थितियों से निरुत्साहित हो जाते हैं। कई बार तो ईर्ष्यालुओं और विरोधियों के आक्षेपों के प्रहार यहाँ तक पहुँच जाते हैं कि, वे न केवल लेखक की प्रतिभा को ही कुंठित कर डालते हैं, वरन् उसकी मृत्यु का भी कारण बन जाते हैं। लेखक को प्रसिद्धि की भूख से भी बचना चाहिए। यश-प्राप्ति के लिए उसे अपनी प्रतिभा के अतिरिक्त अन्य किसी बाहरी सहायता की आवश्यकता नहीं। जिसमें ऐसी प्रखर प्रतिभा है, उसे सारी दुनिया का विरोध होते हुए भी, अवश्य ही यश मिलेगा। बस, शर्त्त यही है कि, ख्याति मिलने तक लेखक धैर्यपूर्वक साधना-रत रहे।

—प्रसिद्ध उपन्यास-लेखका : मेरी कोरेली

बंगला के व्यतीत ग्रंथ: पुनर्मुद्रण का प्रश्न

श्री सुनील वसु

शाम की गप्प चली। भवतारण सिकदार ने प्याले की तली वाली चाय की अंतिम चुस्की ली। उसके बाद एक दूसरी नई सिगरेट पहले मुँह में चेता कर धुआँ छोड़ते हुए कहना शुरू किया—"आप जो कहें सुलोचन बाबू, हमारे पुस्तकों के प्रकाशक वैसा रिस्क नहीं लेते हैं, केवल साहित्य के नाते वैसा कोई पूरी तरह का वाणिज्य-विमुख काम नहीं करते हैं कि जिसके फलस्वरूप हमारी आलमारियों में संचित पुस्तकें हमेशा अपनी ओर उन्मुख या राजी रख सकें। भाई साहब, ये अगड़-बगड़ लिखे गए भर-भर पंजे आज के उपन्यास, आधुनिक कविता (जो केवल गई-गुजरी तृप्ति और मृत अनुभूतियों से भरे नैराश्य का स्तूप ही है), कुछ अंड-बंड नाटक, कुछ गुरुतर कोटेशन-कंटकित प्रबंध-निबंध और लघुतर रम्य रचना—यही है हमारे साहित्य-भोज की मोटा-मोटी तालिका या मेनू। जब आज के साहित्य को पढ़कर आँखों की कुशाग्रता भोंथी हो जाती है, तो मैं बीच-बीच में पिछले दिनों के अपनी भाषा के गठित साहित्य की रचनावलियों में उल्लास लेने को लौट चलता हूँ—और उसे खोजने पहुँचता हूँ किसी प्रकाशक-विक्रेता की दूकान पर। प्रकाशक-विक्रेता महोदय मुँह फिरा लेते हैं, और तब अपने कानों को उनकी यह बात सुन पड़ती है—'नहीं, वह पुस्तक तो नहीं है।' यदि बड़े जोर से उन्होंने अपने जन्मान्तर में ज्योतिरिन्द्रनाथ ठाकुर की रचनावली का नाम कहीं सुन रखा हो, तो बुद्धू की तरह अवाक् होकर ताकते हुए कहते हैं—'वह पुस्तक!...'माने वह पुस्तक आजकल पाई नहीं जाती।' तब मैं चटपट इस जमाने में वापस आकर पूछता हूँ 'अच्छा, अमिय चक्रवर्ती का 'एक मुट्ठी' 'खसड़ा' और 'दूरयानी' ही क्या मिल सकती है?'—डॉ० हिरण्मय घोषाल की गत महायुद्ध के बाद जोर से पढ़ी गई एक पुस्तक—'महत्तम युद्ध का पहला अध्याय'—या दिनेशचन्द्र सेन का—'घर की बात और युग-साहित्य'—या विद्यासागर महोदय का—'भ्रान्ति-विलास'—किसी भी पुस्तक के विषय में हमारा चाहे कितना भी आग्रह होवे, हम उसे दूकान से खरीद नहीं सकते। भूए, सिल्वरफिश या चूहे के व्यवहार से छिद्रित ये सब पुस्तकें लाइब्रेरियों की आलमारियों में अथवा कालेज स्ट्रीट के पुराने ग्रंथ-कबंधों के श्मशान में हमें बलात् पहुँचा ही देंगी।"

भवतारण सिकदार अपने आक्षेप की लंबी रेखा खींच कर चुप हो गए। सुलोचन बाबू नितान्त भले आदमी ठहरे। इसीलिए भवतारण बाबू जैसी अभव्य भाषा में कोई मन्तव्य नहीं दे सके अपने इस समय के देशी साहित्य के विषय में। वे कालस्रोत की महत्ता मानते हैं। 'निरवधि' कालस्रोत के सिवा, 'विपुला' पृथ्वी के विषय में भी उनका विश्वास कम नहीं वर्त्तमान है। देशी साहित्य की हवा के बदलने में वे स्वास्थ्य का निश्वास पाते हैं। भवतारण की बात के उत्तर में बोले—"मैं और क्या कह सकता हूँ। देवेन सेन के काव्य को पढ़ने की मुझे बड़ी साध थी; सुनता हूँ कि रवीन्द्रनाथ के अग्रज द्विजेन्द्रनाथ भी बड़े नामी कवि थे। द्विजेन्द्रनाथ का 'स्वप्न-प्रयाण' काव्यग्रंथ बाजार में दुष्प्राप्य है। यशोहर के ख्यातनामा कवि थे कृष्णचन्द्र मजूमदार, उनका 'सद्भाव-शतक' बहुत ही दिन हुए कि लोकचक्षु के परे जा चुका है। इन लोगों की रचनावली आज सहज-प्राप्य नहीं है। बिहारीलाल और रवीन्द्रनाथ के मध्यवर्ती युग के कवियों को लेकर एक सुन्दर काव्य-संकलन प्रकाशित हो सकता है। उसमें कवि-परिचय भी दिया जा सकता है। किन्तु यह तो केवल हमारी आशा का ही छल है। उस जमाने के कविगणों में प्रायः किसी की भी पुस्तक बाजार में लभ्य नहीं है। देवेन्द्रनाथ सेन, गोविन्द चन्द्र दास, गिरीन्द्र मोहिनी (दासी) दत्त, स्वर्णकुमारी देवी, कामिनी राय, मान कुमारी वसु, विजयचन्द्र मजूमदार, नवकृष्ण भट्टाचार्य—

इन सब कवियों की कविख्याति और इनकी कविताओं के स्वाद की बात हम प्रायः भूलते जा रहे हैं। मन में विगत दिनों के और दो कवि भी आ जाते हैं। एक प्रियनाथ सेन और दूसरे श्रीशचन्द्र मजूमदार। ये दोनों ही रवीन्द्रनाथ के यौवन-काल के समसामयिक साहित्य-शिल्पी थे। प्रियनाथ सेन का गद्य-संग्रह 'प्रियनाथ-पुष्पांजलि' आज नहीं पाया जाता। ग्राम्य बंगाल के अन्तरंग एवं निविड़ चित्र के श्रीश मजूमदार के उपन्यासों का भी बहुत दिनों से पुनर्मुद्रण निर्वासित ही है। 'फूल जानी' उनका मधु-मधुर उल्लेख्य उपन्यास है।"

इतनी देर में संध्या ने अपना गहरा काला तंबू तान दिया था। मिश्री के टुकड़ों की तरह तारे आकाश में चमकने लगे। उनके चारों ओर काली चींटियों की तरह अन्धकार रेंगता-रेंगता घिर आया था। इन दोनों वयस्क देशी-बंगाली पाठकों के बीच रात के आवरण को हटाता हुआ एक प्रदीप जल रहा था। बीसवीं सदी के यौवराज्य के ये दो बंधु भद्रपुरुष, सुलोचन भद्र और भवतारण सिकदार, उपस्थित हैं। भवतारण ने अपने कुर्त्ते की जेब में हाथ डाला। खड़खड़ शब्द करते हुए निकला एक कागज। प्रश्न हुआ—"यह क्या है, जनाब?"

जवाब आया—"नए प्रकाशक के आगे पेश करने के योग्य एक जरूरी फर्द है। बहुत दिन पहले जिन सब जरूरी पुस्तकों की मृत्यु हो चुकी है, उन्हें फिर से जिलाया जा सकता है कि नहीं, उसी की इसमें मोटा-मोटी गवेषणा सोची गई है। इसमें उनका योग्यता-क्रम से नाम-धाम भी दिया है।" चिराग के नजदीक आकर भवतारण उसे पढ़ने लग गए :

बाणभट्ट की कादंबरी का ताराशंकर तर्करत्न-कृत बंगानुवाद। प्रथम निर्भरयोग्य बंगला साहित्य के इतिहास के संबंध में रामगति न्यायरत्न का 'बंगला भाषा और बंगला साहित्य विषयक प्रस्ताव'। शिवनाथ शास्त्री का उपन्यास 'मँझली बहू' और 'युगान्तर'। इन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय की ग्रंथावली। नगेन्द्रनाथ गुप्त का कथा-संग्रह। कृष्णविहारी सेन का मूल्यवान जीवनीग्रंथ 'अशोक-चरित'। अविनाश गंगोपाध्याय का 'गिरीश चन्द्र' और विपिनविहारी गुप्त का दो खंडों में 'पुरातन-प्रसंग'। सुधीन्द्रनाथ ठाकुर की 'चित्राली', 'चित्ररेखा' और 'मंजूषा'। हेमेन्द्रलाल राय का काव्य 'यौवन का गान' और उपन्यास 'आँधी का झूला'। मणीन्द्र लाल वसु की 'मायापुरी', 'रक्त कमल' और 'सोने का हरिण'। सत्येन्द्र नाथ दत्त के निबंध की पुस्तक 'चीन की धूप'। यतीन्द्र-मोहन सिंह का 'उड़ीसा के चित्र'।

भवतारण बाबू के चुप होने पर सुलोचन बाबू ने कहना शुरू किया—"इस फर्द में और भी कई-एक नाम जोड़ लीजिए। लिखिए : राखालदास वन्द्योपाध्याय की 'पाषाण की कहानी', 'बंगाल का इतिहास', 'प्राचीन मुद्राएँ'। प्रथम चौधरी का 'पदचारण' और 'पचास सॉनेट'। ईशान घोष की 'जातक-कथा' सिरीज। ललित कुमार वन्द्योपाध्याय का 'फौवारा' और 'पगला झोला'। पूर्णचन्द्र चट्टोपाध्याय की 'मधुमालती'। गोपीमोहन घोष का 'विजय-वल्लभ'। रामराम वसु की 'लिपिमाला'। केदारनाथ चट्टोपाध्याय का 'नीलांजन'। विनय सरकार की प्रायः कोई भी पुस्तक प्राप्तव्य नहीं है। 'विनय सरकार की बैठक' एक मूल्यवान पुस्तक है और वह आज भी दुष्प्राप्य है।

इस सान्ध्य साहित्यालाप की यवनिका गिरी। और, ये दो अधेड़ बंगीय पाठक रास्ते पर निकल आए।

भाषा थाली है और ज्ञान अन्न है।......अँगरेज़ी पढ़े-लिखे लोग भी अज्ञानी होते हैं, मगर यह हमारी जड़ता है कि हम उन सबों को ज्ञानी समझते आ रहे हैं।......श्रम, समय और सम्पत्ति के अधिक व्यय से जो अँगरेजी पढ़ते हैं, अर्थनीति के नियमानुसार, उनकी सेवायें मँहगी ही होंगी।......विदेशी साहित्यों के ज्ञान के लिए हमारे यहाँ अनुवाद की तेजी होनी चाहिए......घास गाय के पेट में जाकर दूध बने, तभी तो हम उसका दूध पियेंगे। अतः अँगरेजी घास को हिन्दी गाय में दूध के रूप में अनूदित होना चाहिए।......हिन्दी के पक्ष में सारे देश को हम इसलिए आकंपित नहीं करने जा रहे हैं कि वह अच्छे साहित्य की भाषा है......हम तो उसके पक्ष में इतना ही जानते हैं कि वह देश के पेट में पैठी भाषा है, अर्थात् देश में कहीं-से-कहीं जाओ, हिन्दी वाले क्षेत्र को काफी पार करना ही पड़ेगा।

—स्वामी सत्यभक्त

'दि लेपर्ड' इतालवी उपन्यास : विचार और शिल्प

श्री सौदागर

'डा० जिवागो' और 'ललिता' के बाद और एक उपन्यास ने इधर योरोप और अमेरिका के साहित्य-जगत में तहलका मचा दिया है। इस उपन्यास का नाम है 'दि लेपर्ड', लेखक हैं जोसेफ डि लैम्पेडुसा। इतालवी भाषा में लिखित यह उपन्यास दो वर्ष पहले प्रकाशित हुआ था। फिलहाल इसका अंगरेजी और फ्रेंच संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसने सभी जगह उच्छ्वसित प्रशंसा पाई है। इसके ऐसे समालोचक भी हैं, जिनके कथनानुसार यह पुस्तक इस शताब्दी का श्रेष्ठ उपन्यास है। यद्यपि यह बात अतिशयोक्ति जैसी लगती है, फिर भी यह मानने में दुविधा नहीं है कि यह उपन्यास साम्प्रतिक काल की एक उल्लेखयोग्य साहित्य-कीर्त्ति है।

जोसेफ डि लैम्पेडुसा का पूरा नाम जोसेफ तोमासि, ड्यूक ऑफ पालमा एंड प्रिंस ऑफ लैम्पेडुसा है। सिसिली के एक प्राचीन अभिजात वंश में इनका जन्म हुआ। यूरोप की सभी प्रधान भाषाओं पर इनका समान अधिकार है। इनका जीवन देश-भ्रमण एवं पाश्चात्य साहित्य के रसास्वादन में ही बीता है। इस उपन्यास की तैयारी में इन्होंने अपने पचीस वर्ष बिता दिए, और जिसदिन इन्होंने समझा कि अब जीवन के और बहुत दिन बाकी नहीं हैं, उस दिन इसे लिखना शुरू किया। एक वर्ष में इनका यह लिखना समाप्त हुआ एवं इस लेखन-शेष के कई-एक महीने बाद ही ये दिवंगत हुए। अपनी इस पुस्तक की सफलता वे अपनी आँखों देख नहीं सके। उनके कई-एक मित्र प्रकाशकों ने उन्हें कहा था कि यह पुस्तक प्रकाशित करने योग्य नहीं हो सकी है। किन्तु, प्रकाशन के बाद ही यह पता चल गया कि इस अपनी एकमात्र कृति के जोर पर ही लैम्पेडुसा इतालवी साहित्य में अपना प्रमुख स्थान बना गए हैं।

आज से ठीक एक सौ साल पहले, १८६० साल के मई महीने में, समस्त इतावली क्षेत्र को संघटित करने के उद्देश्य से, सिसिली के बुरबान राज्य के विरुद्ध गैरिवाल्डी ने जो अभियान किया था, उसी की पटभूमिका पर यह उपन्यास लिखा गया है। इस अभियान के फलस्वरूप सिसिली में बुरबान राज्य का अवसान होता है और संघटित विस्तृत इताली का जन्म होता है। इस संघटित विस्तृत इताली के राजा विक्टर इमैनुएल होते हैं, और तत्र इताली की नई राजधानी रोम होती है। गैरिवाल्डी का वह अभियान सिसिली के इतिहास में एक युगसंधिक्षण कहा जायगा। इस एक युग के अवसान और दूसरे नये युग के आरम्भ को सिसिली का एक अभिजात परिवार किस रूप में ग्रहण करता है—यही इस उपन्यास 'दि लेपर्ड' की विषयवस्तु है।

'दि लेपर्ड' का नायक है डॉन फ्राब्रित्सिउ, प्रिंस ऑफ मैलिना। लैम्पेडुसा स्वयं भी प्रिंस थे, इसीलिए अनेक आलोचक पाठकों का यह अनुमान होता है कि शायद अपने पितामह की बात याद करते हुए लैम्पेडुसा ने फ्राब्रित्सिउ जैसे इस चरित्र की सृष्टि की है। राजदरबार में फ्राब्रित्सिउ का बहुत सम्मान था। वह मनप्राण से अभिजात था, प्रचलित व्यवस्था का स्तम्भस्वरूप था। केवल एक ही विषय में वह अपने कौलीन्य और श्रेणि-वैशिष्ट्य को कायम नहीं रख पाता है—और वह है उसका वैज्ञानिक होना तथा विद्यानुरागी होना। फलस्वरूप उसकी दो सत्ता हो उठती है। उसकी प्रकाश्य सत्ता उत्तराधिकार-सूत्र में ग्रथित मिलती है; और परिवार, आत्मीयस्वजन तथा समाज के निकट वही सत्ता उसका एकमात्र परिचय है। किन्तु, इस पहली सत्ता की आड़ में एक दूसरी अर्जित सत्ता भी है, जिसका परिचय उसके एकमात्र स्नेहास्पद भगिने तोंक्रेदि के सिवा बाकी हर किसी के लिए अजाना है। साहित्य तथा विज्ञान के अथक अनुशीलन में ही इस दूसरी सत्ता की सृष्टि हो उठती है। और, इस सत्ता का प्राण है उसकी जिज्ञासा।

इसीलिए, स्वभावतः ही फ्राब्रित्सिउ अपने समय के प्रचलित मान के विषय में संशयी हो उठता है।

गैरिवाल्डी के उस अभियान के उपलक्ष में फ्राब्रित्सिउ के चरित्र की इन दोनों ही परस्परविरोधी सत्ताओं का संघात प्रकट हुआ। वह इस इतालवी राष्ट्र के संघटन या एकीकरण वाले आन्दोलन में योगदान नहीं कर सका; यहाँ उसकी राजभक्ति एवं सामन्तीन संस्कार ने बाधा दिया। किन्तु तोंर्कदी के विद्रोहीदल में योगदान के प्रति उसने सर्वान्तःकरण से समर्थन दिया। बुरबान राज्य के पतन के बाद जो गणमत गृहीत हुआ, उसमें उसने एकत्रीकरण के पक्ष में मत दिया, किन्तु जब संयुक्त इताली के संसत्सदस्य का पद ग्रहण करने के लिए उससे सरकारी अनुरोध किया गया तो उसने उस पद का प्रत्याख्यान कर दिया। तोंर्कदि के आचरण का और एकत्रीकरण के प्रस्ताव का उसने समर्थन किया था, क्योंकि वह जानता था कि पुरातन व्यवस्था की अब कोई आयु नहीं बचनेवाली है और नई व्यवस्था का पथरोध करना जैसे किसी के लिए भी संभव नहीं है। किन्तु, नवीन व्यवस्था के साथ एकात्मबोध भी उसके लिए संभव नहीं हो सका और उस मामले में उसका संस्कार विरोधी होकर उठ खड़ा हुआ। इसके अलावा, उस कौलिन्याभिमानी ने यह भी सोचा कि जिस कार्य में वह सफल नहीं हो सकता है, उस कार्य में सफलता पा लेना नए शासकमंडल के लिए भी असंभव है; यह राज्यपरिवर्त्तन सिसिली के गणजीवन को कोई स्पर्श नहीं दे सकेगा और निद्रित सिसिली किसी भी दिन फिर जागनेवाला नहीं है।

इस विचार और मोह की खींचतान में फ्राब्रित्सिउ ने अन्त तक जानेवाला अपना जो पथ चुना, वह था आत्म-विलोप का पथ। मरने के समय वह गतमान और हतप्रभाव था। उसके अतीत ने उसे मर्यादामंडित किया था, किन्तु उसकी मृत्यु के बाद उसके बेटे-बेटियों को उसकी उस मर्यादा पर कोई दावा तक नहीं रहा। उपन्यास का अंत मैलिना-वंश के मोहभंग के साथ होता है। इस प्रसंग में लैम्पेडुसा ने दो चमत्कारपूर्ण रूपकों की अवतारणा की है। पहला रूपक है: फ्राब्रित्सिउ की मृत्यु के बाद उसकी तीन कुमारी कन्याओं ने अपने व्यवहार के लिए जिस प्रार्थनामंदिर का निर्माण किया, एक दिन पोप के प्रतिनिधि और एक विशेषज्ञ ने उस मंदिर का निरीक्षण करने के बाद राय दी कि कुमारी मेरी की मूर्त्ति को मन में रखकर वे तीनों कन्याएँ जिस मूर्त्ति के सामने इतने दिनों से आराधना करती आ रही हैं; वह मूर्त्ति मेरी की नहीं, बल्कि अपने प्रेमी की प्रतीक्षा करने वाली विरहिणी की ही मूर्त्ति है। दूसरा रूपक है फ्राब्रित्सिउ के एक प्रिय कुक्कुर को उपलक्ष बनाकर। कुत्ते के मर जाने के बाद पैंतालिस वर्ष तक उसके चमड़े को फाब्रित्सिउ की एक बेटी अपने शयन-कक्ष में रखकर निहारा करती थी। उपन्यास के अंत में वह बेटी कहती है कि इस कीड़ों से कटे हुए और धूलिधूसर चमड़े को फेंक देने के लिए, इतने दिनों से यत्नपूर्वक रक्षण के बाद, अन्तिम आश्रय एकान्त ही मिला।

इताली में उपन्यास की जनप्रियता का एक संभावित कारण यह है कि इताली में सिसिली की अन्तर्भुक्ति सिसिली के लिए लाभदायक नहीं हुई। उत्तर और दक्षिण इताली की आर्थिक विषमता को सभी लोग जानते हैं। दक्षिण इताली यूरोप का सबसे अधिक दरिद्रतम हिस्सा है। इताली के शासकवर्ग एवं उद्योगपतियों की दृष्टि अब इस मामले में आकृष्ट हुई है एवं दक्षिण इताली में उद्योगों के अधिकाधिक प्रसार की चेष्टा भी हुई है। सिसिली की इताली में अन्तर्भुक्ति के एक सौ वर्ष बाद, आज इस विषय में शंका की कोई गुंजाइश नहीं है कि फ्राब्रित्सिउ की वह असहयोगिता असंगत नहीं हुई थी; उसने जो यह आशंका की थी कि संयुक्त इताली में भी सिसिली की दरिद्रता दूर नहीं होगी—वह आशंका किसी तरह नेबुनियाद नहीं है।

किन्तु, राजनीतिक आवेदन हर क्षेत्र में ही सीमाबद्ध है और उसके पाँव में देशकाल की बेड़ी पड़ी होती है। इताली के बाहर की जिस बृहद् पाठकगोष्ठी ने इस पुस्तक के प्रति अपना अभिनन्दन जताया है, उसके निकट यह राजनीतिक आवेदन अर्थहीन ही है। इताली में भी, सम्भवतः कुछ ही वर्षों के बाद, इस आवेदन की तेजी बहुत कम हो जानेवाली है। इस पुस्तक की जनप्रियता

का सही कारण दूसरा ही है। लैम्पेडुसा एक युगान्तर के कथाकार हैं; 'दि लेपर्ड' एक 'वे ऑफ लाइफ' का समाधि-लेख है। इस जीवनधारा के साथ उनकी नाड़ी की चाल है और स्वाभाविक नियमों के नाते ही उनकी इस जीवनधारा के प्रति सहानुभूति है। किन्तु, इस जीवन-धारा के दोष के संबंध में भी वे पूर्ण सावधान हैं। हो सकता है कि मौजूदा जमाने के मुकाबले पिछले जमाने के प्रति ही उनकी अधिक श्रद्धा प्रकट हुई हो, किन्तु अपने पात्र फ्राब्रित्सिउ के समान उन्होंने भी यह स्वीकार करने में दुविधा नहीं महसूस की हो कि इतिहास की गति को रोक लेना किसी के भी बूते के बाहर की चीज है। उन्होंने सिर्फ अपनी बचीखुची सहानुभूति का व्यंग्य-रूप में प्रायश्चित्त किया है; अपने जमाने की बीती हुई आयु को आवर्जना का सहयोगी बनाने का उपदेश देकर। वर्तमान को उन्होंने अवश्य ग्रहण किया है, किन्तु अतीत को भुला देने की सांस्कृतिक मूर्खता उनसे नहीं बन पड़ी है। फलस्वरूप, उनके युगान्त की यह कहानी एक 'मैजेस्टिक डेथ' की है, और उसे मृत्यु-अवधारित बताकर भी उनके नतिस्वीकार न करने की व्यर्थ-महत् चेष्टा का विवरण है। और भी एक कारण से यह 'दि लेपर्ड' उल्लेख करने के योग्य है। प्रूस्त, काफ्का, जायेस के प्रभाव के कारण यूरोपीय उपन्यासों से कथातत्त्व का अन्तर्धान हो चुका है। साहित्य के क्षेत्र में ये तीनों ही लेखक 'ग्रेट अनटचेब्ल' हैं; विरोधी समालोचना इन्हें स्पर्श नहीं कर सकती, बल्कि वह उल्टे समालोचक पर ही चोट पहुँचा देती है। फिर भी, इन्हीं तीनों के हाथों से उपन्यास नामक शिल्प की मृत्यु हुई है—ऐसी बात आजकल कुछ-कुछ साहस रखने वाले समालोचक कह ही दिया करते हैं; एवं अधिकतर साहस दिखाकर कोई-कोई उपन्यासकार अपनी रचना में कहानी को प्रमुख स्थान देने लग गए हैं। 'दि लेपर्ड' यूरोपीय उपन्यास-साहित्य के इस आधुनिकतम विवर्त्तन में एक बेशकीमती संयोजन है।

The Leopared—By Geuseppe Di Lampedusa; Collins and Harvill Press, London; p 255; 16s.

लेखक : वरदान और संघर्ष

एक ओर लेखक को दैवी वरदान के रूप में जहाँ महान आत्मिक सुख मिला होता है, वहीं दूसरी ओर उसका जीवन अनेकानेक संघर्षों से भरा होता है। चूँकि ये संघर्ष लेखन-व्यवसाय-जनित ही होते हैं, इसलिए वह इनसे छुटकारा भी नहीं पा सकता। लेखक के जीवन में यह एक बहुत बड़ी कटुता है। उसे ठोकरें खाकर और मुसीबतों की चोट सहकर भी तपे हुए सोने की भाँति खरा बनना पड़ता है। फिर भी सच्चा साहित्य-सेवी दूसरे लोगों की अपेक्षा अभावग्रस्त जीवन व्ययीत करने पर भी, अधिक संतोष का अनुभव कर सकता है। वैसे भी कल्पना एवं आदर्श का धनी, सांसारिक वैभव की माँग नहीं करता। फिर मणि-जटित महलों में प्रतिभा का जन्म ही कब हुआ है?

बहुधा समकालीन साथियों की ईर्ष्या लेखक के लिए कष्ट का कारण होती है। संसार का यह नियम है कि, हीन विचारों के लोग ऊँचे विचार वालों से सदैव ईर्ष्या रखते हैं। आरम्भ में महानता को अक्सर तिरस्कार के घूँट पीने पड़ते हैं। इमर्सन के अनुसार—"अगर तुमने महान बनने का निश्चय कर लिया है, तो अकेले ही अपने रास्ते पर बढ़ते चलो। कमजोर बनकर दुनिया के साथ समझौता करने की कोशिश मत करो।" वास्तव में महान कहे जाने वाले व्यक्तियों में एक भी उदाहरण ऐसा नहीं है, जिसे अपने जीवन-काल में ईर्ष्या-जनित झूठे लांछनों का सामना न करना पड़ा हो। लेखक के जीवन में भी ऐसे आरोपों की कमी नहीं होती। जो व्यक्ति जीवन में जितना बड़ा उद्देश्य बनाता है, उसे उतने ही अधिक कष्ट उठाने पड़ते हैं। लेकिन इन सब बातों का प्रभाव लेखक की मानसिक शांति पर नहीं पड़ना चाहिए। उसे वह आदर्शवादी दृष्टिकोण सदैव बनाये रखना चाहिए, जो लेखक के समस्त उत्थान की आधारशिला है।

प्रसिद्ध उपन्यास लेखिका : मेरी कोरेली

गत मास का साहित्य : आकलन एवं समीक्षण

श्री जयप्रकाश शर्मा

[प्रस्तुत स्तंभ पाठकों तक नये साहित्य और उसकी उपलब्धियों की सूचना पहुँचाता है। अतः स्तंभ को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए स्तंभ-लेखक को आपका सहयोग वांछनीय है। सूचना और सामग्री भेजने का पता है : ६८ यू० वी०, जवाहर नगर, दिल्ली–६ । —संपादक]

'गतमास का साहित्य' अब शायद घुटनियों चलने लगा है, यही कारण है कि अब इसपर 'ऐं ऐं' वाली ध्वनि आने लगी है। मुझे इस साल बहुत-से खट्टे-मीठे पत्र मिले हैं। आप भी पत्र लिख सकते हैं। कोई रुपये-पैसे जोड़ता है, अगर मैं पत्र जोड़ूँ तो टैक्स ही लग सकता है न! सब पत्रों का उल्लेख करना तो वाजिब नहीं है। अलबत्ता आत्माराम एंड सन्स के हिन्दी प्रकाशन अध्यक्ष श्री योगेन्द्र कुमार 'लल्ला' के कृपापत्र की चर्चा में जरूर करूँगा; जिसमें उन्होंने श्री राजाराम शास्त्री के 'प्यार और पैसा' की चर्चा को उत्तरदायित्वहीन और प्रकाशकीय भर्त्सनायुक्त बतलाया है। राजाराम शास्त्री मेरे उन मित्रों में से हैं, जिन्हें मैं मित्र नहीं श्रद्धेय भाई मानता हूँ। पर इसी बात से तो उपन्यास अच्छा-बुरा नहीं हो सकता है। जब उन्होंने बतलाया कि इस उपन्यास पर फिल्म बन रही है तो प्रसन्नता हुई और उससे ज्यादा प्रसन्नता तब हुई जब इसे आत्माराम एंड संस ने प्रकाशित किया। आत्माराम एंड संस के लेखकों में राजेन्द्र प्रसाद आते हैं; इसलिये उसके हर प्रकाशन का स्तर होना आवश्यक है। यह बात निश्चित रूप से सही है कि पूरा पुस्तक-जगत इस स्तंभ के लिये नहीं मिल सकता, इसलिये हर पुस्तक का कथासार देना, उनके गुण-दोष निकालना काफी सरल नहीं है। अतः निवेदन मात्र इतना ही है कि हर उपन्यास को फिल्माना सरल है, पर हर फिल्मी कहानी को उपन्यास बनाना सरल नहीं, संभव नहीं।

एक अन्य पत्र में सस्ता साहित्य मंडल के श्री मार्तण्ड जी ने अल्पमोली पुस्तिकाओं के 'प्रचार की गंध' पर बात करने जिज्ञासा प्रकट की है। मैंने एक बात पहले भी लिखी थी; और अब भी लिख रहा हूँ कि मंडल की परम्परा इन सबसे बिल्कुल अलग-थलग है। इन अल्पमोली पुस्तिकाओं में ही एक पुस्तक गदर पर आधारित है। गदर के विषय में मैंने लगभग तीन साल तक खाक छानी है, पर जो तथ्य मैंने संकलित किये, 'साँझ का सूरज' के लेखक श्री ओमप्रकाश शर्मा ने संकलित किये, प्रतापनारायण श्रीवास्तव ने, श्री अमृतलाल नागर ने किये, श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने किये—उनसे बिल्कुल विपरीत तथ्य इस पुस्तिका में संकलित हैं। कारण पूछा जा सकता है। यूँ उन्होंने आमन्त्रण भी दिया था। जरा स्वास्थ्य-लाभ हो ले तो मैं निश्चित रूप से मिलूँगा, तथा इस विषय में चर्चा भी करूँगा।

पत्र तो और भी हैं। पर मेरा ख्याल ऐसा है कि अब उस रैक के पास मुड़ा जाय जहाँ गत मास का साहित्य संकलित है।

एक नई पाकेट-बुक्स सिरीज

सुमन पाकेट बुक्स के नाम से एक नई पाकेट बुक्स, मेरे ख्याल से सस्ती और जनरुचि का ख्याल रखने वाली है। पचहत्तर नये पैसे में लगभग नौ फर्मे के छः उपन्यास सब-के-सब जनरुचि के आधार पर लिये गये हैं। तीन उर्दू से अनूदित हैं। शौकत थानवी और आदिल रशीद दोनों ही जनरुचि के लेखक हैं। फिर भी इन दोनों में सैक्स का गदला जल आकर कहीं नहीं मिलता। ओमप्रकाश शर्मा के दोनों उपन्यास 'प्रीत न कीजो कोय' और 'माधुरी' शरद की याद दिलाते हैं। अगर इन्हें साहित्यिक महत्त्व मिले तो सम्भवतः ये और भी लोकप्रिय हों।

समालोचना

'विचार और समीक्षा' प्रो० प्रताप सिंह चौहान के २१ साहित्यिक निबन्धों का संकलन है; जिसमें उन्होंने

संग्रह करने योग्य अमूल्य ग्रन्थ

कोश

पुस्तक	लेखक	मूल्य
बृहत् हिन्दी कोष	सं० कालिकाप्रसाद आदि	२५.००
ज्ञान शब्द कोश	सं० मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव	१५.००
पारिभाषिक शब्द कोश	"	४.००
हिन्दी साहित्य कोश	सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि	२०.००
बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश	डॉ० हरदेव बाहरी	३०.००

राजनीतिक पुस्तकें

भारतीय राजनीति :

पुस्तक	लेखक	मूल्य
विक्टोरिया से नेहरू तक	रामगोपाल एम० ए०	११.००
अन्ताराष्ट्रिय विधान	डॉ० सम्पूर्णानन्द	११.००
चीन : कल और आज	के० एम० पणिक्कर	५.००
राजनीति शास्त्र	प्राणनाथ विद्यालंकार	४.५०

धर्म और दर्शन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
सूफी मत : साधना और साहित्य	रामपूजन तिवारी	११.००
विश्वके धर्म-प्रवर्त्तक	रघुनाथ सिंह एम० पी०	६.५०
वैज्ञानिक अद्वैतवाद	स्व० रामदासगौड़ एम० ए०	२.२५
चिद्विलास	डॉ० सम्पूर्णानन्द	५.००
दर्शनका प्रयोजन	डॉ० भगवानदास	३.५०
नीतिशास्त्र	सुश्री शान्ति जोशी	८.००

पालि ग्रन्थ

पुस्तक	लेखक	मूल्य
पालि व्याकरण	भिक्षु धर्मरक्षित	२.२५
महापरिनिब्बान सुत्त	"	३.५०

पत्रकारिता

पुस्तक	लेखक	मूल्य
पत्र और पत्रकार	माननीय कमलापति त्रिपाठी	६.५०
भारतीय पत्रकार कला	सं० रौलेण्ड ई० वूल्सले	६.५०
समाचार पत्रोंका इतिहास	पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी	६.५०
आधुनिक पत्रकार कला	रा० र० खाडिलकर	४.००

मनोविज्ञान

पुस्तक	लेखक	मूल्य
शिक्षा मनोविज्ञान	हंसराज भाटिया	५.००
सामान्य मनोविज्ञान	"	१०.००

भ्रमण

पुस्तक	लेखक	मूल्य
हालैण्ड में पचीस दिन	रा० र० खाडिलकर	३.००
आर्याना	रघुनाथ सिंह एम० पी०	३.००
बदलते रूस में	रा० र० खाडिलकर	३.५०
दक्षिण पूर्व एशिया	रघुनाथ सिंह एम० पी०	७.५०
कुमाऊँ	राहुल सांकृत्यायन	१५.००
आस्ट्रेलिया	रघुनाथ सिंह एम० पी०	४.००

इतिहास

पुस्तक	लेखक	मूल्य
भारतवर्षका इतिहास	एक इतिहास प्रेमी भाई परमानन्द	८.००
पश्चिमी यूरोप (प्र० भाग)	अनु० छविनाथ पाण्डेय	५.००
गान्धी हत्याकाण्ड	सं० विहंगम	५.००

संस्मरण

पुस्तक	लेखक	मूल्य
जेल के वे दिन	विजया लक्ष्मी पंडित	२.५०
कुछ स्मरणीय मुकदमे	डॉ० कैलाशनाथ काटजू	८.००
मेरे बचपन की कहानी	श्रीमती नयनतारा सहगल	६.००
महात्माजी और महाराज	विपिनचन्द्र झवेरी	१.५०

साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
वक्रोक्ति और अभिव्यंजना	रामनरेश वर्मा एम० ए०	४.५०
गीतिकाव्य	डॉ० रामखेलावन पाण्डेय	५.५०
तुलसीदास और उनका युग	डॉ० राजपति दीक्षित	८.००
धरातल	शान्तिप्रिय द्विवेदी	२.७५
कल्पलता	आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी	२.५०
काव्यप्रकाश (मम्मटकृत)	आचार्य विश्वेश्वर	१६.००

कथा साहित्य

पुस्तक	लेखक	मूल्य
उलूकतन्त्र	बलदेव प्रसाद मिश्र	२.००
शव साधन	बलदेव प्रसाद मिश्र	२.५०
तूफान	सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखकों की कहानियोंका संग्रह	२.५०
पुनर्जीवन	महात्मा टालस्टाय	६.५०
कर्त्तव्याघात	देवनारायण द्विवेदी	४.५०
नूतन ब्रह्मचारी	स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट	०.६३
देशभक्त और देशद्रोही		२.५०
बयालीस	प्रतापनारायण श्रीवास्तव	४.५०
गेंजीकी कहानी	मुरासाकी शिकाबू	४.५०

आदर्श जीवन चरित्र

पुस्तक	लेखक	मूल्य
सरदार पृथ्वीसिंह	राहुल सांकृत्यायन	४.००
महर्षि कर्वे	प्रभाकर सदाशिव पण्डित	२.२५

विज्ञान

पुस्तक	लेखक	मूल्य
विज्ञान की प्रगति	भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव	३.५०
विज्ञान के चमत्कार	"	३.००
परमाणु शक्ति	"	३.००
घरेलू बिजली	"	४.००

ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी-१

एक साथ कई विषयों पर प्रकाश डाला है। कुछ निबन्ध तो ऐतिहासिक महत्ता से सम्बधित हैं तथा कुछ सामाजिक साहित्य से। किन्तु, इसके बावजूद कुछ उनके चिन्तन और मनन को आगे बढ़ाते हैं। प्रतापसिंह चौहान इस क्षेत्र में और प्रशंसनीय कार्य करेंगे, यह तो आशा की ही जा सकती है।

वर्ष का एक श्रेष्ठ उपन्यास : भग्न मंदिर

श्री शेवड़े द्वारा लिखित और राजपाल एन्ड सन्स द्वारा प्रकाशित 'भग्न मंदिर' निश्चित रूप से इस वर्ष के श्रेष्ठ उपन्यासों में गिना जायेगा। यह मान्यता उपन्यास पढ़ने के बाद की है, पहले की नहीं। श्री शेवड़े मूलतः एक गाँधीवादी चिन्तक और उसी परम्परा के उपन्यासकार हैं। 'भग्न मंदिर' उनकी ईमानदारी का ऐसा प्रतीक है; जिसे अगर बनना मुश्किल था, तो मिटना और भी मुश्किल। शेवड़े का प्रस्तुत उपन्यास एक संघर्ष प्रस्तुत करता है—एक पत्रकार और राजनीति के कुशल खिलाड़ी के बीच। और, इस तरह पूरा गाँधीवादी सरकारी निजाम सामने आ जाता है। उपन्यास सब दृष्टि से संपन्न होते हुए भी मेरे ख्याल से 'स्वामीजी' की तरफ ज्यादा खिंच गया है। मेरी व्यक्तिगत राय है कि अगर स्वामीजी को इतना अवसर न भी दिया जाता तो भी सम्भवतः बात बन सकती थी।

पत्नीव्रता : पाराशर का एक हास्य स्पूतनिक

चिरंचीलाल पाराशार का यह हास्य उपन्यास मेरे ख्याल से अन्य हास्य उपन्यासों के कुछ थोड़ा-बहुत अलग-थलग है और टैकनीक के लिहाज से 'नये-नये रिश्ते' जैसा कई बरस पुराना नहीं है।

एक समस्या : तीन उपन्यास

शरतचन्द्र चटर्जी का 'शेष प्रश्न' और उसकी कमला के चरित्र ने साहित्य में जिस मौलिकता का जन्म दिया था, अज्ञेय के 'नदी के द्वीप' की रेखा ने उसे बौद्धिकता प्रदान की और तब से लेकर अब तक स्त्री-पुरुष के सहवास, शादी-ब्याह और तलाक से लेकर बॉय फ्रेन्ड तक की समस्याओं ने उपन्यास साहित्य में एक नया [illegible] दिया था। संयोग की बात है कि पिछले मास एक साथ तीन उपन्यास इसी परम्परा के अनुसार, तीन भिन्न क्षेत्रों के व्यक्तियों द्वारा लिखे गये, एक ही जगह आकर एकत्रित हो गये हैं।

'कान्ता' राजहंस प्रकाशन दिल्ली द्वारा प्रकाशित ओम्प्रकाशजी का नया उपन्यास है। कुछ मायनों में ओम्प्रकाशजी जन-उपन्यासकार हैं और जासूसी उपन्यासों में एक बहुत बड़ा स्वस्थ मोड़ देने के कारण उन्हें जासूसी उपन्यास का शिल्पी कहा जाता है। यह बात बहुत हद तक ठीक भी है। किन्तु इससे ज्यादा ठीक बात यह है कि वे जितने अच्छे जासूसी उपन्यासकार हैं, उससे अच्छे प्रणय उपन्यासकार भी हैं। 'कान्ता' उनकी अपनी टेकनीक पर लिखा ऐसा मर्मस्पर्शी उपन्यास है जो शरत् और प्रेमचन्द की परम्परा को आगे बढ़ाते हुए भी भारतीय भाषा के किसी भी उपन्यास के समक्ष खड़ा किया जा सकता है।

डा० देवराज का नया उपन्यास—'अजय की डायरी' इस शृंखला का दूसरा उपन्यास है जो बौद्धिक कहे जाने वाले लोगों की नोटबुक के कुछ पन्ने प्रस्तुत करता है। यूँ, उपन्यास सोचने-समझने के लिये काफी कुछ प्रस्तुत करता है और जिन लोगों ने उनका 'बाहर-भीतर' उपन्यास पढ़ा है, वे इस उपन्यास को अधिक सधा, अधिक बौद्धिक और अधिक मनोवैज्ञानिक पायेंगे। पर अनायास ही कोई पूछ सकता है कि अजय अमेरिका क्यों गया? यूँ तो सारा उपन्यास पहले वी० नगर से काश्मीर और फिर वी० नगर से अमेरिका है, पर मेरा अपना ख्याल है कि अगर अजय को अमेरीका ही घूमना था, तो उपन्यास कुछ और विस्तृत होना चाहिए था। दूसरे यह कि अगर लेखक स्वयं अजय नहीं है तो उसे 'अजयजी' जैसे बार-बार के सम्बोधनों का लोभ नहीं करना चाहिये था। स्त्रीपात्रों को इसमें ज्यादा उभरने का अवसर मिला है और शीला तथा हेम जैसे सशक्त पात्र काफी प्रसिद्ध हो पायेंगे, इसकी तो आशा की ही जा सकती है। इस उपन्यास की भाषा के विषय में भी एक बात कही जा सकती है। राजपाल की पुस्तकों में सम्पादन की कमी नहीं रहती। पर लगता है, देवराजजी के [illegible] होने के कारण पाण्डुलिपि जैसी-की-तैसी छप गई है।

हेम वी० नगर के आसपास की ही है। परिधान से भी और अपने नोट्स से भी वह पंजाबिन नहीं दिखती। उसके मुँह से 'जय माता दी' कहलवाना भी मुझे कुछ खला ही। किन्तु, इन सबके बावजूद 'नदी के द्वीप' के बाद यह पहला सशक्त उपन्यास है जो मानव-ग्रन्थियों को बौद्धिक रूप से खोलकर रख देता है। यूँ, प्रचारवादियों की कमी नहीं। घटिया-से-घटिया उपन्यास, जिसमें सस्ती कामुकता हो, भावना हो; 'मनोविज्ञान' के शिल्प में रखकर बेचा जाता है।

तीसरा उपन्यास है 'फरेब'। गोविन्द सिंह ऐसे लेखक हैं जिनके कारण एक नहीं, कई प्रकाशकों ने कोठी खड़ी की है। अपने एक उपन्यास में उन्होंने कुशवाहा कांत को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए सम्पर्क के उन चरणों का भी उल्लेख किया है, जब उन्होंने कुशवाहा कांत की छत्रछाया में बैठकर लिखना सीखा और लैंडिंग लायब्रेरी के साथ-साथ प्रकाशकों का मुँह भरना शुरू किया। इसे वे जीवन की सबसे बड़ी घटना मान सकते हैं; पर यह घटना इसलिये भी उल्लेखनीय है कि इसने गोविन्द सिंह के सामने एक सीमारेखा लाकर प्रस्तुत कर दी। जब-जब उन्होंने 'बाजीगर', 'सत्तावन' जैसे उपन्यास लिखे, उन्हें लौटकर अपने क्षेत्र में आना पड़ा, और इस तरह गोविन्द सिंह जो होना चाहते थे, वह हो नहीं पाये और जो नहीं होना चाहते थे; उस क्षेत्र में उन्हें बढ़ना पड़ा। 'फरेब' में मुझे इसी कशमकश का रूप दिखाई दिया। पंकज प्रकाशन की चान्दनी पत्रिका में तथा लेखक द्वारा संपादित एवं प्रकाशित इस उपन्यासिका में इस बात का उल्लेख किया गया है कि यह स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज का सत्य किन्तु नग्न चित्र प्रस्तुत करता है। निश्चित रूप से उत्सुकता होती है। और, फिर एक ऐसा फर्स्ट्रेटेड व्यक्ति जिसकी पत्नी एक कारटून से प्यार करती है और लड़-झगड़कर अपने मायके चली जाती है—शराब के घोर अंधकार में अगर वेश्या के गर्क में पड़ता हुआ अपनी मुँहबोली साली से लिपटकर सो ले, उसे चूम ले और फिर अनायास पत्नी के आने पर उससे छिटककर पत्नी का हो जाय; तो इसमें बेचारी स्वतंत्रता का क्या कसूर। अलबत्ता अगर थोड़ा-बहुत कसूर हो सकता है तो उस नियम का, जिसके अन्तर्गत दो पत्नी रखना वर्जित है और वकील

साहब इरा और रोमा को एक साथ कसकर नहीं चिपटा सकते। काश, गोविन्द सिंह, गोविन्द सिंह के पाठक, उनके आलोचक जागें और इस प्रतिभा को 'लैंडिंग' लायब्रेरी के दायरे से खींचकर साहित्य के आलोक में लायें।

एक नया अनूदित उपन्यास है : दादा का हाथी। मोहम्मद बशीर द्वारा लिखित तथा के० रविवर्मा द्वारा अनूदित यह छोटा-सा लघु उपन्यास साहित्य अकादमी की ओर से पीपुल्स पब्लिशिंग द्वारा प्रकाशित मलयालम भाषा-क्षेत्र की एक सुन्दर, स्वस्थ और चित्रमय रेखायें प्रस्तुत करता है, जिनमें तत्-स्थानीय मुस्लिम समाज के रस्म-रिवाज की एक बच्चे पर प्रतिक्रियायें ही नहीं हैं, अपितु एक ऐसी सबल भावनामय स्वस्थ प्रकृति का द्योतन है, जिसे नयी पीढ़ी में मिटना ही पड़ा और सामंतीयुग की अस्वस्थ परम्पराओं की रंगीन दुनिया मिट्टी के घरौंदे की तरह तहस-नहस हो गई।

उपन्यास प्रूफ भूलों से गुजरकर भी पठनीय है।

साप्ताहिक पत्र

'मनु' नाम से एक पत्र की घोषणा कानपुर से हुई थी। संभवतः यह पत्र निकला हो। बात संदिग्ध है, क्योंकि तलाश करने पर भी नहीं मिल पाया।

'हिन्दुस्तान' में एक नया उपन्यास शुरू हुआ है : वाजपेयी का 'सपना बिक गया'। सपना क्या बिकेगा, यह तो नहीं कहा जा सकता; अलबत्ता इस उपन्यास से, और कुछ हो न हो, प्रकाशन में एक स्थिरता जरूर आ जायेगी।

'धर्मयुग' की 'राधा' इस अंक में समाप्त हुई, और मामा बरेरकर के एक नये उपन्यास का उदय होगा। इस घोषणा से भी ऐसा लगता है कि भारतीजी अब कुछ थके-थके से रहने लगे हैं, या उनपर कार्य-भार बहुत अधिक है। इस मास के 'कथा-साहित्य' में एक भी कहानी उल्लेखनीय नहीं है।

'आदिवासी' श्री राधाकृष्ण के सम्पादन में सबसे छोटा साप्ताहिक है। सरकारी पत्र होते हुए भी इसमें रवीन्द्रनाथ की संचयित सामग्री निश्चित रूप से संग्रहणीय है। इस पत्र को देखकर एक धारणा और निर्मूल हो जाती है। आमतौर से आज के सु-साहित्यकार सम्पादकों का यह रोना है कि सरकारी पत्र में वे सर्जन नहीं कर सकते, वहाँ स्कोप नहीं है। उनके लिये, इस बात में 'आदिवासी' एक आदर्श हो सकता है।

'हिन्दी टाइम्स'—हिन्दी का एकमात्र राजनैतिक पत्र कहा जा सकता है। पर इसकी उपयोगिता श्री मुंशी के उन साहित्य-संस्मरणों में ही दीख पड़ती थी, जो पुरानी यादों को ताजा करते थे। उन संस्मरणों के बंद होने का क्या अर्थ है, यह तो समझ नहीं पाया; अलबत्ता स्थिति वैसी ही नीरस है।

मासिक पत्र

कुछ नये पत्र इस माह में निकले हैं और अन्य की घोषणा हुई है। 'परिहास' इस कोटि का अन्यतम पत्र है। रामकुमार राय के सम्पादन में इसका अंक देखने को मिला। हिन्दी हास्यरस की पत्रिकायें बहुत नहीं हैं। यूँ भी व्यंग्य और हास्य 'नहीं' के बराबर हैं, फिर जो निकलते हैं, वे तो स्वस्थ परम्परा का प्रतिनिधित्व नहीं करते या उनमें चित्र अधिक नहीं रहते। परिहास के इस अंक को देखने से लगता है, यह इस बात की कमी को पूरा करेगा। 'शाश्वतवाणी' भारती साहित्य सदन से निकलनेवाली पत्रिका है; जिसमें गुरुदत्त के साहित्य के प्रचार का प्रयास निहित है। ऐसी पत्रिकायें उद्देश्यपूर्ण होती हैं, और उन पर अगर कलात्मक सम्पादन की छाप हो तो वे निश्चित रूप से पैम्फलेट की श्रेणी से बाहर निकल आती हैं। पर प्रस्तुत पत्रिका भारतीय संस्कृति की आड़ में कम्युनिज्म के प्रति ऐसा जहर उगलती है कि साधारण पाठक को भी इसकी निष्ठा में संदेह होने लगता है।

'वीर सन्देश' बहजोई से निकलनेवाला एक सीधा-सादा पत्र है, जो घुटनियों चल कर खड़ा होना सीख गया है। सम्पादक श्री चन्द्रपाल आर्य का यह स्पूतनिक कितनी ऊँची उड़ान भर सकता है, यही बात देखने योग्य है।

एक पत्र सुनने में आया है, 'नवाङ्कुर'। नागार्जुन सम्पादक बने हैं, देखिये क्या होता है।

'वासन्ती' के इस अंक में संग्रहणीय हैं कहानियाँ—खास तौर पर बंगला कहानी 'सितार'। साथ ही कुछ लेख

भी, विशेषतः साहित्यिक — जिन्हें सम्पादक की कृपा का फल समझना चाहिये। यूँ, लेखों में संचयन-प्रवृत्ति नहीं के बराबर है। अच्छा हो, सम्पादक महोदय इन लेखों पर मेहनत करने के बजाय स्वयं लिखें।

'महिला प्रगति के पथ पर' अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी के महिला-विभाग द्वारा प्रकाशित ऐसा पत्र है जिसमें आँकड़ेबाजी ज्यादा है और जनरुचि के उपयुक्त सामग्री कम।

'भारतवाणी', कर्नाटक का हिन्दी प्रचार पत्र, इतना भ्रष्ट छपता है कि दिसम्बर को डिशंम्बर और हजारी प्रसाद द्विवेदी जो कब के पंजाब विश्वविद्यालय के हो गये हैं, उन्हें अबतक काशी में बतलाता है।

'राष्ट्रभारती' वर्धा से निकलने वाला पत्र है, जो 'राष्ट्रवाणी' ही की तरह निश्चित रूप से हिन्दी की सेवा करता है।

किन्तु इन सबसे भी उपयोगी एक पत्र है 'विज्ञानलोक'। यह ऐसा पत्र है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। यूँ चयन बुरा नहीं, फिर भी एकाध स्तंभ जो होने चाहियें, उनका न होना खटकता है। अगर यह पत्र न होकर डाइजेस्ट का रूप ले सके तो और भी उपयुक्त रहेगा।

'योजना' वेद राही के सम्पादन में काशमीर की एक ऐसी कली है जिसमें पूरे भारत की गंध मिलती है। नयनाभिराम चित्र, सुन्दर मुद्रित पर चयन की दृष्टि से कुछ फीका यह पत्र अगर चयन में कुछ और विकसित हो सके तो प्रथम कोटि की पंक्ति में आ सकता है।

गत मास का पठनीय

वासन्ती, बनारस, दिसम्बर अंक

मैं क्यों नहीं लिखता (बकुल अशोक), चलती हुई साँस (सरोज); सितार (नगेन्द्र नाथ मित्र)

राष्ट्रभारती, वर्धा, दिसम्बर अंक

स्पेन का दामाद (कल्कि), क्रान्तिकारी जीवन की एक झलक (मन्मथनाथ गुप्त), धर्मतल्ला चौरंगी और उसके तीन पुत्र (यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र)

योजना, काशमीर, दिसम्बर अंक

नगोजे (श्री वेदराही), स्नेह का मूल्य (यत्तदत्त शर्मा)

भारतवाणी, कन्नड

कालिदास के नाटक (डा० के० कृष्णमूर्ति)

विज्ञानलोक, आगरा

स्याम की लड़ाकू मछली (सुरेश सिंह), मानव शरीर की पथरियाँ (प्रीतम सिंह)

राष्ट्रवाणी, महाराष्ट्र

भाषा भगिनियों में साधर्म्य (श्री लालजी उपाध्ये), संघर्ष और कहानी (कु० कृष्णा पेन्डसे, मृदुल)

जासूस, दिल्ली

घिनौना समाज (ओ० प्र० शर्मा)

प्रकाशनार्थ सूचना

'हिन्दी उपन्यास कोष' के निर्माण में लेखकों, पाठकों तथा प्रकाशकों का सहयोग आमंत्रित हैं। इस वृहद् ग्रन्थ में हिन्दी में मार्च १९६१ तक के प्रकाशित समस्त उपन्यासों का रचनाकाल, विषय तथा महत्वपूर्ण उपन्यासों का कथासार रहेगा। लेखक, प्रकाशक अपनी प्रकाशित कृति की एक-एक प्रति तथा उसका रचनाकाल, विषय तथा लेखक का एक-एक चित्र ग्रन्थकार **जयप्रकाश शर्मा को ६८, यू० वी० जवाहर नगर, दिल्ली-६** पर भेजने का कष्ट करें। पुस्तकें लौटा दी जायेंगी। दुर्लभ पुस्तकों के विषय में अगर सूचना दे सकें, तो ग्रन्थकार आभारी होगा।

एक तरुण कवि ने अपनी प्रथम कविता प्रकाशनार्थ एक प्रतिष्ठित पत्रिका में भेजी। कविता का शीर्षक था—"मैं अबतक जीवित कैसे हूँ ?" संपादक ने कविता पढ़ी और वापस करते हुए लाल पेंसिल से लिखा—"क्योंकि इस कविता को लेकर आप खुद नहीं हाजिर हुए।"

विचार-तरंग

लेखक—दिवान चन्द शर्मा

प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—दो रुपये पचास न० पै०

यह बीस स्फुट लेखों का एक संग्रह है। समय-समय पर लेखक के मन में जो विभिन्न प्रकार के विचार-तरंग उठे हैं उन्हीं सब को एक साथ सजो कर यहाँ प्रस्तुत किया गया है। इसमें संदेह नहीं कि ये सभी विचार लेखक के व्यक्तिगत हैं; जैसा कि कई लेखों से लक्षित होता है कि रेल-यात्रा लेखक को नहीं भाती और इसी कारण इससे कतराने की कोशिश भी करते रहते हैं। लेखों के शीर्षक आकर्षक हैं, जैसे 'चुप रहो', 'मैं बोर्ड को साफ़ नहीं करूँगा', 'पीटर चेनी पढ़ो' इत्यादि। इन्हें देखकर कोई भी व्यक्ति कम-से-कम एक बार पढ़ लेने की लालसा को नहीं रोक सकता। लेखक की बड़ी ही रोचक शैली है।

पुस्तक की छपाई साफ एवं प्रच्छद-पट आकर्षक है।

धरती की पुकार

लेखक—बलदेव दत्त शर्मा

प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, नई सड़क, दिल्ली

मूल्य—तीन रुपये

इसमें किसानों के हृदय की पुकार को रखने का प्रयत्न किया गया है। कथानक का आरम्भ जमीन्दार चौधरी भूपाल सिंह के कारनामों से होता है। आरम्भ में, जब जमीन्दारी उन्मूलन कानून नहीं पास हुआ था, उनके पास काफी धन था और लोग भी, परन्तु जैसे ही जमीन्दारी गई, सब उन्हें छोड़ कर जाने को तैयार हुए। लेकिन, इसी बीच ग्रामसुधार की एक नई योजना उनके मन में आई जिसके भुलावे में भोले ग्रामवासी आ गये और चौधरीजी सर्वेसर्वा बन बैठे। बाद में एक दिन यह राज खुलकर ही रहता है और नाना प्रकार के मानसिक तनाव के कारण चौधरीजी पोखरे में डूबकर प्राण दे देते हैं। जमीन्दार साहब की मृत्यु के साथ ही कथा का अन्त हो जाता है।

कथानक में कोई नवीनता नहीं रहने पर भी प्रस्तुत करने का ढंग अच्छा है।

छपाई एवं कवर आदि में सावधानी बरती गई है।

—सुशील कुमार मिश्र

कोई कुछ कह गया

लेखक—कमल शुक्ल

प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

मूल्य—दो रुपए

'कोई कुछ कह गया' हाथ-करघा-उद्योग-विज्ञान-संबंधी एक लघु उपन्यास है। इसकी कथा मध्यमवर्ग के उन लोगों की है जो अन्दर-ही-अन्दर घुट रहे हैं, विवशताओं के बीच पल रहे हैं और इस जीवन्मृतावस्था में भी परिस्थितियाँ उनके सामने विकराल रूप बनाये खड़ी हैं। उनकी प्रत्येक राह परिष्कृत न होकर काँटों से भरी है। ऐसे ही समय में लेखक बेकारी और भुखमरी की समस्या का एक अत्यंत ही सरल हल लेकर हमारे सामने आता है। वह कहता है कि हाथ-करघा-उद्योगों का विकास, उनकी प्राथमिकता और उनका प्राधान्य हमारी निर्धनता दूर कर राष्ट्र, समाज और व्यक्ति में नई स्फूर्ति और नूतन जिन्दगी ला सकता है। उपन्यास के पात्रों के चरित्र और उनके कार्य-कलाप यह सिद्ध कर देते हैं कि चर्खा सबका मित्र है और हाथ-करघा-उद्योग बेकारों को रोजी तथा भूखों को रोटी देने में सर्वथा सहायक।

सच पूछा जाय तो यह उपन्यास फिल्मस् डिवीजन की किसी डाक्युमेन्टरी फिल्म का स्क्रिप्ट मालूम होता है। यूँ तो यह खादी-ग्रामोद्योग के विज्ञापन की तस्वीर है ही। अगर इसी को उपन्यास कहा जाय तो सप्ताह में दो-तीन उपन्यास लिख लेना कोई बड़ी बात नहीं।

कथायन

संपादक—आनन्दप्रकाश जैन

प्रकाशक—प्रकाशन प्रतिष्ठान, मेरठ

मूल्य—छह रुपए

प्रस्तुत पुस्तक में पचीस कहानियाँ संग्रहीत हैं। कहानियों का वर्गीकरण भी किया गया है—पारिवारिक

कथायें, सामाजिक कथायें, प्रणय कथायें, व्यंग्य कथायें और हास्य कथायें। इन कहानियों के अतिरिक्त "कहानी कैसे लिखें" शीर्षक लगभग बीस पृष्ठों का एक निबन्ध भी है। (लगता है कि इसका लेखक पाठकों को कहानी लिखना सिखा कर ही दम लेगा।)

सर्वप्रथम कहानियों के वर्गीकरण को लें। प्रयास तो बड़ा ही अच्छा है, किन्तु वर्गीकरण में सावधानी नहीं बरती गई है। जैसे, कुछ पारिवारिक कहानियों को सामाजिक कथाओं वाले वर्ग में रखा गया है। अस्तु।

प्रत्येक कहानी के प्रारम्भ में उसके लेखक का एक-एक पृष्ठ में परिचय दिया गया है। बड़ी ही अच्छी बात है। हाँ, इतनी अतिशयोक्ति से काम नहीं लिया जाता तो अच्छा था। संपादक को अपना व्यक्तिगत परिचय लिखते समय 'अपने मुँह मियाँ मिट्ठू' बनना शोभा नहीं देता।

पारिवारिक कथाओं में विष्णु प्रभाकर का 'दो दुर्बल हृदय', वसंत प्रभा का 'बन्द कमरा', शिवानी का 'रोमान्स' और मंगल सक्सेना की 'प्यासी बेल : हँसती कलियाँ' अच्छी लगीं। सामाजिक कथाओं में परदेशी का 'प्यार', रजनी पनिकर की 'ज़िन्दगी, प्यार और रोटी' मंगल मेहता की 'वह रात बावरी' और मनोहर वर्मा का 'नया मेहमान'; प्रणय कथाओं में राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' की 'लमसेना'; व्यंग्य कथाओं में ब्रह्मदेव का 'गतिरोध' एवं हास्य कथाओं में रामकृष्ण शर्मा का 'छप्पर फट गया था' शीर्षक कहानियाँ सुन्दर बन पड़ी हैं।

'हिन्दी कहानीकार संसद' ने कथायन को दस भागों में प्रकाशित करने का निश्चय किया है, जिसमें नई पीढ़ी के लगभग ढाई सौ कथाकारों का विस्तृत परिचय, उनके रचनाशिल्प की विशेषताओं का उल्लेख तथा एक-एक श्रेष्ठ रचना संग्रहीत होगी। इस संकलन-माला के आयोजित दस पुष्पों में से प्रस्तुत प्रथम पुष्प है। निश्चय ही यह काम बहुत बड़ा है, लेकिन बहुत भला भी है।

एक बात कुछ अजीब-सी लगी। सम्पादकीय में श्री आनन्द प्रकाश जैन ने लिखा है कि उन्हें गुटबन्दी से घृणा है। किन्तु पुस्तक पढ़ने पर यह अनुभव होता है कि उन्हें दिल्ली से प्रकाशित एक मासिक विशेष से सबसे ज्यादा घृणा है। कई जगह उन्होंने उस मासिक पत्रिका के सम्पादक को बुरा-भला एवं झक्की कहा है।

छपाई साफ-सुथरी एवं गेट-अप सुन्दर है।

—विचारकेतु

तल्खियाँ (कविता-संग्रह)

कवि—साहिर लुधियानवी

अनुवादक—प्रकाश पंडित

प्रकाशक—राजपाल एंड संज, दिल्ली

मूल्य—साढ़े तीन रुपये

प्रस्तुत पुस्तक के दो नाम जैसे लगते हैं : प्रच्छद पर 'तल्खियाँ' और पृष्ठशीर्षों पर 'मेरे गीत तुम्हारे हैं', जिसे अनुचित समझ कर सावधान होने पर अंतरंग प्रच्छद के पृष्ठ पर एक वाक्य की सफाई उपस्थित कर, भला किया गया है। यों, दोनों नामों का संकलन से कोई संग नहीं प्रतीत होता है। यदि 'मेरे गीत तुम्हारे हैं' के नाते "न जाने कौन से सदमे उठा रही हो तुम" का संबोधित स्त्रीलिंग हो तो "सुर्ख तूफान की मौजों" के नाम पर वह 'रूसी सेना' के व्याकरण से अतिपुंल्लिंग भी हो सकता है। और, 'तल्खियाँ' वाली तितास के नाते अगर 'ताजमहल' जैसी राष्ट्रप्रसिद्ध कविकृति को लिया जाय तो वहाँ "मेरी महबूब कहीं और मिला कर मुझसे" जैसी आखेटस्थल-विनिर्णय की ऊहा तल्खियों के कूप में भंग बन उठती है। संपादक की भूमिका से लगता है कि कवि तल्ख शब्द पर ही जोर देकर संकलन का नामकरण कर गया है। यह, तर्क की जगह के बावजूद, स्वीकार है। यों, इसकी सभी कविताएँ अतिप्रशंसित हैं; फिर भी कवि में उर्दू की मुक्तकात्मकता से प्रबन्धोत्प्रेक्षकता ही अधिक है।

खैयाम की मधुशाला

रूपान्तरकार—बच्चन

प्रकाशक—राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य—ढाई रुपये

यह सन् १९३५ से आजतक हिन्दी में बहुपठित पुस्तक हो चुकी है। इसके विषय में, फिट्जेरल्ड के अंगरेजी के अनुवाद का रूपान्तर होने के नाते ही लोग अधिक परि-

चित हैं। समीक्षक के समक्ष 'ईरान के सूफी कवि' में संकलित खैयाम के मूल और अनुवाद हैं, और उसके साथ मिलाने पर फिट्ज़ेरल्ड और उनका यह तदनुसारी अति-रंजित लगता ही है। अनुवादक भी यही मानते हैं और फिट्ज़ेरल्ड तो यही मानकर अनुवाद के नाम पर काम कर गए। यों, हिन्दी के पाठकों को यदि कुछ पाना है, और सचमुच सही पाना है, तो अनुवाद का अनुवाद नहीं, बल्कि मूल का ही प्रकृत अनुवाद चाहिए। अनुवाद और उसके साथ प्रसंग-शब्दों पर टीका-टिप्पणी भी अलग से। वह तो इसके परिशिष्ट में किया ही गया है। खैयाम पर (अंगरेजी के अनुवाद के नाते ही) काफी काम हो चुके हैं। यह पुस्तक दर्जन वर्ष पूर्व से साधारण पाठकों में इन हिन्दी कवि को अपने प्रारंभ से ही परिचित कराती रही। अब रूमी और हाफिज (जो खैयाम की एकरसता के मुकाबले कहीं अधिक बहुरस और बहुसिद्ध हैं) से भी हिन्दी वालों को कोई पूर्ण परिचित कराने की कृपा करे। सूफी सिद्धान्त लेने वाले साहित्य के छात्रों को भी, खैयाम से अधिक, वे ही काम देंगे। यह पुस्तक इतने साधारण ग्राहक पा चुकी है कि अब नई चीज और नए ग्राहक का क्षेत्र हिन्दी में निर्मित होना चाहिए। 'मधुशाला' बचनजी के लिए अपना परिचय देने का शब्द है, खैयाम की उक्त पुस्तक के नाम पर इसपर जोर देना अनावश्यक है।

युग-स्रष्टा प्रेमचन्द (महाकाव्य)

कवि—परमेश्वर द्विरेफ

प्रकाशक—भवानी बी० ए०, चिड़ावा (राजस्थान)

वितरक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय

मूल्य—५.०० : पृष्ठ—१२०

कवि को पहली दफा पढ़ा और इनकी 'अपनी दृष्टि के अनुसार' इस 'महाकाव्य' को विषय में नहीं, बल्कि सांख्यकार, ऋचा, सोम आदि पूर्ववरटितों के अनुसार यह जाना कि यह 'प्रेमचन्द' नाम की जगह किसी नाम पर भी कवि की रचना होकर पाठकों की सगुण आशा पर निर्गु-णता छा दे सकता था। कथा से अधिक कवि की यथोर्ण-नाभिः 'महाकाव्य' कही जा सकती है, यह जानने का मेरा पहला सुअवसर है। यह बात मैं [illegible] पृष्ठों में से ७५ पृष्ठों को ही पढ़ने का साहस रखकर कह सका हूँ, अतः कवि की वासना के प्रति शायद अनुचित हो सकूँ।

राजर्षि (रघुवंश के ६ सर्गों पर आधारित खंडकाव्य)

कवि—सरयू प्रसाद पाण्डेय

प्रकाशक—सद्ग्रंथागार, कलकत्ता—७

मूल्य—३.००

कागज और छपाई-सफाई में सुष्ठु और कम दाम वाला यह इस नाते ग्राह्य हो। अनुवाद होने पर 'आधारित' से अधिक ही यह सहज होता। छह को नौ सर्गों में किया हुआ यह अपनी उक्त बात का प्रमाण है कि "बिधवा एवं विधुर राज्य भर में न कहीं थे" या "छुआछूत के भूत न थे सिर पर मँडराते" या "कन्याएँ कन्या-गुरुकुल में शिक्षा पातीं" या "धनिक के कर पीड़ित तो नहीं" (कौत्स-रघु-संवाद) आदि लिंगसंप्रदाय-आरोप के अनैतिह्य अतर्क्यों के अनर्थ से भरा हुआ है और तदङ्कशय्याच्युत-नाभिनाला जैसी सहृदयता को छोड़कर कच्चिन्मृगीनामनघा प्रसूतिः का अनुवाद हो गया है। अनुवाद में समर्थ होकर भी कवि पता नहीं क्यों मौलिक-कौलिक भर ही होकर रह गया?

चाचा नेहरू (बच्चों के लायक कविता)

कवि—विष्णुकान्त पाण्डेय

प्रकाशक—वीणापाणि प्रकाशन, चक्रधरपुर (बिहार)

मूल्य—१.५०

प्रस्तुत कवि की ओर से ही बच्चों के प्रति है। फिर भी भाषा बालोपयोगी रही है, जैसे—'नहीं सिकन्दर है वह लेकिन, फिर भी विश्वविजेता' 'लन्दन में······ऊँची शिक्षा पाई, घर लौटा तो भारत माँ के आँसू पड़े दिखाई' आदि। मगर 'इसीलिए वह पंचशील का सबको पाठ पढ़ाता' आदि बांदुं-विनिर्णयों वाले पंचशील पर टिप्पणी भी होती तो बच्चे बड़े होने पर उस साधारण-ज्ञान से अव-सर का लाभ उठा लेते, क्योंकि अब पंचशील इतिहास की भूली-बिसरी चीज हो रही है। शायद यह कविता की भूल भी हो कि वह अपने समय के व्यक्ति की प्रशंसा भर होकर बाद के लिए बाकी न बच सके। बच्चों भर के लिए यह [illegible] यह भी कविता का विषय हो सकती है।

काव्य-संकलन (१/१९६० भाग)

संपादक—जयघोष और जवाहर सिंह
प्रकाशक—स्वर संगम, छपरा
मूल्य—२५ न० पै०

यह भाग 'कुंठाग्रस्त कवियों की आत्मा' को कितना भी 'समर्पित' हो, मगर संपादक-द्वय को हम इतना तो बिहारीलाल की ओर से समझाने की अपनी योग्यता मानना ही चाहेंगे कि वे 'हमारी बात' कहते हुए 'घाव की गहराई' मानकर भी इस अपनी चीज को 'नाविक के तीर' जैसे अशुद्ध शब्दों में न कहा करें। 'प्रीति परकीया' में कीर्त्ति नारायण मिश्र द्वारा "दिन की देहरी पर''' चाँद पहरुआ" प्रभाशंकर के 'मौन से भी ऊपर' में "तारों के वातायन से" उजाले के बजाय "अन्धेरा झाँकता है" और साथ ही "उनए नावों सी घटाएँ" भी, या फिर 'पुष्प' का 'बेहया जीवन' जो 'शेवन्ती-सा आकर्षक' है और फिर भी जिसमें 'कुत्तों-सा लड़ता ''''''प्यार' है—आदि असंगतियाँ तो 'नावक के तीर' नहीं होंगी। हाँ, काशीनाथ पाण्डेय के "रात भर बरसा है बद्दर" को नावक के तीर से भी अधिक रीतिदग्ध माना जायगा कि नई कविता के नामवाले इस संकलन में उसे यथापूर्व समझने की कोशिश हो।

—'लालधुआँ'

कामायनी की व्याख्यात्मक आलोचना

लेखक—श्री विश्वनाथ लाल 'शैदा'
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य—आठ रुपए

महाकवि प्रसाद की अन्यतम कृति 'कामायनी' हिन्दी का गौरव-ग्रन्थ है और हिन्दी की उच्चतम परीक्षा के पाठ्य-क्रम में उसे सर्वत्र स्थान प्राप्त है। उसकी दुरूहता और क्लिष्टता की शिकायत प्रायः सभी करते हैं। ऐसी पुस्तकों की टीकाओं और व्याख्याओं की आवश्यकता है। यह खेद की बात है कि हिन्दी में 'साकेत', 'प्रियप्रवास', 'यशोधरा' आदि की भी प्रामाणिक व्याख्याएँ उपलब्ध नहीं है। 'कामायनी' की व्याख्या के लिए इधर छोटे-मोटे प्रयत्न हुए हैं। यह शुभ लक्षण है।

शैदाजी की यह पुस्तक कामायनी के साधारण पाठक की ही सहायता कर सकेगी, विशेषाग्रही विद्यार्थी की नहीं। सच पूछिए तो न इसमें 'कामायनी' की व्याख्यात्मक आलोचना है और न आलोचनात्मक व्याख्या। यदि इसे भी व्याख्या ही कहें तब तो एम० ए० का विद्यार्थी जिस प्रकार की व्याख्या लिखता है, उसे 'महाभाष्य' कहना पड़ेगा। अधिकांश स्थलों पर सामान्य अर्थ ही दिए गए हैं, कुछेक स्थानों पर व्याख्या के नाम पर वेदों, पुराणों के संस्कृत उद्धरण। हाँ संस्कृत उद्धरणों में अशुद्धियों की भरमार है। न जाने यह लेखक की असावधानी है या प्रकाशक की लापरवाही। 'श्री मद्भागवत' 'मारकण्डे पुराण', 'वृहदारण्यकोपनिषद्' आदि तो बहुत ही खटकने वाली अशुद्धियाँ हैं। स्थानाभाव के कारण हम लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ नहीं उद्धृत कर रहे। एकाध उलझे वाक्य देखें—

'वेदों को अपौरूषेय माननेय, न मानने में इस विषय को और भी गहन बना दिया है' (आमुख)

'मनु-श्रद्धा की कथा अनेक हिन्दू ग्रन्थों में मिलती है। अतएव कामायनी की कथा को हम कथा-साहित्य से उद्धृत भी कह सकते हैं।'

न जाने इन वाक्यों के क्या अर्थ हैं। व्याख्या-प्रधान पुस्तकों में शुद्धता और सुलझाव की विशेष अपेक्षा है। तब तो और भी जब लेखक ने अपने संस्कृत-ज्ञान का परिचय यत्र-तत्र-सर्वत्र देने की चेष्टा की है।

जो कामायनी-संबद्ध सभी पुस्तकों को देख ही लेना चाहते हों, उन्हें यह पुस्तक भी देख लेनी चाहिए।

—शैलेन्द्र

कस्तूरी (उपन्यास)

लेखक—शानी
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी
मूल्य—एक रुपया

उपन्यास की कथा-वस्तु ढीली है। इसमें और भी गठन आ सकती थी। यह ढीलापन कुछ पात्रों, जिनमें मिस ताहिरा और नरेन्द्र मुख्य हैं, की निरर्थक स्थिति के कारण आया है।

यह उपन्यास आंचलिक होते हुए भी आंचलिकता

का परिवेश नहीं बना पाया। मन को छूनेवाला गुण, जो आंचलिक उपन्यास में होना चाहिए, नहीं है। विषय में ताजगी न हो और केवल जीवन का दैन्य चित्रित होकर रह जाय, इसे हम आंचलिक उपन्यास का सुन्दर स्वरूप नहीं मानते। जीवन ऐसे रंगहीन हैं, जिनमें रंग नहीं भरे जा सकते। इसे हम "बदलते हुए जीवन की गंध", जैसा कि इस उपन्यास के बारे में कहा गया है, नहीं कह सकते। प्रश्न बना रह जाता है कि मूल सामाजिक चेतना क्या है? लेखक की यथार्थवादी शैली भी इस प्रश्न को हल नहीं कर पाती।

इतना होते हुए भी लेखक वातावरण को अनुभूत कर सका है और यह अनुभूति तटस्थ है। इस उपन्यास में एक श्रेष्ठ आंचलिक उपन्यास होने की संभावना थी।

धान-माँ के संरक्षण में डोली का प्रदर्शन अच्छा हुआ है—सुपारी काटने से लेकर दयाशंकर का पहलू आबाद करने तक। जब वहीं चली गई तो चाय-घर क्या चलता और उपन्यास क्या आगे बढ़ता! डोली एकदम गुलाब है। धान-माँ कैसी मूरख कि उसे अबतक इस गुलाब की महक नहीं लगी थी! अब डोली कबतक धान-माँ की इस जड़ता के प्रति कृतज्ञता बनाए रक्खे जबकि वह एक चीज के प्रति सतर्क है कि धान-माँ की जड़ता किसी क्षण टूट सकती है। डोली को शराब नहीं पसन्द है तो न सही, अभी तो सब कुछ सीखना बाकी है और वैसे इस गाँव में शराब का मिलना कौन-सी बड़ी बात है।

—प्रभाकर मिश्र

खाद और उसके उपयोग

लेखक—शंकर राव जोशी
प्रकाशक—सत्साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली
मूल्य— तीन रुपये

खेती के लिये खाद उतना ही आवश्यक है जितना शरीर के लिये पुष्टिकर भोजन।

प्रस्तुत पुस्तक में खाद, उसके प्रकार, उसकी उपयोगिता और उसके प्रयोग आदि की विस्तृत चर्चा की गयी है। किस प्रकार की जमीन और पौधों में किस प्रकार की खाद देनी चाहिये आदि चर्चा से पुस्तक अत्यन्त उपयोगी हो गयी है।

इसकी रचना अंग्रेजी की इस विषय की प्रसिद्ध पुस्तक 'सॉइल एंड मैन्यूअर' के आधार पर की गयी है और इसके साथ ही इसके निर्माण में लेखक ने बहुत-सी पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं से भी सहायता ली है।

कुल मिलाजुलाकर पुस्तक काम की है और कृषि-विज्ञान के विद्यार्थी भी इससे उठा सकते हैं।

डाक्टर बाबा साहेब आंबेडकर

लेखक—विजय कुमार पुजारी
प्रकाशक—पुजारी प्रकाशन, ३४० कृष्णनगर, दिल्ली ६
मूल्य—तीन रुपये

भारत से छुआछूत मिटाने के लिये जिन लोगों ने संघर्ष किया उनमें डा० बाबा साहब अंबेडकर का नाम सदा अग्रणी रहेगा। बाल्यकाल से ही छुआछूत के कारण उन्हें अत्यन्त कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं और इस कोढ़ को भारत से मिटाने का इन्होंने व्रत ले लिया। इस कार्य में उन्हें गाँधीजी के आशीर्वाद के साथ-साथ महाराजा बड़ौदा की बड़ी मदद मिली।

वे 'हिन्दू समाज में मानव और मानव के बीच भेद-भाव की जो गहरी खाई विद्यमान है, उसे पार कर उसमें एकता तथा समता का वातावरण पैदा करना चाहते थे। सवर्ण और अछूत हिन्दुओं के बीच खाई पाटने के लिये स्वयं पुल बनाना चाहते थे।'

भारतीय संविधान के निर्माण में उन्होंने अमूल्य योग दिया। उन्हीं के अथक प्रयास से भारत के प्रथम जनतंत्री संविधान की रचना संभव हुई।

भारत के इन सपूत की जीवनी लिखकर लेखक ने सराहनीय कार्य किया है। अंबेडकर साहब की जीवनी अत्यन्त ही प्रेरक और अनुकरणीय है। जीवनी की भाषा अत्यन्त ही सरल और शैली प्रवाहपूर्ण है।

—विश्वनाथ

प्रभु पधारे (उपन्यास)

लेखक—झवेरचंद मेघाणी
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली
पृष्ठ संख्या—१६२ : मूल्य २.००

प्रस्तुत गुजराती भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकर स्वर्गीय झवेरचंद मेघाणी के लोकप्रिय गुजराती उपन्यास से

हिंदी में अनूदित है। इसमें ब्रह्मदेश के लोक-जीवन का इतना सजीव चित्रण है कि हमें मानना पड़ता है कि हिंदी में ऐसे उपन्यास उँगलियों पर गिने जाने लायक हैं। ऐसा लगता है कि आज जो हिंदी के उपन्यासकार अपने उपन्यासों में लोक-जीवन का चित्रण अधिक मात्रा में करने लगे हैं, गुजराती के इस महान उपन्यासकार ने यह सब कुछ बहुत पहले कर दिया। हिंदी में ऐसे उपन्यास देने का प्रयास किया जा रहा है, यह शुभ भविष्य का परिचायक है। स्थल-स्थल पर 'प्रभु पधारे' का चरित्र-चित्रण हृदय को छू लेता है। यत्र-तत्र तो ऐसा मालूम पड़ता है कि दृश्यों के चित्रण में लेखक पच्छिम के दिग्गज उपन्यासकारों से हाथ मिला सकता है। कहीं-कहीं गद्य के पात्र में उपन्यासकार ने काव्य का रस भर दिया है। मुझे गुजराती भाषा का ज्ञान नहीं, किंतु अनुवाद की भाषा की सशक्तता से मूल उपन्यास की भाषा का आभास हो जाता है। ऐसे श्रेष्ठ साहित्य के प्रकाशन के लिए सस्ता साहित्य मंडल हमारी बधाई का पात्र है। छपाई-सफाई भी मंडल की प्रतिष्ठा के अनुकूल है।

अँजोर (भोजपुरी त्रैमासिक पत्रिका)

संपादक—पाण्डेय नर्मदेश्वर सहाय

प्रकाशक—भोजपुरी परिवार, पटना

पृष्ठ संख्या—४० : एक अंक का मूल्य—७५ न० पै०

बिहार की एक लोकभाषा, भोजपुरी भाषा में यह त्रैमासिक पत्रिका है। यों भोजपुरी बिहार के बाहर भी बोली जाती है। इसका क्षेत्र काफी लंबा-चौड़ा है। इस अंक के संपादकीय में संपादक ने लिखा है—"कुछ लोगों के मन में अब भी यह शंका बनी हुई है कि अलग भोजपुरी राज्य कायम करने के लिए भीतर-ही-भीतर कोशिश हो रही है। हमारी समझ में इस संदेह के फैलने का कारण यही है कि कुछ लोग भोजपुरी को अपने राजनीतिक स्वार्थ का साधन बनाने के फेर में हैं।"......साथ ही संपादक ने इस बात की स्पष्ट पुष्टि की है कि वास्तव में बात ऐसी नहीं है। इस भाषा की पत्रिका का प्रकाशन साहित्य-सेवा के लिए किया गया है। अंक का सारा मैटर देखने से भी हमें इसी शुभ कार्य की सूचना मिलती है।

'भोजपुरी' को भोजपुरी भाषा-भाषी विद्वानों का अपूर्व सहयोग मिला है। वे साहित्यकार जो भोजपुरी भाषा-भाषी हैं और खड़ी बोली में रचनाएँ करते हैं, उन्हें खुले दिल से इस पवित्र साहित्यिक अनुष्ठान में योग देना चाहिए।

हाँ, मुखपृष्ठ पर राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद के भाषण का एक पैरा दिया गया है, जो खड़ी बोली में है। उसका अनुवाद शुद्ध भोजपुरी में दिया जा सकता था। इससे भोजपुरी का महत्त्व घटने के बजाय बढ़ ही जाता। प्रत्येक संपादक और प्रधान संपादक हमारी बधाई के पात्र हैं, क्योंकि प्रकाशन और सम्पादन दोनों सुरुचिसम्पन्नता के परिचायक हैं।

—हिमांशु श्रीवास्तव

यशवंतरावजी चव्हाण (जीवनी)

लेखक—श्री रंजन परमार

प्रकाशक—श्री लेखन-वाचन भंडार, पूना-२

पृष्ठ-संख्या – १०० : मूल्य—१.५०

प्रस्तुत पुस्तक में बम्बई के मुख्यमंत्री यशवंतरावजी चव्हाण का जीवन और उनके राजनीतिक कार्य-कलापों का विशद वर्णन है। प्रस्तुत आलोचक नहीं जनता कि इस प्रस्तुत का प्रकाशन, व्यक्ति-पूजा की भावना से प्रेरित होकर किया गया है या श्रद्धा के वश होकर। क्योंकि इस पुस्तक में केवल नायक के गुणों का ही बखान किया गया है। वैसे, लेखक के लिए यह खतरा बना ही हुआ होगा कि नायक अभी अस्तित्व में है और फिर 'जल में रहकर मगर से वैर करना' लेखक-जैसा बुद्धिजीवी कैसे स्वीकार करता? दूसरी बात यह कि श्री परमार ने यह जीवनी इस शैली में लिखी है कि पढ़ते-पढ़ते अनेकों बार मन ऊब जाता है, पुस्तक हाथ से छूट-छूट जाती है। उन्हें जीवनी और संस्मरण लिखने के शिल्प की ओर से इतना असावधान नहीं होना चाहिए था।

—मुक्तिदूत

● जयदेव के गीतगोविन्द का अनुवाद आज भी जर्मनी में विशेष आदर पा रहा है। अनुवादक का नाम है फेडरिक रुकार्ट जो १७८८ से १८६६ तक थे। इन्होंने इसके अलावा ऋग्वेद-अथर्ववेद के कुछ चुने हुए मंत्रों, पुराणों के कुछ प्रसंगों और सम्पूर्ण भर्तृहरि तथा कालिदास का अनुवाद जर्मन भाषा में किया था। ये संस्कृत-चर्चा के विषय में महाकवि गेटे को अपना आदर्श मानते थे। गीतगोविन्द के लिए इन्होंने फ्रांज पेप की शरण ली थी, जो संस्कृत के सुविज्ञ थे। इन्होंने ही उन्हें तब मूल प्रति दी। रुकार्ट का यह अनुवाद ललित छन्दों में होकर भी केवल भावानुसारी न होकर अर्थ-भाव दोनों में सिद्ध है। संस्कृत के अलावा रुकार्ट अरबी, फारसी और हिब्रू भी जानते थे। ये बर्लिन विश्वविद्यालय में प्राच्य भाषा के अध्यापक रहे। पश्चिम जर्मनी के तरुण संस्कृतज्ञ पंडित अलफ्रेड वारफेल के शब्दों में इन्हें प्राच्य की आद्याशक्ति ने अपनी माया के फंदे में जकड़ लिया था।

● पान्डिचेरी के इन्स्तित्यूत फ्रांसिस द्य इन्दोलोगिया से कबीर-ग्रन्थावलि (दोहा) प्रकाशित हुई है। पंडित सारलोटि व्देविल का यह टीका-समेत अनुवाद है। इस पुस्तक में कबीर के साहित्य, दर्शन और जीवन के संबंध में मनोयोगी चर्चा की गई है। सारलोटि का विचार है कि कबीर की भक्ति वैष्णव-धारणा से अधिक सूफीवादी है। सूफी लोग जिस अर्थ में 'प्रेम' को समझते हैं कबीर उसी अर्थ में 'भक्ति' के अन्तःस्थित भाव को समझना चाहते हैं।

● भारततत्वविद् पंडित डब्लू० नार्मन ब्राउन की 'दि सौन्दर्य लहरी' नामक पुस्तक का प्रकाशन हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस ने किया है। इसमें शाक्त भक्तों के ५२ संस्कृत स्तोत्रों की टीका और भाष्य किया गया है। अनुवादक और भाष्यकार ब्राउन ने इस पुस्तक में तन्त्रसाधना का विस्तारपूर्वक वर्णन भी किया है।

● तोकियो विश्वविद्यालय के विशिष्ट विद्वान बौद्ध अध्यापक नाकामुरा हाजिमि ने अपनी 'इन्दो तेत्सुगाकू शिसोशोकि वेदान्त तेत्सुगाकू श' [भारतीय दार्शनिक विचारधारा : वेदान्त शास्त्र के पूर्वपक्ष का इतिहास] नामक पुस्तक में कई नए और अपरिचित तथ्यों को उपस्थित किया है। यह पुस्तक इतने दिनों से उपेक्षित ही थी। इटली के विद्वान युसेप्पे मारिचिनि ने ही इस पुस्तक के प्रति विश्व के विद्वन्मंडल का ध्यान आकृष्ट किया है। मारिचिनि का विचार है कि वेदान्त शास्त्र के पूर्वपक्ष के इतिहास के विषय में दार्शनिकों में जो विभिन्न मतमतान्तर रहा है उसका कुछ समाधान इस पुस्तक के द्वारा अध्यापक नाकामुरा ही कर सके हैं। शंकराचार्य के काल के संबंध में पंडितों के बीच बहुतेरे संशय हैं। मारिचिनि के विचार से अध्यापक नाकामुरा शंकराचार्य के काल-निर्णय के विषय में बहुत ज्यादा इतिहास-भित्तिक और युक्ति-आश्रयी हैं। साधारण तौर पर माना जाता है कि शंकराचार्य ७८८-८२० के बीच के व्यक्ति हैं। किन्तु नाकामुरा ने शंकराचार्य और अन्यान्य वेदान्त शास्त्र के विद्वानों का काल-निर्देश इस प्रकार किया है : भक्तिहरि ५३०-६३० ई०, मंडन मिश्र ६७०-७२० ई०, शंकराचार्य ७००-७५० ई०, सुरेश्वर ७००-७७० ई०, पद्मपाद ७२०-७७० ई०, भास्कर ७५०-८०० ई०, वाचस्पति मिश्र ८४१ ई०। इस कालनिर्णय के साथ ही नाकामुरा ने भारतीय दर्शनशास्त्र की भी अच्छी विवेचना की है। विशिष्ट प्राच्यतत्वविद् युसेप्पे तुच्चि ने अपने एक प्रबंध में इस पुस्तक के लिए श्रद्धापूर्वक नाकामुरा का नाम लेते हुए कहा है कि इस पुस्तक के अंगरेजी में अनूदित होने से गवेषकों को बड़े ही हित की चीजें प्राप्त होंगी। प्रसंगवश यह दुःख के साथ कहना पड़ता है कि नाकामुरा की इस पुस्तक के परिचयदाता श्री मारिचिनि आज परलोकवासी हो चुके हैं।

हमारे नवीन प्रकाशन

पुस्तक	लेखक	मूल्य
कुछ पुरानी चिट्ठियाँ	जवाहरलाल नेहरू	१०.००
इतिहास के महापुरुष (संस्मरण)	जवाहरलाल नेहरू	३.००
राजाजी की लघु कथाएँ (कहानियाँ)	राजाजी	१.५०
रूस में छियालीस दिन (यात्रा)	यशपाल जैन	३.००
पत्र-व्यवहार भाग—३	संपा० रामकृष्ण बजाज	३.००
मनुष्य का बचपन (मानव की कहानी)	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	१.००
मैं इनका ऋणी हूँ (संस्मरण)	इन्द्र विद्यावाचस्पति	२.००
सुभाषित-सप्तशती (नीतिवचन)	मंगलदेव शास्त्री	२.५०
मानव-अधिकार (इतिहास)	विष्णु प्रभाकर, राजदेव त्रिपाठी	१.००
शारदीया (नाटक)	जगदीशचन्द्र माथुर	१.५०
सर्वोदय-सन्देश	विनोबा	१.५०
चम्पू भारत	अनन्त कवि	०.३७
आधुनिक सहकारिता	विद्यासागर शर्मा	२.००
बंगला साहित्य-दर्शन	मन्मथनाथ गुप्त	४.००
खंडित पूजा (कहानी-संग्रह)	विष्णु प्रभाकर	३.००
भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास	इन्द्र विद्यावाचस्पति	५.५०
कर भला, होगा भला (मैथिली लोक-कथाएँ)	भगवानचन्द्र 'विनोद'	१.५०
प्राकृतिक जीवन की ओर (स्वास्थ्योपयोगी)	सं० विट्ठलदास मोदी	१.५०
पुष्पोद्यान	शंकरराव जोशी	३.००
अक्षर-गीत (बालोपयोगी)	कमला रतनम्	२.००
जब दीदी भूत बनी "	विष्णु प्रभाकर	१.००
दुनिया के अचरज "	मुरारिलाल शर्मा	१.००
मूरखों की दुनिया "	नारायणदत्त पांडे	१.००
भालू बोला "	राधेश्याम भिंगन	१.००
सेवा करे सो मेवा पावे "	यशपाल जैन	१.००
बहादुरी का भूत "	अनु०—विश्वनाथ गुप्त	१.५०
एक थी चिड़िया "	यशपाल जैन	१.००

ये तथा अन्य पुस्तकें अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से माँगिये।
वहाँ न मिलें तो हमें अवश्य लिखिये।

सस्ता साहित्य मंडल

कनॉट सरकस, नई दिल्ली

—नवसाक्षरों के लिए उपयोगी साहित्य को प्रोत्साहन देने की भारत सरकार की योजना के अन्तर्गत केन्द्रीय शिक्षा मन्त्रालय ने भारतीय भाषाओं के नवीन साहित्य की ७ वीं प्रतियोगिता में हिन्दी की जिन आठ पुस्तकों को ५-५ सौ रुपये के पुरस्कारों की घोषणा की है, उनके नाम इस प्रकार हैं—१. 'विनोबा के पावन प्रसंग' (सुरेशराम भाई), २. 'वन सम्पदा' (रामचन्द्र तिवारी), ३. 'झलकारी' (शंकरराम) ४. 'समय का मोल' (जगन्नाथ प्रभाकर), ५. 'जब हिमालय बोला' (सुभद्रा देवी), ६. 'गांउ का सुरपुर देउ बनाय' (श्यामसुन्दर मिश्र 'मधुप'), ७. 'जीवन परिवर्तन' (ओमप्रकाश गुप्त) ८. 'पंचों का फ़ैसला' (राधेश्याम शर्मा)। इन पुस्तकों में से ५ सौ रुपये के अतिरिक्त पुरस्कार के लिए १ सर्वोत्तम पुस्तक का चुनाव आगामी फरवरी या मार्च तक होगा। एतदर्थ ये पुरस्कृत लेखकगण अपनी पुस्तकों का अँग्रेजी रूप शिक्षा-मन्त्रालय को भेज सकते हैं। इस ७ वीं प्रतियोगिता के लिए इस वर्ष लगभग ६०० पुस्तकें आई थीं। यह योजना शिक्षा मंत्रालय ने सन् १९५४ में प्रारम्भ की थी।

—भारत में ब्रिटेन के भूतपूर्व राजदूत श्री मैकडानल्ड भारत पर एक पुस्तक लिखेंगे, जिसमें वे अपने ५ वर्षों के भारत-प्रवास के अनुभव और संस्मरण लिखेंगे। पुस्तक १०० पृष्ठों से अधिक की नहीं होगी।

—सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागाध्यक्ष डॉ० रामजी उपाध्याय प्रमुख विद्वानों की सहायता से संस्कृत साहित्य का अब तक का इतिहास लिख रहे हैं। यह कार्य उन्हीं की देख-रेख में हो रहा है। इस ग्रन्थ में १६ वीं से २० वीं शताब्दी तक के संस्कृत साहित्य का इतिहास रहेगा।

—हिन्दी-टेलीप्रिंटर का कुंजीपटल हिन्दीटाइपराइटर के कुंजीपटल के तैयार होने पर निर्भर है। हिन्दी टाइपराइटर का कुंजीपटल बन चुका है, अतः अब टेलीप्रिंटर का कुंजीपटल भी शीघ्र तैयार हो जायगा।

—प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार और 'सरस्वती' के भूतपूर्व सम्पादक श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी और प्रख्यात नाटककार सेठ गोविन्ददास को क्रमशः सागर और जबलपुर के विश्वविद्यालयों ने उनकी साहित्य-सेवाओं को दृष्टि में रखकर 'डाक्टरेट' की सम्मानित उपाधियों से विभूषित किया है।

—उत्तर प्रदेश सरकार ने अपने जिला-अधिकारियों को यह आदेश दिया है कि प्रेस तथा रजिस्ट्रेशन अधिनियम के पालन में शिथिलता बरतने वाले पुस्तक-प्रकाशकों के विरुद्ध कार्यवाही की जाय। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि उक्त अधिनियम की धारा ६ (ब) के अधीन प्रकाशकों के लिए अपनी प्रत्येक प्रकाशित पुस्तक की कुछ प्रतियाँ शिक्षा-निर्देशक के कार्यालय को भेजनी आवश्यक होती हैं।

—जर्मन बुक ट्रेड की ओर से विश्व के प्रख्यात विद्वान् और भारत के उपराष्ट्रपति डॉ० राधाकृष्णन् को १९६१ का शान्ति-पुरस्कार दिया जायगा। गत वर्ष यह पुरस्कार डॉक्टर थियोडोर थेरु को और इस वर्ष सुप्रसिद्ध ब्रिटिश प्रकाशक श्री विक्टर गोलांफ़ को दिया गया है। डॉ० राधाकृष्णन् को यह पुरस्कार अगले वर्ष अक्तूबर में आयोजित की जाने वाली अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक-प्रदर्शनी के अवसर पर प्रदान किया जायगा।

—भारत सरकार के केन्द्रीय संस्कृत मण्डल ने केन्द्रीय संस्कृत संस्थान की योजना तैयार करने के निमित्त डॉ० पी० वी० काणे, श्री क्षेत्रेश चट्टोपाध्याय, डॉ० वी० राघवन् और श्री सरस्वतीप्रसाद चतुर्वेदी की एक उपसमिति बनाई है।

—पेशावर के एक ग्रामीण परिवार से 'कुरान' की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है। यह प्रति फिरोजशाह तुगलक के शासन-काल में लिखी हुई थी और इसे 'कुफ़ी' और 'बहार' की मिश्रित प्रणाली पर लिखा गया है। समूची पुस्तक में 'अल्ला' शब्द स्वर्ण अक्षरों में अंकित है। इस पुस्तक को बहाबलपुर के अजायबघर में रखा जायगा।

—कोलम्बो में आयुर्वेद की प्रसिद्ध पुस्तक 'चरक संहिता' का संस्कृत से सिंहली भाषा में अनुवाद प्रकाशित

किया गया है। इसके अतिरिक्त उस देश के औषधि-विभाग ने 'सुश्रुत संहिता' का अनुवाद भी शुरू करा दिया है।

—भारतीय मानक-संस्था ने पुस्तकों के मुखपृष्ठ के आकार-प्रकार का मसौदा तैयार किया है। इसमें छापी जाने वाली सामग्री और सम्पादक का मन्तव्य आदि छापने की पूरी व्यवस्था होगी, लेकिन इस तरह की कोई पाबन्दी नहीं रखी गई है, जिसमें पुस्तक को प्रभावशाली बनाने में बाधा पड़े। मानक तैयार करने में अन्तर्राष्ट्रीय कापीराइट करार का भी ध्यान रखा गया है। भारत सरकार ने इस करार की पुष्टि की है। मानक के मसौदे की प्रतियाँ भारतीय मानक-संस्था, नई दिल्ली या उसकी बम्बई, कलकत्ता और मद्रास शाखाओं से मिल सकती हैं।

—प्रेस और पुस्तक रजिस्ट्री (संशोधन) कानून १९६० के अन्तर्गत अब यह जरूरी हो गया है कि प्रत्येक समाचार-पत्र की प्रत्येक प्रति में मुद्रक, प्रकाशक और सम्पादक के नाम के साथ समाचार-पत्र के मालिक का नाम भी छापा जायगा।

—नयी दिल्ली, २० जनवरी। केंद्रीय हिन्दी शिक्षा समिति ने अहिन्दी भाषा-भाषियों के राज्यों में हिन्दी के प्रचार का काम करने वाली बहुत-सी संस्थाओं के लिए एक मुख्य संस्था बना देने का निश्चय किया है। इस नयी व्यवस्था से अहिन्दी राज्यों में हिन्दी भाषा के विकास में विशेष रूप से मदद मिलेगी। अभी तक लगभग हर संस्था परीक्षा लेने का काम कर रही है और प्रयत्नशील है कि उसका क्षेत्र अधिक-से-अधिक बढ़ जाय। कुछ संस्थाओं ने इन परीक्षाओं को "आमदनी का साधन" बना लिया है। कई संस्थाओं की इस तरह की आपसी दौड़ में परीक्षाओं का स्तर गिरता चला जा रहा है। नयी अवस्थाओं में अहिन्दी राज्यों में काम करने वाली ये सभी संस्थायें एक केन्द्रीय संस्था द्वारा बनाये गये नियमों का पालन करेंगी। परीक्षा का स्तर और विभिन्न हिन्दी प्रचार संस्थाओं का क्षेत्र भी यही एक संस्था निर्धारित करेगी।

हमें यह कहना है

सहयोगिता : प्रकाशन-उद्योग : एक सैद्धान्तिक प्रश्न

चालू वर्ष के अपने चौथे अंक में, 'समस्याएँ : टिप्पणियाँ' शीर्षक स्तंभ में हमने श्री गोकुलदास धूत, नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर का एक पत्र प्रकाशित किया था कि केवल वितरण पर ही सहकारी आधार लागू करने की बात क्यों सोची जाय, प्रकाशन और उत्पादन पर क्यों नहीं। इस प्रश्न पर गौर कर देखा जाय तो इससे उक्त प्रकार के एकांगी चाहनेवालों पर पहले तो उनकी नैतिकता को लेकर शक पैदा होता है, और दूसरे किसी सहकार के नाम पर केन्द्रीयकरण के प्रति विरोध भी। हम इन दोनों दृष्टियों का समर्थन करते हैं और तदनुसार सहकारमात्र का विरोध करते हैं। हमने इसके पूर्व वाले अपने मत में भी यह बात कही है कि विभिन्न देशों की मौजूदा राजनीति ने अपनी स्थिरस्वार्थिता का लाभ उठाने के लिए तमाम उद्योगों के उत्पादन-वितरण पर सहयोगिता नाम से एक संस्था को लाद कर उसे अपनी एकछत्रात्मक सत्ता के स्वार्थ में जबकि बाँध लिया है, तो मौजूदा विश्व के ईमानदार जनसत्ता-चिन्तकों को उसके विरोध में पुनः व्यक्ति की सत्ता और उसके व्यक्तिगत उद्योग को प्रतिष्ठित करने की बात सोचनी पड़ रही है। उक्त संपादकीय में हमने केन्द्रीय पुस्तकालय-पदाधिकारियों का व्यक्तिग्राहकत्व-विरोधी तर्क भी अपने पक्ष के प्रमाण में उपस्थित किया था और विशेषकर शिक्षा और उसके साधन की नितान्त व्यक्तिगत विशेषता की भी दुहाई दी थी। सहयोगिता, और वह भी प्रत्येक जन की व्यक्तिगत सहूलियत और आकांक्षा पर प्राथमिक ध्यान देने के बजाय सरकारी माँग को प्राथमिकता देने की, बड़ी खतरनाक है। दुर्भाग्य है कि हमारे देश के अड्डेदार लोगों में विदेश के गलत-सही सिद्धान्तों को, जबकि उनकी उस समय तक खरी-खोटी काफी प्रकट हो चुकती है और तदनुसार नई चिन्ता का निर्माण हो चुका रहता है, अमल में लाने की सतही नासमझी बड़ी तेजी से आया करती है। पुस्तक-प्रकाशन-व्यवसाय के मामले में भी, जहाँ उसकी किसी भी प्रकार की आवश्यकता नहीं है, वह नकल में लाया जा रहा है। होना तो यह चाहिए कि पुस्तकों की विषयगत आवश्यकता के लिहाज से, विषयपूर्ति मात्र के लिए, उत्पादन के कुछ विषयों पर ही सहयोगिता सोची जाय, और जहाँ मुनाफे और खपत के नाम पर सहयोगिता के पदाधिकृतों और उनकी पृष्ठपोषक राजकीय नीतियों का मुनाफा बन सकने की गुंजाइश बनने का अवसर बना करता हो, वहाँ सहयोगिता को प्राणपण से लागू न होने दिया जाय। ऐसी गुंजाइश विगत चार दशकों में संसार के इतिहास के बहुत बड़े दुर्भाग्य का हस्तामलक को चुकी है। शोध-अनुसंधान और प्रमुख विषयों की शिक्षण-संस्थाएँ, उन-उन के जिस विषय की आवश्यक पुस्तकें कम हों, उन्हें तैयार करें और प्रकाशित करें, या अपने-अपने क्षेत्र के पुस्तक-वितरकों से सहायता लें—अधिक-से-अधिक कोई-एक ऐसी योजना सोचने का औचित्य हो सकता है। वह भी हिन्दी-प्रकाशक-संघ का नहीं। किन्तु, रस-साहित्य और समाज तथा राजनीति के साहित्य पर सहयोगी नाम की कोई संस्था वैचारिक गुलामी और सरकारी मुँहदेखी नहीं करेगी—इसे शायद कोई भी सचेतन व्यक्ति मानने को तैयार हो। और, जहाँ तक राजनीतिक और रसिक साहित्यों का प्रश्न है, वे व्यक्ति के आग्रह और रसज्ञता पर ही निर्भर होने चाहिएँ और हर ईमानदार व्यक्ति और संगठन को यही देखना चाहिए कि हर किसी ग्राहक व्यक्ति का आग्रह या रसज्ञता किसी प्रकार कुंठित न होने पाए। यही व्यक्ति, व्यापार का सही क्षेत्र है। सरकार तो केवल अपने विषय और खुशामद को जानती-देखती है और वह जब बदल जाती है तो उसके दरबारियों की दुर्गति जैसा दुःख व्यापार के झेलने की परम्परा नहीं होनी चाहिए।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-काउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा ... पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

वर्ष ७ : अंक ७
मार्च १९६१

अध्ययन, और अध्ययन....

बिहार-केसरी स्वर्गीय श्रीकृष्ण सिंह

सबसे पहला मेरा ध्यान इस पुस्तकालय के प्रायः पैंतालिस वर्ष की जिन्दगी पर जाता है। यह मामूली बात है कि किसी चीज की बुनियाद अथवा उद्गम को बताना कुछ कठिन होता है क्योंकि जो चीज आगे चलकर एक विशिष्ट, खास शक्ल धारण कर लेती है उसकी बुनियाद में ऐसी छोटी-छोटी चीजें होती हैं जिनमें किसी एक को उसके उद्गम का स्रोत बताना कठिन हो जाता है। इतना ही मैं कह सकता हूँ कि मुझे पुस्तकों से सदा प्रेम रहा। एक तरह से इस पुस्तकालय का प्रारम्भ एम० ए० की परीक्षा की पाठ्य-पुस्तकों से और बी० एल० की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के बाद जब मैं एम० एल० की परीक्षा में शामिल होने के ख्याल से उसकी तैयारी में लगा तो उसके लिये कानून की कुछ उच्चकोटि की पुस्तकें जो मुझे खरीदनी पड़ीं, उनसे हुआ। किन्तु जब मैं इस पुस्तकालय के विविध विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों का ख्याल करता हूँ तो मैं कह सकता हूँ कि १९१५ ई० के आरम्भ में वकालत पेशे में चन्द महीने के बाद ही बाजाप्ता ढंग से इस पुस्तकालय का जन्म उन प्रायः दो दर्जन पुस्तकों से हुआ, जिनमें Public finance सम्बन्धी आधा दर्जन Standard किताबें और Grren's History of the English people की एक पूरी सेट थी। सचमुच कहिये तो इस पुस्तकालय का आरम्भ उसी समय हुआ पाठ्य-पुस्तकों के घेरे से निकलकर साधारण पुस्तकों संग्रह की ओर मैं मुड़ा।

इस पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की पुस्तकों का संग्रह है किन्तु ऐसा इसलिये नहीं है कि मैंने प्रारम्भ से ही सोचकर रखा कि अंत में मुझे इस संग्रह को एक सार्वजनिक पुस्तकालय का रूप देना है और इसलिये इसमें विभिन्न विषयों से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों का होना आवश्यक है। ज्ञान की विभिन्न शाखाओं की ओर मेरी अभिरुचि क्रमशः बढ़ती गयी और जिस शाखा की ओर मेरी अभिरुचि गई उसके सम्बन्ध में पुस्तकों का संग्रह मैंने शुरू कर दिया। सबसे पहले मेरी अभिरुचि इतिहास तथा अर्थशास्त्र की ओर गई, इसलिये, जैसा कि मैंने अभी कहा, इस संग्रह का आरम्भ इतिहास तथा अर्थशास्त्र की पुस्तकों से हुआ। इतिहास के भीतर भी मेरी अभिरुचि में परिवर्तन होता गया और अंत में वह भारतवर्ष के पुराने इतिहास ही नहीं बल्कि मानव जाति के पुराने इतिहास की ओर मुड़कर चली। यही कारण है कि आप इस पुस्तकालय में पुरातन इतिहास से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों में अमेरिका की माया सभ्यता सरीखी लुप्त सभ्यताओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों को भी पायेंगे। पुरातन सभ्यता के अध्ययन की अभिरुचि ने मुझमें इस विचार को पैदा किया कि पुरातन भारतीय संस्कृति की आत्मा का उचित परिचय तथा जानकारी प्राप्त करने के लिये संस्कृत का ज्ञान होना आवश्यक है और तब मैं संस्कृत के अध्ययन की ओर मुड़ा। इस पुस्तकालय में कुछ संस्कृत की पुस्तकों का होना इसी का द्योतक है। जहाँ मैं इतिहास में Grren's History of the English people से निकलकर बढ़ता हुआ संस्कृत के अध्ययन पर आ पहुँचा वहाँ मैं अनेक दिनों तक अर्थशास्त्र के अध्ययन में ही अपने को बाँधकर नहीं रख सका। इतिहास का विद्यार्थी राजनीति-शास्त्र के अध्ययन की ओर बढ़ने से अपने को रोक नहीं सकता था और इसलिये कुछ दिनों के बाद राजनीतिशास्त्र और विशेषकर उससे सम्बन्ध रखनेवाले दर्शन की ओर बढ़ा और इस पुस्तकालय में राजनीति से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों का होना इसी अभिरुचि का परिणाम है।

कभी-कभी छोटी घटना भी जीवन में बड़ा परिवर्तन लाने का कारण बन जाती है। जब १९३० में गिरफ्तार होकर जेल पहुँचा तब राजनीति-दर्शन से सम्बन्ध रखने वाली एक पुस्तक में Pragmatic philosophy की चर्चा पाई। मेरे मन में आया कि Political philosophy के तत्वों को हृदयंगम करने के लिये General philosophy का जानना आवश्यक है और इसके बाद मैं General philosophy की ओर मुड़ा। एक बार दर्शन की दुनिया में दाखिल होना था कि मुझे अनुभव हुआ कि इस विश्वक्रम के पीछे काम करनेवाले

सत्य "Truth" को समझने और जानने के लिये मनुष्य के अन्दर और बाहर के तथ्यों की जानकारी भी आवश्यक है। मेरा ऐसा महसूस करना मेरे लिये खराब भी हुआ और अच्छा भी। खराब इसलिये कि मनुष्य की जीवन-अवधि सीमित है और अनेक दिशाओं में खिंच जाने पर उसके ज्ञान में वह गहराई नहीं आती है जो गहराई भी आवश्यक है। किन्तु ज्ञान की विभिन्न दिशाओं में खिंच जाने का जो व्यावहारिक प्रभाव मेरे जीवन पर पड़ा है, उससे मैं समझता हूँ कि यह मेरे लिये अच्छा ही नहीं बल्कि बहुत अच्छा हुआ।

Pragmatism के विचार के धक्के में पड़कर जब मैंने Durant's story of philosophy नाम की पुस्तक के द्वारा दर्शन-जगत में प्रवेश किया, तो वहाँ मैंने अपने को आश्चर्यमय जगत में पाया। देखा कि किस प्रकार संसार के मेधावी पुरुष विश्वक्रम के पीछे निहित reality की ओर और उस विश्वक्रम में मनुष्य के स्थान की खोज में सदियों से लगे आ रहे हैं। मेरे मानसिक जगत में चंचलता आई। मैंने समझा कि ज्ञानोपार्जन का प्रधान मतलब reality को जानना ही हो सकता है और इसलिये मेरा ध्यान ज्ञान की उन शाखाओं की ओर जाने लगा जिनका सम्बन्ध मनुष्य और reality के अध्ययन के साथ है। इसलिये जहाँ मैंने जेल में pragmatic शब्द के धक्के में पड़कर Durant's story of philosophy के द्वारा दार्शनिक जगत में हठात् अपने को दाखिल किया, वहाँ एक आई० ए० के विद्यार्थी की तरह psychology की प्रारम्भिक पुस्तकों को भी पढ़ना आरम्भ किया। इस पुस्तकालय में philosophy की पुस्तकों के साथ मनोविज्ञान की और विशेषकर मनोविज्ञान-विश्लेषण सम्बन्धी पुस्तकों का एक अच्छा संग्रह पायेंगे। इस पुस्तकालय में General literature, sociology और anthropology सम्बन्धी पुस्तकों का होना भी इसी अभिरुचि का परिणाम है।

विश्वक्रम के पीछे निश्चित सत्य की जानकारी प्राप्त करने में विज्ञान के अन्वेषणों से भी बड़ी सहायता मिली है। दर्शन का शाश्वत प्रश्न (eternal problem) appearance & reality को विज्ञान ने और भी पेचीदा किन्तु रोचक बना दिया है। यद्यपि विद्यार्थी-अवस्था में Ganot's physics ही पढ़कर मुझे संतोष करना पड़ता था तथापि मनुष्य के अन्दर जो how & why का एक स्वाभाविक और सुन्दर कौतूहल है उसने मुझे science के मूल सिद्धान्तों के जानने के चक्कर में डाला। इस पुस्तकालय में आप विज्ञान तथा जीवशास्त्र की पुस्तकों का भी एक अच्छा संग्रह पायेंगे। जमीन की सतह पर अनेक समय तक रेंगते रहने के बाद मनुष्य को अब उससे उठकर बाहरी space में उड़ने की इच्छा हुई है। इसी प्रकार science biology के द्वारा संसार के अन्दर काम करनेवाले नियमों की जानकारी प्राप्त करने के प्रयास में मेरा भी ध्यान उससे उठकर, जिस अनन्त शून्य को बाहर फैला हुआ हमलोग देखते हैं, उसकी ओर गया और उसी का परिणाम हुआ कि मैं astronomy के अध्ययन की ओर बढ़ा। मैं ऐसा कह सकता हूँ कि मेरे मौजूदा प्रिय विषयों में एक astronomy का विषय भी है। इस पुस्तकालय में इसलिये आप कुछ astronomy की पुस्तकें भी पायेंगे। Astronomy को पढ़ते समय जब कठिनाइयों का अनुभव करता हूँ तो पछतावा होता है कि मैंने mathematics का अध्ययन क्यों नहीं किया। लेकिन जीवन की इस घड़ी में, जब नई मोड़ लेने का समय शायद नहीं रह गया है, हृदय से "क्या पछताना अवसर बीते" की आह निकलती है और उसके सामने स्वभाव के विरुद्ध सर झुका कर संतोष करना पड़ता है।

इस पुस्तकालय के आरम्भ तथा अभिवृद्धि का दिग्दर्शन कराने में मैंने आपका बहुत समय लिया। इस आरम्भ तथा अभिवृद्धि के पीछे एक मेरी मस्ती थी जो अभी वर्तमान है। इस मस्ती के कारण इस पुस्तकालय में मेरी विशेष आसक्ति है। जब मैं प्रातःकाल उठता था तो आलमारियों को घूमकर देखता था और एक विशेष आनन्द तथा शान्ति का अनुभव करता था। पुस्तकों का यहाँ होना अवश्य पटने के मेरे जीवन में एक शून्य पैदा कर गया है। इस शून्य की आंशिक पूर्त्ति के लिये यह संभव है कि मैं मुंगेर पहले से अधिक आऊँ। लेकिन जबतक

बिहार राज्य के लोगों की और विशेषकर जिस संस्था के साथ रहकर सार्वजनिक जीवन में मुझे रहना है उसके भीतर के अनेकानेक मित्रों की श्रद्धा और विश्वास मुझ पर है, तबतक तो मुझे पटने में ही रहकर, लोगों और मित्रों की श्रद्धा और विश्वास ने जिस भार को मुझे सौंप रखा है, उसको निभाना है।

यद्यपि हिन्दू विचार बतलाता है कि मनुष्य सौ वर्ष तक जीने की आशा कर सकता है, किन्तु पाक बाइबिल ने तो मनुष्य को three scores and a ten यानी ७० वर्ष की साधारण अवधि दे रखी है। मैं इस अवधि की सीमा को टप चुका हूँ। मेरे कुछ प्रिय मित्र इस बात की चर्चा से स्वभावतः रुष्ट हो उठते हैं, किन्तु इस अवधि को टपने के बाद, खासकर मेरे ऐसे स्वभाव के मनुष्य के लिये, जीवन-स्रोत के दूसरे उपकूल को निकट आते देखना और तद्जनित what next के गूढ़ प्रश्न का उठना सहज है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन की इस गूढ़ अवधि में इस पुस्तकालय को सार्वजनिक रूप देने का निश्चय मन में आया और इस निश्चय के साथ-साथ मन में यह भी आया कि किसी नाम के साथ इस पुस्तकालय को सार्वजनिक रूप दूँ।

[७-७-५९ के दिन कमला-महेश-पुस्तकालय मुंगेर के उद्घाटन-अवसर पर पठित वक्तव्य से उद्धृत]

"पागल तो नहीं हो गए हो कुतुक? देह का चमड़ा तो देह का ही अंश है। वह तो कोई परिच्छद नहीं है।"

"परिच्छद न सही, कवच या केंचुल तो है ही। इस चमड़े को खोल फेंको। उसके नीचे क्या है, देखना चाहता हूँ।"

नारद ने कहा—"क्या है, सुनो! चमड़े के नीचे है मेद, मेद के नीचे मांस, और उसके नीचे कंकाल।"

"और उसके नीचे?"

—ओरेम् परशुराम
('निर्मोकनृत्य' कहानी से)

बिहार-केसरी श्रीकृष्ण सिंह का दान : कमला-महेश-पुस्तकालय, मुंगेर

माननीय श्री जाकिर हुसैन साहब
(राज्यपाल, बिहार)

अपनी तो इन्होंने (श्रीबाबू ने) उम्र भर की चहेती चीज को, अपनी उम्र भर की साथी किताबों को, २० हजार के लगभग किताबों को जनता के लिये दे दिया है। अपनी प्यारी चहेती चीज को अपने से अलग करना बड़ा कठिन काम होता है। और, किताब जिसकी साथी और दोस्त होती है, इसकी दुसरायत और रफाकत को कुछ किताब वाला ही जानता है। किताब जिससे आदमी सीखता है, जिससे बातें करता है, जिससे सलाह लेता है, जिसके समझाये पर कुछ सोचता है, जिसके साथ गाता और गुनगुनाता है, वह होते-होते सब चीजों से ज्यादा चहेती चीज बन जाती है आदमी के लिये। और अगर किताबों से प्रेम रखनेवाले अपनी किताबें दूसरों को नहीं देते, दो-चार दिन को भी नहीं देते, तो समझ में आने की बात है। इसी बिहार में आप सब जानते हैं, पुरानी किताबों के एक आशिक थे, जिन्हें गुजरे हुए आज पचास साल से ऊपर हो गये, खुदाबक्श खाँ। इनकी एक बात मुझे अक्सर याद आती है। एक दूसरे नामवर बिहारी सर अली इमाम ने इनसे कहा कि "खाँ बहादुर साहब, आपने जो यह बेनजीर किताबें जमा की हैं, लोग इनकी बाबत तरह-तरह की बातें कहते हैं कि इनको इकट्ठा करने के तरीके सब-के-सब बहुत ठीक नहीं रहे" तो खुदाबक्श खाँ ने अपना फलसफा यों बयान किया था कि किताबें जमा करने का फन कानूने ताजीरात हिन्द की दफों का पाबन्द नहीं है। और फिर बोले कि "सैयद साहब, अन्धे तीन तरह के होते हैं, एक तो वह गरीब जिनकी आँखें किसी वजह से जाती रही हैं। यह सच पूछिए तो सबसे कम अन्धे होते हैं। इनसे बढ़कर अन्धे वह होते हैं जो अपनी अच्छी किताबें दूसरों को उधार देते हैं, और इन दोनों से बढ़कर अन्धा वह होता है जिसे कहीं से अच्छी किताब उधार मिल जाय और वह बदनसीब इसे वापस दे दे।" इन्हीं खुदाबक्श खाँ को, जिनका कलमी किताबों का मजीरा दुनिया के अनमोल जखीरों में से है, जब ब्रिटिश म्यूजियम ने एक बहुत बड़ी रकम इस कुतुबखाने के लिये पेश की तो इन्होंने इसकी तरफ देखा भी नहीं और कह दिया कि "कितनी ही बड़ी रकम कोई दे, मेरे बाप की और मेरी सारी जिन्दगी की यह पूँजी उससे ज्यादे की है। मैं तो इसे पटना के बसनेवालों को नजर करूँगा।" आपने देखा कि किताब वाले को किताब से कैसी मुहब्बत होती है, वह इसे कैसा अनमोल समझता है, और जब किसी को देता है तो उसी को जिसे वह अपने जान-माल से ऊपर समझता है। खुदाबक्श खाँ ने अपनी किताबें पटना को दीं, श्रीबाबू ने अपनी उम्र भर की इकट्ठा की हुई किताबें मुंगेर को दे दीं, और कैसी किताबें, ऐसी नहीं कि जिन्हें खाली रुपया देकर खरीद लिया हो, ऐसी कि इनमें अपनी परख, अपनी पसन्द, अपनी तबीयत की गहराई, अपने खोज और तलाश के फैलाव, अपने दिनों की मिहनत, अपनी रातों की जगारत सब ही का परतव छोड़ा है। इनका मोल कौन कर सकता है, इनकी कीमत कौन आँक सकता है? यह श्रीबाबू ने किताबें नहीं दी हैं, अपने साथियों और आगे आनेवालों को अपनी तपस्या, अपनी रियाजत, अपनी दिल की गरमी, अपनी मस्तिष्क की रोशनी दी है। जो यह सब कुछ देकर बुलाये, उसके कहे पर कोई कैसे न आये?

फिर इस देन में एक और बात जो मेरे दिल को अपनी तरफ खींचती है, यह है कि श्रीबाबू ने अपनी किताबों के साथ अपने नाम को नहीं लगाया है।

मैंने अभी कहा, हमको और हमारे बाद आनेवालों को। तो यह एक और बात है जिसकी वजह से हर अच्छे पुस्तकालय और खासकर इस पुस्तकालय का ख्याल मेरे दिल को गरमाता-सा है। श्रीबाबू ने यह बीस हजार किताबें नहीं दी हैं, हमारे लिये और हमारे आगे आने-वालों के लिये दुनिया भर के चुने हुए अच्छों, सच्चों,

नेकों, विद्वानों, विज्ञानियों, कलाकारों की एक सभा रचा दी है। निराली सभा है यह। हरवक्त जमी रहती है। इसमें न कोई थकता है, न इसमें से कोई उठता है। इसमें कोई आपसे उस वक्त तक बात नहीं करता जबतक आप इससे कुछ पूछें नहीं और पूरे ध्यान से इसकी सुनें नहीं। आपने जरा ध्यान इसकी तरफ से हटाया और यह धीमा पड़ा, आपने पूरा ध्यान हटा लिया और यह चुप हो गया। यों तो चुप हैं, पर आप जब चाहें सुबह, शाम, आधी रात को हरवक्त इन्हें जागता पाइयेगा। आप जायेंगे और इनके पास जायेंगे तो इन्हें जागता, सिखाने-बताने के लिये हमेशा तैयार पायेंगे। आप ही सो जायँ या इनके पास न जायँ तो और बात है, यह भी चुप रहेंगे। मुश्किल-से-मुश्किल बात इनसे पूछिए, अपने बस भर आपको समझायेंगे, एक न समझा पायेगा तो दूसरा तैयार है, दूसरा नहीं तो तीसरा। एक से कुछ चूक होगी, दूसरा जतावेगा, एक उलझाव में डालेगा, दूसरा सुलझावेगा। ऐसी सभा, ऐसे सलाहकार, ऐसे शिक्षक और कहाँ मिलते हैं? हाँ, इनकी बस एक शर्त है, वह यह कि जो इनसे कुछ पूछे और सीखना चाहे वह ऊँघता न हो, जागता हो, चौकस हो, इनके पास से जो ले उसे हजम करने की शक्ति रखता हो, इनके विचारों पर अपनी तरफ से सोचकर भी कुछ मिहनत करे। जैसे, खाने को वे चीजें कोई निगल ले तो बदहजमी हो जायगी, ऐसे ही इनकी बताई हुई बातों को अपनी मिहनत और अपने विचार बिना अगर बस रट लिया तो मस्तिष्क का हैजा हो जायगा। और, कसूर जैसे बे-चबाये खानेवाले का होता है, वैसे ही गलत पढ़नेवाले, शब्द रटनेवाले का होगा।

सच तो यह है कि इन किताबों में, जैसे संस्कृति की और सब चीजों में, आदमी का मस्तिष्क अपनी शक्तियों को जमा कर देता है, उनका खजाना इनके अन्दर हिफाजत से रख देता है, इन्हें इनके अन्दर छिपा देता है, सुला देता है और मस्तिष्क के विकास का बस एक यही रास्ता है कि कोई दूसरा मस्तिष्क संस्कृति की चीजों के अन्दर वाले खजाने को अपनाये, बरते, पचाये, इनमें जो शक्तियाँ छिपी हैं उन्हें उभारे, जो शक्तियाँ सोई हुई हैं उन्हें अपने अन्दर जगाये। संस्कृति के उन खजानों में, जिनमें से यह शक्तियाँ मिलती हैं, किताबों का बड़ा स्थान है। भाषा ने और फिर भाषा को लिख कर अमिट कर सकने ने आदमी के लिए विकास के रास्ते को बहुत चौड़ा, बहुत चौरस और बहुत पक्का कर दिया है। अगर कोई चीज है जिससे किताब से ज्यादा जीवन का विकास होता है तो वह दूसरे का जीवन है—कि जीवन का दीया, सच यह है, जीवन की लौ से ही जलता है। और, आदमी के जीवन पर कोई दूसरी संस्कृति की चीज, चाहे किताब हो, चाहे चित्र हो, चाहे साहित्य हो, चाहे विज्ञान हो, चाहे रीत और न्याय हो, किसी की इतनी गहरी छाप नहीं पड़ती जितनी उस जीवन की, जिसमें यह चीजें, इनमें से किसी ने घर कर लिया हो। श्रीबाबू ने हमें जीवनी शक्ति का वह खजाना दिया है जो किताबों में इकठ्ठा होता है और अपने जीवन से वह दूसरी चीज भी हमारी सेवा में लगाई है। पुस्तक-दान ही नहीं किया है, जीवन-दान भी किया है। काश, हम और खास कर हमारे नौजवान इन दोनों खजानों से अपनी जिन्दगियाँ बनाने और सँवारने का काम लें।

यह आखरी बात मैं कुछ दुःख के साथ कह रहा हूँ। इसलिये कि मैं अपने चारों तरफ देखता हूँ कि नौजवानों का ध्यान अपने बनाने की तरफ कम होता जाता है। मुझे तो कभी-कभी ऐसा लगता है कि स्वतंत्रता से पहले हमारे नौजवानों में अपने को बनाने और कुछ बनकर देश और जनता की सेवा में अपने को लगाने की जो लगन और उमंग थी वह बहुत मद्धिम हो गयी है। अब भी लोग कुछ बनना तो चाहते हैं, पर शायद पैसा कमाने की कल बनना चाहते हैं, दूसरों पर अपना जोर और हुक्म चलाना चाहते हैं, नौकर चाहते हैं, दौलत चाहते हैं, हुकूमत चाहते हैं। यह सब चाहें, ऐसा नहीं है कि बुरी ही हों। पर जो आदमी अपनी सारी सम्पत्ति के पूरे विकास पर ध्यान नहीं रखता वह कल-पुर्जा बन जाय, कीमिया की पुड़िया बन जाय, आदमी नहीं बनता।

[७-७-५६ के दिन कमला-महेश-पुस्तकालय, मुंगेर के उद्घाटन-भाषण से उद्धृत]

बिहार-केसरी का पुस्तक-प्रेम

श्री छविनाथ पाण्डेय

बिहार की राजनीति के चार दिग्गज थे। स्वर्गीय ब्रजकिशोर बाबू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, स्वर्गीय अनुग्रह बाबू और स्वर्गीय श्रीबाबू।

बिहार-केसरी डाक्टर श्रीकृष्ण सिंह को मैं १९३० से ही जानता था। यह भी मैंने सुन रखा था कि इन्हें पुस्तकों से अगाध प्रेम है और बड़े ही अध्ययनशील व्यक्ति हैं। लेकिन इन्हें नजदीक से देखने और जानने का मुझे अवसर नहीं मिला था, हालाँकि उपर्युक्त तीन महारथियों के निकट-संपर्क में मैं आ चुका था। सन् १९४२ के आन्दोलन में बिहार-केसरी के सान्निध्य में आने का मुझे अवसर मिला और मैंने उनका पुस्तक-प्रेम देखा।

श्रीबाबू के साथ प्रायः डेढ़ वर्षों तक मैं हजारीबाग जेल में एक ही वार्ड में रहा और उनकी थोड़ी-बहुत सेवा भी मैं करता रहा। निकट-संपर्क में आने पर मैंने देखा कि उनके समान अध्ययनशील और पुस्तक-प्रेमी व्यक्ति बिरला ही होगा। हजारीबाग जेल में, जहाँ लोग अनेक मतलब और बेमतलब के दैनिक व्यवसाय में लग जाते थे, श्रीबाबू अपने सेल में बैठकर किताबों में ही उलझे रहते थे। राजनीतिक बन्दियों को अपनी जेब से २०) रु० मासिक तक खर्च करने की विशेष सुविधा थी। लोग हर महीने में तरह-तरह की चीजें—पान, सुपारी, जर्दा, बीड़ी, सिगरेट, खैनी, मिठाई, कपड़ा—मँगाया करते थे। लेकिन श्रीबाबू केवल किताबें मँगाते थे। हर महीने में पुस्तकों का पैकेट आता ही रहता था।

श्रीबाबू कोई भी पुस्तक—छोटी हो या बड़ी—सरसरे तौर से नहीं पढ़ते थे, प्रत्येक पुस्तक की एक-एक पंक्ति तौल कर पढ़ते थे। इसका पता हमलोगों को इस तरह लगता था कि उनकी पढ़ी हुई पुस्तक पर रंग-बिरंगे निशान लगे रहते थे। वे अपने साथ अनेक रंग की पेंसिलें रखते थे और भाव के महत्व के हिसाब से वे जहाँ-तहाँ पंक्तियों पर हरा, लाल, नीला, पीला और बैंगनी निशान लगाते जाते थे।

सुबह आठ बजे तक नित्य-कृत्य से निवृत्त होकर वे पढ़ने बैठ जाते थे। दिन को ११ बजे तक पढ़ते थे। उसके बाद स्नान, पूजा, भोजन और अल्प विश्राम का समय था। दो बजे दिन को वह पुनः पढ़ने बैठ जाते और कोठरी में जबतक अक्षर दिखाई देता, तबतक पढ़ते रहते।

श्रीबाबू का स्वभाव बच्चों का सा था। इसलिए हमलोग उनसे बहुत हिलमिल गये थे। उन्हें बहुधा मलेरिया हो जाया करता था। कोठरी में मच्छरों की भरमार थी। हमलोग नहीं चाहते थे कि वे कोठरी में इतनी देर तक पुस्तकों से उलझे रहें। इसलिये कभी-कभी मैं, सरदार हरिहर सिंह या बाबू शार्ङ्गधर सिंह उनकी कोठरी में घुस आते और किताब उनके हाथ से जबर्दस्ती छीन लेते। अगर अध्याय समाप्त नहीं हुआ रहता, तो वे गिड़-गिड़ाकर हमलोगों से किताब माँगते और हमलोग हँस कर कहते—"मालिक, मिडिल पास करने लायक आपने पढ़ लिया है। अब पढ़ने की जरूरत नहीं है। यहाँ से बाहर निकलिये।" लाचार होकर श्रीबाबू कुर्सी छोड़कर उठ जाते और हमलोगों के साथ बाहर निकलकर ताश का खेल देखते। यही उनके मनबहलाव का साधन होता। रात को कोठरी में बन्द हो जाने पर वे पुनः पुस्तक लेकर बैठ जाते और जबतक लालटेन में तेल रहता, तबतक पढ़ते रहते।

पढ़ने के अतिरिक्त उन्हें अपनी पुस्तकों से बड़ी ममता थी। मेरा तो अनुमान है कि उन्हें अपनी पुस्तकों से जितना प्रेम था, उतना प्रेम शायद अपनी पत्नी और पुत्र से भी नहीं रहा होगा। अपनी पुस्तकें पढ़ने मात्र के लिये किसी को देने में उन्हें बड़ी पीड़ा होती थी। हजारीबाग जेल में बाबू शार्ङ्गधर सिंह, देवव्रत शास्त्री और मैं तीन ही ऐसे व्यक्ति थे जो उनसे पुस्तकें प्राप्त कर सकते थे, सो भी बड़ी कठिनाई से। उनकी जो भी पुस्तक हमलोगों के पढ़ने लायक होती उसे वे रात को बन्द होने के समय हमलोगों को देते। रात को ही हमलोग जितना पढ़ सकते थे, उतना पढ़ते। सबेरा होने पर ताला खुलते ही उनका पहला काम था हमलोगों से पुस्तकें ले लेना और सन्दूक में बन्द कर लेना। जबतक हमलोग पुस्तक

पढ़ नहीं लेते थे तबतक रोज यही सिलसिला चलता रहता था।

अपनी पुस्तकों का वे गन्ध भी किसी को नहीं लगने देते थे। जिस पुस्तक को वे पढ़ते रहते थे, उसे छोड़कर उनके टेबुल पर एक भी पुस्तक नहीं रहती थी। सभी पुस्तकें सन्दूकों में ताले के अन्दर बन्द रहती थीं।

श्रीबाबू का ज्ञान व्यापक था। मैंने हजारीबाग जेल में उनके पढ़ने का तरीका देखा। मान लीजिये कि वे राजनीति की किसी पुस्तक का अध्ययन कर रहे हों और उसमें दर्शन की कोई बात आ गई, तो वे उस पुस्तक का पढ़ना वहीं छोड़ देते और दर्शन की पुस्तक पढ़ने लगते और यदि दर्शन के ग्रन्थ में विज्ञान की कोई बात आ जाती, तो वे विज्ञान का अध्ययन करने लगते। इस तरह राजनीति के साथ-साथ दर्शन और विज्ञान भी पढ़ लेते।

श्रीबाबू ने अपने जीवन-काल में कितना पढ़ा था और कितने विषयों को पढ़ा था, इसकी सम्यक् जानकारी जो लोग चाहते हों, उन्हें मुंगेर जाकर श्रीकृष्ण सेवासदन के कमला-महेश-पुस्तकालय को देखना चाहिये; जिसे अन्त में उन्होंने अपनी सारी निधि सौंप दी। पुस्तकों को वे इतने यत्न से रखते थे कि जिल्द के क्रेप में दाग तक नहीं लगने पाता था। ऊपर का भाग ही जो लोग देखेंगे, उन्हें यही प्रतीत होगा कि पुस्तकें हाल में ही बाजार से खरीदकर संग्रहीत की गई हैं। लेकिन, पुस्तक को उलटते ही दर्शक को पुस्तक के पन्नों में रंग-बिरंगे निशान मिलेंगे जो बतलावेंगे कि पुस्तक श्रीबाबू ने पढ़ी है।

ऐसा था बिहार-केसरी का पुस्तक-प्रेम और उनके अध्ययन की प्रवृत्ति। इन शब्दों के साथ उन्हें स्मरण कर मैं उनकी पुण्य स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

ज्ञान और विश्वास दोनों मिलकर गुलामी को जन्म देते हैं। ये दोनों जहाँ होंगे, वहाँ ज्ञान मिथ्या ज्ञान ही होगा, सम्यग् ज्ञान नहीं।

—महात्मा भगवानदीन

स्वर्गीय बिहार-केसरी :

पुस्तक-प्रेम और पाठकत्व

श्री विश्वनाथ सिंह

स्वर्गीय बिहार-केसरी के अध्ययन तथा पुस्तक-प्रेम की बात 'प्यारे हरिचंद की कहानी' की तरह अपने प्रान्त में अकेली 'रह जायगी' लगती है। इस अध्ययन तथा ग्रंथ-प्रेम की कहानी के खुले पृष्ठ, श्रीकृष्ण सेवासदन मुंगेर के 'कमला-महेश-पुस्तकालय' में दिए हुए उनके ग्रंथ हैं, जिन्हें देखते ही कोई स्तम्भित होकर प्रमाणाहत हो जायगा। फिर भी, उनके यावत्काल के सान्निध्य में मैंने जो-कुछ समीप से देख-सुनकर पाया, उसी के आधार पर अध्ययन तथा पुस्तक-प्रेम से संबंधित उनकी कुछ विशेष आदतें और प्रसंग यहाँ उपस्थित कर रहा हूँ।

अपने ग्रंथ-संकलन में से इस समय तक तेईस हजार के करीब ग्रंथ इस पुस्तकालय में उनके दिए हुए हैं।

ये सभी ग्रंथ उनके पढ़े हुए हैं। किन्तु, इनमें से किसी पर भी उन्होंने अपना अधिकार-सूचक नाम और पता, एवं हाशिए आदि पर किसी प्रकार के हस्ताक्षरित टिप्पण आदि तक नहीं लिखे हैं, जिनसे कि यह पता चल सके कि इनसे उनका कोई संबंध तक रहा है। हाँ, इन ग्रंथों का उनसे जो संबंध रहा है, वह है उनका अध्ययन और उसका प्रमाण है, प्रायः सभी ग्रंथों के विशेष-विशेष प्रसंग-पृष्ठों का विशेष-विशेष महत्व-सूचक भिन्न-भिन्न रंगों की पेंसिलों से पंक्ति-पंक्ति पर रेखांकित होना।

इन ग्रंथों को उन्होंने जिस-जिस समयानुक्रम से खरीदा, वैसे-ही-वैसे पढ़ते और दर्ज करते गए हैं। अतः, उन्होंने इन्हें किसी विषय-वर्गीकरण या सूचीकरण का आधार कभी नहीं दिया। शायद अपने अध्ययन या काल-परिचय की सहूलियत के नाते, वे इन पुस्तकों के विषय-वर्गीकरण या सूचीकरण चाहने वाले अपने घनिष्ठों की इस माँग की अवहेलना भी कर जाते रहे हैं।

वे अपने इस सारे ग्रंथ-भंडार की चाबी अपने पास ही रखा करते थे और जब अपने इस ग्रंथ-भंडार से दूर पटने आदि स्थानों में रहते थे तो वर्षा आदि किसी प्राकृतिक दुर्दिन के आने पर तत्काल फोन से वहाँ के स्थानीय अधिकारियों, यहाँ तक कि कलक्टर आदि को भी दौड़ाकर यह समाचार जान लेते थे कि उनके ग्रंथ-भंडार को वर्षा आदि दुर्दिनों ने कोई हानि तो नहीं दी है।

यों वे हर किताब को मूल जिल्द तक सुसज्जित तथा सुरक्षित रखकर ही पढ़ लिया करते थे, फिर भी यदि प्रेसवाली जिल्द कुछ फट-टूट गई, तो उसे बदलते नहीं थे, बल्कि उसे ऐतिहासिक वस्तु की तरह ज्यों-का-त्यों सुरक्षित रखा करते थे।

उन्होंने हिन्दी रस-साहित्य का भी विशेष अध्ययन किया था, यद्यपि बोध-साहित्य के विषय में वे अधिकतर अंगरेजी पर ही निर्भर रहे। रस-साहित्य के इस अध्ययन के आधार पर उन्होंने यह मत बना लिया था कि उन्हें हिन्दी का पुराना पद्य-साहित्य तो बहुत अच्छा लगा, मगर गद्य-साहित्य तो तब से लेकर आज तक का नहीं।

उनके विशेष अध्ययन के विषय प्राथमिकतापूर्वक क्रमशः राजनीति, दर्शन तथा मनोविज्ञान कहे जा सकते हैं। इधर गत ४-५ वर्षों में उनकी विशेष प्राथमिक रुचि जीव-विज्ञान और परलोक-तत्व की ओर गई थी। उनसे मैंने यह पूछा भी कि इतने दिन बीते, अब यह विषय क्यों पढ़ रहे हैं? उन्होंने कहा कि मैंने अपनी सारी पिछली पढ़ाई से यह निष्कर्ष निकाला है कि मनोविज्ञान और परलोक-तत्व जाने बिना किसी भी विषय के अध्ययन के सहारे तत्व पाना कठिन है; और हाँ, मनोविज्ञान को जानने के लिए जीव-विज्ञान जानना बड़ा ही जरूरी है।

ऊपर कहा जा चुका है कि उन्हें हिन्दी की पिछली कविताओं से बड़ा प्रेम था। इस विषय में उनकी चर्चा के प्रमुख संगी दिनकरजी या बेनीपुरीजी हुआ करते थे। उनसे वे हिन्दी-कविता की चर्चा के साथ-साथ उनकी अपनी और उनसे दूसरों की भी कविताएँ सुना करते थे और हिन्दी-कविता के विषय में पर्याप्त आलोचना पा लिया करते थे।

उनका ग्रंथ-पठन-प्रेम इतना स्वाभाविक था कि दूसरे लोग बिना पढ़े भी महत्वाकांक्षा जैसा दुस्साहस क्योंकर कर लिया करते हैं—ऐसा आश्चर्यपूर्वक सोचा करते थे। कईबार उनसे ऐसा सुनने का मौका भी विभिन्न लोगों को मिला होगा, जबकि उन्होंने अपनी राजनीतिक संस्था के कुछ कुपढ़ों या शिक्षित अपाठकों पर व्यंग्य करते हुए उन्हें जाहिल तक कह दिया हो।

पहले कहा है कि वे अपने सारे संकलित ग्रंथों को पढ़ गए हैं और उन्हें विभिन्न रंगों की पेंसिलों से स्थान-स्थान पर रेखांकित भी करते रहे हैं। हर रंग का रेखांकन उनके लिए अलग-अलग ढंग का महत्व रखता था, जोकि किसी हाशिये के नोट से किसी कदर उनके लिए कम नहीं होगा। हाँ, विभिन्न रंगों के रेखांकन का उनका अपना अर्थ उनतक ही रह गया, यह दुर्भाग्य उन ग्रंथों के बादवाले पाठकों को अवश्य झेलना होगा। पढ़ते समय उनके मनन के दृष्टिबिन्दु अवश्य ही २५-३० प्रकार के तो होते ही होंगे, कारण, इसके लिए वे फिर पाँच-पाँच प्रकार के रंगों की पेंसिलों से कई वजन के रेखांकन करने का क्यों विशाल अभ्यास बनाए हुए थे? आज भी उनके ग्रंथ-भंडार में जाकर देखा जा सकता है कि इस रेखांकन के निमित्त उनके पास चार सौ के करीब विभिन्न प्रकार की पेंसिलें थीं।

श्रीबाबू एकछत्र पाठक और आदर्श पाठक थे। उन्होंने कुछ-बहुत लिखा और कहा भी है, जितना कि अभी प्राप्य है। शेष लिखितों और कथितों का संकलन करना अभी बाकी है। फिर भी कहा जा सकता है कि किसी मुकाबले में उन्होंने काफी कम ही लिखा है। क्यों कम लिखा है—यह मार्मिक प्रश्न सभी सहृदयों के मन में एक उथल-पुथल अवश्य मचा देगा। बहुतेरों ने उनकी सयत्न जीवद्दशा में भी उनसे बहुत बार यह प्रश्न किया और कुछ लिखने का आग्रह भी किया। किन्तु, उन्होंने अपनी जिस लाचारी को उत्तरदायी बताकर लगातार एक ही उत्तर इस विषय में दिया है, वह किसी भी पाठक को मर्यादाभिभूत किए बिना नहीं रहेगा। उन्होंने इस विषय में औरों को दिया हुआ उत्तर मुझे भी दिया था कि "भाई, पढ़ना ही समाप्त नहीं हो रहा है कि किसी

निष्कर्ष को तय कर कुछ लिख सकूँ। देखूँ, इस अमुक विषय पर कुछ पढ़पढ़ा कर जल्द ही कुछ लिख लूँ।"

इसी प्रसंग में लोगों ने उनसे आत्मकथा-जैसी चीज लिखने का भी कई-एक बार तीव्र आग्रह तक किया है। इस आग्रह पर वे पहले तो हँसकर टालते रहे हैं, और बाद में तो झुँझला तक गए हैं। हाँ, पता नहीं किस प्रकार आकाशवाणी वालों ने उनसे "मेरी जेल-यात्राएँ" शीर्षक सरस और रोचक प्रसंग प्रसारित करवा ही लिया था।

यद्यपि वे बहुत कुछ चाह कर और पढ़कर भी उतना कुछ नहीं लिख सके। किन्तु हाँ, एक वासना तो उनके साथ मन-की-मन में ही रह गई। वे अकसर चाहते और चर्चे में कहा भी करते थे कि मुझे यदि राजनीति फुर्सत दे, तो मैंने जो-कुछ पढ़ा, जो-कुछ उनपर अध्ययन-मनन-निदिध्यासन किया है, उसे एक वाणप्रस्थी की तरह अपने विश्वविद्यालयों में जा-जाकर छात्रों के बीच बोलूँ और पढ़ाऊँ।

ऊपर कहा गया है कि उक्त पुस्तकालय में उनके तेईस हजार प्राणाधिक प्रिय ग्रंथ हैं। मगर, उन ग्रंथों को बैठकर पढ़ने के बहुजनीन साधन, रखने की आलमारियाँ, दरी-कलीन-पर्दे-सोफे-टेबुल आदि सभी कलात्मक तथा श्रेष्ठ साधन भी वहाँ उनके ही हैं। वे उन साधनों पर से भी अपना जहाँ-कहीं लिखा नाम मिटवा देना चाहते थे। मगर·······

पुस्तक-सर्वस्व श्रीबाबू की यह बात भी संस्मरणीय ही है कि वे अपने कौमार्य के बाद वाले सारे जीवन में पुस्तकों की दूकान के सिवा और किसी दूकान पर कभी नहीं गए।

यों, प्रचारात्मक तौर पर साधारण जन उन्हें राजनीतिगत ही समझते रहे हैं। मगर, इन पंक्तियों का लेखक और जिसने भी उन्हें अध्ययन-मननगत देखा है, वह हरेक व्यक्ति तो यह जानेगा ही कि अपने इस संस्कारप्रवण प्रान्त में, प्रान्त की प्रतिष्ठा के अनुरूप, तीन ही महान् व्यक्ति ग्रंथ-द्रष्टा कहे जा सकते हैं। पहले तो स्वर्गीय सच्चिदानन्द सिनहा, दूसरे स्वर्गीय डॉ० अमरनाथ और तीसरे हमारे स्वर्गीय श्रीबाबू।

कहा जा चुका है कि पुस्तक-दूकान के सि किसी दूकान के समक्ष क्रेता बनकर कभी उपस्थित हुए। सरस्वती के इन परम शरणागत के शरीरान्त पद भी इसी पुस्तक-दूकान को ही प्राप्त हुआ। २८-१२-१६६० की संध्या को वे कलकत्ते में स्पिंक कम्पनी की दूकान पर ग्रंथ-ग्राहक के नाते और वहीं खरीद करने के बीच रोगाहत हो तो फिर ३१ जनवरी '६१ के दिन १·२० पर शरी होकर ही उठे। कहावत है : उदेति सविता ताम्र एवास्तमेति च। सचमुच इस सूर्य का सारस्वत-ताम्र ही उदय हुआ और सारस्वत-ताम्रता में ही अस्त। सूर्य की सम्पत्ति थी तो यही, विपत्ति थी तो यही।

संग्रह करने योग्य अमूल्य ग्रन्थ

कोश

बृहत् हिन्दी कोष — सं० कालिकाप्रसाद आदि — २५.००
ज्ञान शब्द कोश — सं० मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव — १५.००
पारिभाषिक शब्द कोश — " — ४.००
हिन्दी साहित्य कोश — सं० डॉ० धीरेन्द्र वर्मा आदि — २०.००
बृहत् अंग्रेजी हिन्दी कोश — डॉ० हरदेव बाहरी — ३०.००

राजनीतिक पुस्तकें

भारतीय राजनीति :
विक्टोरिया से नेहरू तक — रामगोपाल एम० ए० — ११.००
अन्तर्राष्ट्रीय विधान — डॉ० सम्पूर्णानन्द — ११.००
चीन : कल और आज — के० एम० पणिक्कर — ५.००
राजनीति शास्त्र — प्राणनाथ विद्यालंकार — ४.५०

धर्म और दर्शन

सूफी मत : साधना और साहित्य — रामपूजन तिवारी — ११.००
विश्वके धर्म-प्रवर्त्तक — रघुनाथ सिंह एम० पी० — ६.५०
वैज्ञानिक अद्वैतवाद — स्व० रामदासगौड़ एम० ए० — २.२५
चिद्विलास — डॉ० सम्पूर्णानन्द — ५.००
दर्शनका प्रयोजन — डॉ० भगवानदास — ३.५०
नीतिशास्त्र — सुश्री शान्ति जोशी — ८.००

पालि ग्रन्थ

पालि व्याकरण — भिक्षु धर्मरक्षित — २.२५
महापरिनिब्बान सुत्त — " — ३.५०

पत्रकारिता

पत्र और पत्रकार — माननीय कमलापति त्रिपाठी — ६.५०
भारतीय पत्रकार कला — सं० रौलेण्ड ई० वूल्सले — ६.५०
समाचार पत्रोंका इतिहास — पं० अम्बिकाप्रसाद वाजपेयी — ६.५०
आधुनिक पत्रकार कला — रा० र० खाडिलकर — ४.००

मनोविज्ञान

शिक्षा मनोविज्ञान — हंसराज भाटिया — ५.००
सामान्य मनोविज्ञान — " — १०.००

भ्रमण

हालैण्ड में पचीस दिन — रा० र० खाडिलकर — ३.००
आर्यावर्त — रघुनाथ सिंह एम० पी० — ३.००
बदलते रूस में — रा० र० खाडिलकर — ३.५०
दक्षिण पूर्व एशिया — रघुनाथ सिंह एम० पी० — ७.५०

कुमाऊँ — राहुल सांकृत्यायन — १५.००
आस्ट्रेलिया — रघुनाथ सिंह एम० पी० — ४.००

इतिहास

भारतवर्षका इतिहास — एक इतिहास-प्रेमी भाई परमानन्द — ८.००
पश्चिमी यूरोप (प्र० भाग) — अनु० छविनाथ पाण्डेय — ५.००
गान्धी हत्याकाण्ड — सं० विहंगम — ५.००

संस्मरण

जेल के वे दिन — विजया लक्ष्मी पंडित — २.५०
कुछ स्मरणीय मुकदमे — डॉ० कैलाशनाथ काटजू — ८.००
मेरे बचपन की कहानी — श्रीमती नयनतारा सहगल — ६.००
महात्माजी और महाराज — विपिनचन्द्र झवेरी — १.५०

साहित्य

वक्रोक्ति और अभिव्यंजना — रामनरेश वर्मा एम० ए० — ४.५०
गीतिकाव्य — डॉ० रामखेलावन पाण्डेय — ५.५०
तुलसीदास और उनका युग — डॉ० राजपति दीक्षित — ८.००
धरातल — शान्तिप्रिय द्विवेदी — २.७५
कल्पलता — आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी — २.५०
काव्यप्रकाश (मम्मटकृत) — आचार्य विश्वेश्वर — १६.००

कथा साहित्य

उलूकतन्त्र — बलदेव प्रसाद मिश्र — २.००
शव साधन — बलदेव प्रसाद मिश्र — २.५०
तूफान — सर्वश्रेष्ठ कहानी लेखकों की कहानियोंका संग्रह — २.५०
पुनर्जीवन — महात्मा टालस्टाय — ६.५०
कर्त्तव्याघात — देवनारायण द्विवेदी — ४.५०
नूतन ब्रह्मचारी — स्व० पं० बालकृष्ण भट्ट — ०.६३
देशभक्त और देशद्रोही — २.५०
बयालीस — प्रतापनारायण श्रीवास्तव — ४.५०
गेंजीकी कहानी — मुरासाकी शिकाबू — ४.५०

आदर्श जीवन चरित्र

सरदार पृथ्वीसिंह — राहुल सांकृत्यायन — ४.००
महर्षि कर्वे — प्रभाकर सदाशिव पण्डित — २.२५

विज्ञान

विज्ञान की प्रगति — भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव — ३.५०
विज्ञान के चमत्कार — " — ३.००
परमाणु शक्ति — " — ३.००
घरेलू बिजली — " — ४.००

ज्ञानमण्डल लिमिटेड, कबीरचौरा, वाराणसी-१

श्रीबाबू का पुस्तकानुराग

श्री रामधारी सिंह दिनकर

जहाँ तक मैं जानता हूँ, श्रीबाबू उपन्यास और कविताएँ बहुत कम पढ़ते थे। सन् १६३० ई० के नमक-सत्याग्रह में जब वे जेल गये थे तब स्वर्गीय बाबू पारसनाथसिंह ने उन्हें बर्नर्ड शा के सभी नाटक भिजवाये थे। रोम्याँ रोलाँ का भारी-भरकम उपन्यास, जीन क्रिस्तोफ भी उन्होंने पढ़ा था। इसी प्रकार इब्सेन के नाटक भी उन्होंने पढ़े थे। हिन्दी पुस्तकों में प्रेमचन्द को तो उन्होंने स्वेच्छया पढ़ा था, मेरे कहने से उन्होंने हजारीप्रसादजी की पुस्तक 'बाणभट्ट की आत्मकथा' भी पढ़ी थी। हजारीप्रसादजी की भाषा उन्हें पसन्द आयी थी और उत्साहित होकर उन्होंने उनके निबन्ध-ग्रन्थ भी खरीद लिये थे।

श्रीबाबू का हृदय कवित्वपूर्ण था। वे राष्ट्रीय कविताओं से विद्ध होकर, प्रायः, रोने लगते थे। सन् १६३५ ई० में एक बार पण्डित धनराजशर्मा ने अपने गाँव में साहित्यिक गोष्ठी का आयोजन किया था जिसमें श्रीबाबू के सिवा पंडित जनार्दनप्रसाद झा द्विज, पंडित नन्दकिशोर तिवारी, मैं और कुछ अन्य साहित्यिक भी मौजूद थे। उस दिन मेरी कविताएँ सुनकर श्रीबाबू मसनद पर सिर पटक-पटककर रोने लगे थे। उससे एक वर्ष पूर्व छपरे में जब मैंने पूज्यवर राजेन्द्रबाबू को कविता सुनायी थी तब वे भी रोये थे। किन्तु, श्रीबाबू की भावुकता बहुत बेकाबू थी।

लेकिन, कविता के उतने अनुकूल श्रोता होने पर भी श्रीबाबू कविताएँ पढ़ते नहीं थे। वैसे, हिन्दी की पुस्तकों पर भी सामान्यतः उनका अच्छा विचार नहीं था। अंगरेजी के जरिये उन्होंने विश्व के बड़े-से-बड़े चिन्तकों के ग्रन्थ पढ़े थे और हिन्दी में उन्हें जब उस ऊँचाई की चीजें नहीं मिलतीं, वे निराश हो जाते थे। यह आक्षेप सुनकर कभी-कभी हम लोग विचलित भी हो उठते थे। एकबार मैंने उनसे कहा भी था, "मालिक, हिन्दी का दुर्भाग्य यह है कि उसकी गोद में खेलनेवाले विद्वान्, अक्सर, कलम उठाने से घबराते हैं।"

हिन्दी की पुस्तकें बहुत श्रेष्ठ नहीं होतीं, यह पूर्वाग्रह उनमें बहुत बढ़ा हुआ था। परिणामतः वे ऐसे ग्रन्थ भी श्रद्धा से नहीं पढ़ पाते थे जिनसे उन्हें थोड़ा-बहुत संतोष होता। "संस्कृति के चार अध्याय" नामक मेरा ग्रन्थ उनके पढ़ने के योग्य था। किन्तु, वह पुस्तक भी वे आदि से अन्त तक नहीं पढ़ सके। पूछने पर एक बार बोले, आपकी पुस्तक पढ़ने के लिए बहुत ऊँची कल्पना के पंख चाहिए। मैंने निवेदन किया, "यही बात यदि आपने कविताओं के बारे में कही होती तो उसे मैं अपनी प्रशंसा समझता। किन्तु, इस सीधी-सरल किताब की तो यह निन्दा ही हुई।"

अंगरेजी में उनका लगाव किन-किन विषयों की पुस्तकों से था, इसकी गिनती नहीं की जा सकती। कविता और उपन्यास को छोड़कर वे सभी विषयों की पुस्तकें जमा करते थे। इतिहास और अर्थशास्त्र पर उनकी विशेष श्रद्धा थी; किन्तु, दर्शन, मनोविज्ञान, भौतिकी और खगोल-विद्या, आत्मकथा और जीवनचरित, जीवविज्ञान और नृवंशशास्त्र, इन सभी विषयों पर उनका एक समान प्रेम था।

धनी जैसे धन और कामी जैसे कामिनी को देखकर खिल उठता है, पुस्तकों की दूकान देखकर श्रीबाबू उसी प्रकार खिल उठते थे। यदि हवाई जहाज से दिल्ली जाना है और लखनऊ में घंटे-आध-घंटे का अवकाश है तो उस बीच पुस्तकें दिखाने का अनुरोध लखनऊ के किसी पुस्तक-विक्रेता को पहले ही भिजवा देते थे। दिल्ली पहुँचते ही, वे शीघ्र-से-शीघ्र, किसी पुस्तक-विक्रेता की दूकान पर चले जाते और पसन्द करने को ढेर-की-ढेर पुस्तकें अपने घर ले आते थे। मिलनेवाले आ रहे हैं, बातें कर रहे हैं और श्रीबाबू ममता से नयी-नयी पुस्तकों को देख रहे हैं। दिल्ली, पटना, लखनऊ, कलकत्ता और बंबई में ऐसे कई पुस्तक-विक्रेता हैं जो समझेंगे, उनका एक शाही गाहक संसार से उठ गया।

तेईस वर्षों तक राज्य करने पर भी शासन का काम उन्हें रुक्ष नहीं बना सका, न राजनीति उनके हृदय में मालिन्य पैदा कर सकी। इसके कई कारण थे। एक प्रधान कारण उनका पुस्तक-प्रेम था। अखबार में अपनी कुत्सा देखी, आँखें हटाकर किसी पुस्तक में डूब गये।

(शेष पृष्ठ ९८ पर)

श्रीकृष्ण सेवासदन : एक स्मारक : एक पुस्तक-तीर्थ

श्री वीरेश्वर शास्त्री
(पुस्तकाध्यक्ष, कमला-महेश-पुस्तकालय, मुंगेर)

"मैंने देश-विदेश में बहुत-से पुस्तकालय देखे। परन्तु मेरा विश्वास है कि जहाँ तक व्यक्तिगत पुस्तकालय का प्रश्न है उनमें श्रीबाबू का पुस्तकालय सबसे बृहत् एवं श्रेष्ठ है।" उपर्युक्त विचार हैं केन्द्रीय वाणिज्य-मंत्री श्री मुरारजी देसाई के, जो उन्होंने कुछ वर्ष पहले स्वर्गीय श्रीबाबू के पुस्तकालय को देखते समय व्यक्त किये थे ।

स्वर्गीय बिहार-केसरी का वही पुस्तकालय अब श्री कृष्ण-सेवासदन, मुंगेर के कमला-महेश-पुस्तकालय के नाम से प्रख्यात है, जिसके लिए हम मुंगेरवासी अपने को गौरवान्वित मानते हैं, जिसे मुंगेरवासियों ने अपने परमप्रिय नेता के प्रति श्रद्धा और प्रेम के कारण, उनके गौरव और प्रतिष्ठा के अनुरूप कायम किया है ।

आइए, मैं आपको स्वर्गीय श्रीबाबू के इस पुस्तकालय का दर्शन कराऊँ, जो तीर्थों-का-तीर्थ है और जहाँ उनकी आत्मा बसती है, जहाँ कि वे आज भी जीवित दीख पड़ेंगे। केवल शर्त यह है कि इसके लिए आपमें साधना वाली योग्यता और भक्ति चाहिए।

यह उनकी बैठक है—आधुनिकतम साज-सज्जा से सुसज्जित । यहाँ वे विशिष्ट व्यक्तियों से ही मिलते थे। और, इन आलमारियों में आपको शरीर-शास्त्र, न्यायशास्त्र, नक्षत्र एवं ज्योतिष-शास्त्र जैसे विषयों पर एक-से-एक उत्तम ग्रंथ मिलेंगे। क्या आपने ज्योतिष-शास्त्र एवं नक्षत्र-विज्ञान के प्रति उनके विशेष अनुराग की बात नहीं सुनी, जिसके कारण उन्हें बुढ़ापे में भी गणित पढ़ने की आवश्यकता पड़ी ? और, रात में नक्षत्रों के सूक्ष्म अवलोकन के लिए टेलिस्कोप खरीदने की बात तो आपने सुनी ही होगी।

आइए, आगे बढ़िए। यदि आपने पुस्तकों को देखने का लोभ संवरण नहीं किया, तो पुस्तकालय के बन्द होने का समय हो जायगा और इसके एक विभाग को भी आप ठीक से नहीं देख पायेंगे । कुल १०२ आलमारियों में सजे २२ हजार ग्रंथों में से अभी तो आप पहला और सबसे छोटा अंश ही देख पाए हैं।

यह रहा उनका शयन-कक्ष । दरी-कारपेट पर पलँग और उसपर डनलप गद्दा । अगल-बगल कुर्सियों पर भी डनलप गद्दे और सामने आईने वाला टेबुल, जहाँ पर मुख्यमंत्री घन्टों विश्रामपूर्वक अध्ययन करते और सरकारी कागजातों को देखा करते थे। आप शायद शयन-कक्ष में आलमारियों को देखकर आश्चर्य कर रहे हैं। जी हाँ, इनमें मुख्य-मुख्य विषयों की वे पुस्तकें हैं, जो पिछले दो-एक महीने में विदेशों से आई हैं । और, मुख्यमंत्री के अध्ययन के बाद ये पुस्तकें दूसरे कमरों में अपने विषय की पुस्तकों के साथ चली जायेंगी । पुस्तकों पर लगे लाल-हरी रंग-बिरंगी पेंसिलों के चिह्न उनके अध्ययन, अगाध ज्ञान एवं पुस्तक-प्रेम की कहानी स्वयं अपनी जुबानी कहेंगे । आप इन कमरों की सजावट देख कर चौंकते क्यों हैं ? कला एवं संस्कृति के प्रति उनके अगाध प्रेम एवं सुरुचि से अजाना कौन है ? उन्हें तिनका तक बेतरतीब रखा जाना गवारा नहीं। वे स्वयं अपने हाथों कमरों को सजाते-सँवारते हैं । क्या आपने 'कमला-महेश-पुस्तकालय' के उद्घाटन के समय की यह कहानी नहीं सुनी ? तो सुनिए—

पटने से पुस्तकों का ढेर-का-ढेर नित्यप्रति आता था और उन्हें ऊपर के कमरों में पहुँचाया जाता था। दो-मंजिले के सारे कमरों को खाली कराया गया, पर आलमारी तथा पुस्तकों को रखने की जगह नहीं। संचालक-गण हैरान और परेशान कि उन्हें कहाँ और कैसे रखा जाय ? हिम्मत कर इन पंक्तियों का लेखक तथा श्री रघुवर बाबू उनकी सेवा में निवेदन के लिए पहुँचे कि आलमारियों को दोहरी पंक्ति में लगाने की स्वीकृति दी जाय । मुख्यमंत्री मौन । कुछ देर बाद कमरे की गम्भीरता भंग करते हुए बोले—'रघुवर बाबू ! मैं

कोई रईस नहीं, और न मेरी पुस्तकें ही शोहरत और प्रतिष्ठा के लिए खरीदी हुई हैं। ये मेरी जिन्दगी की पूँजी और जीवन से भी अधिक प्रिय हैं। पुस्तकालय का वातावरण सुन्दर, कलात्मक और सुरुचिपूर्ण न हुआ तो पाठक को उत्साह एवं प्रसन्नता क्या होगी, और ऐसी स्थिति में न कला का विकास होगा और न साहित्य की आराधना।'

हमलोग इस सुघर डाँट के बाद भींगी बिल्ली की तरह बाहर आये और मुख्यमंत्री के आदेशानुसार सभा-भवन को भी पुस्तकालय के रूप में परिवर्त्तित कर दिया गया। परन्तु, अब तो संपूर्ण श्रीकृष्ण सेवासदन ही पुस्तकालय के लिए छोटा पड़ गया है और इसके कई विभाग स्थानाभाव के कारण बंद कर देने पड़े हैं।

हाँ, और यह है मुख्यमंत्री के निजी पुस्तकालय का तीसरा कमरा, जिसमें आलमारियों में केवल धर्म, दर्शन, मनोविज्ञान एवं इतिहास की पुस्तकें हैं। ये विषय मुख्यमंत्री को बहुत प्रिय हैं, विशेषकर दर्शन-शास्त्र। पुस्तकों की वाणी से यदि आप परिचित हैं तो उनकी कहानी भी आपसे छिपी न रहेगी और यह समझने में आपको देर न लगेगी कि मुंगेर के साथ-साथ उनके अभाव में ये पुस्तकें भी दुखी हैं कि न जाने कब वैसा कोई स्नेही पाठक उन्हें प्राप्त होगा।

क्या कहा आपने; पुस्तकों का वर्गीकरण किसने किया? क्या आपको मालूम नहीं कि मुख्यमंत्री को यह सह्य नहीं था कि जिन पुस्तकों के अध्येता वे स्वयं हों, उनके लिये कष्ट कोई दूसरा उठावे। फिर, पुस्तकों के प्रति उनका सर्वाधिक प्रेम और प्रेम से भी अधिक ममत्व था, कि जिसके कारण वे पुस्तकों को अपने आप ही आलमारियों में सजाते थे। पुस्तकों को आलमारियों में क्रम से रखने का उनका अपना ढंग था। क्या मजाल कि पुस्तकों को कोई स्पर्श भी कर ले, और वह उनकी तीव्र पारदर्शी आँखों से छुपा रहे?

मुख्यमंत्री के संबंध में यह कहानी तो विख्यात ही है कि जिन्दगी में वे कभी किसी दूकान पर नहीं गए, परन्तु पुस्तकों की दूकानों पर घंटों ठहरना वे अपना गौरव मानते थे।

हाँ, तो अब आप आगे बढ़ें। शो-केस में सजी चाँदी की तश्तरियों तथा कॉस्केट आदि को देखने का लोभ आज संवरण करें।

अब आप मुख्यमंत्री के चौथे कमरे का निरीक्षण कर रहे हैं। यह कमरा सभी कमरों से उन्हें सर्वाधिक प्रिय रहा है। इस कमरे की बनावट और सजावट का अपना रूप है। इस कमरे में वे पूरब की ओर पश्चिम-मुँह बैठते थे। इस कमरे की दीवार के चारों ओर २३ आलमारियों में राजनीति एवं समाज-शास्त्र के ग्रंथ हैं, जो ख्यातिप्राप्त शासक और राजनीति के शतावधानी श्रीबाबू के अध्ययन की सर्वोन्नत सामग्रियाँ हैं।

माफ कीजिएगा, पुस्तकालय बन्द होने का समय हो रहा है। आपका देखना अधूरा रह गया। इसका मुझे खेद है। परन्तु मेरा विश्वास है कि यदि ज्ञान के प्रति आपकी सच्ची रुचि है तो इस तीर्थों-के-तीर्थ के निरीक्षण के लिए आप निश्चित रूप से यहाँ पुनः पधारेंगे।

(शेष पृष्ठ १२ का)

का बाण कागज पर दौड़ता रह गया। किसी से कठोर बातें सुननी पड़ीं तो उसे विदा करके फिर कोई किताब उठा ली और जहर को दिल में आने नहीं दिया। उनके स्वभाव में भगवान ने जो शुद्धता, कोमलता और उच्चता भर दी थी, उन सबकी रक्षा उनके धर्मभीरु हृदय और अगाध पुस्तक-प्रेम ने की। राजनीति में उन्होंने जितना अमृत छिड़का, उसके संचय में पुस्तकों का बहुत बड़ा हाथ था। और राजनीति का जहर उन्हें जहरीला नहीं बना सका, यह भी उनके पुस्तक-प्रेम का ही चमत्कार था। पुस्तकों ने ही उन्हें बलवान बनाया था और पुस्तकों ने ही बराबर उन्हें परित्राण दिया।

आसानी से कहा जा सकता है कि राजनीतिज्ञों में श्रीबाबू के समान पुस्तकानुरागी अब और नहीं है।

ये आज भी समाप्त नहीं हुए हैं

श्री सुप्रिय पाठक

इधर अपने यहाँ के एक विख्यात लेखक की एक पुस्तक की समीक्षा करते हुए एक अच्छे समीक्षक ने यह लिखते हुए अपनी समीक्षा समाप्त की है कि —पाठकगण इस पुस्तक को पढ़कर यह मानने को बाध्य होंगे कि ये प्रौढ़ साहित्यिक आज भी समाप्त नहीं हुए हैं; केवल इतनी ही बात नहीं, बल्कि अब भी नवीनतम और सार्थक रचनाओं की सृष्टि इनके द्वारा संभव है।

समीक्षक की इस टिप्पणी को पढ़कर हमारी यह धारणा भी हो सकती है कि प्रौढ़ होने के साथ-साथ साहित्यिक जैसे अब और कुछ लिखने के लायक नहीं रहा करते हों; तब भी, इन आलोच्य विख्यात साहित्यकार की इस पुस्तक के मामले में यही विशेषता है कि इतनी उम्र हो जाने के बावजूद ये लिखते ही जा रहे हैं, और केवल लिखते ही नहीं जा रहे हैं, बल्कि नई और सार्थक रचना की भी इनसे संभावना है; अर्थात्, इनकी यह स्थिति सचमुच ही विस्मयजनक है। जिस प्रकार प्रौढ़ फुटबौल-खिलाड़ी को मैदान में आकर खेलते देखने पर हमलोग विस्मित हुआ करते हैं, लगभग उसी भंगी से ही इन समालोचक ने इन प्रौढ़ लेखक को देखा है।

हम इन प्रौढ़ लेखक की रचना के उत्कर्ष पर विचार करने नहीं जाना चाहते; बल्कि हम तो इस उपर्युक्त समीक्षा के अधिकृत भाव से आन्दोलित होकर इस क्षण यही जानना चाहते हैं कि आखिर यह धारणा ही क्यों की गई कि प्रौढ़ वयस् में लिखने का उत्कर्ष कम हो जाता है? क्रिकेट के खेल में साधारणतः यह समझा जाता है कि एक फास्ट-बौलर अपनी उत्कर्षता के तुंग शिखर पर सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष की उम्र तक रहता है, और इसके बाद ही उसका पतन प्रारंभ हो जाता है; और स्लो-बौलर के विषय में उत्कर्षता का परिचय मिलता है प्रायः तीस वर्ष की उम्र के बाद से। इसका कारण यह है कि स्लो-बौलर का सहारा उसकी बुद्धि होती है, न कि दैहिक शक्ति। साहित्यिक का भी सहारा उसका मनन ही होता है। और, पृथिवी के साहित्य के इतिहास में देखा गया है कि लेखक की उम्र जितनी ही बढ़ती जाती है, उसके लेखन का मान भी उतना ही उन्नत होता गया है। नामों का उल्लेख करके अपनी इस बात को प्रमाणित करने की शायद कोई जरूरत नहीं है।

किन्तु, इसके बावजूद देखा गया है कि हमारे देश के आज के जमाने में किसी प्रौढ़ लेखक का बहुत बढ़िया लिख सकना एक आश्चर्य की चीज समझी जा रही है। अर्थात्, जिस चीज को स्वाभाविक और संगत सिद्ध होना चाहिए, वही हमारे लिए अस्वाभाविक और असंगत प्रतीत हो रही है। इसका क्या कारण है?

हमारी देशी भाषाओं में पंचाशोद्ध्र्ववयसी लेखकों की संख्या यथेष्ट होने पर भी, रचनाओं के मानविचार के नाते, वे अधिकांशतः केवल लेखक ही हैं, शिल्पी नहीं। परिणाम यह है कि, उनके गठित युग के लेखन, अर्थात् जब वे पहले-पहल साहित्य-क्षेत्र में उतरे तब से जो वायदे वे अपने प्रति निबाहते आए, आज उसे पढ़कर सचमुच विस्मित होना पड़ता है। पहले अच्छा लिखकर बाद में उनका लिखना-क्रमशः खराब क्यों होता गया, इसका कारण जानने के लिए हमें यह जानना जरूरी होगा कि उन्होंने आखिर किस परिमाण में लिखा है।

एक दफा किसी लेखक के सुनाम पा जाने पर पत्र-पत्रिका के संपादक उस लेखक को अपने-अपने लिए घेरना बाँधना शुरू कर देंगे—इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। किन्तु, आश्चर्य की बात तो यही है कि वे लेखक भी उन संपादकों की खुशी बजाने के लिए कलम पकड़कर उनके नाम पर बैठना शुरू कर देते हैं। विशेषांकों के अवसरों पर हम देखते हैं कि एक ही मास में प्रकाशित पत्रिकाओं में इन एक-एक लेखक ने पन्द्रह-बीस कहानियाँ लिख मारी हैं।

प्रतिदिन की बातों में से, कहने के लायक कोई बात मगज में आते ही, उसे कहानी के रूप में मगज से निकाल कर लेखक को अगली कहानी तैयार करने की तेजी होने लगती है। यह तेजी सात घंटा, सात दि

या सात महीने की भी हो सकती है। बात कहने के लायक बात पाँच-दस नहीं, बल्कि अधिकतर एक ही होती है। कोई भी दायित्ववान लेखक असार रचना के लिए प्रस्तुत नहीं हो सकता, फलस्वरूप झट-झट कहानी-प्रबंध लिखने के लिए भी तत्पर नहीं होता। आधुनिक यूरोप और अमेरिका के दायित्ववान लेखक, यही कारण है कि, वर्ष में दो-तीन कहानी-पुस्तक निकालने के लिए व्यस्त नहीं होते, और उनके उपन्यास भी कई अच्छे-खासे वर्षों को बिताकर ही प्रकट होते हैं। इसका ही नतीजा यह है कि चाहे वे जितना ही कम क्यों न लिखें, उनके हर किसी लेखन को शिल्प के दरबार में स्थान मिलता है, और लेखक भी पाठक के अन्तर में स्थान पाते हैं। वर्ष के बाद वर्ष, लोग उनकी रचना के लिए अपेक्षा किए रहते हैं।

किन्तु, हमारे देश में आज वैसी अवस्था नहीं है। प्रचुर पत्रिकाएँ और उनके प्रचुर विशेषांक, या उन सबों के लिए अपनी क्षमता से भी टप कर कहानी आदि लिखना ही केवल इस दोष का कारण है—इतनी ही बात नहीं; बल्कि असली समस्या तो निरापत्ता का ही अभाव है।

सोने का चम्मच अपने मुँह में लेकर पैदा होने वाले साहित्यिक, हमें लगता है कि, अब हमारे देश में कोई नहीं हैं। प्रतिकूल आर्थिक परिवेश में ही आज उन्हें अपने को अँटाना पड़ता है या उसका मुकाबला करना पड़ता है, और इसी हालत में उन्हें लिखना भी पड़ता है। आज इतनी तरक्की हो जाने की चर्चा के बावजूद, हमारे देश में, अच्छा और थोड़ा लिखकर ही भले-भले जीवन व्यतीत कर लेने के लायक धन नहीं पाया जा सकता, जैसा कि यूरोप और अमेरिका में संभव है। यूरोप और अमेरिका के लेखक एक उपन्यास लिखने के लिए पाँच-दस वर्ष तक तैयारी कर सकते हैं, किन्तु हमारे देश में लेखक को इतनी देर और दूर तक जीवन-यात्रा का कोई पाथेय नहीं है कि इस यात्रा को तय कर किसी अच्छे शिल्प की मंजिल वे पा सकें। इसीलिए विदेशों के लेखकों के पक्ष में गुरुत्वपूर्ण विषयों में मगज खपाना संभव होने के मुकाबले हमारे देश के लेखकों के लिए यही संभव और जरूरी समस्या हो उठती है कि वे अपने भविष्य के लिए किस प्रकार निरापत्ता का जल्दी-जल्दी संग्रह कर डालें। इसके लिए उन्हें जो कुर्बानी देनी पड़ रही है, वह वेदनाप्रद ही है। पाठक के नाते हम उनसे असन्तुष्ट हो जाया करते हैं, किन्तु लेखक भी निश्चय ही अपनी रचना के संबंध में सुख या खुशी का कोई अनुभव नहीं कर पा रहे हैं।

हमारे देश के साहित्य के क्षेत्र में आज एक ऐसी अवस्था आ खड़ी हुई है, जो सचमुच संकटकर ही है। शिल्प एवं वाणिज्य के बीच खड़े होकर हमारे कोई भी लेखक आज स्वस्तिबोध नहीं कर पा रहे हैं। गंभीर और मर्यादापूर्ण रचनाओं के लिए यह स्थिति कतई अनुकूल नहीं है। और, जितने दिन हमारे लेखक आर्थिक या सामाजिक निरापत्ता नहीं पावेंगे, उतने ही दिन लेखकों और पाठकों को इस अस्वस्ति में ही रहना पड़ेगा। उतने ही दिन एक समय के वायदेदार लेखक की प्रौढ़ वयस् में लिखी रचना को पढ़कर आपके समालोचक कहते रहेंगे कि—ये प्रौढ़ साहित्यिक आज भी समाप्त नहीं हो सके हैं; बल्कि अब भी नवीनतम और सार्थक रचनाओं की सृष्टि इनके द्वारा संभव है।

आपकी पांडुलिपि निःसन्देह एक सर्वोत्कृष्ट रचना है। परन्तु आप यह बात प्रकाशक से स्वयं कभी न कहिए। क्योंकि प्रकाशक के पास जो बुरी-से-बुरी पांडुलिपियाँ भी आई हैं, उनके बारे में भी उनके लेखकों ने शायद यही बात कही होगी। ...प्रकाशक न तो सब-के-सब निःस्वार्थ परोपकारी होते हैं और न पक्के धूर्त। इसी प्रकार वे बहुधा न करोड़पति सेठ होते हैं, और न कंगाल भिखारी ही। वे साधारण मनुष्यों की ही तरह होते हैं, जो एक असाधारण रूप से कठिन व्यापार द्वारा अपनी जीविका कमाने का प्रयत्न करते हैं। प्रकाशक बन जाना तो आसान है, परन्तु अधिक समय तक प्रकाशक बने रहना बहुत कठिन है। दूसरे उद्योगों और पेशों की अपेक्षा इस व्यापार में शिशुकाल में मृत्यु कहीं अधिक होती है।

—सर स्टैनले अनविन

भारत भारती

नेपाली लोकगीत : एक झलक

श्री के० एस० राणा 'परदेशी'

नेपाली भाषा एक उन्नत भाषा है, क्योंकि इसमें भी साहित्य का काफी निर्माण है। इस भाषा ने जहाँ भानुभक्त "आश्यक" जैसे सुकवि व लेखक को जन्म दिया, वहाँ आज भी असंख्य टिमटिमाते तारे व जुगनू इसके कोष को भर रहे हैं। इसका प्राचीन साहित्य भी संस्कृत एवं प्राकृत व अपभ्रंश में है। हिन्दी साहित्य की ही भाँति इसका प्राचीन साहित्य भी पद्य-प्रधान है। लाल-हीरा की कथा, प्रह्लाद-भक्ति-कथा, प्रेमसागर, मधुमालती-कथा, अलबेली रानी की कथा, सभी पद्य-प्रधान हैं। इसका उत्कर्ष भी हिन्दी साहित्य की भाँति कठिन परिस्थितियों में हुआ है।

लोकगीतों की दृष्टि से यह भाषा अति समृद्ध तथा गौरवशाली है। यहाँ के लोकगीतों में प्रेम का प्राधान्य है। क्योंकि यह स्वाभाविक ही है कि हमारे प्राचीन कवियों ने प्रेम व शृंगार को नवरसों में उत्कृष्ट कहा है :

"जा घट प्रेम न संचरे, ता घट जानूँ मसान।
जैसे खाल लोहार को, साँस लेत बिन प्राण।"

कबीर की यह उक्ति ध्रुव सत्य है। फिर भला साहित्य के अज्ञात निर्माता, जिनका मुख्य उद्देश्य ही इस प्रेमी मन की अपूर्ण इच्छा को पूर्ण करना रहा हो, भला कैसे प्रेम को न लेते? हिमाचली लोकगीतों की भाँति नेपाली लोकगीतों में वीररस-शृंगाररस, विरह व निराशापूर्ण भावनायें स्थान-स्थान पर दीख पड़ती हैं :

"आमा ले, बाबू ले; सुर्ता न गर मलाई त, म
त जान्छु लड़ाई मा फेरी आउछु संगै मा।"

यह धुन कदाचित आपने भी पैंपर बैंड में पैंपर पर गाते हुए सुना होगा। यह वीररस की विश्वविख्यात धुन भारत में ही नहीं इङ्गलैण्ड में भी प्रथम महासमर के पश्चात् पैंपर पर बजाई जाती थी। इसका अर्थ वीरता से परिपूर्ण है : "माँ-बाप को मेरी चिन्ता नहीं करनी चाहिए। मैं युद्ध में जा रहा हूँ। क्योंकि युद्ध सदा तो चलेगा नहीं, इसलिए उसकी समाप्ति पर मैं विजय प्राप्त कर वापस आपलोगों को पास ही आ जाउँगा।"

"शीरु पाते खुकुरी भिरे र,
जानू पड्यो जरमन कै धावै माँ।"

—दो महासमरों ने हजारों-लाखों प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेम-संसार को उजाड़ डाला। युद्ध के मैदान में फटे बम्ब व तोपों के गर्जन व हवाई जहाजों की घरघराहट में भला एक वीर किस प्रकार शान्ति से बैठ प्रेमिका को साथ ले कल्पना का संसार बसा सकता? वीरों की सन्तानें, जिनकी भुजाएँ तोपों के गर्जन में फड़क उठीं, घर पर रह न सकीं। मजबूर हो युद्ध-क्षेत्र में मृत्यु का नंगा नाच देखने के लिए सेना में भरती हो गयीं। "पतली-तेज गोर्खी (भुजाली) को सुसज्जित कर, चमका कर, आज युद्ध में अपनी आदत से मजबूर होकर जाना पड़ रहा है। इसलिए, हे प्रिये! तुम चिन्ता न करो।"

नेपाली भाषा में अज्ञात प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रेमपूर्ण विवादों, प्रश्नोत्तरों का सुन्दर वर्णन है। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका से कहता है :

"जान्छु मत्रै भनन् कान्छी,
रेल को भाड़ा म तिरी लैजाउँला।"

"ऐ प्रिये! मुझे केवल इतना ही कह दो कि 'मैं तुम्हारे साथ जाने के लिए तैयार हूँ।' बस सारा रेल का किराया मैं स्वयं अदा कर तुम्हें इस स्वार्थी समाज से दूर किसी देश में ले जाउँगा, जहाँ हमारा प्रेम आदर्श-अटूट प्रेम बना रहेगा।" यहाँ प्रश्न उठता है कि प्रेमी को प्रेमिका से यह कहने की क्या जरूरत है कि वह रेल का किराया स्वयं देगा? सच्ची बात तो यह है कि प्रेमी, प्रेमिका की इच्छा के बिना, उसे उसके प्रिय परिवार से दूर नहीं करना चाहता। यही नहीं, यदि प्रेमी ने खर्च के बारे में न बताया तो कहीं प्रेमिका मार्ग के खर्च से परेशान होकर या दुःख उठाने के डर से ही उसे न छोड़ दे, साथ जाने से मना न

कर दे। यह स्त्री को वश में करने के लिए पुरुष की चालाकी है। प्रेमी, प्रेमिका की ताक में खेत में छुपा रहा। प्रेमिका आई तो उसने उसे मनाया-फुसलाया, पर वह न मानी तो एक मुट्ठी कूटे हुए धान का चिउरा देकर वह उसे मनाना चाहता है :

"भालूखोप जान को त्यो सेती मकई,
खाई हाल्यो पिउरैले।
हेर न आमा फकाउँछ मलाई,
एक मुठी चिउरैले ॥"

ऐ री माँ, सुन! भालूखोप की पहाड़ी बस्ती में जो मक्की की फसल हो रही थी, उसे किसी पशु ने खा लिया है, और यह......मुझे एक मुट्ठी चिउरा देकर मनाना चाहता है।

मानिनी प्रेमिका के कारण निराश हो, प्रेमी कहता है :

"माथीलो बाटो को मान्छे आयो,
हेरनुँ लाई राम जस्तो।
टाढ़ो को पीरथी न गरनु होला,
बरखा को घाम जस्तो ॥"

"अरे! ऊपर के रास्ते से वह कौन आ रहा है? जैसे रामचन्द्रजी हो।" यह पंक्ति केवल तुकबन्दी के लिए है। इसका कोई अर्थ नहीं लगता। वह आगे कहता है, लोगों को समझाता है कि "दूर की प्रीति नहीं करनी चाहिए, क्योंकि यह स्थिर नहीं। जैसे वर्षा ऋतु में सूर्य कभी दिखता है, कभी ओझल होता है; ऐसे ही दूर रहने वाले का प्रेम भी स्थिर नहीं रहता।"

प्रेमिका प्रेमी से चुपके-चुपके मिलने जाती है। माँ-बाप को पता लगने पर वे उसे वहाँ जाने से मना करते हैं। पर वह उस मनाही को नहीं मानती। उस मनाही के प्रतिक्रियास्वरूप जो भाव उठते हैं, वे यूँ हैं :

"त्यां तल नै नारान सिमसौर मा,
हलहले को साग छ।
आमा-बाबू ले न जा भनछ,
पोई को माया लाग छ ॥"

"ओ ऽऽऽऽ! नीचे पानी के पास हलहला नामक पौधे की साग है।" यह पंक्ति अर्थहीन है, क्योंकि हलहले का पौधा एक घास है, जिसे खाया नहीं जा सकता। यह केवल नीचे की इस पंक्ति को प्रकट करने के लिए तुकबन्दी मात्र है : "मुझे मेरे माँ-बाप वहाँ (प्रेमी के पास) जाने से मना करते हैं। पर क्या करूँ, अपने प्रेमी का प्रेम मुझे खींच कर वहाँ ले जाता है।"

"त्यां तल नै नारान सिमसौर मा,
गाई मरेको सीनूं।
सेउला राखे सूखी जाला,
औंठी राखे चीनूँ, हजूर,
बजाऊँ मुरली।"

"ओ! नीचे पानी के पास जहाँ गाय मर गई थी, वहीं पर हमारी-तुम्हारी पहली भेंट हुई थी। अतः, वह स्थान हमारे लिए जीवन भर स्मरण रखने योग्य है। अतः वहाँ कोई चिह्न लगाना चाहिए, जिससे वह स्थान सदा हमें याद रहे। यदि हम वहाँ पेड़ की या घास की डालियाँ काट कर रख दें, तो वह सूख जायगी और नष्ट हो जायगी। इसलिए वहाँ अँगूठी रखने पर ही वह स्थान याद रखी जा सकेगी।" देखिए, प्रेम में वे इतने भूल गये हैं कि यदि अँगूठी सोने की हुई और कोई चोर उड़ा ले गया तो फिर क्या होगा, इतना भी नहीं सोचते। वैसे में तो स्थान की स्मृति भी जाती रहेगी और नुकसान भी होगा। पर, वे भला अँगूठी रखने ही क्यों लगे। यह तो केवल कल्पना है।

"त्यां तल नै नारान सिमसौर मा,
रकसी बेचने खुंड़ी।
लउरो टेकी पैला जाने,
दांत फुक्लेको बुंढी, हजूर,
बजाऊँ मुरली।"

एक बूढ़ी प्रेमिका को प्रेमी के पास जाते देख कर लोग हँसी-ठठ्ठा करते हैं : "यह वही प्रेमिका है जिसके मुँह में एक भी दाँत नहीं, लाठी टेक-टेक कर अपने प्रेमी के पास जा रही है। इस खुशी में खूब मुरली बजाकर आनन्द करो।"

"लाउरे को रेली माई फेशनै रात्रो
रातो रुमालै मा खुकुरी भिरेको

दार्जिलिंग को घोड़ा रेस मा,
मैंले पाये तगमा।
कान्छी माथी जेठी लायें,
रक्सी खाको झोंक मा॥
लाउरे को रेली भाई······

"हे रेलीमाई (नदी का नाम)! इस नौजवान का फैशन अति सुन्दर है। क्योंकि लाल रूमाल में भुजाली अति शोभायमान है।" लड़की के मुख से ऐसी तारीफ सुन लड़का बोला: "मैंने दार्जिलिङ की घुड़दौड़ में मैडल इनाम पाया है। इस खुशी में मैंने इतनी शराब पी कि एक स्त्री के घर में होते हुए भी नशे में चूर होकर दूसरी स्त्री को ले आया।"

नेपाली, शृंगाररस में सुरा और सुन्दरी का वर्णन करना कभी न भूले हैं, न भूलेंगे। फिर भी, इन दो बुराइयों के कारण वे फक्कड़ भले ही हों, पर उस निर्धनता ने उनकी दयानतदारी-सचाई-वीरता और प्रण को आजतक कभी कलंकित नहीं किया।

उन्होंने अपने प्रण और कर्त्तव्य के पीछे प्राणों की बाजी लगा दी। यही कारण है कि विश्व के कोने-कोने में वे अपने इन गुणों के लिए उदाहरण बन गये हैं।

दरिद्रता के लिए शायद वे ही आगे गये थे। एक जनकवि ने "विवश जीवन" में लिखा:

"चल्यो जीवन परिस्थिति को डोको बोकी
डोको माथी भावना को पोको राखी॥
पोका भित्र विचार को द्वंद हुँन्छ
द्वंद सुनी जीवन को सातो जान्छ॥"

यह मानव, जीवन की परिस्थितियों का भार उठाये, जा रहा है, जिस भार में विचारों के द्वंद्व का बोझ है। जिस द्वंद्व को देख जीवन के होश गुम हो जाते हैं।

"एउटा भन्छूँ गीदि सबै मैले खाँन्छु
आर्को भन्छ किन हुन्थ्यो कहाँ मान्छु?
जीवन ले पोको फ्याकी जंगल को बाटो भाग्यो,
पोको किन फ्याकिस् भन्दै परिस्थिति पछि लाग्यो।"

एक कहता है कि सब गुदा मैं ही खाऊँगा, अर्थात् जीवन में मजा मैं ही लूटूँगा; दूसरा कहता है कि ऐसा क्यों होने लगा, मैं इसे नहीं मानता। यह सुन जीवन ने भार-रूपी भावनाओं की गठरी जंगल में फेंकी और स्वयं अज्ञात दिशा की ओर भाग गया। किन्तु परिस्थिति, यह कहते हुए कि तूने भार क्यों फेंका, पीछे लग गई। इस प्रकार मनुष्य को न ही परिस्थिति, न ही भावनायें चैन लेने देती हैं। उसके लिए उनसे भागना "Out of the fring pan in to the fire" अर्थात् "चूल्हे से निकला, भाड़ में गिरा; आकाश से गिरा, खजूर में अटका" के बराबर है। वास्तव में मानव-जीवन फूलों की सेज नहीं, काँटो की सेज है। "ढाकरे" में जीवन की वास्तविकता देखिए:

"वर्षा भरी काल काटी हिउँद लागे पछि
लुगाफेंन सुन्तलार सुठो बोकी बोकी
जंगल को जरी-बुटी संगाले को घिऊ
बेचनहिंडे ढाकरे दाज्यू गर्दै सिऊ सिऊ॥"

वर्षा ऋतु तो बड़ी कठिनाई के पश्चात् समाप्त हुई। अब चारों ओर बर्फ-ही-बर्फ है; किन्तु पहनने के लिए, बदलने के लिए एक भी कपड़ा नहीं। अतः, कपड़ा सिलाने के लिए सन्तरे-सूँठ आदि नंगे पाँव, नंगी पीठ पर ढो-ढो कर या जंगल की जड़ी-बूटियों और घी को बेचने के लिए (ढाकरे) भाईजी सर्दी में ठिठुरते हुए, सी-सी करते हुए दोहरे ओढ़ कर बाजार की ओर जा रहे हैं:

"नाक बाट पानी चुहाई दाँत बजाँउदै
झार माथी टल्किएको सित खसाउदै
डोको बोकी लौरो टेकी नून जाने तांति
हिमालको चीसो हावा खांदै डांडा माथी।"

"सर्दी के कारण नाक से पानी बह रहा है और दाँत कटकट कर बज रहे हैं। वह किल्ला उठा कर अगल-बगल की झाड़ियों से ओस और पानी की ठण्डी बूँदों को हटाते-गिराते-झाड़ते, हाथ में लाठी लिए, उसके सहारे, नमक लेने के लिए पहाड़ की चोटी (धार) पर की ठण्डी हवा को खाते हुए चल रहा है।" यही जिन्दगी है, जो वास्तविक है। इसीलिए इसके कड़ुएपन को, ठोस सत्य को भुलाने के लिए प्रेमी प्रेमिका से कहता है:

"दार्जिलिंग जान को त्यो सेतो बिलड़िंग,
रेलिंग को घुमारो।

Let us (Oh) walking, my dear darling, I coming tomorrow."

"हे प्रिये! दार्जिलिंग की वह सफेद ऊँचाई मुझे अभी भी याद है। मैं उसे भूला नहीं हूँ, जहाँ हम घूमने गये थे। मैं कल आ रहा हूँ। हम कल फिर घूमने चलेंगे।"

"ओढ़ेर नीलो शाल,
ओ साली! काली गंगा को पार।
ओढ़ेर नीलो शाल,
ओ मीना! काली गंगा को पार॥
नाहन को बारी, केला को घाटी,
परदै छ पानी को धारा।
साली र मीना अंगालो हाली,
हुने छ हाम्रो ब्याह।
काली गंगा को पार......
नाहन को ठांऊ मा, बिरानो देश मां,
परदै छ पानी को धारा,
तिमि लाई छोरी, जाई सकने छुईन,
काली गंगा को पार...।"

साली-जीजा का मजाक हर जगह चलता है। साली कहती है: "जीजाजी, नीला शाल ओढ़कर मैं काली-गंगा के पार, इस जगह को छोड़कर जाऊँगी।" जीजा कहता है: "यह नाहन, जहाँ वर्षा इतनी होती है, वहाँ केला ही केला लगा हुआ है। आओ, हम दोनों गले मिल लें, क्योंकि हम दोनों की शादी होनी है।"

शायद साली नाराज हो गई। "अरे भई, तुम मुझसे नाराज क्यों होती हो? मैं तो परदेशी हूँ। बेगाने देश में रह रहा हूँ। न जाने कब चला जाऊँ? (साली मुस्कुरा पड़ी। चलो, जान छूटी। शायद जीजा अब तंग न करेंगे) भई, मेरा यहाँ कोई नहीं है। अपना मेरा देश तो कालीगंगा के पार है। यहाँ पर वर्षा बहुत ही हो रही है। इसलिए मैं तुम्हें छोड़कर कहीं नहीं जा सकता। मैं तो तुम्हें लेकर ही जाऊँगा।" यह सुन साली के होश उड़ जाते हैं।

प्रेमिका प्रेमी के लिए सब कुछ करने के लिए तैयार है—

"तिमि त भई जाऊँ, बाग को फूल;
बगान मा गएर।
तिमि लाई भेंटनू, म निश्चै आउँछु,
माली जान भएर॥"

"हे प्रियतम, तुम्हारा और मेरा साथ जन्म-जन्म तक न छूटेगा। यदि तुम अगले जन्म में फूल बनकर किसी बाग में लगोगे तो मैं निश्चयपूर्वक कह रही हूँ कि मैं माली बनकर तुम्हारे पास आऊँगी।" यह तो रही अगले जन्म की बात, पर इस जन्म में:

"तिमि त भई जाऊ, मोटर को ड्राईवर,
टिस्टा मा गएर।
तिमि लाई भेंटनु म निश्चै आउँछु,
पेशिन्जर भएर॥"

"हे प्रियतम! तुम मोटर चलाना जानते ही हो। अतः टिस्टा नामक स्थान में जाकर तुम किसी टैक्सी के ड्राइवर बन जाओ। मैं तुमसे मिलने के लिए यात्री बनकर आऊँगी।"

इसी प्रकार, असंख्य प्रकार के लोकगीत, जहाँ-जहाँ नेपाली जाति रहती है, गाये जाते हैं। जिनको एक प्रकार यदि पुस्तक का रूप दे दिया जाय तो एक रोचक ग्रन्थ तैयार हो सकता है।

१९१७ में कलकत्ता अल्फ्रेड थियेटर में लोकमान्य तिलक ने अँगरेजी में भाषण दिया। सभा की अध्यक्षता गाँधीजी कर रहे थे। गाँधीजी ने पूछा कि "जो इस भाषण को समझे हों, वे हाथ उठावें।" दो-चार ही हाथ उठे। तब गाँधीजी को कहना पड़ा कि "यह विद्वत्तापूर्ण भाषण हिन्दी में हुआ रहता तो हजारों लोग इससे महान् लाभ उठाते।"

पुस्तकों के नाम पर

श्री अमरेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय

इधर अमेरिका के बहुप्रचारित साप्ताहिक 'टाइम' पत्रिका में पुस्तक के संबंध में मन्तव्य प्रकट किया गया है कि पाश्चात्य जगत में प्रकाशित असंख्य पुस्तकों के बीच कौन पुस्तकें सचमुच 'पुस्तक' हैं और कौन पुस्तकें 'पुस्तक नहीं' हैं, इस विषय पर विचार करने का अब आवश्यक अवसर आ गया है। साधारण तौर पर 'पुस्तक नहीं' उस श्रेणि की पुस्तकें होती हैं जिनका लेखन नहीं होता, बल्कि कच्चे रेकर्ड, टेप-रेकर्ड या अन्य किसी यांत्रिक सहायता से जिनकी रचना की जाती है।

'टाइम' ने और भी कहा है कि एक 'पुस्तक' के बीच हम प्रत्याशा करते हैं कि उसमें प्रत्यक्षभाव से लेखक की ओर से उसके कुछ विचार, विशेष-विशेष घटना एवं व्यक्तिगत अभिज्ञता और जीवन-दर्शन के संबंध में उसकी अपनी व्याख्या होती है, किन्तु 'पुस्तक नहीं' वह चीज नहीं है। देखने में 'पुस्तक नहीं' चमक-दमक की चीज हो सके, मगर होती है प्राणहीन ही। टाइम में 'पुस्तक नहीं' का आगे चलकर यह श्रेणि-बंधन किया गया है :

(१) उपन्यासों के संक्षिप्त संस्करणों का संकलन। 'रीडर्स डाइजेस्ट'-नुमा प्रकाशित चीजें। गोमांस का टुकड़ा जिस प्रकार गाय नहीं कहा सकता, उसी प्रकार ऐसी चीजें भी पुस्तक नहीं कहा सकतीं।

(२) ख्यातनामा व्यक्तियों के परलोकवासी हो जाने के वर्षों के बाद जो उनकी आत्मजीवनी प्रकाशित होती है या उनकी उक्ति, वाणी और मतामतों का व्यवहार कर जो सब पुस्तकें लिखी जाती हैं, उनकी विषयवस्तु के सत्यासत्य के निर्णय करने का कोई चारा नहीं हुआ करता। अतः वे सब भी 'पुस्तक नहीं' ही हैं।

(३) सिनेमा बनानेवालों के प्रयोजन और फरमाइश से लिखी गईं पुस्तकें। कोई सिनेमा बनानेवाले अपने मित्रों के साथ सलाह करके अपने फिल्म की कहानी सोचें कि उसमें कितनी हत्या, कितने वार विवाह-विच्छेद या नायक-नायिका का विरह-मिलन उन्हें कराना है, कई-एक घटनाओं को भी इसी सिलसिले में सोच डालें, उसके बाद अपने इन चिन्तितों के नोट को किसी चलते-फिरते लेखक को देकर उन्हीं सबों को सजा-सँजो कर अपने नाम एक पुस्तक लिखा लें; तो वह सब भी 'पुस्तक नहीं' ही है।

(४) उपदेश-मूलक, अर्थात् 'अपने पैर पर आप खड़े होओ' जैसे शीर्षकों और बोलियों से युक्त पुस्तकें। क्योंकि, इस प्रकार के उपदेश, हो सकता है कि, अनेकानेक के मुँह से पहले भी सुने गये होंगे, अतः, यदि लेखक उन्हीं सब बोलियों को आत्मसात् कर पुस्तक लिख डाला करें, तो वह भी 'पुस्तक नहीं' ही है।

(५) कुछ लिखे हुए के साथ तस्वीरों की पुस्तक। कुछ लिखा हुआ यत्किंचित्, और बाकी तस्वीर-ही-तस्वीर। अस्पताल के बीमारों की दर्शन-दिलचस्पी के लिए या किसी को टटका प्रेमोपहार देने के लिए इनका जो-कुछ भी दाम। ये सब भी 'पुस्तक नहीं' ही हैं।

(६) जो अपनी अधिक मात्रा में संकलन-ग्रंथ हों। लोगों की इच्छा या चलन्तू माँग के नाते जो विषयवस्तु का एकत्रीकरण भर हो। समाचारपत्रों की कटिंग जुटाकर या मनीषियों की वक्तृता का अंश उद्धृत कर जो पुस्तकें तैयार होती हैं, वे सब भी तथार्थतः 'पुस्तक' नाम से संबोधित नहीं की जा सकतीं; अर्थात् 'पुस्तक नहीं' ही हैं।

अमेरिका के अधिकतर प्रकाशक 'पुस्तक नहीं' ही प्रकाशित करते रहते हैं। उनकी बिक्री भी बहुत करते हैं। ऐसे विषय में सबसे अधिक काम और व्यवसाय प्रेन्टिस हाल के 'हाथार्न बुक्स' के प्रेजिडेन्ट केनेथ गिनिगार करते हैं। ग्रंथकारों के साथ उनका सम्पर्क बहुत ही कम है। उनके कोई बँधे हुए लेखक भी नहीं हैं। उनका काम एकदम दूसरे ही प्रकार का है। उनके प्रतिष्ठान के पुस्तक-बाजार-विशेषज्ञ, लोगों की चलती मर्जी को समझकर, समयोपयोगी विषयवस्तुओं का उद्भावन करते रहते हैं। इसके बाद, पुस्तक किस प्रकार की होवे, इस संबंध में एक विवरण-पुस्तिका तैयार होती है। पुस्तक छापने में खर्च होता है, शायद इसीलिए, जिससे वह खर्च कम हो इसी निमित्त, पुस्तक छापने के पहले ही, उनकी वह

(शेष पृष्ठ २४ पर)

विश्व भारती

रूसी प्राच्यतत्त्वविद् : पंडित वरान्निकोव

श्री द्रष्टा

सोवियत यूनियन में भारततत्त्व-विषयक चर्चा के इतिहास-प्रसंग में अलेक्सि पेत्रोविच वरान्निकोव का नाम विशेष श्रद्धा के साथ पुकारा जाता है। आधुनिक भारततत्व-चर्चा के जो कई-एक पथनिर्माता हैं, उनमें वरान्निकोव एक अन्यतम स्तम्भ हैं। अ० पे० वरान्निकोव का जन्म १८९० साल में हुआ एवं मृत्यु १९५२ साल में।

आचार्य वरान्निकोव ने १९२६ साल में प्रेमचंद की रचनाओं का रूसी अनुवाद किया एवं मुंशी प्रेमचंद के साहित्य और दृष्टिकोण के विषय में एक गठा हुआ निबंध भी लिखा। इस निबंध की आज तक वहाँ के पंडित-समाज और साहित्य-पाठकों में चर्चा है और वे उसे अपने यहाँ के निबंध-साहित्य की विशिष्ट सम्पत्ति मानते हैं।

कुछ काल के बाद उन्होंने तुलसीदास के 'रामचरित-मानस' और उन्नीसवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य के अन्यतम प्रतिनिधि-स्थानीय लल्लूलाल के 'प्रेमसागर' का भी अनुवाद किया।

'रामचरित-मानस' के अनुवाद की भूमिका में आचार्य वरान्निकोव ने हिन्दी साहित्य के क्रमविकास के विषय में अच्छी आलोचना की है। १९३९ में उनके निबंध "यूरोप और भारत में तुलसीदास के विषय में अनुशीलन" एवं "तुलसीदास के रामचरित-मानस के कई-एक विभिन्न पाठभेद" प्रकाशित हुए और उसके बाद, सन् १९४३ में उन्होंने तुलसीदास-विषयक गवेषणा में एक और उल्लेखयोग्य निबंध-उपहार दिया : "तुलसीदासी रामायण के अन्तर्भुक्त सुभाषित।"

बहुभाषाविद् वरान्निकोव उर्दू साहित्य के प्रति भी कम अनुरागी नहीं थे। उन्होंने विख्यात उर्दू महाकवि मिर्जा गालिब से लेकर आधुनिकतम उर्दू कवियों की कृतियों में विशेषतम पदों के अनुवाद और उनके जीवन तथा काव्यशिल्प की विशेषता की भी समीक्षा की। उर्दू साहित्य से सम्पर्कित एक इतिहास-प्रबन्ध तथा उर्दू कविताओं का सानुवाद संकलन-ग्रंथ भी उन्होंने लिखा, जो सोवियत यूनियन में उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुका है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति के प्रति वरान्निकोव में प्रगाढ़ श्रद्धा थी। उन्होंने महाभारत की ऐतिहासिक भूमिका के संबंध में एक तथ्यबहुल निबंध लिखा था और वह निबंध "भारतीय साहित्य के संपर्क में अ० पे० वरान्निकोव की रचनावली से निर्वाचित रचनाओं का संकलन" नामक रूसी ग्रंथ में पुनः मुद्रित हुआ है। इसके अलावा, उन्होंने बौद्ध जातक-ग्रंथों का भी अनुवाद किया था और बौद्ध-साहित्य तथा संस्कृति के संबंध में कई तगड़े निबंध भी उपस्थित किये थे।

घुमन्तू जातियों अथवा जिप्सियों के संबंध में भी वरान्निकोव के आग्रह का अन्त नहीं था, इसीसे उन्होंने जिप्सियों की भाषा, गाथा, उपकथा इत्यादि विषयों पर कई-एक प्रामाणिक निबंध भी प्रस्तुत किए हैं।

बहु भारतीय भाषाओं के पंडित आचार्य वरान्निकोव भारतीय भाषाओं में प्रकाशित सभी साहित्यिक पत्र-पत्रिकाओं को गहरे मनोयोग के साथ पढ़ा करते थे। १९३० साल से १९४० साल तक वाले दशक में भारत के बंगला, उर्दू, हिन्दी, मराठी आदि भाषाओं के पत्रों और प्रकाशनों में मैक्सिम गोर्की के संबंध में विशेष आग्रह दिखाई देता है। बीसवीं सदी के इस तीसरे दशक में हमारे देश में, खास तौर पर गोर्की-साहित्य के संबंध में, नियमतः चर्चा शुरू हो जाती है। इस दशक की हमारे देश की पत्र-पत्रिकाओं और प्रकाशनों में उस विषय की लगभग तमाम चर्चाओं ने आचार्य वरान्निकोव की दृष्टि को अपनी ओर खींचा। और, उन तमाम चीजों को पढ़कर उन्होंने इसके संबंध में कई-एक निबंध लिखे, जैसे : 'गोर्की और भारतीय साहित्य', 'समसामयिक भारतीय साहित्य पर गोर्की का प्रभाव', 'गोर्की और रूसी साहित्य के संबंध में भारतीय लेखक और समालोचक वृन्द' इत्यादि।

लेखक का मन

श्री विश्वबन्धु भट्टाचार्य

"मेरा मन कहाँ खो गया? उसे कौन ले गया? जहाँ मैंने अपने मन को रख छोड़ा था, वह वहाँ तो नहीं मिल रहा है? कौन चुरा ले गया उसे? सातों धराखंडों को खोजने के बाद भी मैं अपने 'मन-चोर' को कहीं नहीं पा रहा हूँ। तो, वह चोर है कौन?"—कमलाकान्त के मुँह से बंकिमचंद्र का यह आत्मानुसंधान केवल हमारी उपभोग्य-वस्तु ही नहीं है, बल्कि वह लेखक-जीवन की एक उल्लेखयोग्य स्वीकृति के नाते भी हमारे लिए मूल्यवान वस्तु है। भोजनरसिक कमलाकान्त रसोई-घर और यहाँ तक कि प्रसन्न ग्वालिन की गौशाला में भी खोजकर अपने खोए हुए मन को नहीं पा रहा है। और, अन्त में हताश होकर कहता है—रहस्य के नाते नहीं, बल्कि सच ही कहता है कि—"किसी में भी अब मेरा मन नहीं रहा।"

पाश्चात्य साहित्यवेत्ता ई० एम० फास्टर ने, लगता है कि, कमलाकान्त-कथित इस मन का अँगरेजी नामकरण किया है: "टेम्परामेन्ट ऑफ दि नोवेलिस्ट", अर्थात् औपन्यासिक का मिजाज। गंभीर चिन्ता और निपुण अन्तर्दृष्टि की सहायता से लेखक श्रेष्ठ साहित्य की सृष्टि करता है। अच्छा लिखने के लिए इन पूर्वोक्त दोनों गुणों के अलावा और भी एक विशेष योग्यता का उसमें रहना आवश्यक है। और, वह योग्यता होती है: अभिज्ञता। इन्हीं तीनों गुण और योग्यताओं का अपरूप सम्मिलन ही कमलाकान्त के 'मन' या फास्टर के 'लेखक का मिजाज' को घटित करता है। और, मजा यह है कि अन्तर्जगत की बात को गुप्त रखने के मामले में प्रायः प्रत्येक लेखक ही कठोर सूचिवायुग्रस्त होता है। ऐसे लेखक अपने निजी साहित्यिक जीवन को दो स्वतंत्र और पृथक् परिमंडल में विभक्त कर रखते हैं। एक बाहर का परिमंडल होता है और एक अंतरंग का। अनुसंधानी आलोचक या बाल-का-खाल निकालनेवाले पाठक प्रायः लेखक के अंतरंग को टटोलना चाहते हैं और लेखक क्रमशः उन्हें इस मामले में टरकाना चाहता है। यह खेल, चिरंतन चलते हुए भी, अवश्यंभावी है।

लेखक के मन को अंतरंग के सज्जा-गृह से प्रकाश्य रंगमंच पर खींच कर ला सकते हैं केवल जीवनीकार। यही कारण है कि श्रेष्ठ लेखक जितने जनप्रिय होते हैं, उनके जीवनीकार उनसे किसी कदर कम जनप्रिय नहीं हुआ करते हैं। समालोचकगण जान्सन की रचना का चाहे जो भी मूल्यांकन क्यों न करें, व्यक्तिगत दुर्बलता की चूड़ान्त अभिव्यक्ति के बावजूद, उनके संगी वासवेल की वर्णना अधिकतर आकर्षणीय एवं यथेष्ट मूल्यवान ही सिद्ध होती है। वासवेल की वर्णना व्यक्तिगत, अंतरंग एवं इसीलिए जनप्रिय है।

जीवनीकारों के आगे समालोचकों की यही एक विराट् पराजय है। समालोचक लोग, जहाँ सुन्दर फूल का देह विश्लेषित होता है, वहीं उसकी सार्थकता के संधान में डूबे रहना चाहते हैं; जबकि जीवनीकार उस समय उस फूल की सृष्टि के इतिहास में मत्त रहते हैं। इसमें संदेह नहीं कि ये ऐतिहासिक, अनेक अंशों में, रोमांचक एवं निस्संदिग्धता के द्वारा उपादेय होते हैं। और, आज इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकेंगे कि सृष्टि के इस विचित्रतर इतिहास के अज्ञात रह जाने पर लेखक की अनेक रचना ही अर्थशून्य जैसी लग सकती है। असल में, लेखक की किसी भी विशिष्ट प्रवणता अथवा चिन्ता-धारा की छाप, उसके दैनन्दिन जीवन के प्रत्येक कार्यकलाप अथवा कथोपकथन पर पड़ेगी ही। और, यही प्रतिफलन, पहली चीज बनकर, जीवनीकार की नजर में आया करता है।

फ्रेंच लेखक पॉल वालेरी अपने जीवन की एक अद्भुत कहानी अपने अनुरागियों के समक्ष अकसर कहा करते थे। जब वे लंदन के एक बोर्डिंग-हाउस में रहा करते थे—कुहासे से घिरे एक परिवार में—तब अचानक उनके मन में आया कि गले में फाँसी लगाकर आत्महत्या कर लें। रस्सी खोजने के लिए जब वे भटक रहे थे, तभी उनके हाथ में एक हास्य-कथाओं का संकलन पड़ गया। पन्ने पलट कर पढ़ते-पढ़ते उसमें उनका मन ऐसा रमा और हठात् मन में ऐसा आने लगा कि जैसे उन्हें अब

आत्महत्या करने के योग्य कोई क्लेश और कोई आवश्यकता बाकी नहीं रही हो। Ivory Tower जैसे तत्त्व के स्रष्टा की वह कहानी, क्या उनके जीवन-दर्शन के रूप में, उनकी आच्छादन जैसी नहीं बन गई ?

काफ्का के मन की एक विशेष प्रवणता का वर्णन डोरा डिमेन्ट ने अपनी एक स्मृति-कथा में दिया है। उन्होंने लिखा है कि उस दिन काफ्का हमारे घर में दोपहर के भोजन के लिए आए थे। मैं रसोई-घर में व्यस्त थी। इसी समय वे बहन के साथ आ पहुँचे। कुछ ही देर में उनका मृदु और स्पष्ट कंठस्वर सुनाई पड़ा : "लड़की लोग अपने कोमल हाथों से क्योंकर जीव-हत्या करती है ?" (काफ्का तब निरामिषभोजी थे)। भारतीय दर्शन के गहरे विश्वासी ये लेखक सामान्य रक्तपात से ही विषण्ण हो सकते हैं, इस बात में अवाक् होने की शायद कोई बात नहीं है। फिर भी, साधारण पाठकों के आगे इस वर्णन की आवश्यकता है, क्योंकि वे इससे अहिंसावाद में काफ्का के गहरे विश्वास का प्रसंग समझ सकेंगे।

असल में, बंकिमचन्द्र के कमलाकान्त के 'मेरा मन कहाँ गया, क्या हुआ' कहकर आर्त्तनाद करने पर भी लेखक का मन लेखक का ही रहता है। फिर भी, हो सकता है कि बीच-बीच में लेखक का मन दिग्भ्रान्त या पथभ्रष्ट हो जाय। वैसी स्थिति में लेखक, रवीन्द्रनाथ की भाषा में, अपने मन को समझा लेता है कि "अच्छा-बुरा जो भी आवे, सत्य को सहज भाव से लो।" यही सत्यानुसंधान ही शिल्पी-मानस का गभीरतम दायित्व है। जो सभी प्रलोभनों को जीतकर मन को 'सत्य' के ग्रहण में सहायता देते हैं, वे ही अन्त तक ठहर पाते हैं।

('पुस्तकों के नाम पर' का शेष)

विवरण-पुस्तिका हजारों-हजार सम्भाव्य खरीदारों के पास भेजी जाया करती है। इस विवरण-पुस्तिका के साथ होता है, एक छपा हुआ सविनय निवेदन कि वे एक बड़ी भारी अच्छी पुस्तक प्रकाशित कर चुके हैं, यदि खरीदार अभी अपने आर्डर दें तो उन्हें डाक-खर्च नहीं देना होगा, पुस्तक बिना दाम ही भेजी जायगी, पढ़ने के बाद यदि अच्छी लगे तो दाम भेज दें और नहीं तो पुस्तक वापस कर दें, हमें किसी हालत में कोई ऐतराज नहीं होगा—वगैरह-वगैरह मनोहारी शर्त्त-सुविधा उस निवेदन में दी होती है। इस विवरण-पुस्तिका की हजारों-हजार प्रति इस प्रकार मुफ्त बाँट देने के बाद वे आर्डर के लिए प्रतीक्षा करते हैं। यदि आशा के अनुरूप आर्डर आते हैं, तो वे तत्परता के साथ किसी एक लेखक को भाड़े पर भर्ती कर उसे जिम्मा देकर चटपट पुस्तक लिखा लेते हैं। और, अगर अधिक आर्डर नहीं आए, तो वे मधुर भाषा में लेखक को यह जता देते हैं कि इस समय वे उक्त पुस्तक को किसी अनिवार्य कारण के वश नहीं निकाल सकेंगे, बल्कि जल्द ही दूसरी किसी विषयवस्तु से संवलित अन्य पुस्तक निकालना चाह रहे हैं। एवं, इसी के साथ-साथ वे उस दूसरी पुस्तक के नाम पर इसी प्रकार विवरण-पुस्तिका की मुफ्त छपाई-बँटाई से अपना कार्य जारी कर देते हैं। इस प्रकार की अपनी चार योजनाओं को लगातार यथेष्ट ग्राहक न मिलने के बहाने टाल देने के बाद भी, यदि पाँचवीं योजना 'हिट्' निकली, अर्थात् सफल होती प्रतीत हुई, तो इससे उनका पहले की योजनाओं पर व्यर्थ गया खर्च ही वापस नहीं आता है, बल्कि भारी-भरकम मुनाफा तक हाथ लग जाता है।

क्या हमारी देशी प्रतिष्ठित भाषाओं के बाजार में भी इस प्रकार की कुछ-कुछ 'नहीं पुस्तकें' पुस्तक के नाम पर आजकल नहीं बिक रही हैं ?

कसौटी

अक्षर-गीत (सचित्र बालगीत पोथी)

गीतकर्त्री—श्रीमती कमला रतनम्

चित्र-शिल्पी—श्री नरेन्द्र सेठी

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य—२.००

नागरी अक्षर तथा संख्याओं का बच्चों को बोध देने-वाली यह पोथी हर अक्षर तथा संख्या के साथ गहरे, बहुरंगी, दिलचस्प तथा बड़े चित्रों की और साथ ही तदनुकूल मजेदार द्विपदी गीतों की है। चित्र बड़े और अधिकतर सुन्दर कठपुतली-शैली के हैं और लिपि भी सुललित बालोचित कला की ओर बड़ी है। लिपि हर जगह गहरे काले रंग की है, जबकि उस प्रसंग के चित्र कई रंगों के। 'ह' के परिचय में 'हल खेतों में चलता है', 'न' के परिचय में 'नल से पानी बहता है', 'ढ' के परिचय में 'ढकना रखना भूल न जाना, चूहा खा जाएगा खाना'—आदि अतिसुन्दर पदों के नाते, इसकी गीतकर्त्री का काम जहाँ सराहनीय है, वहीं चित्रशिल्पी का अतिसराहनीय। इस उपयोगी पोथी के लिए चित्रकार, लेखिका तथा प्रकाशक की सराहना करता हूँ।

—'लालधुआँ'

तारों के सपने

लेखक—गोविन्दवल्लभ पंत

प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली

मूल्य—६ रुपये ५० नये पैसे। पृष्ठ—३८८.

इस उपन्यास में बाहर से आकर्षक और चमकने-दमकनेवाली फिल्मी दुनिया का वास्तविक कलुषमय और कण्टकमय स्वरूप प्रस्तुत किया गया है। चूँकि उपन्यास व्यक्तिगत अनुभव पर आधारित है, अतः चित्रण सफल एवं सही है। भूमिका में लेखक कहता है, "दस वर्ष पूर्व बम्बई प्रवास में कुछ कड़वे-मीठे अनुभव हुए थे। उनके एक अंश पर कुछ सुने, कुछ पढ़े तथ्यों पर कल्पना की परिछाया से गढ़कर मैंने यह उपन्यास लिखा।"

भानुदेव शर्मा उर्फ भन्ननजी हिन्दी के उपन्यास-लेखक हैं। यश और धन की लिप्सा के कारण एवं सिनेमा को सोने की खान समझ कर बम्बई चले जाते हैं। अपने झूठे अंधविश्वासों एवं भारतीय रहन-सहन को छोड़कर साहबी ठाठ अपनाते हैं पर असफलता ही हाथ लगती है। हाँ, जीवन और साहित्य के प्रति दृष्टिकोण बदल जाता है और नवीन दृष्टिकोण के साथ बम्बई से वापस लौट आते हैं।

पात्रों के चरित्र का बड़ा ही स्वाभाविक विकास हुआ है। हरीश, करीम चाचा और सरिता काफी असर डालते हैं। किरसनजी दया के पात्र लगते हैं।

परन्तु, पुस्तक में अशुद्धियों की भरमार है। निश्चय ही ये अशुद्धियाँ मुद्रण-संबंधी दोषों से वंचित हैं। उदाहरणार्थ, "अचकाकर" शब्द का प्रयोग। कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

(१) उन्होंने मन में निश्चय किया—"इस बार उस दरबान को भुनगा समझ उसकी उपेक्षा कर सीधा बढ़ जायगा स्टूडियो की तरफ। और भी जितने होंगे सबकी यही दशा करूँगा।" (पृष्ठ २३६)

(२) "कल को जाऊँ?" (पृष्ठ २४४)

(३) "आपको किसी की डर नहीं?" (पृष्ठ ३२६)

(४) "तुमने फिर उसके सामने जाकर झूठ बोली।" (पृष्ठ ३६२)

लेखक को ऐसी भूलों से बचने का अभ्यास करना चाहिये।

प्रूफ संबंधी भूलें नहीं के बराबर हैं, छपाई साफ एवं प्रच्छद-पट सुन्दर है।

—विचारकेतु

काव्य में उदात्त तत्त्व

लेखक—लौंगिनुस

अनु०—डा० नगेन्द्र और श्री नेमिचन्द्र जैन

प्रकाशक—राजपाल एन्ड सन्स

मूल्य—साढ़े तीन रुपये

हिन्दी के वरिष्ठ विद्वान डा० नगेन्द्र ने यदि आचार्यत्व उपलब्ध किया है, तो सहज ही नहीं; बल्कि परिश्रम

के परिणामस्वरूप। आचार्य नगेन्द्र की विशिष्टता और सक्षमता इस बात में है कि वे स्वयं ही नहीं, दूसरों से भी कठोर श्रम करा सकते हैं। विगत कुछ वर्षों में दिल्ली विश्वविद्यालय में, उनकी देखरेख में कुछ बड़े ही महत्त्व-पूर्ण कार्य हुए हैं। इधर काव्य-शास्त्र की ओर उनका विशेष झुकाव दीख पड़ रहा है, और पाश्चात्य एवं पूर्वी काव्य-शास्त्र के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद-सम्पादन उन्होंने किया-कराया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्री नेमिचन्द्र जैन और श्री नगेन्द्र द्वारा किया हुआ यूनानी काव्य-शास्त्री लोंगिनुस (लोंजाइनस ?) के प्रसिद्ध निबन्ध 'पेरिइप्सुस' के अंग्रेजी अनुवाद 'ऑन दि सब्लाइम' का अनुवाद है। लोंगिनुस अरस्तू और अफलातून की कोटि का विचारक था और आज से सत्रह सौ वर्ष पूर्व उसने 'उदात्त' का जो विवेचन किया, वह आज भी अपने क्षेत्र में अनतिक्रमित है। वस्तुतः इस निबन्ध में 'उदात्त' का नहीं, 'उदात्त शैली' के आधार-तत्त्वों का विवेचन है। लोंगिनुस के विचार सर्वथा मौलिक, अपारम्परिक एवं उत्तेजक हैं। यूँ डा० नगेन्द्र ने भूमिका में भारतीय काव्य-शास्त्रीय उदात्त-विवेचना की कुछेक पंक्तियाँ उद्धृत की हैं, जो उनके स्वभाव के अनु-रूप ही है; पर यह सत्य है कि लोंगिनुस जैसी काव्यात्मा को भेदने वाली सूक्ष्म दृष्टि हमारे यहाँ नहीं थी। हाँ, काव्य-शरीर के विश्लेषण में शायद ही कोई पश्चिमी विचारक भारतीय आचार्यों से आगे बढ़ सके।

प्रस्तुत निबन्ध आलोचकों के ही नहीं, सृजनात्मक साहित्य के रचयिताओं के काम का भी है। महत् काव्य की श्रेष्ठता के उपादानों से परिचित कराने में यह पुस्तक सहायक सिद्ध होगी।

अनुवाद बड़ा सफल है, अनुवाद जैसा नहीं लगता। उदात्त का विवेचन करने वाली इस पुस्तक की भाषा भी गरिमा-वेष्टित, शास्त्रीय और 'उदात्त' के गुणों से सम-न्वित है। हिन्दी के आलोचकों का ध्यान, 'कव्यालोचन' की ओर अधिक, काव्यालोचन की ओर कम, काव्य-सिद्धान्तालोचन की ओर तो बिल्कुल नहीं है। अतः यह पुस्तक एक आदर्श बन सकेगी—कवियों, आलोचकों और विचारकों के लिए।

—शैलेन्द्र श्रीवास्तव

रैन अंधेरी

लेखक—मन्मथनाथ गुप्त

प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—६.००

'रैन अंधेरी' में उस अंधेरी रैन का वर्णन है जो स्वतंत्रता के पहले भारत के ऊपर छाई हुई थी, जिससे लोग ऊब गये थे, परन्तु कुछ प्रतिभाशाली व्यक्तियों के प्रयास से वह सुबह भी आई, जिसके स्वागत के लिये लोग बहुत दिन से इच्छुक थे। लेखक ने इस पुस्तक का रूप एक उपन्यास का दिया है तथा कुछ काल्पनिक पात्र तथा पात्रियों के द्वारा उस समय का ठीक और सही रूप देने का प्रयास किया है। खासकर चिरवांछित स्वतंत्रता की प्राप्ति के लिये कितनी कठिनाइयाँ लोगों ने उठाईं, कैसी-कैसी वेदनायें एवं कष्ट उन लोगों ने सहे, जिसे देखकर कोई भी व्यक्ति उन प्रयासों का महत्त्व समझ सकता है तथा उनके चरित्र से सीख ले सकता है—आदि-आदि अनेक बातें इस उपन्यास में हैं।

सभी बातों के वर्णन का तरीका कुछ ऐसा है कि इसका रूप उस समय का एक जीता-जागता इतिहास का हो गया है, यद्यपि लेखक का उद्देश्य इस प्रकार का नहीं लगता है।

सभी दृष्टिकोण से लेखक का प्रयास सराहनीय है। छपाई आदि में भी कोई गड़बड़ी नहीं है।

—सुशील कुमार मिश्र

वनमाला (उपन्यास)

लेखक—सरस्वती सरन कैफ

प्रकाशक—प्रचारक पाकेट बुक्स, वाराणसी

मूल्य—१.००

कथावस्तु में अगर औसत दर्जे के फिल्मी कथानकों की रूढ़ियाँ और 'ट्रिक्स' भरे हुए हों तो हिन्दी में इन दिनों धड़ाधड़ छपते चले जानेवाले पाकेट बुक्स के 'बाक्स ऑफिस हिट्' की एक बड़ी शर्त पूरी हो जाती है। सरस्वती सरन कैफ का यह उपन्यास इस शर्त को पूरा करता है।

उपन्यास की नायिका वनमाला का असली रूप लेखक तब खोलता है जब अपने पति से उसका सम्बन्ध टूट जाता है और वह घर छोड़ देती है। परिस्थितियों से जूझने की आशा वनमाला से नहीं की जा सकती। विवश भाव से जिस प्रकार वह एक के बाद दूसरे फंदे में उलझती चली जाती है (मेरा खयाल है कि जब कई लोगों ने वनमाला का उपभोग किया ही तो लेखक ने बम्बई के नौजवान पांडे को नाहक ही निराश करके वनमाला का कोई उपकार नहीं किया) उसके पीछे केवल यही तर्क (!) हो सकता है कि लेखक वैसा चाहता है (न कि वनमाला की अपनी महत्त्वाकांक्षा वैसा चाहती है) या फिर मूलतः इस औरत की प्रवृत्ति ही वैसी है। शायद यही कारण है कि वनमाला की सारी उलझनें व्यक्तिगत ही मालूम होती हैं और लेखक ने वनमाला को नारी के जिस वर्ग का प्रतीक बनाने की कोशिश की है वह नहीं हो सकी। डा० कुरैशी के मलेरिया-एक्सपेरीमेन्ट्स में ही अगर वह समर्पित हो जाती तो यह होता कि चलो, और कुछ नहीं तो एक आदर्श तो हुआ! लेकिन यह नहीं हुआ और चूँकि ट्रेजडी का असर अभी पाठकों पर पूरा-पूरा नहीं पड़ा था इसलिए उपन्यास को आगे बढ़ना पड़ा।

नारी के जिस दैन्य (अथवा निम्न कोटि की वासना) के चित्रण को मनोवैज्ञानिक तथ्य की संज्ञा दी गई है और ऐसी स्थिति में कथा-प्रवाह को मार्मिक बनाने के प्रयास में जैसा यह जुगुप्सा उत्पन्न करनेवाला हो गया, इस लिहाज से इस तरह के उपन्यास हम पहले भी बहुत सह चुके हैं। सबकुछ को मनोवैज्ञानिक कहकर एक साधारण मानवोचित स्वरूप भी नहीं गढ़ा जा सके तो फिर ऐसी मनोवैज्ञानिकता से सादा रोमान्स ही भला।

हाँ, उपन्यास समाप्त होने के कुछ पूर्व स्कूलों में चलनेवाली तिकड़मों की कुछ विशेष चर्चा है। यह बात मुझे जँची। देश में फैले हुए राजनीतिक भ्रष्टाचार के भिन्न-भिन्न रूप, जो समाज की भिन्न-भिन्न इकाइयों में प्रवेश करते जा रहे हैं, उनके विरुद्ध अब वस्तुतः सजग होने की आवश्यकता है। लेकिन सजग होने का यह अर्थ नहीं कि लेखक किसी राजनीतिक पक्ष-विशेष से चिपका हुआ मालूम पड़े।

—प्रभाकर मिश्र

देववाणी (मासिक-पत्रिका) वर्ष १ : अंक ५

प्रकाशक—रूपकान्त शास्त्री, यूनियन प्रेस, मुंगेर

संपादक—रूपकान्त शास्त्री, कृपाशंकर अवस्थी, रामानन्द शास्त्री

मूल्य—वार्षिक ५.०० : अंक .५० न० पै०

पहले निबंध 'स्वराज्यशब्दार्थविमर्शः' में ही, जो विश्वेश्वर ठाकुर का है, यह मक्खिकापात लगा कि 'वैदिककाले 'स्वाराज्य'-शब्दः प्रचलित आसीन्न तु 'स्वराज्य'-शब्दः', जबकि यह समीक्षक 'अर्चन्न् अनु स्वराज्यम्' जैसे श्रुति-शब्दों की याद ताजी रख रहा है। इस निबंध में 'स्वराज्य' तक ही सीमित न रहकर 'सकला पृथिवी एकेनैव शासनेन शासिता भवतु'''इति महर्षीणां परमं ध्येयं' आदि आर्यों की साम्राज्यवादिता जैसी सनातनता भी प्रतिपादित की गई है। दूसरा निबंध 'सोवियत-संघे कालिदासाध्ययनम्' एक सोवियत प्रचार-निबंध का अनुवाद है। 'धारणाद्धर्ममित्याहुः' जब 'धर्म' की पर्याप्त प्रगतिशील व्याख्या है, तो इस युग को कौन-सी चीज धारण करती है, उसकी बात न कर, तीसरे निबंध में और कोई बात नहीं की गई। वाराणसेय संस्कृत विद्यालय के दीक्षान्त-भाषण वाले चौथे निबंध के तथ्यों की दुहाई संपादकीय में दी ही गई है। पाँचवें निबंध 'भारतीय-संस्कृतिः' में 'अस्मिन्देशे समुत्पन्नस्य भगवतो बुद्धस्य वाणी' सारे दक्षिण-सुदूर-पूर्व में 'गीयते' होने से ही वह 'भारतीय संस्कृति' ही हो जाती है, ऐसा प्रतिपादन भी हठयोग ही है। सम्पादकीय के दूसरे स्तम्भ में कहा गया है कि 'विहारसंस्कृतसमाजस्य वार्षिकाधिवेशने प्रायः १५ वर्षपूर्वमेव नवीनप्रणाल्याः संस्कृतविश्वविद्यालयमेकं संस्थापयितुं' पटने में सोचा गया था, किन्तु 'प्राचीनसंस्कृतपाण्डित्यमप्यक्षुण्णं स्यात् नवीनानां ज्ञानविज्ञानामाङ्गलादिभाषाणाञ्चापि शिक्षा सम्यग्रूपेण दत्ता स्यात्' के लिए जगतनारायणलाल की समिति जैसी अत्याकांक्षा और फिर 'समित्या बहुयत्नं कृत्वा योजना प्रस्तुता किन्तु अर्थाभावात् कार्यं न प्रारब्धम्' जैसी असहायता प्रकट की गई है। सचमुच, इस अत्याकांक्षा और असहायता की जड़ की बात भी संपादक ने 'संस्कृतज्ञों' के नाम पर

यह मान ही ली है कि ये 'शास्त्राणां विद्वांसो भवन्ति किन्तु व्यावहारिकाः न भवन्ति'। संपादक की संस्कृतज्ञों के नाम पर यह आकांक्षा किसी जमाने तक किसी संस्कृतज्ञ को 'जगदीशचन्द्र बोस' या 'पी० सी० राय' बना सकेगी कि नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता; हाँ, यह कहा जा सकता है कि संस्कृत के पास जितना पूर्वार्जित सामान है, वह आगे नहीं बढ़ने वाला है और उतने ही सामानों को श्रद्धा देने के लिए हमें संस्कृत भाषा और उसकी इस या अन्य पत्रिका को श्रद्धा देनी चाहिए।

अभिनव-प्रकाशन-पुस्तिका

प्रकाशक—अभिनव साहित्य प्रकाशन, उज्जैन
संपादन-प्रबंधिका—कुमुद 'कला'
अंक और मूल्य—प्रथम पुष्प, जनवरी ६१, २५ न० पै०

'प्रबंधकीय' में प्रश्न है कि 'पाठक हमसे किस प्रकार का साहित्य चाहते हैं' और उत्तर है कि 'समाचार-पत्र का कार्य तो है...एक पत्रकार का, प्रकाशक का नहीं।... हम जो-कुछ देना चाहते थे, वह इस पुस्तिका में समयाभाव के कारण देने में असमर्थ रहे।' 'प्रबंधकीय' में अशुद्धियाँ हैं: 'सिध्द', 'श्रध्दा' और 'असम्बध्द'। हर अंक में जारी रहनेवाले स्तंभ 'प्रकाशकीय' के 'प्रकाशक के विचार' में जे० के० (अभारतीय-पद्धति) नामक प्रबंध-संचालक के शब्द: '१६५८ में हिन्दी की चार हजार तीन सौ पुस्तकें प्रकाशित...जबकि १६५६ में केवल तीन हजार ही' अतः 'पुस्तक-व्यवसायी माँग के अनुसार पुस्तकें देने में असमर्थ रहे हैं' जैसा अशुद्ध निष्कर्ष भी और साथ ही 'संकोची' का (shy) अर्थ भी। 'नोट्स तथा कुँजियों की बिक्री अधिक संख्या में...और इसका रहस्य है उनका कम मूल्य' भी वही अशुद्ध निष्कर्ष है। इस प्रकार, पुस्तकों का अधिक मूल्य चाहकर भी, चाहा गया है कि 'लेखक को चाहिए कि...उचित न्यूनतम पारिश्रमिक की माँग करें, जबकि आज के लेखक अधिकतम की करते हैं।' ये ही दो 'प्रकाशकीय' और 'प्रबन्धकीय' निबंध इसमें हैं, जिनकी चर्चा की गई। शेष 'नव-साहित्य-समीक्षा' तथा 'नूतन-पुस्तक-परिचय' को 'समीक्षक' 'परिचायक' जानें।

—'लालधुआँ'

राहुलजी का स्वास्थ्य

कुछ दिन पहले अपने यहाँ के पत्रों में महापंडित श्री राहुल साँकृत्यायन के अकस्मात अस्वस्थ होने का समाचार आया था कि उनकी आँख, हाथ और वाणी बिगड़ रही है। इस समाचार से उनके सभी भारतीय हितैषी चिन्तित हो उठे थे। स्मरणीय है कि इस समय वे केलानिया (सीलोन) में विद्यालंकार विश्वविद्यालय में डीन और दर्शन-विभाग के अध्यक्ष हैं। इधर शायद उन्हें समाचार मिला कि उनके स्वास्थ्य के प्रति उनके भारतीय हितैषी चिन्तित हैं। इसीलिए शायद उन्होंने श्रीवीरेन्द्र कुमार सिंह, व्यवस्थापक राहुल पुस्तक प्रतिष्ठान, पटना के नाम पत्र में निम्नांकित स्वास्थ्य-समाचार भेजा और वीरेन्द्र बाबू को हिदायत दी कि वे इसे पत्रों में प्रकाशित करा दें, ताकि उनके शुभेच्छु आश्वस्त हों।

केलानिया, ८-२-६१

"...खबर इतनी ही है कि मेरे पैर लड़खड़ाते थे, अस्पताल गया था। डाक्टर ने आँखों के जाने की आशंका प्रकट की थी। मेरी आँख, हाथ, वाणी—तीनों काम करती हैं। कमजोर बहुत हो गया हूँ। इसलिए यहाँ के काम के लिए दूसरे को तैयार कर अगस्त के पहिले सप्ताह दार्जिलिंग आ जाना चाहता हूँ।"

स्मरणीय है कि दार्जिलिंग आने की अपेक्षा में वे अपनी पत्नी और संतान को वहाँ से भेज भी चुके हैं।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ
६ ठा अधिवेशन
पटने में जोरदार तैयारी

पटना १५ फरवरी। आज संध्या समय स्थानीय राजकमल प्रकाशन में पटना के प्रमुख प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं की एक बैठक श्री मदनमोहन पांडेयजी की अध्यक्षता में हुई जिसमें उत्साह के वातावरण में निश्चय हुआ कि अप्रैल में पटना में होनेवाला अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का छठवाँ अधिवेशन अत्यंत संदीजगी और शानदार तरीके से हो जिससे अतीत की स्मृति ताजी हो सके और भविष्य में दिशा-संकेत मिल सके। बैठक में यह भी निश्चय हुआ कि एक अखिल भारतीय-पैमाने पर पुस्तक-प्रदर्शनी का आयोजन किया जाय और सोविनियर का प्रकाशन हो तथा आज प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं के सामने जो समस्याएँ हैं उनका उक्त अधिवेशन में समाधान निकाला जाय।

अधिवेशन की सफलता के लिए सर्वसम्मति से स्वागत-समिति का गठन हुआ जिसके क्रमशः सर्वश्री मदनमोहन पांडेय अध्यक्ष, जयनाथ मिश्र उपाध्यक्ष, देवकुमार मिश्र कोषाध्यक्ष तथा शंकरदयाल सिंह मंत्री चुने गये।

कार्यकारिणी का गठन किया गया और पुस्तक-प्रदर्शनी तथा सोविनियर के प्रकाशन के लिए समितियों का गठन हुआ।

उक्त बैठक में पटने के निम्नलिखित प्रकाशकों ने भाग लिया—सर्वश्री मदनमोहन पांडेय ज्ञानपीठ, जयनाथ मिश्र अजन्ता प्रेस, मैथिलीशरण सिंह पुस्तक भंडार, देव कुमार मिश्र ग्रंथमाला कार्यालय, मानसकुमार राय मगध राजधानी प्रकाशन, करम सिंह दिल्ली पुस्तक सदन, सत्येन्द्र विहार ग्रंथ कुटीर, रामसरनजी हिन्दी पुस्तक एजेंसी, अखिलेश्वर पांडेय बुक्स एण्ड बुक्स, दीवानचन्द्र मोतीलाल बनारसीदास, शंकर दयाल सिंह पारिजात प्रकाशन, रामसेवक सिंह उदयाचल प्रकाशन, मोहित मोहन बोस भारती भवन तथा तारानाथ झा नोवेल्टी एण्ड कम्पनी।

सर्वसम्मति से कार्यकारिणी का गठन हुआ जिसमें सर्वश्री मदनमोहन पांडेय, जयनाथ मिश्र, देवकुमार मिश्र, मोहित मोहन बोस, भीमसेन तथा शंकर दयाल सिंह चुने गये।

बैठक में यह भी निश्चय हुआ कि स्वागत-समिति का कार्यालय पारिजात प्रकाशन, डाकबंगला रोड, पटना—१ में रहे और श्री शंकरदयाल सिंह पर कार्यालय का भार हो।

यदि हम भारत की प्रमुख भाषाओं के साहित्य पर गंभीर ध्यान दें तो हमें पता चलता है कि हर युग का साहित्य प्रायः सभी भाषाओं में एक जैसा ही है। यदि पंद्रहवीं सदी में भक्तिमार्ग का अभ्युत्थान होता है तो बंगला, हिन्दी, गुजराती और मराठी सभी में हम एक जैसी ही भावनाओं की अभिव्यक्ति पाते हैं। कर्नाटक और केरल के भक्ति-गीत भी मिलते-जुलते ही हैं। महान् और काव्यमय द्रविड़ भाषाएँ संस्कृत और तामिल उद्भव के शब्दों को प्रायः समान रूप से ही प्रयोग में लाती हैं।

— काका कालेलकर

—ग्यारहवें गणराज्य दिवस पर महामान्य राष्ट्रपति ने जो ४१ अलंकार प्रदान किए हैं उनमें हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार सेठ गोविन्द दास और युगांतरकारी कवि श्री सुमित्रानंदन पंत को 'पद्मभूषण' तथा बंगला के प्रसिद्ध कवि और कथाकार श्री प्रेमेन्द्र मित्र को 'पद्मश्री' के अलंकार से विभूषित किया गया है।

—ज्ञात हुआ है कि फ्रैंकफर्ट के जर्मन प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता मंडल ने अपना १९६१ के वर्ष का बारहवाँ, १०,०००, ६० का शान्ति-पुरस्कार उपराष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन् को देने का निश्चय किया है।

—भारत सरकार के सामुदायिक विकास तथा सहकार मन्त्रालय ने सहकार विषयक पुस्तकों पर पुरस्कार देने और कुछ पुस्तकों का कापीराइट खरीदने का निश्चय किया है। क्षेत्र-कार्यकर्त्ता तथा सहकारी संस्थाएँ इन पुस्तकों का प्रचार करेंगी। निम्न विषयों की पुस्तकों पर पुरस्कार दिये जायेंगे—१ सहकारी खेती, २. माल बेचने वाली सहकारी संस्था का प्रबन्ध, ३. ग्राम सहकार समितियों की कार्यविधि और हिसाब-किताब, ४. उपभोक्ता सहकारी संस्था, ५. ग्रामसेवकों के लिए सहकार-सम्बन्धी मार्ग-दर्शन, ६. सफल सहकारी समितियों की कहानियाँ, ७. सहकारी ऋण के लाभ पर नाटक। पुरस्कार के लिए पुस्तकें ३१ मार्च १९६१ तक भेजी जा सकती हैं। जो लेखक इस योजना में भाग लेना चाहें, उन्हें सामुदायिक विकास तथा सहकार मन्त्रालय, सहकार विभाग, कमरा नं० ४६५-ए, कृषि भवन, नई दिल्ली के पते पर सेक्शन आफिस (कोआपरेशन ट्रेनिंग) को लिखना या उनसे संपर्क करना चाहिए। यहाँ से उक्त पुस्तकों की रूपरेखा और पुरस्कारों के नियम आदि मिल सकते हैं। नियम दिल्ली कोआपरेटिव [illegible] के कार्यालय में भी देखे जा सकते हैं।

—ज्ञात हुआ है कि कबीर, प्रेमचन्द, प्रसाद और मैथिलीशरण गुप्त के ग्रन्थों की पारिभाषिक अनुक्रमणिकाएँ तैयार हो चुकी हैं। आगरा, अलीगढ़, इलाहाबाद, बनारस, दिल्ली, पंजाब और सागर विश्वविद्यालयों को सूची में दिये गए १२ हिन्दी ग्रन्थों की पारिभाषिक अनुक्रमणिकाएँ बनाने का काम सौंपा गया था। इलाहाबाद, दिल्ली और पंजाब विश्वविद्यालयों ने अपने-अपने ग्रन्थों की अनुक्रमणिकाएँ बना ली हैं।

—मध्य प्रदेश सरकार के एक अधिकारी के विचार में प्रसिद्ध अंग्रेज लेखक ऑस्कर वाइल्ड जिनका जन्म १८५६ तथा मृत्यु सन् १९०० में हुई थी, अब भी जीवित हैं और हिन्दी में पुस्तकें लिख रहे हैं। उक्त अधिकारी ने एक स्थानीय प्रिंटिंग प्रेस की मार्फत ऑस्कर वाइल्ड को एक नोटिश भिजवाया है जिसमें कहा गया है कि वे प्रेस वे पुस्तक-पंजीकरण कानून के अंतर्गत नियमों का पालन नहीं कर रहे हैं। प्रिंटिंग प्रेस ने ऑस्कर वाइल्ड के किसी ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया है लेकिन वह रजिस्ट्रेशन विभाग को कानून के मुताबिक पुस्तक की तीन प्रतियाँ नहीं भेज सका।

—भारत सरकार की ओर से डॉक्टर ताराचन्द "स्वाधीनता आन्दोलन का इतिहास" तैयार कर रहे हैं। उसका पहला खंड प्रकाशित हो गया है। यह ग्रंथ ३ खंडों में होगा।

—कलकत्ता का राष्ट्रीय पुस्तकालय सभी भारतीय भाषाओं के कोषों तथा विश्व-कोषों की सूची का प्रकाशन कर रहा है। इस सूची में लगभग दो हजार पुस्तकों के नाम हैं। पुस्तकालय बीस हजार नामों की एक लेखक सूची भी प्रकाशित कर रहा है।

—ललित कला अकादमी प्रसिद्ध भारतीय चित्रकारों पर सुन्दर और सस्ती पुस्तिकाएँ प्रकाशित कर रही है। इस में रवि वर्मा, अमृता शेरगिल, जार्ज केयट आदि हैं। शिवक्स चावड़ा पर चौथी पुस्तक अभी हाल में प्रकाशित की गई है। संगीत नाटक अकादमी ने अपने क्षेत्र के प्रसिद्ध कलाकारों का एक परिचय-ग्रंथ निकालने की योजना बनाई है। इसकी सूची तैयार की जा रही है। पंजाब सरकार ने इतिहासकारों की एक समिति गठित की है जो पानीपत के तीसरे युद्ध के संबंध में एक पुस्तक निकालेगी।

—मैसूर सरकार के सुझाव पर भारत सरकार यह विचार कर रही है कि कलाकारों तथा विद्वानों को पेन्शन देने के लिए एक कोष की स्थापना की जाय। मैसूर सरकार स्वयं यह विचार शीघ्र ही क्रियान्वित करने जा रही है।

—पंजाब सरकार ने तीसरी पंचवर्षीय योजना के काल में हिन्दी और पंजाबी के विकास के लिए १५ लाख रुपये की राशि स्वीकृत की है। उर्दू के लिए एक लाख रुपया व्यय किया जायगा। अब से हिन्दी, पंजाबी के अतिरिक्त उर्दू पुस्तकों पर भी पुरस्कार दिये जायेंगे।

—आगरा विश्वविद्यालय लोक-साहित्य का एक विश्व-कोष तैयार कर रहा है। इसका संपादन हिन्दी इंस्टीट्यूट के रीडर डॉक्टर सत्येन्द्र करेंगे। उन्होंने ५ हजार ब्रज भाषा के गीत एकत्र भी कर लिए हैं।

—यूनेस्को ने प्रकाशित किया है कि भारत में सन् १९५९-६० में नई हिन्दी पुस्तकों की संख्या १९५८-५९ से कम रही। पहले वर्ष ३,८९६ पुस्तकें प्रकाशित की गयी थीं, जबकि इस वर्ष केवल ३,७५१ ही प्रकाशित हुई। इसके विपरीत अंग्रेज़ी पुस्तकों की संख्या तिगुनी बढ़ गई। पहले वर्ष यह ४,००६ थी, गत वर्ष १२,५८५ हो गयी।

हिन्दू-धर्म के विचार, सिद्धांत और पुराण-कथाएं ही हमारे सभी साहित्यों के मूलस्रोत हैं। जैसे, जब रामानुज-संप्रदाय का अभ्युदय हुआ, उनके सिद्धांत, तामिल को छोड़, प्रायः सभी भारतीय भाषाओं में अनूदित कर लिए गए। उन्नीसवीं सदी में जब नये सुधारवादी आन्दोलनों का प्रादुर्भाव हुआ, तो प्रत्येक भाषा के साहित्य में उन्हें अभिव्यक्ति मिली। आज, तामिल और उर्दू को छोड़, बाकी सब भाषाओं को देवनागरी लिपि में लिखना चाहिए।

—के० एम० पणिक्कर
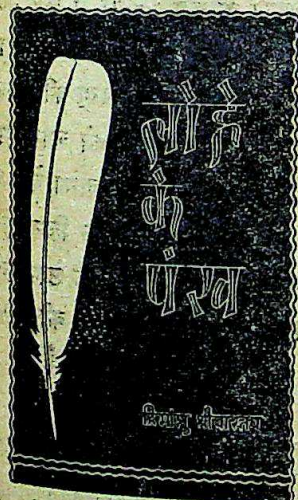
विद्यालय और पुस्तकालयों की पुस्तक-खरीद : नियमतः विचार

तीसरी पाँचसाला योजना अब जारी होने जा रही है। हमें स्कूलों तथा पुस्तकालयों में पुस्तक-व्यवसायियों द्वारा पुस्तक देनेवाले प्रसंग पर ही इस योजना को सोचना है। पुस्तकालयों की पुस्तक-खरीद में विगत योजनाओं के समय पुस्तकालयों और पुस्तक-एजेंसियों को जिन नियमों पर अमल करते हुए जो-जो दिक्कतें उठानी पड़ी हैं, और उनके अनुसार जो-जो बातें सामने आई हैं उनपर विचार कर तीसरी योजना के समय के लिए नियमों में कुछ रद्दोबदल की आवश्यकता थी। इस विचार के लिए यह उचित था कि पुस्तक-विक्रय वाली एजेन्सियाँ, पुस्तकालय तथा शिक्षा-विभाग और शिक्षा-संबंधी योजना की शाखा —तीनों की एक समिति बनती जो पुस्तक-व्यवसाय की रक्षा और पुस्तकों के स्तर-विभाजन आदि के साथ-साथ शेष तमाम बातों पर निर्णय प्रस्तुत कर योजना में सलाह देती। मगर वैसा नहीं हुआ। फिर भी, बाद में आनेवाले विवादों के प्रसंग में, नियम सुधार लेने की प्रगतिशीलता चाहिए ही। इस सिलसिले में बालग्रंथ-सूची में प्रत्येक जिले के प्राथमिक विद्यालयों की खरीद के नियमोपनियम और बालग्रंथ-सूची की उपयुक्तता पहली विचारणीय चीज हो सकती थी, तथा जो ग्रांट हर वर्ष बिना व्यय के ही सरकारी खजानों में जमा होता रहा है, उस अवांछनीयता पर भी विचार और सुधार सोचा जा सकता था। बिहार के कई जिलों में छह वर्ष, चार वर्ष से यह ग्रान्ट बिना व्यय के जमा होता जा रहा है। व्यवसाय-तो अपना विस्तार योजना और उसके अनुसार इन ग्रान्टों और माँगों को देखकर उत्पादन प्रस्तुत करते हुए करता रहता है, और सरकार तथा जनसाधारण की आवश्यकता को व्यवसाय से यह आशा भी होती है। किन्तु, खरीद के लिए स्वीकृत इस बड़ी-बड़ी पूँजी को चार-चार छह-छह साल तक बिना व्यय के जमा-दर-जमा होने देना व्यवसाय और माँग पर कितनी खतरनाक जाम लगा देता है तथा साथ ही शिक्षा के लिए पुस्तकों की अनुपलब्धि से बच्चों को कितना बेहाथ होना पड़ता है—यही एक चिन्तनीय विषय है। हम चाहते हैं कि ऐसा कोई कमीशन, इस विषय में यदि व्यावसायिकों के कोई दोष हैं या उनके उत्पादनों में कुछ खराबी है तो उसको स्पष्ट करे, ताकि इससे वे अपने लिए सुधार सोच सकें, अन्यथा विभागों के दोषों को स्पष्ट करे। इन दोनों बातों को अविचारित छोड़ देना बहुत गहरी घातक स्थिति को उत्तरोत्तर बढ़ानेवाली बात होती है।

माघ पूर्णिमा के दिन अपने प्रान्त बिहार के विद्यावयोवृद्ध मुख्यमंत्री बिहार-केसरी डॉ० श्रीकृष्ण सिंह के देहावसान से हम सभी बिहारवासी शोककातर हैं। हम 'पुस्तक-जगत' और 'ज्ञानपीठ' परिवार की ओर से उन श्रद्धेय आत्मा के प्रति कृताञ्जलि होकर प्रणाम और श्रद्धा निवेदित करते हैं और परमपिता परमात्मा से उनकी महान् आत्मा के लिए शान्ति की प्रार्थना करते हैं। हम उनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति संवेदना तथा सहानुभूति निवेदित करते हुए परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें इस दुःख में साहस और शक्ति दें।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
,, आधा पृष्ठ	:	२०·००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

वर्ष ७ : अंक ८-९
अप्रैल-मई, १९६१

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

स्वत्त्वाधिकारत्व का घोषणा-पत्र, फार्म ४, रुल ८

१. प्रकाशन का स्थान	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४ (बिहार)
२. प्रकाशन का समय	मासिक (हर महीने की २८-२९ तारीख)
३. मुद्रक का नाम	सीताराम पाण्डेय
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
४. प्रकाशक का नाम	सीताराम पाण्डेय, वास्ते ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, पटना ४
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४
५. संपादक का नाम	अखिलेश्वर पांडेय बी० ए०, बी० एल०
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	नयाटोला, पटना-४
६. पत्र के स्वत्त्वाधिकारी	ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, खजांची रोड, पटना-४ मैनेजिंग डाइरेक्टर—मदनमोहन पाण्डेय

मैं यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिये गए विवरण, जहाँ तक मेरा विश्वास और जानकारी है सही हैं।

तिथि—१७-४-६१

सीताराम पाण्डेय

लिपि-सुधार : भाषा, अक्षर और लेखन

श्री सुधीरचन्द्र मजूमदार

गत १९५१ की जून संख्या "सरस्वती" में श्री चन्द्र-किशोर शर्मा लिखित "नागरी लिपि सुधार" शीर्षक लेख अति मनोयोग से पढ़ा। मुझे स्मरण है कि कुछ काल पहले इस संबंध में एक और लेख प्रकाशित हुआ था तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के सहायक मंत्री श्री श्रीनिवास के कृपया प्रेषित "प्रतिसंस्कृत नागरी लिपि" शीर्षक पुस्तक की एक प्रति भी मैंने देखी है। बाद में भारत सरकार ने भी इसके विचार के लिए एक कमिटी नियुक्त की थी।

ये योजनाएँ देखकर मुझे प्रतीत होता है कि लिपि-सुधार की आवश्यकता आज हम लोग साधारणतया अनुभव कर रहे हैं। जब हिन्दी को राष्ट्रभाषा की मर्यादा मिल गयी तो हमें देखना है कि इसमें जो त्रुटियाँ हैं उनका संशोधन हो जाय तथा यह भाषा अधिकतर वैज्ञानिक नींव पर प्रतिष्ठित होवे। केवल हिन्दी ही नहीं, मराठी और नेपाली भी नागरी लिपि में लिखी जाती हैं, अतः नागरी में सुधार होने से उन भाषाओं को भी लाभ है। सुधार के लिए निम्नलिखित बातों पर लक्ष्य रखना चाहिए: (१) प्रचलित लिपि से अधिक भेद नहीं रहे, (२) लिपि अधिक ध्वनिविज्ञान-संमत (Phonetic) हो, (३) लिखने और पढ़ने में अधिक सरल हो, (४) लिपि में यथासंभव समता (Uniformity) रहे तथा (५) टाइप-राइटर और मोनोटाइप के लिए उपयोगी हो।

जितनी योजनाएँ पेश हैं उन्हें देखने से मालूम होगा कि सब में कुछ अभिप्रेत गुण तो अवश्य हैं, फिर कोई न कोई दोष भी। इसलिए यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि यह प्रस्तावित योजना भी दोषयुक्त होगी। अधिकारि-वर्ग का कर्तव्य होगा कि जल्द कोई सुधार न लाकर, प्रत्येक योजना के दोष-गुण विचार कर देखें।

वर्णों में सबसे सरल उच्चारण 'अ' का है, पर खेद है कि इसी का रूप सबसे जटिल है। महात्माजी की परिकल्पना जोकि "हरिजन-सेवक" में मानी गयी, उसमें इस जटिल 'अ' पर इकार, उकार आदि जोड़ कर उन्हें और भी जटिल बना दिया गया। यह तो ठीक है कि 'अ' से ही इ, उ आदि वर्ण निकले हैं। जैसे 'अ' पर ही आकार, ओकार, औकार के चिह्न जोड़ कर आ, ओ, औ बने हैं, वैसे बाकी सब स्वर भी चिह्न जोड़ कर बनने से ही समता रहती है। उर्दू में भी 'अलिफ' में आकार, ईकार, ऊकार जोड़कर ही आ, ई, ऊ उच्चारण बनते हैं। इसलिए 'अ' का कोई संक्षिप्त रूप लेना जरूरी है। 'अ' को एक पृथक् वर्ण न मान कर इसे 'मूलस्वर' कहना चाहिए। मुख सीधे थोड़ा खोलकर 'नाद' के साथ श्वास छोड़ने से जिस ध्वनि की सृष्टि होती है वही 'अ' की है। जैसे 'कि' 'क' से संबंध रखता है वैसे 'इ' भी 'अ' से सम्बन्ध रखता है। फिर क, ख, ग आदि व्यञ्जनों के उच्चारण करने में भी 'अ' का आश्रय लेना पड़ता है। अतः 'अ' के लिए ऐसा एक छोटा रूप रखना उचित है जो बाकी सब वर्णों से मिला हुआ मिले। कहने की जरूरत नहीं है कि व्यञ्जनों में जो 'पाई' जोड़ी जाती है वह अकार का ही चिह्न है। जिन व्यञ्जनों में कोई स्वर युक्त नहीं है, उनके अकार को काटने के ही लिए 'हल्' (्) चिह्न का व्यवहार होता है। अतः यही सबसे अच्छा होगा कि हम केवल एक 'पाई' (ा) से ही 'अ' का निर्देश करें तथा दूसरे स्वर वर्ण उसी पर आकार, इकार आदि जोड़कर बनावें (कोष्ठक देखिए)। 'हल्' चिह्न को रखने की भी कोई जरूरत नहीं है। उसके बदले हम केवल 'पाई' को ही हटा देंगे।

इतना होने पर भी यदि वर्णों में इकारादि जोड़ने का तरीका अपरिवर्तित रखा जाय तो भी एक आपत्ति रह जाती है, जिसे सरकार-नियुक्त नरेन्द्रदेव-कमिटी ने सूचित किया है। इन चिह्नों में कोई तो वर्ण के आगे जुड़ते हैं, और कितने पीछे, ऊपर और नीचे भी। 'नि' का अर्थ है न्+इ, परंतु देखने से मालूम होता है इ+न्। लेकिन यदि स्वरवर्ण तथा इकारादि चिह्नों को बदला जाय तो नयी लिपि और प्रचलित लिपि में बहुत फर्क हो जायगा।

सब वर्णों में अकार-बोधक दण्ड या पाई नहीं है यह भी सुधारकों को खटकता है। प्रस्तावित व्यवस्था में पाई का महत्त्व बढ़ता है, अतः सब में पाई लगनी चाहिए। ट, ठ आदि को शर्माजी ने जो रूप दिये उनसे वे टा, ठा मालूम पड़ते हैं। मैं उनके रूप एकदम बदल देना चाहता हूँ। ख्याल करना है कि मेरी योजना में ट और ड क्रम से च और ज के उलटे हैं। पाई न रहने के कारण जिन वर्णों को परिवर्तित करना चाहिए वे नौ हैं—ङ, छ, ट, ठ, ड, ढ, द, र, ह। इनके नये रूप कैसे होने चाहिए उसपर विद्वज्जन अपने मत प्रकट करेंगे। इनमें 'र' का श्री श्रीनिवास का कल्पित रूप ही मुझे उचित जँचता है। हम वही रूप प्र, व्र आदि युक्ताक्षरों में पाते हैं। क, झ, फ इन तीनों अक्षरों को पूरी पाई नहीं है या तो पाई के बाद एक-एक पुच्छ है। इस पुच्छ का एक उपयोग हम देखते हैं, जो अल्पप्राण से महाप्राण (Aspirants) बनाने में किया जा सकता है—जैसे प से फ।

झ, थ, ध, भ ये चार अक्षर पूरी शीर्षरेखा न रहने के कारण वर्जनीय हैं। इन्हें रखने से वर्णों की समता (Uniformity) में बाधा होती है। असल में शीर्षरेखा (—) 'मात्रा' (Syllable) की है। 'मन्त्र' उच्चारण करने में छह वर्णों का प्रयोग होने पर भी मात्राएँ दो ही हैं (मन्+त्र)। फिर भी 'ख' र+व के समान होने के कारण तथा 'ण' में दो पाइयाँ रहने के कारण परित्याज्य हैं। मैंने देखा है कि कुछ कम्पोजिटर 'भीख' को 'भी र व' तथा 'कख' को 'क रा व' बना देते हैं। संस्कृत ऌकार एक पृथक् स्वरवर्ण है, ल्+ऋ नहीं। इसका उच्चारण कुछ 'लि' के समान है। 'क्लृप्यते' (Klipyate) लिखने में क् में ऌकार, किंतु 'लृट्' (Lrit) लिखने में ल् में ऋकार है। अतः दोनों के पृथक् रूप होने चाहिए।

बिन्दु (नुक्ता) का व्यवहार बढ़ाना चाहिए तथा इसका उपयोग Fricatives के लिए करना चाहिए। ड़, ढ़ रखना तो देशी शब्दों के लिए ही जरूरी है। क़, ख़, ग़ क्रम से उर्दू क़ाफ़, ख़े, ग़ैन (Q, Qh, Gh) के लिए हैं ही। वैसे ज़, फ़ क्रम से ज़े, फ़े (Z, F) के लिए हैं। कुछ विदेशी उच्चारणों के लिए च, झ, थ, द, भ के नीचे बिन्दु का प्रयोग होना चाहिए। जि वर्णों के उच्चारण में उच्चारण-स्थान का पूरा स्पर्श न हो थोड़ा-सा घर्षण हो जाता है उन्हें Fricative (ईषत्स्पृ और ईषद्विवृत) कहते हैं। हमारी वर्णमाला में आ Fricative letters के पृथक् रूप हैं—य, र, ल, श, ष, स, ह। बाकी वर्णों से अनुरूप Fricative बनाये जा सकते हैं। अरबी क़, ख़, ग़ के समान उच्चार अंगरेजी में नहीं हैं, यद्यपि वे Q, Kh, Gh से लि जाते हैं (Haq, Khuda, Mughal)। ज़ और उच्चारण क्रम से Z और F के समान हैं। W का उच्चार व के समान तो ठीक है, लेकिन V का उच्चारण कुछ के समान है, जैसा फीभर (Fever)। नागरी में और W के लिए अलग अक्षर न रहने के कारण Wave और Vowel दोनों को वावेल तथा Fever औ Fewer दोनों को फीवर लिखना पड़ता है। अतः ए विन्दुयुक्त भ़ का व्यवहार रखना चाहिए। Th के उच्चारण कुछ थ और द के समान हैं, पर ठीक एक न (देवेन्द्र, Theventhra नहीं है)। ये भी Frica tives हैं, अतः बिन्दुयुक्त थ, द से लिखना चाहिए। दन्त्य-तालव्य च (Ts) उच्चारण बहुत-सी प्रादेशि बोलियों में मध्य-यूरोप, चीन तथा अफ्रिका में मिलता है, यथा,—Czek, Chin या Tsin, Tse-Tse वगैरह। आखिर एक Zh के ऐसा उच्चारण अंगरेजी Measure, Treasure, Pleasure आदि तथा फ़ारसी भा आदि शब्दों में मिलता है। इसके लिए बिन्दुयुक्त झ़ ले चाहिए। इनको साथ लेकर देवनागरी एक ऐसी संपू लिपि हो जायगी जिससे संसार की सभी भाषाओं के श लिखे जा सकेंगे।

अनुस्वार का जो रूप शर्माजी ने बताया है, मुझे भी उचित मालूम पड़ता है। बँगला में अनुस्वार यही रूप है। अनुस्वार का प्रयोग बहुत महत्त्व का है, अ उसे केवल एक नगण्य बिन्दु के रूप में रखना ठीक न है। यह एक पृथक् वर्ण है, अतः इसे दूसरे वर्ण ऊपर न रखकर सामने रखना चाहिए—जैसे विसर्ग। जि कारण से नरेन्द्रदेव-कमिटी ने ह्रस्व इकार का प्रचलित वर्जनीय बताया है, उसी कारण से अनुस्वार का प्रचलि

रूप भी वर्जनीय है। 'कहीं' और 'कर्मी' शब्दों में अनुस्वार और रेफ को एक ही जगह बैठने को मिली; किंतु असल में पहले का स्थान 'ही' के बाद (क्+अ+ह्+ी+ं) तथा दूसरे का 'मी' के पहले (क्+अ+र्+म्+ई) है। 'तीर्थंकर' शब्द में रेफ और अनुस्वार साथ ही सटकर बैठ गये हैं, जिससे मालूम होगा कि उनके स्थान पर-पर हैं। लेकिन रोमन अक्षरों में (Tirthankar) लिखने से R और N के बीच असल व्यवधान देखा जायगा। संस्कृत शब्द-शास्त्र के अनुसार विसर्ग के समान अनुस्वार भी एक पृथक् वर्ण है, किंतु इनकी मात्रा नहीं है अतः इनकी शीर्षरेखा अनावश्यक है। ये पूर्वस्वर की मात्रा पर आश्रित हैं। लेकिन चन्द्रविन्दु (ँ) कोई पृथक् वर्ण नहीं है। यह स्वरों के एक विशेष (अनुनासिक) उच्चारण का द्योतक है। सर्वहिं, नहीं, में, मैं, भौं आदि शब्दों का अनुस्वार वास्तव में चन्द्र-बिंदु का ही काम करता है। ऊपर पूरा रूप (ँ) बैठाने की जगह न रहने के कारण ही वह सिर्फ एक बिन्दु से लिखा जाता है। अतः यहां, हूं इत्यादि में भी सिर्फ बिन्दु से लिखने से समता-रक्षा होती है। अन्यत्र एवं, हंस, संयम, संवाद, संहार, प्रियंवदा इत्यादि शब्दों में बँगला की रीति में वर्ण के सामने लिखना चाहिए। बिन्दु-मात्र में रहने के कारण तो छात्रगण उन्हें, तुम्हें आदि बहुत जगह अनुस्वार देना ही अनावश्यक समझते हैं।

संस्कृत भाषा ही उत्तर भारत की सब भाषाओं की जननी है। संस्कृत के रूप ही सर्वमान्य हैं। संविधान के अनुसार भी संस्कृतानुग (Sanskritised) हिन्दी ही राष्ट्र-भाषा मानी गयी है। इसमें जितने अधिक संस्कृत शब्द रहेंगे यह उतना ही दूसरे प्रान्तों में ग्रहणयोग्य होगी। भारत के बाद भी जिन देशों में भारतीय धर्म और संस्कृति पहुँची, वे पारिभाषिक शब्द संस्कृत से बनाते हैं, उदाहरणार्थ थाईलैंड (श्याम) में aeroplane और cent (सौवां भाग मुद्रा) को क्रम से 'आकाश-यान' और 'शतांश' कहते हैं। इनके सामने भारत में 'हवाई जहाज' और 'नया पैसा' कैसे भद्दे लगते हैं। हिन्दी में प्रचलित बहुत संस्कृत शब्दों के अशुद्ध वितरण (हिज्जे) अहिन्दी-भाषियों को जरूर खटकते हैं। प्रभुदत्त ब्रह्मचारी जैसे पण्डित भी रोदन और मनस्कामना को क्रम से 'रुदन' और 'मनोकामना'

लिखते हैं। अच्छे हिन्दी लेखक भी रणजित्, मानससरोवर और अन्ताराष्ट्रीय को क्रम से 'रणजीत', 'मानसरोवर' और 'अन्तर्राष्ट्रीय' लिखते हैं। हल्-चिह्न का भी निर्विचार प्रयोग होता है। लोग श्रीमान्, भगवान्, पृथक्, जगत् लिखने में हल् चिह्न देते ही नहीं; पर उधर गत, सतत, दशम, मध्यम लिखने में कसकर हल्-चिह्न देते हैं। संस्कृत व्याकरण के अनुसार जब किसी पद के भीतर सन्धि होती है तो न् और म् के लिए 'परसवर्ण' (उसी वर्ग का पञ्चम वर्ण) ही विहित है, अनुस्वार नहीं। अतः 'शंका', 'शांत' आदि भूल हैं; 'शङ्का', 'शान्त' आदि ही शुद्ध हैं। जब दो पदों में सन्धि होती है तो पदान्त म् ('सम्' उपसर्ग भी) के लिए विकल्प-विधान है। अतः किंतु, संतान, संबन्ध, भयंकर, धनंजय आदि विकल्प से शुद्ध हैं। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित "हिन्दी शब्द-सागर" जैसे प्रामाणिक कोष में भी इन नियमों का कुछ खयाल नहीं किया गया। यदि

कोई व्यक्ति इस कोष में वन्दना शब्द का अर्थ देखना चाहे तो स्वाभाविक है कि वह वध, वन शब्दों के बाद ही ताकेगा। परंतु उसको वहाँ वैसा कोई शब्द नहीं मिलेगा। "देखो—वंदना" ऐसा कोई संकेत भी नहीं दिया हुआ है। पदमध्य-स्थित न् होने के कारण यथार्थ में 'वंदना' शब्द अशुद्ध हैं, किंतु वही एक शब्द उक्त कोष में मिलेगा। अनुस्वार और विसर्ग 'अयोगवाह' वर्ण होने के कारण सबके अन्त में आते हैं। अतः यदि कोई 'वंदना' शब्द भी खोजे तो 'वहन' आदि शब्दों के बाद ताकना ही स्वाभाविक होगा। फिर भी वहाँ इसका कोई पता नहीं मिलेगा, लेकिन 'वक' आदि शब्दों के पहले वह शब्द मिलेगा। "हिन्दी शब्द-सागर" में सर्वत्र इसी नीति का अनुसरण किया गया है। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य होगा कि "हिन्दी शब्द-सागर" में 'हिन्दी' शब्द नहीं है। हिन्दी अपने शब्द-भंडार के लिए संस्कृत की ही अधिक ऋणी है तथा संस्कृत ही हमारी राष्ट्र-भाषा से अन्य भारतीय भाषाओं का योगसूत्र है। अतः अकारण संस्कृत की अमर्यादा नहीं करना चाहिए। 'आग', 'हवा', 'मौत' भले ही स्त्री लिङ्ग हों, 'अग्नि', 'वायु', 'मृत्यु' को भी स्त्रीलिङ्ग में व्यवहृत नहीं करना चाहिए।

हिन्दी विवरण में और भी असमताएँ हैं। नया, गया, बनाया से स्त्रीलिङ्ग पहले नयी, गयी, बनायी होते थे। अब नई, गई, बनाई भी देखते हैं। फिर यदि किया, बनिया, भैया, लिये, चाहिये लिखे जायँ तो उधर हुवा, कछुवा, कौवा भी लिखने चाहिए। नहीं तो केवल स्वरवर्ण ही (किआ, बनिआ, चाहिए) रहें।

यूरोप में अँगरेजी (शायद डच भी) को छोड़कर किसी भाषा में मूर्धन्य (ट-वर्ग) उच्चारण नहीं है। रोमन t, d के असल उच्चारण त, द हैं। जिन शब्दों को हम 'अँगरेजी' कहते हैं उनमें ज्यादातर लातिन भाषा से आये हैं और वे कुल यूरोप की भाषाओं में एक-से हैं। अब स्वतन्त्र भारत में उनके अँगरेजों के विकृत उच्चारण छोड़कर यथासंभव इताली आदि की भाषाओं के सही उच्चारण ग्रहण करना चाहिए। मैंने केन्द्रीय वाणिज्य-मन्त्री को यह सुझाव देकर पत्र लिखा था कि एक नया पैसा और दस नये पैसे के लिए 'शतम' और 'दशम' (उर्दू—सदम, दहम; रोमन—Cetem, decem) तथा Metre के लिए मात्रा ग्रहण करना चाहिए। उत्तर Central Metric Committee से आया कि कुछ सदस्य नये देशी नामों के पक्ष में तो थे परंतु बहुमत से अन्ताराष्ट्रीय नाम ही माने गये। अब मेरा कहना है कि अन्ताराष्ट्रीय के नाम पर हम अँगरेजी विकृत रूप 'डेसीमीटर' ग्रहण करें कि फ्रांस (मेत्रिक प्रणाली का जन्मस्थान), इताली, रूस आदि देशों का सही रूप 'देसीमेत्र'?

नागरी लिपि सुधार के संबन्ध में मेरी योजना असंपूर्ण हो सकती है या अधिक क्रान्तिमय भी। परंतु इसमें भूल नहीं है कि कुछ सुधार आवश्यक हैं। आशा है कि आज बीसवीं सदी में कोई यह कहकर आपत्ति न करेंगे कि देवनागरी देवभाषा के लिए देवताओं से प्रवर्त्तित है तथा इसमें कुछ परिवर्त्तन लाना पाप है। एक ही प्राचीन ब्राह्मी लिपि कमविवर्त्तन से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में गुजराती, गुरुमुखी, देवनागरी, बँगला और उड़िया लिपियाँ बन गयी।

मेरी दूसरी योजना शॉर्टहैंड लिपि की है। पिटमैन लिपि की अपेक्षा ग्रेग लिपि अधिक वैज्ञानिक है और इसमें थोड़ा ही परिवर्त्तन करने से यह हिन्दी या कोई भाषा लिखने योग्य हो जाती है। इस उद्देश्य से त, द के लिए दो नये चिह्न लाना चाहिए। ग्रेग लिपि में स्वरवर्ण loops या फंदों से दिखलाये जाते हैं। बड़ा फंदा आ के लिए तथा छोटा फंदा ई अथवा ए के लिए लिये जाते हैं। उ या ओ के लिए फंदा इतना छोटा हो कि बीच में घिरा हुआ स्थान न रहे। इन तीनों चिह्नों से दीर्घ उच्चारणों को ही प्रगट किया जायगा। शब्दों के बीच ह्रस्वस्वरों (अ, इ, उ) के लिए किसी भी चिह्न की जरूरत नहीं होगी, परंतु शब्दों के आदि या अन्त में एक छोटे पेंच से दिखलाये जायेंगे। उर्दू लिपि में स्वरवर्णों के लिए एक ऐसी ही व्यवस्था है। ग्रेग लिपि में ह के लिए केवल बिन्दु है, अतः किसी अल्पप्राण के ऊपर या सामने एक बिन्दु देने से ही अनुरूप महाप्राण (aspirant) बन जायगा। t, v, s, z तथा sh (श) के लिए भी मैंने जो चिह्न लिए, वे ग्रेग लिपि से कुछ भिन्न हैं। (कोष्ठक देखिए)

मेरी तीसरी योजना रोमन लिपि के विषय में है। स्वतन्त्रता होने पर भी हमें रोमन लिपि से एकदम छुट्टी नहीं मिली। अभी तक अँगरेजी पठन-पाठन जारी है। हाँ, यह

अब राजभाषा के रूप में नहीं, बल्कि एक अन्ताराष्ट्रीय भाषा के रूप में है। यह भाषा पूरबी दुनिया (यूरोप), पच्छिमी दुनिया (अमेरिका) तथा दक्खिनी दुनिया (आस्ट्रेलिया) में प्रचलित है और इसके माध्यम से ही हम वर्त्तमान उन्नतिशील देशों की भावधारा से संबन्ध रख सकते हैं। फ्रांस, इताली, स्पेन, दक्षिण अमेरिका आदि की भाषाएँ अँगरेजी तो नहीं हैं, लेकिन एक ही रोमन लिपि से लिखी जाती हैं। अतः वर्त्तमान जगत् से योगसूत्र रखकर चलने के लिए रोमन लिपि को अपनाना चाहिए। यह बात आज प्रायः सभी जातियाँ अनुभव कर रही हैं। जर्मनी में लोग धीरे-धीरे पुरानी सैक्सन लिपि छोड़कर रोमन लिपि ग्रहण कर रहे हैं। तुर्की भाषा ने भी, जो कि कुछ दिन पहले तक अरबी लिपि में लिखी जाती थी, आज रोमन लिपि अपनाया है। अतः हमें भी भारतीय भाषाओं के लिए कुछ सीमा तक रोमन लिपि लेनी चाहिए। केवल लिखने की सुविधा के लिए नहीं, बल्कि दुनिया से संबन्ध के लिए। इसमें वर्णमाला की वैज्ञानिकता का प्रश्न नहीं आता। भारत की दूरी और समय-विभाग प्रणाली (क्रोश-योजन, पल-दण्ड) तथा पञ्चाङ्ग (मास-वत्सर) यूरोप की प्रणालियों से कम वैज्ञानिक नहीं हैं। तथापि हमने यूरोपीय प्रणालियाँ तथा ईसाई साल अपनाये। इसके दो कारण हैं— (१) वर्त्तमान सभ्य जगत् से संबन्धित रहना, और (२) भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्त तथा संप्रदायों में इतनी भिन्न-भिन्न प्रणालियाँ हैं कि निखिल भारतीय व्यापारों (All India matters) के लिए इन्हें न अपनाने से आपसी झगड़ा मिटने वाला नहीं है। यह बात लिपि के लिये भी है। अतः जो पुस्तकें या परचे भारत के सब प्रान्तों तथा संप्रदायों के लिये अभिप्रेत हों या जिन्हें हम पाकिस्तान और यूरोप में भी चाहें, वे रोमन लिपि में छपने चाहियें। आईन-अदालत, इश्तिहार, बिल, रसीद, नेक वगैरह में भी रोमन लिपि का व्यवहार रहना चाहिए। समाचार-पत्रों में भी यदि रोमन लिपि और हिन्दुस्तानी भाषा रहे तो सब संप्रदायों के लोग उन्हें समझ सकेंगे। नहीं तो बहुत नासमझियाँ पैदा हो सकती हैं। विद्यालय में गणितादि विषयों में अङ्क, चिह्न तथा पारिभाषिक शब्दों में अँगरेजी रखने से कितनी सुविधा होती है, सब शिक्षक जानते हैं। एक ही वर्ण के विविध रूपों से (A, a, A' a' आदि) गणित में बहुत सुविधा होती है। बल्कि जब उनसे भी काम नहीं चले तो यूनानी (ग्रीक) अक्षर भी लिये जाते हैं। मैं तो कहूँगा कि इतिहास भूगोलादि तथा अँगरेजी का अनुवादांश यदि रोमन लिपि और हिन्दुस्तानी में हों तो शिक्षक को ब्लैक-बोर्ड-नोट वगैरह देने में सुविधा होती और हिन्दू-मुस्लिम छात्रों के लिखे हुए उत्तर न अलग परीक्षक के पास भेजने की जरूरत रहेगी न कोई पक्षपात का भय रहेगा। बाकी रहीं संस्कृत पुस्तकें, हिन्दी में लिखित धार्मिक और सांस्कृतिक पुस्तकें तथा शुद्ध हिन्दी साहित्य। ये तो अवश्य ही देवनागरी लिपि में होने चाहियें। खैर, रोमन लिपि को किस सीमा तक अपनाना चाहिए उसमें भले ही मतभेद रहे, यह प्रायः सभी लोग मानते हैं कि यह कुछ हद तक रहनी चाहिए। इसलिए रोमन लिपि का भी कुछ ऐसा सुधार कर लेना चाहिए कि भारतीय प्रणाली में वर्णशुद्धि कायम रहे।

एक अक्षर का एक ही उच्चारण सदा के लिए माना जायगा। "बडगे इस जगह हुए थे गिरफ्तार" रोमन लिपि में लिखने से (Badge is jagah hue the giraftar) अँगरेज लोग भले ही पढ़ें—"बैज इज जगह हिउ दी गिरफ्तार" पर हम लोगों कोई धोखा नहीं रहेगा। कुछ चिह्नों के द्वारा हिन्दी के सभी उच्चारण ठीक कर लेने होंगे। इसमें मेरी योजना बहुत सरल है। ह्रस्व स्वर अ, इ, उ, ऋ के लिए ऊपर बिन्दुयुक्त ȧ i u ṙ तथा दीर्घस्वर आ, ई, ऊ, ॠ के लिए ऊपर लकीर (bar) ā, ī, ū, r̄ ग्रहण करना चाहिए। परन्तु बिन्दुहीन a, u ह्रस्वोच्चारण के तथा e, o दीर्घोच्चारण के ही बोधक होंगे। 'अगरचे' आदि कुछ शब्दों के लिए ह्रस्व-ए (ė) भी स्वीकार करना चाहिए। मूर्धन्य ट, ड, ण, ष को नीचे बिन्दुयुक्त ṭ, ḍ, ṇ, ṣ से लिखकर उन्हें दन्त्य त, द, न, स (t, d, n, s) से अलग करना चाहिए। फिर तालव्य च, ज, ञ, श के लिए ऊपर बिन्दुयुक्त ċ, j̇, ṅ, ṡ, ग्रहण करना चाहिए। इताली आदि देशों में केवल c से ही च का उच्चारण होता है; यथा, Beatrice (बियात्रिचे), Duce de Italy (दुचे दे इताली)। लेकिन बिन्दु तथा लकीर का

वहाँ व्यवहार अनिवार्य नहीं रहेगा, जहाँ उच्चारण का कोई खास धोखा न रह जाय। बाकी सब वर्णों के उच्चारण की है, दूसरी शॉर्टहैंड की तथा तीसरी पंक्ति रोमन लिपि की है।

लिपि सुधार का कोष्ठक

ा	ाा	ाि	ाी	ाु	ाू	ाृ	ाे	ाै	ाो	ाौ
c	Ω		९		९					
a	ā	i	ī	u	ū	ṙ	e	æ	o	ao (a+o)
क	ख	ग	घ	ङ		च	छ	ज	झ	ञ
‿	⁀	⌒	⌒			ı	i	|	|	
K	Kh	g	gh	ng		ċ	ċh	j̇	j̇h	ṅ
ट	ठ	ड	ढ	ण		त	थ	द	ध	न
/	/	/	/	–		\	\	\	\	–
ṭ	ṭh	ḍ	ḍh	ṇ		t	th	d	dh	n
प	फ	ब	भ	म		य	र	ल	व	
(	(	(	(	–			‿	‿		
p	ph	b	bh	ṃ		y	r	l	ω	
श	ष	स	ह	ज़		ं	ः	.		
)	)	)	·	)						
ś	ṣ	s	h	z		ng	ḥ			
क़	ख़	ग़	च़	ज़	ड़	ढ़	क़	घ़	फ़	ब़
q	qh	gh	ts	zh	ḍ	ḍh	th	th	f	v

I स.c = असत्, ाा ज्ञा = आज्ञा, ि त्र = इत्र, ाु पे+षा = उपेक्षा, स्व = सर्व
ई = प्रसेतजित्, ... = हरिश्चन्द्र, ... = अलंकार, ... = कलकत्ता

तथा चिह्नों के अर्थ, दिया हुआ कोष्ठक देखने से भली भाँति मालूम हो जायेंगे। पहली पंक्ति प्रतिसंस्कृत नागरी लिपि

कुछ दिनों से बिहार के सरकारी दफ्तरों की चिट्ठियों में पत्रसंख्या और तारीख देवनागरी लिपि में हाथ से लिखी

जाती है। लेकिन भारतीय संविधान की ३४३ (१) धारा के अनुसार 'भारतीय (अर्थात् दशमूलक) नोटेशन का अन्ताराष्ट्रीय रूप' ही स्वीकृत हुआ है। इसको अँगरेजी कहना गलत होगा चूँके अब यह एशिया और उत्तर अफ्रिका के अलावे सभी देशों में व्यवहृत है। शून्य चिह्न (०) का आविष्कार भारत में ही हुआ था और एशिया तथा यूरोप में यह एक ही रूप में लिखा जाता है। 'एक' के लिए जो पाई (1) व्यवहृत होती है, वह उर्दू, अरबी और यूरोपीय भाषाओं में एक-सी लिखी जाती है और पहले एक उँगली की सूचक थी। प्राचीन रोम में १, २, ३ क्रमशः एक, दो और तीन पाइयों से (I, II, III) लिखे जाते थे। प्राचीन मिस्र की लिपि में एक पाई से एकवचन और तीन पाइयों से बहुवचन सूचित होता था।

ऐतिहासिक दृष्टि के अलावे, कार्यकारिता की दृष्टि से भी, अँगरेजी अङ्कों के व्यवहार से बहुत सुविधा देखते हैं। कुछ अङ्क हिन्दी और अँगरेजी में करीब एक-से हैं। यदि संख्या २३० हाथ से लिखी जाय, तो यह बताना असंभव है कि हिन्दी या अँगरेजी कौन अङ्क व्यवहृत हुए। देवनागरी १, ४, ५, ७ क्रमशः अंगरेजी 9, 8, 4, 6 के करीब-करीब समान हैं। हिन्दी में संख्या ४५७ हाथ से लिखने पर बहुधा (विशेषतः अँगरेजी टाइप्ड पत्रों में) उसे अँगरेजी समझकर 846 पढ़ लेने का डर रहता है। हिन्दी अक्षरों के समान हिन्दी अङ्क यदि एकदम भिन्न होते तो कोई गड़बड़ी नहीं होती। फिर ०, २, ७ के अलावे सभी हिन्दी अङ्कों के प्रत्येक के एकाधिक मुद्रित रूप हैं और कई हस्तलिखित रूप भी। ६ को तो लोग कितनी ही तरह से लिखते है जिनमें एक रूप वर्गमूल-चिह्न के समान है। जबतक एक आदर्श (standard) रूप नहीं माना जाता है, तबतक इनका व्यवहार नहीं करना चाहिए। शब्दों के एकाध अक्षर न समझने पर भी व्यवहार से उनका आशय मालूम हो जाता है, लेकिन संख्या में अङ्क न समझने पर व्यवहार से बहुत अनर्थ हो जाता है, जिसके लिए उत्तरदायी हिन्दी अङ्क हैं।

आजकल उच्चविद्यालयों के लिए गणितादि विषयों की पुस्तकें हिन्दी माध्यम में छप रही हैं। किंतु अङ्कों के लिए कोई खास निर्देश न रहने के कारण कुछ में हिन्दी और कुछ में अँगरेजी व्यवहृत होने लगी। बीजगणित में बीजक और अङ्क तो अँगरेजी ही चल रहे हैं, पर अङ्कगणित और रेखागणित (इनके अनुवाद बहुत पहले ही निम्न कक्षाओं तथा वर्नाकुलर स्कूलों के लिए हो चुके थे) में अधिकतर हिन्दी अङ्क ही व्यवहृत हैं। त्रिकोणमिति और विज्ञान के लिए भी कोई स्थिर नियम नहीं गृहीत हो सके। उत्तर देने में भी कोई परीक्षार्थी अँगरेजी तथा कोई हिन्दी अङ्कों का व्यवहार करते हैं, फलतः उक्त रूप की गड़बड़ी जारी है। रकम लिखने की देशी रीति (१।।।=)।) तो दशमूलक सिक्के चालू होते ही खत्म हो जायगी। अधिक वैज्ञानिक होने के कारण नहीं, अधिक व्यापक होने के कारण ही हम अँगरेजी अङ्क पसंद करते हैं। योग, वियोग, गुण, भाग, बटा, वर्ग, वर्गमूल आदि के चिह्न तथा अल्पविराम आदि चिह्न, जो हम आजकल प्रचुर मात्रा में व्यवहार कर रहे हैं, एक भी भारतीय नहीं हैं। फिर अन्ताराष्ट्रीय अङ्कों के ही व्यवहार से क्या हानि है?

नई कविता और जन-साधारण

श्री श्यामसुन्दर घोष

नई कविता को समझने में औसत पाठकों को जो कठिनाइयाँ होती हैं उसे ध्यान में रखकर कुछ बातें करना अप्रासंगिक नहीं है।

इस क्रम में सबसे पहली बात यह कही जा सकती है कि नई कविता आधुनिक मान-मूल्यों की अभिव्यक्ति है। आधुनिक मान-मूल्य क्या हैं, इसके संबंध में प्रर्याप्त विचार-विमर्श हुआ है और हमारे सामने तत्संबंधी प्रभूत सामग्री बिखरी पड़ी है। यह ठीक है कि आधुनिक मान-मूल्यों की सही और स्पष्ट व्याख्या को लेकर विचारकों में काफी मतभेद है, पर उनके विचारों का सूक्ष्म अनुशीलन किया जाय तो हम आधुनिक मान-मूल्यों के स्वरूप से परिचित हो सकते हैं। इसके लिए प्रर्याप्त अध्यवसाय और धैर्य की आवश्यकता है।

इस क्रम में एक दूसरी आवश्यकता की ओर भी चक्षुपात किया जा सकता है। यह तो प्रायः माना ही गया है कि मान-मूल्य जीवन से विच्छिन्न नहीं होते। उनका स्वरूप जीवन के स्वरूप के अनुसार ही निर्धारित होता है। इस दृष्टि से आधुनिक मान-मूल्यों से परिचित होने के लिए न केवल आधुनिक विचारकों की विचार-सरणि का सहारा लेना होगा वरन् जीवन के आधुनिक रूप को भी हृदयंगम करना होगा। पर जनसाधारण को देखते हुए सचाई यह है कि वह आधुनिक मान-मूल्यों से परिचित नहीं है। इसका अवान्तर कारण यह है कि वह आधुनिक जीवन से ही अपरिचित है। आधुनिकता काल-बोधक नहीं, प्रवृत्ति-बोधक है। इसलिए जबतक आधुनिकता की प्रवृत्ति से हमारा परिचय नहीं होता तबतक हम आधुनिक युग में रह कर भी आधुनिक मान-मूल्यों से अपरिचित ही रहेंगे। इस हालत में हम आज की कविता को सच ही ठीक-ठीक नहीं समझ सकेंगे।

इस संबंध में दूसरी बात जो अग्निशलाका की भाँति ज्वलंत और प्रत्यक्ष है वह यह है कि जनसाधारण कविता का बड़ा हल्का अर्थ लेता है। जो सुनते ही समझ में आ जाये या मन को छू ले या दिल में उतर जाये वही कविता है। जाहिर है कि मात्र महफिली कविता ही ऐसा कर सकती है। कविता का रूप भी सभ्यता और जीवन के क्रमिक विकास के साथ-साथ जटिल से जटिलतर होता जा सकता है—जनसाधारण सम्भवतः ऐसा सोचता ही नहीं। एक सामान्य पाठक भी यदि कोई कविता नहीं समझता तो कविता को कूड़ा मान लेता है और पानी पी-पी कर कवि को कोसता है। यह बात उसके दिल में आती ही नहीं है कि कूड़ा उसके दिमाग में भी हो सकता है।

औसत पाठक कविता समझने के लिए और उसका रसास्वादन करने के लिए काव्य की परम्परा का ज्ञान और अध्ययन सम्भवतः आवश्यक नहीं समझता। रीति-कालीन कविताओं के शौकीन एकबारगी छलाँग मारकर नई कविता को समझ लेना चाहते हैं। फलस्वरूप उन्हें निराशा ही हाथ लगती है। ऐसे पाठक यदि नई कविता को समझना चाहेंगे तो उन्हें हिन्दी कविता की बीच की कड़ी छायावाद और प्रगतिवाद के प्रत्येक सूक्ष्म विवरण में जाना होगा। तभी वे आधुनिक काव्य-बोध से संयुक्त हो सकते हैं। ऐसी संपृक्ति नहीं होने के कारण ही औसत पाठक आधुनिक कविता के छिटपुट अंशों को लेकर परेशान होते हैं, आक्रोश करते हैं और कवियों को कोसते हैं।

इस क्रम में मैं यह भी कहना चाहूँगा कि कविता का संबंध हृदय से है—इस नारे ने औसत पाठकों को खूब भुलावे में रखा है। बुद्धि की बात लेकर औसत पाठक को अपने आप पर अविश्वास हो सकता है, पर हृदय रखने का दावा तो सभी करते हैं। शिक्षा-दीक्षा के अभाव में कोई बुद्धिहीन भले ही कहला ले, पर हृदयहीन कहलाना तो कोई नहीं चाहेगा। हृदय तो निरक्षर-भट्टाचार्य के भी होते हैं। फिर हृदय रहते हुए भी यदि कविता नहीं समझ पाते तो जरूर कविता और कवि का दोष है। ऐसे लोग माघ और हर्ष के युग में न होकर आज के जनतंत्रात्मक युग में हैं, इसलिये हमें इनकी उपेक्षा करने का कोई अधिकार नहीं है।

कविता का भी अपना शास्त्र होता है जो पुराने जमाने में भी था और आज भी है। वह शास्त्र अन्य शास्त्रों से कम जटिल और दुरूह नहीं है। लेकिन ऐसा होने पर भी काव्य के अनुभावन के क्रम में उसके अनुशीलन की आवश्यकता होती है। ऐसा समझ कर ही प्राचीन कवि और रसज्ञ उसका अनुशीलन करते थे और आज भी उस अनुशीलन की परिपाटी एकदम मिटी नहीं है। आज प्राचीन काव्यशास्त्र की उपयोगिता, कविता के नवीन रूप को देखते हुए, भले ही नहीं रह गई हो पर उसके स्थान पर जो नवीन काव्यशास्त्र प्रस्तुत हुआ है वह ध्यातव्य है। आज रस, अलंकार, रीति, नायिकाभेद आदि का ज्ञान अपेक्षित नहीं है। लेकिन इसका अर्थ यह न लिया जाय कि अब पाठकों को कविता के संबंध में कुछ जानना ही नहीं है। इन प्राचीन काव्य-उपकरणों के अतिरिक्त भी अन्य बीसियों बातें हैं जिनका ज्ञान, कविता के रसास्वादन के लिये आवश्यक है। लेकिन जनसाधारण काव्य के उन तत्वों और उपकरणों को समझने के लिये सचेष्ट नहीं है।

काव्य, कला या विद्या जिसमें भी परिगणित हो, उसके लिये अध्ययन अपेक्षित है। पिकासो के चित्रों को अदना आदमी नहीं समझ पाता, यह तय है। कला की पच्चीकारी को समझने लिये भी दृष्टि की सूक्ष्मता चाहिये। आज कोई कवि कविता में एकाध शास्त्रीय या वैज्ञानिक शब्द या फर्मूले का प्रयोग करता है तो पाठक शिकायत करते हैं। लेकिन पुराने जमाने में ऐसी बात नहीं थी। माघ, भारवि, हर्ष सभी प्राचीन कवियों में अनेकानेक शास्त्रों के उल्लेख हैं—उसके शब्द भी हैं और फर्मूले भी। बाद में महफिली कविता की तुलना में जब केशव को पढ़ने में साहित्य रसिकों को तनिक सी कठिनाई हुई तो उन्हें कठिन काव्य का प्रेत कह दिया गया। औसत पाठकों को देखते हुए यह सचमुच बहुत सौभाग्य की बात है कि अभी हिन्दुस्तान में एलियट जैसा कवि और वेस्ट-लैंड जैसी कविता-पुस्तकें उपलब्ध नहीं हैं जिसमें न केवल देशीय वरन् समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञानादि के प्रसंग उल्लिखित हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है उससे ऐसा न मान लिया जाय कि सारा दोष औसत पाठक या जन-साधारण का ही है। कवियों में भी त्रुटियाँ रही हैं और आलोचकों ने उन त्रुटियों पर दृक्पात भी किया है। जहाँ नये कवि नई दृष्टि द्वारा नूतनता उत्पन्न न करके सिर्फ शब्दों और अलंकारों की विलक्षणता द्वारा प्रभाव उत्पन्न करना चाहते हैं वहाँ औसत पाठकों की झुँझलाहट और शिकवे-शिकायत अपनी जगह पर सोलहों आने सही हैं। जब नया कवि प्रयोग को किसी आन्तरिक आवश्यकता के वशीभूत न होकर मात्र नारे के रूप में ग्रहण करता है तो अस्वाभाविक, विशृंखल और कृत्रिम कृतियों का ढेर लगना और इस प्रकार पाठकों का कठिनाई में पड़ना स्वाभाविक ही है। लेकिन यहाँ हम यह कहे बिना भी नहीं रह सकते कि ये प्रवृत्तियाँ जिन नये कवियों में हैं वे नई कविता के महत्तर (Major) कवि तो नहीं ही हैं। ऐसे कवि नये काव्य को बदनाम भले ही कर दें उसे यश तो नहीं ही दिलायेंगे।
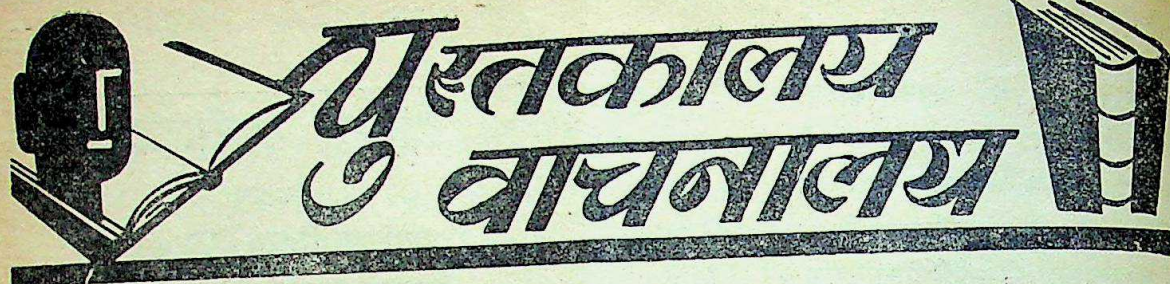
पुस्तक-विज्ञान

श्री विश्वनाथ शास्त्री

पुस्तक-विज्ञान (Bibliography) एक स्वतन्त्र विज्ञान है। इसका पुस्तकालय-शास्त्र के घनिष्ठ संबंध है। वस्तुतः यह पुस्तकालय-शास्त्र की एक प्रमुख शाखा है। पुस्तक-शास्त्रियों (Bibliographers) के सामने यह आदर्श रहता है कि वे छोटी, बड़ी, सस्ती, महँगी, नई-पुरानी सभी प्रकार की पुस्तकों का विश्लेषण करके उनकी सूची बनाएँ। पुस्तक-शास्त्री और पुस्तकाध्यक्ष में पर्याप्त भेद है। पुस्तक-शास्त्री पुस्तकों की निन्दा-स्तुति में नहीं पड़ता। उसकी दृष्टि में एक साधारण-से-साधारण छोटा-सा पैम्फ-लैट भी किसी समय बड़ा उपयोगी सिद्ध हो सकता है। इसके विपरीत पुस्तकाध्यक्ष कम-से-कम मूल्य पर अधिक-से-अधिक पाठकों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों का संग्रह करना अपना उद्देश्य समझता है। वह पुस्तकों का मूल्यांकन करके उनका चयन करता है। वह पुस्तकालय में सीमित संख्या में ही पुस्तकों का संग्रह करता है। पुस्तक-शास्त्री के सामने पुस्तकों का अथाह भंडार है।

पुस्तक-विज्ञान की दो शाखाएँ हैं, प्रथम पुस्तक-विश्लेषण (Analytical Bibliography) और द्वितीय पुस्तक-सूचीकरण-विज्ञान (Systematic Bibliography)। इस लेख में हम पुस्तक के संबंध में कुछ विचार पाठकों के सम्मुख रखेंगे। जिस प्रकार एक रसायन-शास्त्री पदार्थों के तत्त्वों का विश्लेषण करता है, इसी प्रकार एक विद्वान् पुस्तक-विश्लेषक पुस्तक के तत्त्वों का विश्लेषण करता है। जब कोई पुस्तक उसके पास आती है तो उसके सामने कई प्रश्न उत्पन्न हो जाते हैं। इसका लेखक कौन है? इसका शीर्षक क्या है? इसका यह कौन-सा संस्करण है? इसका प्रकाशन-स्थान और मुद्रण-स्थान कौन-सा है? इसका प्रकाशन किस वर्ष हुआ? इसमें कितने पृष्ठ हैं? क्या यह पुस्तक सचित्र है? यदि सचित्र है तो इसमें कितने और किस-किस प्रकार के चित्र हैं? इसका साइज़ क्या है? पुस्तक-शास्त्री इन तत्त्वों का विश्लेषण करता है। पुस्तकालय का सूचीकार (Cata-loguer) भी पुस्तकों का विश्लेषण करता है। पुस्त-कालय-सूची में भी पुस्तक के संबंध में उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर मिल जायगा। परन्तु पुस्तक-शास्त्री का कार्य पुस्तका-ध्यक्ष की अपेक्षा कुछ विस्तृत और महत्त्वशाली है।

आजकल की साधारण पुस्तकों का विश्लेषण करना कुछ अधिक कठिन नहीं है। परन्तु, फिर भी पाठक जानते हैं कि कई पुस्तकों के शीर्षक-पृष्ठ पर लेखक का नाम ही नहीं होता। संपादक लोग केवल अपना ही नाम दे देते हैं। इस अवस्था में लेखक को ढूँढने में कई बार पर्याप्त कठिनाई होती है। कई पुस्तकों पर प्रकाशन-तिथि ही नहीं लिखी रहती। इस प्रकार की समस्याएँ तो आधुनिक पुस्तकों के संबंध में भी बनी रहती हैं। पुरानी पुस्तकों का विश्लेषण करना तो विशेष रूप से कठिन होता है। उनमें पुस्तकों के तत्त्वों का बहुत कम विवरण मिल पाता है। ऐसी हस्तलिखित पुस्तकों को प्रकाशित करने के लिए किसी कुशल पुस्तक-विश्लेषक अथवा संपादक की आवश्यकता होती है। ऐसी पुस्तकों के संपादकों को पुस्तक के लेखक, शीर्षक, रचनाकाल आदि तत्त्वों को बड़े परिश्रम से ढूँढना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उन्हें यह भी देखना होता है कि यह पुस्तक किस नगर और देश में लिखी गई।

पुस्तक-विश्लेषक को इन चार तत्त्वों का भी सावधानी से विश्लेषण करना चाहिये : पहला कागज, तालपत्र इत्यादि;

दूसरा वर्ण-विन्यास, लिपि, टाइप इत्यादि; तीसरा चित्र और चौथा जिल्द। इन तत्वों की जानकारी से पुस्तक-शास्त्री को यह पता लग जायगा कि किस देश में और किस काल में किस प्रकार का कागज, टाइप, चित्र और जिल्द होती थी। इस विश्लेषण से वह इन चार पुस्तक-कलाओं का इतिहास तैयार कर सकता है। पुस्तक-विश्लेषण की एक उपशाखा ऐतिहासिक विश्लेषण (Historical Bibliography) है। पुस्तकों के रचना-स्थान और रचना-काल को जानने की यह कला सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का इतिहास लिखने वालों के लिए बड़ी उपयोगी है। इस कला को जाननेवाला ही हमें बता सकता है कि लेखक का मूल पाठ अक्षुण्ण रूप से हम तक पहुँचा है अथवा मार्ग में ही इसमें प्रक्षेप हो गए हैं। हमारे प्राचीन शास्त्रों के सम्पादन के लिए इस कला की बड़ी आवश्यकता है। महाभारत के उत्तर भारत और दक्षिण भारत के संस्करणों में बड़ा भेद है। इस विद्या के बल पर ही भाण्डारकर ओरिएंटल रीसर्च इन्स्टीट्यूट पूना महाभारत के शुद्ध संस्करण को प्रकाशित कर रहा है।

पुस्तकों का विश्लेषण करने के अनंतर पुस्तक-शास्त्री उनका विवरण लिखता है। यही पुस्तक-विज्ञान का दूसरा भेद पुस्तक-सूचीकरण (Systematic Bibliography) है। सूची को लेखक या शीर्षक या विषय की दृष्टि से या सब संलेखों को मिलाकर अकारादि क्रम से जमाया जाता है। वह सूची मौलिक कहलाती है जिसको पुस्तक-शास्त्री स्वयं पुस्तकों का विश्लेषण करने के अनन्तर तैयार करता है। पुस्तक-शास्त्री जब किसी दूसरे स्रोत से विवरण प्राप्त करके सूची तैयार करता है तो ऐसी सूची पराश्रित सूची कहलाती है। ये सूचियाँ पुस्तकाध्यक्षों, विद्वानों और शोधकर्त्ताओं के लिए उपयोगी होती हैं। एक शोधकर्त्ता जब किसी विषय पर शोधकार्य करना चाहता है तो उसका यह पहला कर्त्तव्य है कि जितना कार्य उस विषय पर पहले हो चुका है उसको जान कर अपना मौलिक कार्य प्रारंभ करे। पहले हो चुके कार्य को जानने के लिए उसे सूचियों का आश्रय लेना पड़ता है, जिस प्रकार आजकल सहस्रों पुस्तकें छपती हैं इसी प्रकार अनेक सूचियाँ भी प्रकाशित होती हैं। अधो-लिखित दो पराश्रित सूचियाँ हैं जो शोधकर्त्ताओं के लिए लाभकारी हैं :

(1) Besterman, Theodore : A world bibliography of bibliographies.

(2) Winchell, Constance M : Guide to reference books,

सूची-ग्रन्थों के चार प्रमुख भेद हैं। हम उदाहरण-सहित इनके नाम नीचे देते हैं :

(१) राष्ट्रीय सूची। इसमें देश भर के समस्त प्रकाशनों की सूची रहती है।

(क) Indian National Bibliography

केन्द्रीय सरकार के राष्ट्रीय पुस्तकालय से प्रकाशित इस ग्रन्थ में भारत में अंग्रेजी तथा समस्त भारतीय भाषाओं में प्रकाशित सब पुस्तकों की सूची रहती है। इसके त्रैमासिक तथा वार्षिक संस्करण प्रकाशित होते हैं।

(ख) Catalogue of Civil publications

केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रकाशित इस सूची में सरकारी प्रकाशनों का विवरण रहता है।

(ग) IMPEX : Reference catalogue of Indian books.

इसमें भारत में प्रकाशित समस्त अंग्रेजी ग्रन्थों का लेखक, शीर्षक तथा विषय के क्रम से उल्लेख किया गया है।

(घ) माता प्रसाद गुप्त : हिन्दी पुस्तक साहित्य। इसमें १९४५ तक प्रकाशित हिन्दी साहित्य आ गया है।

(२) चुनी हुई पुस्तकों की सूचियाँ। इन सूचियों में सब विषयों पर चुनी हुई पुस्तकों का ही समावेश रहता है।

(क) काशी नागरी प्रचारिणी सभा : हिन्दी में उच्चतर साहित्य।

(३) विषय सूचियाँ। केवल एक ही विशिष्ट विषय को लेकर इस प्रकार की सूचियाँ तैयार की जाती हैं।

(क) Dandekar, R. N. : Vedic Bibliography

(४) प्रकाशकों तथा विक्रेताओं की सूचियाँ। नवीन-नवीन प्रकाशनों की सूचना प्रायः प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता ही देते हैं। ये लोग विज्ञापन, सूचियाँ, मासिक-

पत्र आदि प्रकाशित करते रहते हैं। उदाहरण के लिए यही पत्र 'पुस्तक-जगत' है।

इन सूचियों के अतिरिक्त एक और भी श्रेणी है जिस पर विचार कर लेना चाहिए। विद्वत्सभाओं के प्रकाशन प्रायः प्रकाश में नहीं आते, परन्तु विद्वानों के लिए ये विशेष उपयोगी होते हैं। अतः शोधकर्त्ताओं को विद्वत्सभाओं से पत्र-व्यवहार करके उनसे पुस्तक-सूची मँगा लेनी चाहिए।

(1) Humanistic institutions and societies in india.

यह भारत सरकार का प्रकाशन है। इसमें समस्त विद्वत्सभाओं की सूची दी गई है।

(२) प्रेम नारायण टंडन : हिन्दी सेवी संसार। इसमें हिन्दी संस्थाओं, प्रकाशकों आदि का विवरण है।

अब हम पाठकों का ध्यान कुछ अमुद्रित ग्रन्थों की ओर दिलाना चाहते हैं। विश्वविद्यालयों में शोध-कार्य चलता रहता है। कई शोध-प्रबन्ध तो प्रकाशित हो जाते हैं और अन्य पुस्तकों के समान सुलभ हो जाते हैं। परन्तु बहुत-से प्रबन्ध तो अमुद्रित रूप में ही रहते हैं। ये प्रबन्ध शोधकर्त्ताओं के लिए बड़े उपयोगी होते हैं। इन प्रबन्धों की सूची को देखकर, जिस-जिस विश्वविद्यालय में ये सुरक्षित हों वहाँ जाकर उनको पढ़ा जा सकता है। अधोलिखित प्रबन्ध-सूचियाँ उपयोगी होंगी :

(1) Inter University board : Lisi of subjects in Arts and Sciences in which research was carried out in the Universities and Research institutions. Delhi

(2) Inter University Board: Bibliography of doctorate theses in Arts and Science accepted by Indian Universities.

(३) उदयभानुसिंह : हिन्दी के स्वीकृत शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय।

आजकल के युग में प्रतिवर्ष अगण्य पुस्तकों का प्रकाशन होता है। पुस्तक शास्त्रियों और पुस्तकाध्यक्षों के लिए वर्त्तमान युग में कार्य करने के लिए बड़ा विस्तृत क्षेत्र है।
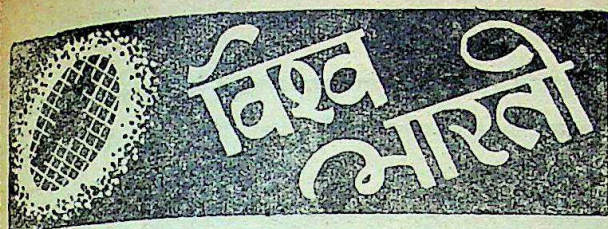
सोवियत संघ : भारतीय साहित्य

श्री उदयनारायण सिंह

सोवियत संघ तथा भारत में एक-दूसरे देश की प्राचीन एवं नवीन पुस्तकों का अध्ययन विशेषरूप से होता रहा है। भारत के समृद्ध साहित्य के प्रति सोवियत संघ की दिलचस्पी बहुत पहले से ही पैदा हो गयी थी। रूस के सुप्रसिद्ध अजरबैजानी कवि तथा विचारक निजामी गनजेवी (११४१-१२०३) को भारत के इतिहास, संस्कृति तथा दर्शन का सर्वप्रथम ज्ञान हुआ था। "खोसराऊ तथा शिरीन" नामक काव्य-ग्रंथ लिखते समय इस कवि को "पंचतंत्र" नामक पुस्तक की जानकारी हुई। अपनी काव्य-पुस्तक "इस्कन्दरनामा" में निजामी ने अपने नायक इस्कन्दर की एक भारतीय साधु से वार्त्ता कराई है जिसमें इस्कन्दर भारतीय संत के गहरे ज्ञान एवं स्पष्ट विचारों से प्रभावित हो जाता है। १६वीं शताब्दी के अंत तथा १७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अनेक अजरबैजानी कवि, लेखक तथा वैज्ञानिक भारत में बसने के लिए आ गये थे, जहाँ उन्होंने अपने कई उत्कृष्ट ग्रंथों का सृजन किया। मसीही साहब टेक्सत्रे जी इब्राहिम आर्द्रु वेदी ने भारत में अपने कई वर्ष के समय व्यतीत किये। ये साहित्यिक भारत की आध्यात्मिक विशेषताओं से अत्यधिक प्रभावित हुए थे और इन्होंने भारत के प्राकृतिक सौंदर्य का वर्णन अधिक अच्छे ढंग से किया है।

लेबदेव का योग

अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में गैरासिम लेबदेव ने सन् १७८५ में भारत की यात्रा की। इस यात्री ने लम्बे अरसे तक भारत में रहकर रूस एवं भारतीय संबंधों के विकास में विशेष रूप से योग दिया है। ये एक सामान्य गायक थे जिन्होंने पहले मद्रास में और तत्पश्चात् कलकत्ते में गीत-वाद्य-प्रदर्शन किया। कलकत्ते में इन्होंने बंगाल-ड्रामा थियेटर नामक एक प्रसिद्ध रंगमंच स्थापित किया। इस यात्री ने भारतीय भाषाएँ सीखकर इस रंगमंच पर अभिनीत किये जाने के लिए कई यूरोपीय लेखकों के अनेक नाटकों का अनुवाद भी किया था। लेबदेव १२ वर्षों तक भारत में रहे और अपने प्रवासकाल में इन्होंने न केवल कला की ओर ध्यान दिया वरन् भारत के इतिहास, दर्शन एवं प्राचीन भारतीय भाषाओं तथा जनता के रीति-रिवाजों का अध्ययन भी किया। मास्को-स्थित साहित्य एवं कला के केन्द्रीय राज्य पुरालेख-संग्रहालय में रूसी पर्यटक गैरासिम लेबदेव के संबंध में मनोरंजक दस्तावेज मिले हैं, जिनमें उनके ४ नोटबुक हैं जिनमें उनके भारत-प्रवास का उल्लेख है। इनमें प्रामाणिक पत्र, अंग्रेजी नाटकों के बंगला अनुवाद की पांडुलिपियाँ तथा १८वीं शती की "विद्यासुन्दर" नामक बंगला कविता के मूल से किये गये रूसी अनुवाद की पांडुलिपि है। यूरोप वापस जाने पर इन्होंने भारतीय संस्कृति एवं भारतीय व्याकरण पर कई प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे और इन्हें प्रकाशित भी किया। लेबदेव ने सेन्टपिटसवर्ग में एक छापाखाना भी खोला जिसमें प्राचीन भारतीय टाइपों की व्यवस्था थी। सोवियत संघ में यह प्रथम छापाखाना था जिसमें भारतीय टाइप रखे गये थे। इस प्रकार लेबदेव ने सोवियत संघ में भारत-विषयक अध्ययन की सुदृढ़ बुनियाद कायम की, जिससे प्रेरणा प्राप्त कर बाद के रूसी विद्वानों ने भारतीय साहित्य, संस्कृति आदि के व्यापक अध्ययन की ओर अपना ध्यान केन्द्रित किया।

गीता एवं महाभारत

सोवियत संघ में भारत की जिस प्रथम पुस्तक का अनुवाद हुआ वह "श्रीमद्भागवतगीता" है, जिसका अनुवाद सन् १७८८ में रूसी में किया गया। १६वीं शताब्दी में इस उत्कृष्ट ग्रंथ की ओर सोवियत जनता का ध्यान विशेष रूप से गया। सन् १८२० तथा १८४२ में महाभारत की "नल दमयंती" की कथा का क्रमशः गद्य और पद्य में अनुवाद किया गया। इस कथा का पद्य में अनुवाद सुप्रसिद्ध रूसी कवि वी० जुकोवस्की ने किया जो

अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। सन् १८९८ में रूसी लेखक ए० अरेनेस्की ने नल दमयन्ती की कथा पर आधारित एक नाटक लिखा।

सुप्रसिद्ध विद्वान् ताल्स्ताय को महाभारत में सबसे अधिक "श्रीमद्भागवतगीता" वाला प्रसंग पसन्द था, जिसका उल्लेख उन्होंने अपनी डायरी तथा पत्रों में किया है। भारतीय विद्वान् श्री एस० आर० चितले ने श्री ताल्स्ताय की, उनकी गीता के प्रति मुख्य धारणा की एक बार आलोचना की, जिसके उत्तर में ताल्स्ताय ने उनके पास यह लिखा था कि "मुझे यह देखकर दुःख हुआ कि आपका अनुमान है कि मैं भगवद्गीता के मुख्य सिद्धांत से सहमत नहीं—अर्थात् इस विचार से कि मनुष्य को अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए अपनी सब अध्यात्मिक शक्तियों का प्रयोग करना चाहिए। मुझे इस बारे में दृढ़ विश्वास है और मैंने सदा इसे याद रखने तथा इसके अनुसार चलने का प्रयत्न किया है। इस प्रश्न के बारे में जिन लोगों ने मेरी राय जाननी चाही उन्हें बताने के लिए मैंने सदा कोशिश की है और अपनी राय को मैंने अपनी रचनाओं में व्यक्त भी किया है।" इससे प्रकट है कि ताल्स्ताय के हृदय में गीता के प्रति कितना उच्च स्थान था।

रूस में सम्पूर्ण "महाभारत" का अनुवाद-कार्य सन् १९३९ में रूसी भाषाशास्त्री अकादमीशियन ए० वरान्निकोव की देखरेख में प्रारम्भ हुआ लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर यह कार्य रुक गया। सोवियत विज्ञान-अकादमी सन् १९५० में 'महाभारत' के 'आदि पर्व' का अनुवाद प्रकाशित करने में समर्थ हो सकी जिसका अनुवाद संस्कृत भाषा के सुप्रसिद्ध रूसी विद्वान् बी० कल्यानोव ने किया तथा उसका सम्पादन अकादमीशियन ए० बरान्निकोव ने किया। "सभापर्व" का अनुवाद भी कल्यानोव ने कर लिया है। तुर्कमेन विज्ञान-अकादमी के सदस्य बी० स्मिरनोव ने सन् १९५५-५७ में महाभारत के तीन अध्यायों का रूसी में अनुवाद किया। इन तीनों अध्यायों में प्रथम "नाल फ़ेंकना तथा वैवाहिक संबंध" द्वितीय "भगवद्गीता" तथा तृतीय "इन्द्र का स्वर्ग से आगमन" एवं राम से संबंधित कथा है। इस समय में सोवियत विज्ञान-अकादमी के प्राच्य अध्ययन-संस्थान के जार्ज इलिन ने सराहनीय कार्य किया है। इन्होंने महाभारत के १८ अध्यायों का सारांश कर कई वर्षों के बाद एक पुस्तक लिखी है जो रूस में अत्यधिक लोकप्रिय हुई है। इस पुस्तक के माध्यम से सोवियत संघ की जनता भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के इस उत्कृष्ट ग्रंथ से परिचित हो सकी है। वर्त्तमान समय में सम्पूर्ण महाभारत का अनुवाद रूसी में हो रहा है।

कालिदास की रचनाएँ

संस्कृत के महान् कवि कालिदास की रचनाओं से रूस की जनता उस समय परिचित हुई जबकि सन् १७९२ में रूस के प्रसिद्ध लेखक एवं इतिहासकार एन० कारामजिन ने मास्को में कालिदास के नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तल" के अंक १ और ४ का रूसी अनुवाद किया। यह अनुवाद "भारतीय नाटक शकुन्तला के कुछ दृश्य" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक की भूमिका में कारामजिन ने कालिदास की रचना के बारे में कुछ शब्द लिखे हैं जो इस प्रकार हैं: "इस नाटक के प्रायः प्रत्येक पृष्ठ पर मैंने काव्य का उच्चतम सौंदर्य, कोमलतम भावनाएँ, वसन्त ऋतु की शांत रात्रि जैसी कोमल, उत्कृष्ट तथा अवर्णनीय मृदुता, पवित्रतम तथा अद्वितीय प्रकृति-वर्णन और उच्चतम कला पायी है। इस नाटक को प्राचीन भारत का एक अत्युत्तम चित्र कहा जा सकता है, बिलकुल उसी प्रकार जैसे होमर की कविताओं में प्राचीन यूनान का चित्र मिलता है। यह ऐसा चित्र है जिसमें उस देश के निवासियों के स्वभाव, आचरण तथा रीति-रिवाजों को देखा जा सकता है। मेरे निकट कालिदास उतना ही महान है जितना कि होमर। उन दोनों ने ही अपनी तूलिकाएँ प्रकृति के हाथों से प्राप्त की थीं और दोनों ही ने प्रकृति का चित्रण किया है।"

इसके बाद कालिदास की अन्य कृतियों का अनुवाद-कार्य रूसी में प्रारम्भ किया गया। सन् १८७९ में मूल संस्कृत से अलेक्सी पुतयाता द्वारा किया गया शकुन्तला का पूरा अनुवाद मास्को में प्रकाशित हुआ। सन् १८९० में कालिदास की "शकुन्तला" "रघुवंश" तथा "मेघदूत"

पुस्तक का अनुवाद "संस्कृत काव्य" नाम से वालोग्दा में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद एन० वोलोत्स्की ने किया था। इसके कुछ वर्ष पश्चात् सन् १६१६ में रूस के सुप्रसिद्ध कवि के० बालमान्त ने कालिदास के तीन नाटकों यथा "मालविकाग्निमित्र", "शकुन्तला" तथा "विक्रमोर्वशी" का अनुवाद किया जो मास्को में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद अपनी कलात्मक उत्कृष्टता तथा सौंदर्य की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट अनुवाद बताया जाता है। कालिदास की दो कृतियों, यथा "कुमारसंभव" तथा "रघुवंश" का रूसी भाषा में प्रथम अनुवाद प्रोफेसर रित्तर ने किया था। सन् १९२८ में "मेघदूत" का अनुवाद रूस की यूक्रेनी भाषा में प्रकाशित हुआ जिसे भी प्रोफेसर रित्तर ने ही किया था। इसके रूसी अनुवाद की भूमिका में प्रोफेसर रित्तर ने "कालिदास, उनका युग तथा रचनाएँ" शीर्षक एक लेख लिखा था।

सोवियत संघ में कालिदास की रचनाओं का अध्ययन करने की दिशा में लोगों की दिलचस्पी उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है और कालिदास की कृतियों के नवीन रूसी अनुवादित संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं। कालिदास की रचनाओं के बारे में जो गवेषणात्मक लेख लिखे गये हैं उनमें अकादमीशियन एफ० आदेलुंग, प्रोफेसर आई० मिनाएव, ओल्देनबुर्ग, एफ० श्चेर्बात्स्की, ए० बरान्निकोव, ई० स्कोब्रयाकोव आदि के निबंध हैं। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय के प्राच्यविद्या-संस्थान के अध्यक्ष कल्यानोव ने कालिदास की रचनाओं के बारे में लिखा है कि "कालिदास की रचनाओं में भारतीय वाङ्मय की समस्त मौलिक विशिष्टताएँ पायी जाती हैं। उनकी रचनाएँ उस सूक्ष्म कला पर आधारित हैं जिसमें निपुणता प्राप्त करना भारत के किसी भी सच्चे कवि के लिए आवश्यक है। कालिदास महान कवियों में से हैं। कालिदास की रचनाओं की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशिष्टताओं में उनकी काव्यमय उपमाएँ तथा उनकी कवित्वमयी भाषा में निहित गंभीर अर्थ है जिसकी अनुभूति पाठक एवं श्रोतागणों को तत्काल नहीं होती, वरन् शनैः-शनैः होती है; ठीक उसी तरह जैसे घंटे की ध्वनि होने के पश्चात् उसकी प्रतिध्वनि धीरे-धीरे विलीन होती जाती है।"

कालिदास के नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल का नवीन रूसी संस्करण अभी हाल ही में प्रकाशित हुआ है, जिसके मुखपृष्ठ पर लता-कुंजों के तान-वितान के बीच एक मुग्धा बाला खड़ी है और एक मृगछौना उसका वस्त्र खींचता हुआ चित्रांकित है। लेनिनग्राद विश्वविद्यालय में भारतीय भाषा-शास्त्र पर और प्राचीन भारतीय साहित्य पर जो-जो व्याख्यानमालाएँ आयोजित की जाती हैं उनमें कालिदास की रचनाओं का प्रमुख स्थान होता है। अकादमीशियन बरान्निकोव अपने अंतिम समय तक यहाँ इस प्रकार का व्याख्यान देते रहे। कालिदास की कृतियों के प्रति सामान्य रूसी जनता की भी अत्यधिक दिलचस्पी है और वह उनका अत्यधिक उत्सुकता के साथ अध्ययन करती है। उनकी रचनाओं पर समय के गुजरने का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ा है, जैसा कि रूसी लेखक बी० कोलवेत्स्की की इन पंक्तियों से प्रकट है : "यद्यपि भारत के इस महान कवि और नाटककार की कृतियों में और हममें अनेक शताब्दियों के ऐतिहासिक विकास-क्रमों का व्यवधान है, फिर भी इन रचनाओं का शिक्षामूलक और सौंदर्यपरक महत्त्व रत्ती भर भी कम नहीं हुआ।" यही कारण है कि सोवियत जनता भारतीय जनता के समान ही कालिदास की जन्म-तिथि का प्रत्येक वर्ष आयोजन कर इस महान कवि की कृतियों के प्रति अपना आदर एवं श्रद्धा प्रकट करती है।

भारतीय भाषाओं का अध्ययन

सोवियत संघ में भारतीय भाषाओं का अध्ययन उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से शुरू होता है। रूस में भारतीय भाषा-शास्त्र का संस्थापक पी० वी० पेट्रोव (१८१४-१८७५) को माना जाता है। इनकी पुस्तक "उत्तर भारत की प्रमुख भाषाएँ" में हिन्दी, मराठी तथा बंगाली का सिंहावलोकन किया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सोवियत संघ के सुप्रसिद्ध विद्याविद् प्रोफेसर इवान पावलोविच मिनाएव ने सन् १८७३ से लेकर १८६० तक मृत्युपर्यन्त भारतीय भाषाओं का अध्ययन एवं अनुसंधान-कार्य किया। इसमें भाषा-विज्ञान से लेकर तत्कालीन भारत की स्थिति की

समस्याएँ भी शामिल हैं। प्रोफेसर मिनाएव के भाषा-संबंधी अनुसंधान-कार्य में सर्वप्रथम "पालि भाषा के ध्वनि-शास्त्र एवं शब्द-रचना-विज्ञान का अध्ययन" नामक पुस्तक है। ये यूरोप में पालि भाषा के विशेषज्ञ माने जाते थे। डाक्टर की डिग्री के लिए इन्होंने "पालि भाषा के ध्वनि-शास्त्र एवं शब्दरूप-गठन" विषय पर जो व्याकरण लिखा है वह इस विषय की प्रामाणिक पुस्तक मानी जाती है। इस पुस्तक का अनुवाद कई विदेशी भाषाओं में हो चुका है। मिनाएव ने रूसी भाषा में संस्कृत तथा पालि के अनेक ग्रन्थों का अनुवाद प्रकाशित करने की दिशा में कार्य किया है। इन ग्रन्थों के प्रकाशित होने से रूस में भारतीय भाषाओं के प्रचार में अधिक सहायता मिली। प्रोफेसर मिनाएव की सन् १८७५ में कुमाऊँ में संग्रहीत "भारतीय लोककथाएँ" उल्लेखनीय कृति है। इस पुस्तक में पहाड़ी भाषा की ४७ कहानियों तथा २३ उपाख्यानों के अनुवाद संग्रहीत है। यह पुस्तक जन-साहित्य को मिनाएव की एक विशेष देन है। आपकी एक अन्य कृति "संस्कृत साहित्य के महत्त्वपूर्ण स्मारकों का अध्ययन" भी इसी कोटि में आती है। प्रोफेसर मिनाएव ने "भारतीय कथामाला" नाम से एक और पुस्तक लिखी है। रूसी में भारत के प्राचीन सत्साहित्य का अध्ययन एवं उसकी जानकारी प्राप्त करने का साधन पहले मिनाएव की ही रचनाएँ थीं। मिनाएव सोवियत संघ के उन शिक्षाविदों एवं विद्वानों में से हैं जिन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से ही भारतीय भाषाओं एवं यहाँ की उत्कृष्ट संस्कृति का अध्ययन ही नहीं किया वरन् तीन बार भारत की यात्रा कर इस महान-कार्य को पूरा किया है। इस दृष्टि से प्रोफेसर मिनाएव का कार्य अत्यधिक सराहनीय है। भारत के प्रति प्रोफेसर का विशेष प्रेम था। भारत के संबंध में प्रशंसा भरे शब्दों में प्रोफेसर मिनाएव ने लिखा है कि "समस्त भारत स्थापत्यकला के प्राचीनतम, पुरातन एवं अद्यतन स्मारकों से ढँका हुआ है। सुन्दरता एवं शैली में मौलिक, अपनी आधारभूत डिजाइन में भव्य एवं निर्माण में याथातथ्यपूर्ण अतीत के ये भव्य अवशेष आधुनिक शोधकर्त्ताओं को जनता के २ हजार वर्षों से ऊपर के सृजनात्मक कार्यों का शानदार इतिहास बताते हैं।" वेदों के बारे में भी आपका गहरा अध्ययन था। वेद के बारे में आपने लिखा है कि "वेदों के अंदर भारतीय-यूरोपीय जाति की आदिमयुगीन स्थिति की पूरी तस्वीर सुरक्षित है। यहाँ हम अगणित अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आँकड़े पाते हैं जिनसे भाषा, धर्म, पुराण एवं संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है।" निस्संदेह प्रोफेसर मिनाएव की कृतियों में उनके साहसपूर्ण वैज्ञानिक प्रयास तथा उनके शोधकार्यों की गहराई प्रकट होती है। इस सिलसिले में उन्नीसवीं शताब्दी में भारत की यात्रा पर आये पी० पाशिनो का नाम विशेषरूप से लिया जा सकता है जो प्राच्य भाषाओं के महान विशेषज्ञ, निःस्वार्थ अन्वेषक एवं उत्साही विद्याविद् थे। इन्होंने पूर्व के अनेक देशों का भ्रमण किया था जिनमें ईरान, बर्मा, चीन एवं भारत शामिल है। भारत में आप तीन बार आये थे।

अठारहवीं शताब्दी के अंत तथा उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अजरबैजान के प्रमुख विद्वान जेनालाब्दयान शिनवानी ने भारत की यात्रा कर यहाँ की पुस्तकों का अध्ययन किया। इसने भारत के बारे में तीन पुस्तकें लिखीं, जिनके नाम इस प्रकार हैं : रियाजुस्सियाहे, हेदाइ-गुस्सिक्स-सियाहे तथा बुस्तानुस-सियाहे। उन्नीसवीं शताब्दी के अजरबैजान के एक अन्य लेखक तथा विचारक एम० आखुनदोव भी भारतीय इतिहास एवं दर्शन से पूर्णतः परिचित थे। भारतीय जनता के प्रति सहानुभूति प्रकट करने के लिए आपने भारत में ब्रिटिश दमन एवं अत्याचार की कठोर शब्दों में भर्त्सना की है। अपनी एक दार्शनिक पुस्तक में आपने लिखा है कि "समस्त संसार जानता है कि अंग्रेज भारत के प्रति किस प्रकार का व्यवहार करते हैं। क्या सुसभ्य अंग्रेज, जिन्होंने कानून बनाए हैं, भारतीयों के प्रति निरंकुश लोगों से अच्छा बर्ताव करते हैं? यदि निरंकुश शासकों से भी इनकी तुलना की जाय तो वे शासक इनसे हजारगुने अच्छे हैं।" अठारहवीं शताब्दी में ही अजरबैजानी भाषा में पंचतंत्र का अनुवाद किया गया। उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक रूसी भाषा में ऋग्वेद, अथर्ववेद की अनेक ऋचाओं तथा मनुस्मृति, रामायण एवं हितोपदेश के अनेक अंशों का अनुवाद रूसी भाषा में हो गया।

रूसी एवं संस्कृत भाषा में साम्य

सोवियत संघ में संस्कृत भाषा के अध्ययन की दिलचस्पी १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही हो गयी थी। इस दिशा में प्रोफेसर मिनाएव, पी० वी० पेत्रोव (१८१४-१८७५), के० ए० कोसाविच आदि अनेक विद्वानों ने कार्य किया है। एम० वाइ० कियागिना का "हिन्दुस्तानी व्याकरण" मास्को में १९२२ में प्रकाशित हुआ। अक्तूबर-क्रांति के पश्चात यह अपने तरह की पहली पुस्तक है। इस दिशा में स्वर्गीय ए० पी० बरान्निकोव ने भी काम किया है, जिन्हें सोवियत संघ में भारतीय भाषाशास्त्र का संस्थापक कहा जाता है। भारतीय भाषाशास्त्र के अध्ययन में सोवियत विद्वान ओबेरमिल्लर, ओल्डेनबुर्ग, श्चेरबात्स्कोई, वी० ई० क्रास्नोदेम्ब्रस्की, वी० एम० बेसकोवनी, एम० एन० सोतनीकोव, ए० एम० ब्रीकोवा आदि कई अन्य विद्वानों ने भी विशेष योग दिया है। बरान्निकोव की पुस्तक "हिन्दुस्तानी" जो १९३४ में प्रकाशित हुई, सोवियत संघ में भारतीय भाषाशास्त्र में रुचि रखनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए उपयोगी है। वी० एस० वोरवियोव-देस्यातोवस्की तथा ए० एस० बारखुदारोव ने भी भारतीय भाषाओं के व्याकरण के बारे में दो पुस्तकें लिखी हैं। सन् १९५७ में रूसी-हिन्दी शब्दकोश का प्रकाशन हुआ है जो दोनों देशों के छात्रों को एक-दूसरे देश की भाषा को सिखाने में सहायता कर रहा है। हाल ही में मास्को के विदेश-भाषा-प्रकाशन-गृह से हिन्दी के माध्यम से रूसी सीखने की एक पुस्तक प्रकाशित हुई है जो अपनी तरह की एकमात्र पुस्तक है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त सोवियत संघ के मास्को, लेनिनग्राद तथा अन्य विश्वविद्यालयों में संस्कृत के साथ-साथ कई अन्य आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन की सुविधा है जहाँ अनेक सोवियत छात्र अध्ययन-कार्य करते हैं। प्राच्य अनुसंधान-प्रतिष्ठान मास्को के हिन्दी प्राध्यापक श्री स० म० दीमशित्स पी-एच० डी० हिन्दी व्याकरण-गवेषणा में उल्लेखनीय कार्य कर रहे हैं।

रूसी तथा संस्कृत भाषा में ध्वनि-साम्य होने के साथ-साथ कई शब्द भी एक-दूसरी भाषा में पाये जाते हैं। जैसे; मात् (माता), ब्रात (भ्राता), न्येबो (नभ), ओगोन (अग्नि), ओखोता (आखेट), देन् (दिन), नोच् (निशा), येस्यात्स (मास), चाय (चाय), म्योद (मधु), गोरा (गिरि) तथा चाशका (चषक)। संस्कृत के वाक्यों तथा रूसी भाषा के वाक्यों में भी अर्थ-साम्य के साथ-साथ ध्वनि-साम्य है। यथा "तत् वश दाम, एतत नश दाम" (रूसी) "तत् वस धाम, एतत् नश धाम" (संस्कृत)। इसी तरह "एति द्वै मये स्येसे, ते उवे त्वये स्येसे" (रूसी) "एते द्वे मे स्वसारौ, ते उभे ते स्वसारौ" (संस्कृत), अर्थात् ये दो मेरी बहने हैं और वे दोनों तुम्हारी बहने हैं। इस उदाहरण से प्रकट है कि रूसी का "एति" शब्द संस्कृत में एते; द्वै, द्वे; मये, मे है तथा स्येसे स्वसारौ है। इसी प्रकार रूसी का उवे संस्कृत के उभे शब्द की छाया है। इस प्रकार दोनों भाषाओं में काफी हद तक ध्वनिसाम्य एवं अर्थसाम्य है। इस दिशा में भारतीय विद्वान श्री दुर्गा प्रसाद अग्रवाल ने विशेष अध्ययन किया है।

वेद का प्रचार

बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ से सोवियत संघ में भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का अध्ययन एवं रूसी में अनुवाद-कार्य व्यापक रूप से प्रारम्भ हुआ। इस समय तक सोवियत संघ के महान लेखक, दार्शनिक एवं मानवतावादी विचारक लियो ताल्स्ताय ने सोवियत संघ में भारतीय साहित्य, दर्शन एवं संस्कृति की जानकारी प्राप्त करने की वहाँ की जनता में अभिरुचि पैदा कर दी। इस महान संत का ध्यान सर्वप्रथम वेदों के ज्ञान-भंडार की ओर आकृष्ट हुआ। वेदों का अध्ययन ताल्स्ताय ने यूरोपीय भाषाओं के माध्यम से नहीं किया वरन् भारत के गुरुकुल काँगड़ी स्थान से उस समय प्रकाशित "वैदिक मैगजीन" के माध्यम से, जो नियमित रूप से भारत से उनके निवास स्थान यास्नाया पोलियाना पहुँचा करती थी, किया। पत्रिका के प्रकाशक तथा सम्पादक प्रोफेसर रामदेव ताल्स्ताय के भारतीय मित्रों में से थे जिनका ताल्स्ताय से पत्र-व्यवहार हुआ करता था।

तालस्ताय ने वेदों में सन्निहित गहन ज्ञान की सराहना करते हुए उन अंशों को विशेष महत्त्व दिया जिनमें नीति-शास्त्र की बातें बतायी गयी हैं। मानवतावादी होने के नाते तालस्ताय ने मानव-प्रेम से संबंधित वेद की बातों को अत्यधिक रुचि के साथ अध्ययन किया तथा उन्हें स्वीकार भी किया। भारतीय पौराणिक ग्रंथों की कलात्मकता तथा काव्य-सौंदर्य ने आपको अधिक प्रभावित किया। वेद तथा उपनिषद् की प्रशंसा में आपने अनेक स्थान पर किसी-न-किसी रूप में जरूर कुछ पंक्तियाँ लिखी हैं। "कला क्या है" शीर्षक निबंध में आपने लिखा है कि "शाक्य मुनि के इतिहास तथा वेद मंत्रों में गहरे विचार प्रकट किये गये हैं और चाहे हम शिक्षित हों अथवा नहीं, ये हमें अब भी प्रभावित करते हैं।" तालस्ताय ने न केवल वेदों का अध्ययन ही किया वरन् उसकी शिक्षाओं का सोवियत संघ में प्रचार भी किया। आपने अपनी कृतियों में अनेक स्थानों पर इसके उद्धरण प्रस्तुत किये हैं। तालस्ताय की कुछ उक्तियाँ इस प्रकार हैं : "इस प्रकार के धन का संग्रह करो जिसे न तो चोर चुरा सके और न जुल्म करनेवाले छीन ही सकें (ज्ञान)। दिन में इस प्रकार सब कुछ करें कि रात की नींद आराम से ले सकें। जो कुछ भी नहीं करता वह केवल बुराई करता है। वास्तव में वही व्यक्ति शक्तिशाली है जो अपने को जीत लेता है।" तालस्ताय की ये उक्तियाँ वेद की शिक्षाओं के अधिक निकट हैं।

रामायण की लोकप्रियता

मर्यादा-पुरुषोत्तम राम का चरित भारतीय जनता के लिए सदैव आदर्श तथा सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान करने वाला रहा है। संस्कृत से लेकर हिन्दी के कवियों ने अपनी रचनाओं में राम के आदर्श चरित के यशोगान किये हैं। इन कवियों ने रामकथा का वर्णन कर न केवल अपने काव्य को सरस एवं जन-मन-रंजन के अनुकूल बनाया बरन् स्वयं भी जनता में लोकप्रिय हो गये। सोवियत संघ में प्रमुख भाषाविद् ए० बरान्निकोव के रूसी भाषा में रामायण का पद्यबद्ध अनुवाद करने से भी पूर्व लियो तालस्ताय ने रामायण की विशेषताओं से सोवियत जनता को अवगत करा दिया था। तालस्ताय ने अपने पत्रों तथा डायरी में रामायण के अनेक उपदेशपूर्ण तथा बुद्धिमत्तापूर्ण कथन उद्धृत किये हैं। उनकी इच्छा थी कि "प्राचीन भारत का साहित्य उसके उच्च कलात्मक रूप में रूसी पाठकों के हृदय तक पहुँचे।" तालस्ताय को रामायण की जानकारी उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में यूरोप की भाषाओं में प्रकाशित रामायण के अनुवादों से हुई।

भारत तथा सोवियत संघ के सांस्कृतिक संबंधों को बढ़ाने में रामायण के रूसी अनुवाद ने मुख्य योग दिया है। सुप्रसिद्ध सोवियत भारत-विद्याविद् अकादमीशियन ए० बरान्निकोव (१८९०-१९५२) ने अपने १० वर्ष से अधिक के सतत परिश्रम के पश्चात् स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित तुलसीकृत रामायण का रूसी भाषा में पद्यबद्ध अनुवाद किया जिसे सोवियत संघ की विज्ञान-अकादमी ने सन् १९४८ में प्रकाशित किया। रामायण के रूसी अनुवाद-संस्करण की भूमिका में बरान्निकोव ने लिखा है कि "मैंने जिस पुस्तक पर वर्षों घोर परिश्रम किया था वह अब इतिहास के उस अत्यन्त महत्वपूर्ण काल में प्रकाशित हो रही है जब सोवियत संघ और भारत के मध्य कूटनीतिक संबंध स्थापित हो रहे हैं। मुझे आशा है कि यह पुस्तक हम दोनों देशों को सांस्कृतिक दृष्टि से एक-दूसरे के अधिकाधिक समीप लायेगी।" बरान्निकोव ने इस ग्रंथ के अनुवाद के लिए मुख्यरूप से इलाहाबाद से सन् १९२२ में प्रकाशित रामायण का वह संस्करण लिया था जिसे स्वर्गीय श्यामसुन्दरदास ने अपनी टिप्पणियों सहित सम्पादित किया था। लेकिन बरान्निकोव ने स्वतः लिखा है कि "अनुवाद करते समय बहुत से रामायण के अन्य भारतीय संस्करणों की, जो टिप्पणी के साथ प्रकाशित हुए थे, सहायता ली गयी थी।" बरान्निकोव का यह कहना है कि "अनुवाद में बिलकुल मूल-ग्रंथ की शैली तथा छन्द-रचना का सा आनंद आता है।" अनुवाद को रूसी पाठकों को समझाने के लिए यथास्थान टिप्पणियाँ दी गयी हैं। अनुवाद अधिकाधिक ठीक हो इसके लिए बरान्निकोव ने भारतीय काव्य-शास्त्र के समस्त रूपक अलंकारों को भी अनुवाद में अक्षुण्ण रखा है और भाव एवं अर्थ में तनिक भी अन्तर नहीं आने दिया है।

अनुवाद-कार्य को अपने हाथ में लेने के साथ बरान्निकोव ने गोस्वामी तुलसीदास के युग का विशाल एवं सर्वांगीण अध्ययन एवं मनन किया है। बरान्निकोव ने सन् १९४६ तथा १९४७ में रामायण संबंधी अपनी लेखमालाएँ सोवियत संघ की विभिन्न वैज्ञानिक पत्रिकाओं में प्रकाशित करायीं। आपके लेखों में, "तुलसीदास के दार्शनिक विचार" "रामायण के रचयिता का जीवन-दर्शन", "भारतीय कविता की अभिव्यक्ति के माध्यम" का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है।

बरान्निकोव द्वारा रामायण के "इस अनुवाद ने सोवियत पाठकों के एक बड़े भाग को भारतीय अमर साहित्य की अपूर्व एवं अविस्मरणीय रचना से परिचित करा दिया" ऐसा सोवियत लेखक जी० जी० कोतोव्स्की ने अपने एक लेख में उल्लेख किया है। रामायण के अनुवाद के प्रकाशन से सोवियत इतिहासवेत्ता भारतीय दर्शन एवं संस्कृति के अधिकाधिक अध्ययन एवं अनुशीलन के लिए प्रवृत्त हुए हैं। बरान्निकोव ने रामायण का रूसी भाषा में अनुवाद कर एक ओर जहाँ सोवियत जनता के हृदय में भारतीय साहित्य एवं कला के प्रति गहरा अनुराग पैदा किया है वहीं दूसरी ओर भारत एवं रूस के सांस्कृतिक संबंधों में भी अभिवृद्धि करने की दिशा में मुख्य योग दिया है। इस अनुवाद के कारण भारतीय जनता बरान्निकोव के प्रति अत्यधिक ऋणी रहेगी क्योंकि उन्होंने सोवियत जनता को भारतीय जनता के एक अत्यधिक प्रिय ग्रंथ से परिचित कराया है जिसका भारत की प्राचीन संस्कृति, सभ्यता एवं विचारधारा से अटूट संबंध रहा है।

मुंशी प्रेमचन्द की कृतियों का प्रचार

सोवियत संघ में अक्तूबर की महान् क्रांति के पश्चात् भारतीय साहित्य का व्यापक रूप से अध्ययन प्रारम्भ हुआ। इस समय तक सोवियत संघ में मुख्यत: भारतीय संस्कृत साहित्य के उत्कृष्ट ग्रंथों का अनुवाद एवं अध्ययन-कार्य होता रहा, लेकिन अक्तूबर क्रांति के बाद लेनिन के आदेशों पर सोवियत संघ में बड़े-बड़े अनुसंधान-संस्थान स्थापित हुए जिन्होंने सोवियत संघ में प्राच्य-विद्या के अध्ययन एवं अनुसंधान की महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

लेनिन के आदेश से ही सर्वप्रथम सन् १९२० में मास्को तथा पेट्रोग्राद (वर्त्तमान लेनिनग्राद) में आधुनिक प्राच्य-भाषा-संस्थान कायम हुआ जिसका उद्देश्य प्राच्य भाषाओं का अध्ययन एवं अनुसंधान था।

सोवियत संघ की जनता को प्रेमचन्द के बारे में उस समय जानकारी हुई जबकि वहाँ की यूक्रेनी पत्रिका "चेखोनी श्लाख" में सन् १९२६ के प्रारम्भ में प्रेमचन्द की कहानी "सौत" प्रकाशित हुई। इस कहानी का अनुवाद सोवियत विद्याविद् स्वर्गीय बरान्निकोव ने किया था। इस कहानी के प्रकाशन के बाद सोवियत जनता को धीरे-धीरे प्रेमचन्द की अन्य कृतियों की जानकारी होने लगी। सोवियत जनता की दृष्टि में मुंशी प्रेमचन्द अपने देश की जनता के सच्चे सुपूत थे जिन्होंने स्वतः औपनिवेशिक दमन बरदाश्त किया और अपनी कृतियों में भारत की सरल प्रकृति वाली जनता, कृषक-वर्ग तथा प्रगतिशील वर्ग को स्थान दिया। "इस महान् लेखक की कृतियों ने केवल अपने उत्कृष्ट कला-सौंदर्य के कारण सोवियत जनता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट नहीं किया वरन् उनमें उत्पन्न की गयी समस्याओं तथा भविष्य के प्रति जनता के दृढ़ विश्वास के कारण भी किया।"

भारत की स्वाधीनता के पश्चात प्रेमचन्द की कृतियों का विशेष रूप से अध्ययन, चिन्तन एवं मनन प्रारम्भ हुआ जबकि भारत एवं सोवियत संघ के बीच सांस्कृतिक संबंधों के आदान-प्रदान का व्यापक रूप से मार्ग प्रशस्त हुआ। इस समय से प्रेमचन्द की कहानियों का सोवियत संघ की विभिन्न भाषाओं की पत्रिकाओं में प्रकाशन प्रारम्भ होने लगा। इसी समय प्रेमचन्द के कहानी-संग्रह "ठाकुर का कुआँ" का रूसी में प्रकाशन हुआ। सोवियत संघ में प्रेमचन्द की कहानियों एवं उपन्यासों का आलोचनात्मक अध्ययन ग्लादीशेव, लेनिनग्राद के भाषाविद विक्टर बालिन, प्रसिद्ध सोवियत प्राच्य-विद्याविद् वासली ब्रेस्कोनवी, कौर्नेली जेलिन्स्की, बी० नोविकोवा तथा ई० चेलीशेव आदि ने किया है। इन्होंने प्रेमचन्द की कृतियों के माध्यम से भारतीय ग्रामीण जनता की परिस्थिति की भी वास्तविक जानकारी प्राप्त की। इन सोवियत शिक्षाविदों ने

अपने लेखों द्वारा सोवियत जनता को प्रेमचन्द की उत्कृष्ट कृतियों से अवगत कराया।

सोवियत संघ में प्रेमचन्द के उपन्यास "गोदान" के रूसी अनुवाद का प्रकाशन प्रेमचन्द की २० वीं पुण्य-तिथि के अवसर पर ८ अक्टूबर सन् १९५६ में सरकारी साहित्य-प्रकाशन-गृह की ओर से किया गया। इस उपन्यास के प्रति सोवियत जनता की इतनी अधिक रुचि हुई कि इसकी ९० हजार प्रतियाँ कुछ ही दिनों में बिक गयीं। लेनिनग्राद के प्राच्य-विद्याविदों ने मुंशी प्रेमचन्द की कई कृतियों का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया। प्रेमचन्द के उपन्यास "प्रेमाश्रम" का अनुवाद वासली ब्रेसक्रोनवी ने किया था जो प्रकाशित भी हो गया है। सोवियत संघ में मुंशी प्रेमचन्द की चुनी हुई कृतियों का रूसी अनुवाद ४ भागों में सरकारी साहित्य-प्रकाशन-गृह से हो रहा है।

मुंशी प्रेमचन्द की स्मृति तथा उनकी कृतियों की उत्कृष्टता के प्रति अनेक सोवियत लेखकों एवं साहित्यकारों ने अपने उद्गार प्रकट किये हैं। सोवियत विज्ञान-अकादमी के सदस्य ए० गुबर ने मास्को में आयोजित प्रेमचन्द की २० वीं पुण्यतिथि पर भाषण करते हुए ८ अक्तूबर सन् १९५६ में कहा था कि "आज से २० वर्ष पूर्व सुप्रसिद्ध भारतीय लेखक प्रेमचन्द हम लोगों के बीच से उठ गये। आज से २० वर्ष पूर्व इस महान् पुरुष की हृदय-गति रुक गयी लेकिन उनकी स्मृति उन सभी लोगों के हृदय में बनी रहेगी जो सामान्य जनता की स्वतंत्रता एवं प्रसन्नता की कामना करते हैं।" इसी अवसर पर सुप्रसिद्ध सोवियत शिक्षाविद वी० लिपरोवस्की ने कहा था कि "लेखक (प्रेमचन्द) का हृदय अपने देश के प्रति अगाध प्रेम से परिपूर्ण था और वह अपने देश को स्वतंत्र देखना चाहते थे। प्रेमचन्द भारत की सामान्य जनता के जीवन से सुपरिचित थे और उन्होंने जनता के सुख-दुःख में अपना भी सुख-दुःख अनुभव किया। उनकी कृतियों में यही सबसे अधिक अनमोल वस्तु थी।"

प्रोफेसर विक्टर वालिन ने, जो सोवियत संघ में प्रेमचन्द की कृतियों के विशेषज्ञ समझे जाते हैं, हाल ही में "उपन्यासकार प्रेमचन्द" विषय पर एक निबंध तैयार किया है जिसमें उन्होंने प्रेमचन्द को "हिन्दी साहित्य में यथार्थवाद के प्रमुख प्रचारक" की संज्ञा दी है। वालिन ने बताया है कि प्रेमचन्द का प्रथम कहानी-संग्रह सन् १९०८ में प्रकाशित हुआ था जिसे ब्रिटिश उपनिवेशवादियों ने नष्ट कर दिया। वालिन को अपनी भारत-यात्रा के समय उस कहानी-पुस्तक की एक प्रति मिली जिससे उन्हें भारतीय लेखक के जीवन एवं उसकी विचार-धारा को समझने में अधिक सहायता मिली। प्रेमचन्द की कृतियों का यूक्रेनी, बेलोरूसी, तुर्कमेनियन, उजबेक, एस्टोनियन आदि में अनुवाद हो चुका है।

सोवियत संघ के विद्वान तथा साहित्य-समीक्षक कौर्नेली जेलिंस्की ने प्रेमचन्द की ८० वीं जन्मतिथि पर २९ जुलाई १९६० को अपनी श्रद्धांजलि प्रस्तुत करते हुए कहा था कि "प्रेमचन्द महान मानवतावादी थे। वे भारत में सामान्य जन और श्रमिक से संबंधित साहित्यिक विचार-धारा के संस्थापक थे। सोवियत पाठकों में प्रेमचन्द की लोकप्रियता का एक यह भी कारण है।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुंशी प्रेमचन्द एवं उनकी उत्कृष्ट कृतियों के प्रति सोवियत जनता की कितनी अभिरुचि है। भारतीय जनता के समान ही सोवियत जनता में भी मुंशी प्रेमचन्द की कृतियों का लोकप्रिय होना दोनों देशों की जनता की समान विचारधारा एवं आचार-व्यवहार का द्योतक है।

अन्य हिन्दी लेखकों की कृतियों के अनुवाद

गोस्वामी तुलसीदास के रामायण तथा मुंशी प्रेमचन्द की कृतियों के साथ सोवियत संघ में हिन्दी के अन्य लेखकों, कवियों, कहानीकारों एवं उपन्यासकारों की कृतियों के भी रूसी भाषा में अनुवाद हो रहे हैं। हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक लल्लूलाल जी के "प्रेम सागर" तथा सैयद हैदरबख्श की कृति "तोता-मैना की कहानी" का अनुवाद बहुत पहले हो गया था। मुल्कराज आनन्द की कृति "सात वर्ष" एवं "कुली" तथा कृष्णचन्द्र एवं ख्वाजा अहमद अब्बास की कहानियों का रूसी में अनुवाद हो गया है। आधुनिक हिन्दी साहित्य के कतिपय प्रसिद्ध

कवियों, जिनमें पंडित सुमित्रानन्दन पंत, श्री सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला', श्री उपेन्द्र नाथ 'अश्क', श्रीमती महादेवी वर्मा एवं डा० रामकुमार वर्मा भी शामिल हैं, की कुछ चुनी हुई कविताओं के रूसी अनुवाद का संकलन हाल में प्रकाशित हुआ है। इन कवियों ने अपनी कविताओं में मानवतावाद तथा श्रमिक एवं कृषक वर्ग के हर्ष-विषादों का वर्णन किया है। श्री उपेन्द्रनाथ 'अश्क' के उपन्यास "गिरती दीवारें" का रूसी अनुवाद, जिसे स्वर्गीय ए० बरान्निकोव के पुत्र ने किया है, प्रकाशित हो गया है। 'अश्क' जी का नाटक 'अलग अलग रास्ते' तथा यशपाल के उपन्यास 'दिव्या' का रूसी अनुवाद भी प्रकाशित हो गया है। इस नाटक को सन् १९५७ में टेलीविजन पर अभिनीत किया गया। अभी हाल में मास्को के तरुण-प्रहरी-प्रकाशन-गृह ने हिन्दी के उपन्यासकार श्री फणीश्वर-नाथ रेणु के उपन्यास "मैला आँचल" का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया है। इसका अनुवाद वा० चनीशेव ने किया है। इस उपन्यास की ७० हजार प्रतियाँ प्रकाशित की गयी हैं। अजरबैजान की भाषा में श्री ख्वाजा अहमद अब्बास तथा कृष्णचन्द्र की कई कहानियों का अनुवाद हो गया है। रूसी में "सिंहासन बतीसी" का हाल में प्रथम अनुवाद प्रकाशित हुआ है। इसका प्रकाशन मास्को के प्राच्य-प्रकाशन-गृह से किया गया है। सोवियत विशेषज्ञों के अनुसार यह पुस्तक केवल विद्वानों के ही नहीं वरन् सामान्य सोवियत पाठकों के लिए भी रुचिकर होगी। इसकी ५० हजार प्रतियाँ पहले-पहल छापी गयी हैं। कामता प्रसाद गुरु के व्याकरण का अनुवाद भी रूसी में हो गया है।

उर्दू के लेखक

उर्दू के कवियों में मीर तकी मीर, नजीर अकबरावादी, मिर्जा गालिब, अल्ताफ हुसेन हाली तथा मुहम्मद इकबाल आदि सोवियत संघ में अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। वर्तमान लेखकों में अली सरदार जाफरी, कृष्णचन्द्र, ख्वाजा अहमद अब्बास रूस की जनता में अधिक प्रिय हैं। इन उर्दू लेखकों की कतिपय कृतियों का भी रूसी भाषाओं में अनुवाद हो गया है। इन्होंने अपनी कृतियों में स्वतंत्रता, न्याय, समानता, मानवतावाद तथा दमन के विरुद्ध आवाज उठाने की विचारधारा का समावेश किया है। इन सभी लेखकों में मुहम्मद इकबाल अधिक प्रसिद्ध हैं जो न केवल अपने युग के सुप्रसिद्ध शायर थे वरन् एक विचारक भी थे। इन्होंने अपनी कृतियों में लोकतंत्री विचारों को सर्वप्रथम स्थान दिया। इकबाल ने अपनी रचनाओं में भारतीय राष्ट्रीय स्वातंत्र्य-आन्दोलन का भी स्पष्ट शब्दों में समर्थन किया और इनकी रचनाओं से स्वातंत्र्य-आन्दोलन को एक विशेष बल मिला। इकबाल ही प्रथम भारतीय लेखक हैं जिन्होंने सन् १९१७ की महान अक्तूबर क्रान्ति को समर्थन प्रदान किया था। इकबाल की "हिज्र-ए-राख" कविता इस बात का जीवित प्रमाण है। इकबाल की चुनी हुई कविताओं के रूसी अनुवाद की एक पुस्तिका सन् १९५८ में रूस में प्रकाशित की गयी।

सोवियत जनता की दृष्टि में ख्वाजा अहमद अब्बास, अली सरदार जाफरी एवं कृष्णचन्द्र ऐसे लेखक एवं विचारक हैं जिन्होंने अपनी कृतियों में भारत की सामान्य जनता के जीवन एवं आचार-व्यवहार की सच्ची तस्वीर अंकित की है। इनकी कई कृतियों का रूसी भाषा में अनुवाद हो गया है। कृष्णचन्द्र की कहानी "कालू भंगी" तथा "बरामदा" रूसियों में अधिक लोकप्रिय है।

टैगौर की कृतियों के प्रति प्रेम

दिसम्बर १९२६ में अपनी यूरोप यात्रा के समय रवीन्द्रनाथ टैगोर को सोवियत संस्कृति-सम्पर्क-संघ से सोवियत संघ की यात्रा करने का निमंत्रण प्राप्त हुआ था। निमंत्रण-पत्र में कहा गया था कि "संसार में सोवियत संघ ही वर्तमान समय में एक ऐसा देश है जहाँ एक ऐसी समाज-व्यवस्था का निर्माण हो रहा है जिसमें प्रयेक व्यक्ति खुशहाल रह सके और कोई भी व्यक्ति उपेक्षित न किया जाय। हम अब भी अपने आदर्शों की पूर्त्ति में काफी आगे हैं लेकिन हमने उस दिशा में प्रथम तथा अत्यधिक कठिन कदम उठाया है। हमलोगों को उस दिशा में कुछ सफलताएँ भी मिली हैं। यद्यपि हमारे समक्ष अविश्वसनीय कठिनाइयाँ हैं लेकिन हम न केवल एक नवीन अर्थ-व्यवस्था तथा एक नवीन नीति का निर्माण कर रहे हैं वरन् एक नवीन संस्कृति तथा एक नव-साहित्य का भी सृजन कर रहे हैं। हम आशा

करते हैं कि आप इस निर्माण-कार्य की प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करने में अभिरुचि रखते होंगे।" इस निमंत्रण को प्राप्त कर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपने उत्तर में लिखा था कि "जिस समय मैंने रूस के समृद्ध साहित्य का अध्ययन किया था उसी समय से रूस की सराहना करने लगा। रूस के इस निमंत्रण को प्राप्त कर मेरा हृदय रूस की यात्रा करने के लिए उत्सुक है।" लेकिन स्वास्थ्य की गड़बड़ी से तब आपकी यह इच्छा शीघ्र पूरी न हो सकी!

अंत में रवीन्द्रनाथ टैगोर की रूस जाने की इच्छा ११ सितम्बर सन् १९३० में सफल हो सकी जबकि वे मास्को पहुँचे। रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ उनके भतीजे सौमेन्द्रनाथ टैगोर, रवि बाबू के दो निजी सचिव आर्यम् विलियम्स तथा अमिय चक्रवर्ती, उनके डाक्टर हैरी टिम्बर और सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टाइन की पुत्री मार्गो आइन्स्टाइन भी थीं। रवि बाबू ने सोवियत संघ में अपने २ सप्ताह का समय व्यतीत किया और विभिन्न स्थानों की यात्रा कर रूसी किसानों, मजदूरों, लेखकों, वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों, अभिनेताओं एवं छात्रों से भेंट की। १२ सितम्बर १९३० को सोवियत लेखक संघ के मास्को क्लब में भाषण करते हुए रवि बाबू ने बताया कि "मुझे रूसी संस्कृति के प्रतिनिधियों से भेंट कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई तथा मैं सोवियत संघ यह जानने के लिए आया हूँ कि यहाँ संस्कृति संबंधी समस्याओं को कैसे हल किया जा रहा है।" आपने यह भी कहा था कि "मुझे इस बात से प्रसन्नता हुई है कि प्रथम बार आपने समस्त जनता को शिक्षा प्राप्त करने का सुयोग दिया है और स्कूलों, नाट्यशालाओं और संग्रहालयों के द्वार उनके लिए पूरी तरह खोल दिये हैं। मैं उनके साथ जुड़ी हुई स्वतंत्र मानव-सृष्टि का स्वप्न देखता हूँ। आज की सभ्यता रोगों और अस्वाभाविकताओं से पीड़ित है। उसके उपचार की जरूरत है। मेरा पक्का विश्वास है कि आपका विचार मेरे स्वप्न से बहुत मिलता जुलता है। सृजनात्मक व्यक्तित्व का निर्माण करते हुए आप वह काम कर रहे हैं जो मैं व्यक्ति के रूप में नहीं कर सका। यह मानवता के प्रति आपकी अकृत सेवा है।" लेखक-संघ की ओर से सोवियत सांस्कृतिक संपर्क-संघ के अध्यक्ष प्रोफेसर एफ० एन० पेत्रोव ने कहा कि "हम अपने बीच महान् लेखक एवं दार्शनिक रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्वागत करने में प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। सोवियत संघ में टैगोर न केवल एक लेखक के रूप में प्रसिद्ध हैं वरन् वे अपने देश में सार्वजनिक शिक्षा के क्षेत्र में उत्कृष्ट सेवा करने वाले के रूप में भी प्रसिद्ध हैं।"

मास्को में १३ सितम्बर १९३० को रवि बाबू के चित्रों की प्रदर्शनी आयोजित की गयी थी। चित्रों को देखकर एक सोवियत आलोचक ने यह विचार प्रकट किया था कि "आपकी कृति में जो असाधारण वस्तु है वह चित्रों में सन्निहित जिन्दादिली की भावना है। यदि आपका कार्यक्षेत्र चित्रकला ही होता तो भी इसमें आपको प्रसिद्धि प्राप्त हुई होती।......आप उच्च कोटि के कलाकार हैं।" प्रदर्शनी में टैगोर के २०० चित्र प्रदर्शित किये गये थे जो अत्यधिक सफल रहे। प्रतिदिन १००० से अधिक व्यक्ति प्रदर्शनी देखने के लिए प्रदर्शनी-भवन आया करते थे। सोवियत कलाकारों ने अपनी कृतज्ञता व्यक्त करने के रूप में रवीन्द्रनाथ टैगोर को उस समय लियो ताल्स्ताय की संगमरमर की एक मूर्ति उपहार में भेंट की थी। टैगोर की रूस यात्रा का वहाँ के प्रत्येक वर्ग के लोगों, साहित्यकारों, चित्रकारों, राजनेताओं, श्रमिकों आदि ने स्वागत किया था। मास्को के सुप्रसिद्ध दैनिक पत्र इजेवेस्ता ने १६ सितम्बर १९३० में टैगोर की प्रशंसा में ये शब्द लिखे थे "सोवियत संघ की जनता आज अपने सम्मानित अतिथि ६० वर्षीय भारतीय लेखक रवीन्द्रनाथ टैगोर का स्वागत करती है। सुदूर देश से हमारी भूमि पर आये इस अद्भुत अतिथि को, जो अधिक उम्र एवं कमजोर स्वास्थ्य तथा लम्बी दूरी तय करने में उत्पन्न परेशानी के बावजूद निर्भय है, अपनी आँखों से उन नयी परिस्थितियों में जो अभी तक संसार को मालूम नहीं है, नवीन व्यक्ति की प्रगति की जानकारी प्राप्त करने की उत्कट इच्छा है।" रवि बाबू ने २६ सितम्बर १९३० को सोवियत भूमि से विदा लिया और अपनी सुखद स्मृति को वे लाखों सोवियत जनता के बीच छोड़ आये।

सोवियत जनता को रवि बाबू की कृतियों का सर्वप्रथम ज्ञान उस समय हुआ जबकि सन् १९१७ में उनकी कृति 'गार्डेनर' प्रकाशित हुई। इसके पश्चात् 'गीतांजलि'

एवं 'नैवेद्य' कविताओं का संग्रह सन् १६१८ में रूसी में प्रकाशित हुआ। इनकी ये कृतियाँ सोवियत संघ की अक्तूबर क्रांति के ठीक बाद प्रकाशित हुई थीं। सोवियत संघ में रवि बाबू की कृतियों का समालोचनात्मक अध्ययन भी इसके बाद प्रारम्भ हो गया। सन् १६२३ में सोवियत संघ के सुप्रसिद्ध साहित्य-आलोचक ए० वी० लूनाचार्स्की ने रवीन्द्रनाथ की रचनाओं के बारे में लिखा था कि "रवीन्द्र नाथ की कृतियाँ वर्ण-विचित्रता, सूक्ष्म आत्मिक भावावेश, यथार्थतः उदात्त विचारों से ऐसी ओत-प्रोत हैं कि वे विश्व-संस्कृति-भंडार का अंग बन गयी हैं।" रवि बाबू की प्रत्यावर्त्तन, उत्तराधिकार, पोस्टमास्टर, अनावृत रहस्य, शुभरात्रि आदि कतिपय चुनी हुई कहानियों के बृहत रूसी संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। रोमांरोलां की महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित आपकी 'चतुरंग' नामक कृति सोवियत भाषा में प्रकाशित हुई है जो अत्यधिक लोकप्रिय है। रवि ठाकुर के राजा, राजर्षि, विसर्जन, राजा रानी, चित्रा तथा अन्य नाटक सोवियत भाषाओं में छप चुके हैं। इनमें से चित्रा का कई बार अभिनय भी हो चुका है, जिसे सोवियत जनता ने अधिक रुचि के साथ देखा है। टैगोर के प्रसिद्ध उपन्यास नौकाडूबी का रूसी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। रवि बाबू के लेख एवं पत्र उनकी विख्यात जीवन-स्मृति तथा 'मेरा जीवन' आदि कृतियाँ रूसी में प्रकाशित हो गयी हैं। मूल बंगला से अनूदित रवि बाबू की कहानियों का एक संग्रह भी रूसी में प्रकाशित हुआ है जिसमें इनकी हिसाब-निकास, प्रत्यावर्त्तन, मुक्ति, उत्तराधिकार, प्रायश्चित्त तथा काबुलीवाला आदि कहानियाँ हैं। सोवियत जनता में रविबाबू की बढ़ती हुई लोकप्रियता को देखते हुए रूसी कथा-साहित्य का राज्यीय प्रकाशन-गृह रवि बाबू की संकलित कृतियों को आठ खंडों में प्रकाशित कर रहा है। इन पुस्तकों में संकलित कृतियाँ सीधे बंगला से अनूदित हो रही हैं ताकि अनुवाद मूल के अधिक निकट हो सके। इन पुस्तकों का सम्पादन वी० नौवीकोव कर रहे हैं। रूसी विद्वान वाई० चेलीशेव ने भी रवि बाबू की कृतियों का अध्ययन किया है। सोवियत जातियों की १५ भाषाओं में आपकी अधिकांश कृतियों का अनुवाद हो चुका है।

सोवियत जनता की दृष्टि में रवीन्द्रनाथ टैगोर पूर्व के एक महान् लेखक हैं जिन्होंने अपने देश की जनता की संस्कृति एवं कला के विकास तथा उसमें नव-चेतना का विकास करने में महान् योग दिया है। सोवियत-भारतविद वाइ० चेलीशेव ने टैगोर की कृतियों के बारे में लिखा है कि "टैगोर की साहित्यिक विरासत, उनकी सुन्दर पौराणिक कविताएँ एवं उनकी कृतियाँ भारतीय सामाजिक जीवन का विश्वकोष हैं। इसमें भारत के हाल के इतिहास के अविस्मरणीय दृश्य अंकित हैं जिनमें राष्ट्रीय नवचेतना तथा औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध देशव्यापी राष्ट्रीय मुक्ति-आन्दोलन का विकास प्रस्तुत किया गया है। टैगोर हमलोगों के लिए इसलिए प्रिय हैं कि उनमें अपनी मातृभूमि के लिए अगाध प्रेम है जो पृथ्वी की समस्त जनता के प्रति सम्मान तथा आदर-भाव से, दृढ़ता से आबद्ध है। यह सोवियत जनता के लिए भी एक बहुत बड़ी बात है, क्योंकि सोवियत समाज-व्यवस्था के विकास में अंतर्राष्ट्रीयतावाद एवं राष्ट्रीयतावाद का समन्वय एक प्रमुख शक्ति है।"

इस प्रकार इस महान् भारतीय लेखक और सोवियत संघ के मित्र ने अपनी उत्कृष्ट कृतियों से सोवियत जनता को विमोहित कर लिया है। इस लेखक को सोवियत संघ की यात्रा पर गये लगभग ३० वर्ष हो चुके हैं और उस समय से लेकर आजतक भारत तथा सोवियत संघ दोनों में ही महान परिवर्त्तन हो चुके हैं लेकिन इसने स्वदेशवासियों एवं समस्त संसार के समक्ष आज से ३० वर्ष पूर्व जिस सत्य का उद्घाटन किया था, वह दोनों देशों की जनता के बीच की मैत्री की एक अविस्मरणीय कड़ी है। टैगोर उन लोगों में से थे जिन्होंने भारतीय और सोवियत जनगण की मित्रता और एक-दूसरे को को समझने की भावना की आधार-शिला रखी थी। इसमें कोई भी संदेह नहीं कि भारतीय स्वाधीनता के बाद दोनों देशों में बढ़ते हुए आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक विचारों के आदान-प्रदान के माध्यम से भारत एवं सोवियत जनता की दृढ़ मैत्री से संबंधित महाकवि का वह स्वप्न साकार होकर रहेगा, जिसे उन्होंने आज से ३० वर्ष पूर्व अपनी सोवियत यात्रा के रूप में देखा था।

शरत बाबू की लोकप्रियता

बंगला भाषा के अन्य साहित्यकारों में शरत बाबू सोवियत संघ में अधिक प्रिय हैं। इनकी रचनाओं को सोवियत संघ में अधिक लोकप्रियता प्राप्त है। शरत बाबू ने कई उपन्यास और छोटी कहानियाँ लिखीं तथा अत्यन्त निपुणता और सादगी के साथ इनमें अपने युग के बंगाल के दैन्य जीवन का, जिसमें हिन्दू परिवार की समस्याएँ, भारतीय स्त्रियों की स्थिति तथा समाज के उपेक्षित वर्ग की स्थिति की समस्याएँ शामिल हैं, चित्रण किया है। सोवियत पाठकों की दृष्टि में शरतचन्द्र की रचनाओं में जनसाधारण के प्रति अगाध प्रेम तथा गंभीर मानवतावाद के दर्शन होते हैं। उनमें न्याय की उपलब्धि तथा व्यक्ति की मुक्ति के लिए सभी प्रकार की बुराई और पूर्वग्रह के विरुद्ध स्फूर्तिमय संघर्ष के दर्शन होते हैं। शरतचन्द्र की कृति "श्रीकान्त", "गृहदाह" (उपन्यास) तथा महेश, रामेर सुमति, बिन्दुर छेले तथा आँधारे आलो, नामक कहानियों का मूल बंगला से रूसी में अनुवाद हो चुका है। ये रचनाएँ सोवियत जनता में अधिक लोकप्रिय हैं।

रविबाबू एवं शरतचन्द्र के अतिरिक्त बंकिमचन्द्र चटर्जी, भवानी भट्टाचार्य, हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय, बरेन बसु, प्रेमन्द्र मित्र आदि अन्य बंगाली लेखकों की कृतियों का भी सोवियत संघ की भाषा में अनुवाद हुआ है जो अधिक रुचि के साथ पढ़ी जाती हैं। बंगला के साहित्यकारों की कृतियों के अध्ययन की ओर सोवियत जनता ने विशेष दिलचस्पी ली है। वे मूल बंगला में लिखी गयी रचनाओं को पढ़ना चाहते हैं इसीलिए वे बंगला भाषा भी सीख रहे हैं। अभी हाल में बंगाली-रूसी शब्दकोश प्रकाशित किया गया है जिसमें ३८००० शब्द हैं। ७००० शब्दों का एक पाकेट बुक शब्दकोश भी तैयार किया गया है ताकि बंगला को सरलता से समझ सकने में रूसियों को सहायता मिले। रूसी में बंगाली कवियों की कुछ चुनी हुई कविताओं का संकलन प्रकाशित किया गया है जिसमें १६वीं तथा २० वीं शताब्दी के बंगाली लेखकों की ३० कविताएँ हैं। उन्नीसवीं शताब्दी के बंगाली गद्य-लेखकों की कृतियों का भी एक संकलन लेनिनग्राद विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है जिसमें प्रियम्वद मित्र, अक्षय कुमार दत्त, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय, रामकृष्ण मुखोपाध्याय, अक्षय चन्द्र सरकार, रवीन्द्रनाथ टैगोर, मधूसूदन दत्त, दीनबन्धु मित्र, कालीप्रसन्न सिन्हा तथा तारकनाथ गंगोपाध्याय जैसे कुछ उत्कृष्ट लेखकों की कृतियों के उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं।

हिन्दी तथा बंगला के अतिरिक्त तमिल, तेलगु, गुजराती एवं पंजाबी आदि अन्य भारतीय भाषाओं के उत्कृष्ट लेखकों की कृतियों के भी रूसी भाषाओं में अनुवाद हुए हैं। इन लेखकों में मीर अम्मन, वल्लाथोल, बी० गार्गी, पन्नाशाह एवं भारती के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। दक्षिण भारत के अमर साहित्यकारों द्वारा अपनी कृतियों में प्रस्तुत अनेकानेक पात्र सोवियत जनता में भी इस तरह प्रिय हैं जैसे मालूम होता है कि वे उन्हीं के बीच के हों।

सोवियत विद्वानों ने आधुनिक भारतीय साहित्य का गहरा अध्ययन किया है, जो रूसी भाषा में अनूदित भारतीयों की कृतियों के उनके आलोचनात्मक अध्ययन से प्रकट है। गत अगस्त १६६० में मास्को में हुए प्राच्यविद्याविदों की कांग्रेस में भारतीय साहित्यिकों की कृतियों के बारे में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए सोवियत प्राच्यविद्याविद चेलीशेव ने कहा था कि "भारत के कवि अपने व्यक्तिगत अनुभवों और भावनाओं को जनता के जीवन के साथ अधिकाधिक जोड़ते हैं। जनता को उसी शक्ति से परिचित कराने का प्रयत्न करते हैं, उसे अधिकारों और बेहतर जीवन के लिए संघर्ष का मार्ग बताते हैं। शांति और मित्रता, संसार के जनगण में विश्वव्यापी भाईचारा, हिन्सा और शोषण की विभीषिकाओं के विरुद्ध प्रतिवाद, उपनिवेशवाद के पश्चात-प्रभावों, तिमिरवाद और अज्ञान से भारतीय जनता की मुक्ति में सारी चीजें जोकि समकालीन भारत की जनता के मस्तिष्क में सर्वोपरि हैं, बहुसंख्यक समकालीन भारतीय कवियों की सृजनात्मक साधना के मुख्यस्वर और आदर्श हैं।" इस प्रकार स्पष्ट है कि सोवियत लेखकों एवं विद्वानों ने भारतीय साहित्य का आलोचनात्मक दृष्टि से अध्ययन किया है और उसकी मूल भावना तक पहुँचने की कोशिश की है।

अन्य भारतीय लेखकों की कृतियों का अनुवाद

साहित्यिकों के अतिरिक्त भारत के कई अन्य प्रतिष्ठित व्यक्तियों की रचनाओं के भी अनुवाद रूसी में हो चुके हैं। भारतीय संस्कृति, अर्थतंत्र एवं इतिहास की अनेक पुस्तकें रूसी में अनूदित हो चुकी हैं। श्री जवाहरलाल की कृति "भारत की खोज", सरदार वल्लभ भाई पटेल की पुस्तक "भारत और पाकिस्तान के कृषि-मजदूर" का अनुवाद हो चुका है जिनका सोवियत पाठक अधिक रुचि से अध्ययन करते हैं। सरदार पटेल की पुस्तक इस कारण आकर्षक है कि इसमें भारत में ग्राम्य सर्वहारा के संगठन का महत्वपूर्ण, गवेषणामूलक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इसमें ग्राम्य समाज के संबंध में मनोरंजक तथ्य और आँकड़े दिये गये हैं। प्रसिद्ध जर्मन अर्थशास्त्री ए० गुतफेन्द लिखित "भारत के अर्थतंत्र का ढाँचा" भी जर्मन से अनूदित होकर रूसी में प्रकाशित किया गया है। कलकत्ता विश्वविद्यालय के ए० के० सिन्हा पी० एच० डी० और ए० सी० बनर्जी पी० एच० डी० नामक दो सुविख्यात भारतीय विद्वानों द्वारा लिखित "भारत का इतिहास" नामक पुस्तक का रूसी में अनुवाद सन् १९५५ में प्रकाशित हो गया। इस पुस्तक में इसकी सम्पादिका सोवियत-भारत-विद् के० एस० अन्तोनोवा डी० एस-सी० (इतिहास) ने एक भूमिका लिखी है। यह पुस्तक रूसी भाषा में प्रकाशित भारत का प्रथम इतिहास है जिसमें प्राचीन काल से लेकर वर्तमान समय तक के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। हाल में सोवियत इतिहासकार अलेक्सेई दयाकोव तथा ब्लादिमीर बालबुशेविच ने बताया है कि रूसी में "आधुनिक भारत का एक इतिहास" प्रकाशित किया गया है जिसमें भारत में राष्ट्रीय स्वाधीनता-आन्दोलन के विकास का विस्तृत रूप से उल्लेख किया गया है। मास्को के प्राच्य-भाषा-प्रकाशन-गृह ने सर्वप्रथम "विक्रम का जीवन" रूसी में प्रकाशित किया है। यह पुस्तक सम्राट विक्रमादित्य के जीवन से संबंधित है। इसके अतिरिक्त अन्य भारतीयों की कृतियों के अनुवाद हो रहे हैं। आई० बालामूर्ति की कृति "आंध्र जनता का इतिहास" का भी रूसी अनुवाद हो गया है। कौटिल्य के "अर्थशास्त्र" का भी अनुवाद शीघ्र ही प्रकाशित होने वाला है।

भारतीय दर्शन एवं विज्ञान

सोवियत संघ में भारतीय दर्शन एवं धर्म के अध्ययन का सूत्रपात उन्नीसवीं शताब्दी के अंत से प्रारम्भ हुआ जबकि सोवियत भारत-विद्याविद् प्रोफेसर मिनाएव ने भारत की यात्रा कर इस संबंध में अध्ययन-कार्य किया। प्रोफेसर मिनाएव ने कई ग्रंथ बौद्ध धर्म एवं दर्शन से संबंधित लिखे हैं। इस क्षेत्र में मिनाएव का सुप्रसिद्ध ग्रंथ "बौद्ध धर्म" है। धार्मिक ग्रंथों तथा प्राचीन रूपकों के अध्ययन के द्वारा मिनाएव इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि प्राचीन भारत के लोगों ने विशुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में भी महान् उपलब्धियाँ प्राप्त की थीं। उनकी दृष्टि में अतीत में भारतीयों ने ज्योतिविज्ञान संबंधी पर्यवेक्षणों में याथातथ्यपूर्ण तथा अत्यन्त महत्वपूर्ण परिणाम प्राप्त किये। गणितशास्त्र, विशेषरूप से बीजगणित में भारतीयों ने महत्वपूर्ण अनुसंधान किये थे।

सोवियत जनता को भारतीय दर्शन-शास्त्र की उत्कृष्टता को समझाने में ताल्स्ताय ने भी महत्वपूर्ण कार्य किया है। ताल्स्ताय ने ही भारत के महान दार्शनिक शंकराचार्य, रामकृष्ण, स्वामी विवेकानन्द आदि की ओर रूस के विचारशील स्त्री-पुरुषों का ध्यान आकर्षित किया। ताल्स्ताय के ये कार्य रूस तथा भारतीय जनता की एक शताब्दी की मैत्री के ज्वलन्त पृष्ठ हैं। प्राचीन भारतीय दर्शन और विशेष रूप से बौद्ध दर्शन के अध्ययन की दिशा में मिनाएव के अतिरिक्त वी० पी० वासिल्येव, अकादमीशियन एफ० एस० ओल्देनबर्ग तथा एफ० ई० श्चेर्बात्स्काय ने महत्वपूर्ण योग दिया है। इन रूसी विद्वानों ने उत्तरी बौद्ध मत के अध्ययन में विशेष प्रयत्न किया है। सन् १८६७ में अकादमीशियन ओल्देनबर्ग की प्रेरणा तथा उनकी देखरेख में टीका सहित बौद्ध ग्रंथों का संग्रह "बिब्लियोयेका बुद्धिका" का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। इस विश्वव्यापी महत्व रखने वाली ग्रंथ-माला का, जो अकादमीशियन ओल्देनबर्ग तथा श्चेर्बात्स्काय के सम्पादन में १९३६ तक निकलती रही, विभिन्न प्राच्य तथा पाश्चात्य देशों के प्रमुख वैज्ञानिकों के सहयोग से प्रकाशन होता रहा। श्चेर्बात्स्काय ने प्राचीन भारतीय दर्शन के प्रति विशेष उत्साह दिखाया था। उन्होंने लिखा था कि "ज्योतिष, गणित तथा आयुर्वेद के क्षेत्र में भारत की सफलताएं महान हैं, कानून-क्षेत्र में वे भव्य हैं, कविता के क्षेत्र में प्रसाद-गुणयुक्त हैं परन्तु दर्शन और धर्म के क्षेत्र में सबसे अधिक महान हैं।" मूल संस्कृत तथा तिब्बती पाठों के अध्ययन के आधार पर अकादमीशियन श्चेर्बात्स्काय ने अपनी रचनाओं में बौद्ध धर्म तथा दर्शन की कई महत्वपूर्ण समस्याओं पर प्रकाश डाला है। सोवियत संघ में आप प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारतीय भौतिकवादियों की रचनाओं की छानबीन का बीड़ा उठाया। आपकी परम्पराओं पर आपके शिष्य ओ० ओ० रोजेनबर्ग और ई० ई० ओबर मिलर ने इसे आगे बढ़ाया है। इनलोगों ने भी बौद्ध मत एवं दर्शन पर कई महत्वपूर्ण रचनाएं की हैं।

इन सोवियत विद्वानों ने अपनी रचनाओं द्वारा यह बताया कि भारतीय दार्शनिकों की विचार शैली सर्वथा तर्कसंगत और उचित है। इन लोगों ने यह भी कह[ा] कि बौद्ध दर्शन के सम्पूर्ण विकास को, जिसमें उसक[ी] प्रारम्भिक स्थितियाँ भी शामिल हैं, समझने के लिए य[ह] अनिवार्य है कि परवर्त्ती बौद्ध धर्म के स्रोतों को पहचा[न] लिया जाय।

सोवियत विद्वानों ने मनुस्मृति का भी अध्ययन कि[या] है। इस ग्रंथ के बारे में बताया जाता है कि इसक[ी] रचना आदि पुरुष मनु ने की थी और यह मानव ध[र्म] शास्त्र का संसार प्रसिद्ध ग्रन्थ है। रूसी विद्वानों [को] मनुस्मृति की जानकारी यूरोप की दूसरी भाषाओं [में] प्रकाशित अनुवादों से हुई। इसका प्रथम अंग्रेजी अनुवा[द] सन् १७९४ में हुआ था और पहला रूसी अनुवाद [सन्] १९१३ में पीटसबर्ग (वर्तमान लेनिनग्राड) से प्रकाशि[त] हुआ जिसके अनुवादक एस० डी० एल्यानोविच थे जिन्हों[ने] मूल संस्कृत से किया था। इस अनुवाद में कई भूलें [रह] गयीं थीं जिसे बाद में सोवियत विज्ञान अकादमी [के] वरिष्ठ सदस्य श्री जी० एफ० इलिन ने ठीक किया। इस अनुवाद का नामकरण "मनु का कानून" दि[या] गया है। यह पुस्तक रूस की जनता में अधिक प्रिय है।

भारतीय दर्शन के बारे में रूसी में जिस सुप्रसि[द्ध] भारतीय पुस्तक का अनुवाद अभी हाल में प्रकाशि[त] किया गया है वह सतीशचन्द्र चटर्जी और धीरेन्द्रमो[हन] दत्त द्वारा लिखित "ऐन इन्ट्रोडक्शन टु इंडियन फि[लॉ]सफी" है। इस पुस्तक में भारतीय दर्शन की सभी मु[ख्य] पद्धतियों एवं उसकी विविध विचारधाराओं को म[नो]रंजक, याथातथ्यपूर्ण एवं सुस्पष्ट ढंग से रखा गया है [और] मूल-स्रोतों के आधार पर भारतीय दर्शन के युगों पु[र्व] विकास का उसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में दिग्द[र्शन] कराया गया है। यह पुस्तक सोवियत जनता में अ[ति] लोकप्रिय है और इसकी हजारों प्रतियाँ अबतक बि[क] गयी हैं। इस पुस्तक के अतिरिक्त डाक्टर सर्वप[ल्ली] राधाकृष्णन की "भारतीय दर्शन" पुस्तक का भी रूसी अनुवाद हो गया है।

भारतीय दर्शन से संबंधित सोवियत विद्वानों के ले[ख] भी समय-समय पर रूसी पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित [होते र]हे हैं। अबतक सोवियत विद्वान ए० डिवोरिन,

ख्यातिगोरस्की, एच० यनिकेएव ने अपने कई लेख भारतीय दर्शन पर लिखे हैं। रूसी विज्ञान अकादमी के दर्शन विभाग द्वारा प्रकाशित "दर्शन की इतिहास पुस्तक" में भारतीय दर्शन पर कई अध्याय दिये गये हैं। यह पुस्तक पाँच जिल्दों में प्रकाशित हो रही है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सोवियत विद्वान एवं जनता भारतीय दर्शन के अध्ययन एवं चिन्तन में अधिक दिलचस्पी ले रही है। वर्तमान समय में अनेक सोवियत-भारत-विद्याविद् भारतीय साहित्य, इतिहास, भाषा शास्त्र, समाज व्यवस्था एवं आर्थिक स्थिति के विभिन्न पहलुओं पर अध्ययन एवं अनुसंधान-कार्य कर रहे हैं। इनमें सोवियत भाषाशास्त्री प्रो० दयाकोव, वी० नोविकोवा, वी वालिन, ई० चेली-शेव तथा पी० ए० बराान्निकोव साहित्य-क्षेत्रों में, जी० इलिन, ए० ओसोपोव, ग्रिगोरी कोतोव्स्की, अलेक्सान्द्र चीचेरोव भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के क्षेत्र में, सेम्योन ल्युल्यायेव भारतीय कला पर, सोविया मेलमन, ल्यूदमिला गोर्डन पोलोन्स्काया तथा अलेक्सी लेवकोव्स्की भारतीय अर्थतंत्र पर अध्ययन एवं अनुसंधान-कार्य में योग देरहे हैं।

···मूल्यों का प्रश्न केवल आचार्यों के लिए महत्त्व रखता हो, ऐसा नहीं है। साहित्य के प्रत्येक अध्येता के लिए, वह गुरुतर प्रश्न है, और लेखक के लिए तो उसकी मौलिकता असंदिग्ध है, क्योंकि कृतिकार अपनी कृति का सब से पहला—और कदाचित् सब से अधिक निर्मम—परीक्षक है। (लेखक को अपनी रचना का मोह भी होता है, पर मोह और निर्ममत्व के अलग-अलग स्तर हैं; और मूल्यों का विचार उसी स्तर पर होता है, जिसपर लेखक ममता को एक ओर रख देता है।) निष्ठावान लेखक और अध्यवसायी पाठक के नाते, हम आशा करते हैं कि मूल्यों और प्रतिमानों के सम्बन्ध में, हमारे विचार अन्य पाठकों के लिए उपयोगी हो सकेंगे।

—अज्ञेय [सौन्दर्य-बोध और शिवत्व-बोध, कल्पना ११६]

नेपाली लोकगीत : एक झलक

श्री के० एस० राणा 'परदेशी'

नेपाली साहित्य में लोकगीतों का विशेष महत्व है। इन लोकगीतों में साहित्यिक रचनायें भी काफी मात्रा में हैं। जीवन, मानव जीवन क्या है, इसका उद्देश्य क्या होना चाहिए, यह क्षणभंगुर है— इस बात की पुष्टि के लिए एक लोकगीत देखिए :

"किन गर्छौ ताना-तानी, माना-मानी ?
दुवै दिन को छ यो जिन्दगानी ।
जस्तो कलकले पातै को पानी,
बतासै ले उड़ाई ले जाने ।
किन गर्छौ ताना-तानी, माना-मानी,
दुवै दिन को छ यो दाना-पानी ।"

हे मानव, तू क्यों इस संसार में सांसारिक वस्तुओं (भोग-विलास की वस्तुओं) के लिए इतनी खींचा-तानी करता है ? अपने सुख के लिए क्यों दूसरों के जीवन में काँटे बोता है ? अपने स्वार्थ के लिए क्यों दूसरों को कपट-जाल का शिकार बना शत्रुता बढ़ाता है ? और, यह रूठना-मनाना कैसा ? यह लौकिक प्रेम किसलिए ? यह मान-अपमान-घमण्ड या गर्व किसलिए ? यह जीवन तो केवल दो दिन का है। यह मानव-जीवन क्षणिक है। इसका कोई भरोसा नहीं, क्योंकि यह जीवन तो पानी के बुलबुले के समान है :

"पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात ।
देखत ही छुप जायगा ज्यों तारा परभात ॥"

यह जीवन तो पत्ते के ऊपर पड़े ओसकण के समान है, जो देखने में अति सुन्दर है, किन्तु तेज सूर्य की रोशनी पड़ते ही जिसे सूख जाना है।

या यह जीवन पत्तों (कमल के) के ऊपर पड़े चमकदार मोती-सदृश पानी की बूँद के समान है जो किसी भी समय तेज वायु के झोंके के आने से लुढ़क कर, नीचे गिर कर मिट्टी में मिल अपना अस्तित्व खो सकता है। इसलिए हे मानव, तू इतनी खींचा-तानी क्यों कर रहा है ? यह संसार किसी का कोई स्थायी घर नहीं, यह तो एक सराय समान है, जहाँ दो दिन रह कर, उस पार, जहाँ से आ[illegible] थे जाना है। इसलिए प्रेम से रहना चाहिए।—कित[illegible] शिक्षाप्रद भावना है ? इसी भाव को मैथिलीशरण गुप्त[illegible] भी एक पद्यखण्ड में व्यक्त किया है :

"केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए।
उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए॥"

वास्तव में गीतों और कविताओं का तबतक [illegible] मूल्य नहीं जबतक उसमें आदर्शोन्मुख, उपदेशात्[illegible] भावनाएँ न हों।

"डांडोकाटी चिप्लो बाटो झर्छन लुरु लुरु
मुट्ठु छेड़ने बतासमा काम्बै थुरु थुरु
पाईलै पिच्छे कांणा लाग्ने जंगल को बाटो
खाली खुट्टा ठिहिर्‌याउँने ओस्सिए को माटो"

"ढाकरे" में कथित ये पंक्तियाँ दीन-हीन मानव [illegible] झाँकी प्रस्तुत करती हैं। हिन्दी वादों में यथार्थवा[illegible] आदर्शवाद का यह यथार्थ चित्रण है। जिस प्रकार यथार्[illegible] वादी कवि वास्तविक दृश्य या भावनाओं को प्रस्तुत कर [illegible] कल्पना से दूर रख यथार्थ जीवन के पास ले आते हैं उ[illegible] प्रकार इसमें भी कल्पना का पुट कम और यथार्थता अ[illegible] है। यही नहीं, इस यथार्थवाद में रीतिकालीन अश्लील[illegible] नहीं, जैसा कि उस काल के कवि यथार्थ के नाम [illegible] अवर्णनीय बात को भी कह बैठते थे :

"उरज उठौना चक्रवाकन के छौना कैधों,
मदन खिलौना ये सलौना प्राणप्यारी के"

अश्लील कविता करने वाले कवियों के बारे [illegible] मौलाना हाली की ये पंक्तियाँ देखिए :

"गुनहगार वाँ छूट जायेंगे सारे,
जहन्नुम को भर देंगे शायर हमारे।"

कोरी कल्पना और झूठ कोई कविता नहीं है। मौलाना हाली के अनुसार उसमें कुछ तो वास्तविकता होनी ही चाहिए।

"मानी को छोड़ कर जो हों नाजुक-बयानियाँ
वह शेर नहीं, रंग है लफ्जों के खून का।"

उर्दू कवि अकबर को यह पंक्ति कल्पना और डींग के ऊपर एक वज्रप्रहार है। इसीलिए अब के कवि प्राचीन काल के कल्पना-शर को छोड़ कर वास्तविकता के आगर में आ पहुँचे हैं।

आज का युग कवि के लिए कल्पना का नहीं है। आज तो उसे अपने जीवन की गहराइयों में जाकर वास्तविकता को देखना है और साथ-ही-साथ आदर्शों का भी पालन करना है। तभी तो "वियोगी" ने कवि को चिरनिद्रा से जागने के लिए कहा है। यही नहीं, उपर्युक्त नेपाली पद्यखण्ड में करुणा-सहानुभूति का भी सुन्दर निर्वाह हुआ है। वास्तव में आज का सफल कवि वही है जो आदर्शों की सीमा के अन्दर रह कर यथार्थ को करुणा में मिला कर पेश करता है। पहाड़ी को पार कर वह "ढाकरे" भाई चिकनी मिट्टी के मार्ग से गिरता-पड़ता नीचे की ओर उतर रहा है। पानी बरसने से मार्ग बहुत ही फिसलना हो गया है। वह भीगी बिल्ली के समान उस तेज हवा-पानी में थर-थर काँपता हुआ चुपचाप चल रहा है। वह कभी फिसल कर गिर पड़ता, कभी उठकर चलता। जमीन भीगी हुई है। जंगल का रास्ता है, जहाँ नंगे पाँव होने के कारण पैरों में काँटे चुभ रहे हैं। यही नहीं, पाले के कारण उसके पाँव (नंगे पाँव) सर्दी-शीत से ठिठुर रहे हैं। इन सब बातों का अनुभव हमें तभी हो सकता है जबकि कभी हम सर्दी के मौसम में बर्फीले धार पर नंगे पाव चलें और तेज बर्फानी हवा चल रही हो।

"माथि हेर्दा निलो पर्वत तल हेर्दा छांगो
बिता भर को बाटो छैन समाई हिडछन् हांगो
फेदी पुगी चौतारीमा भारी बिसाएर
खाजा खान्छन् मकै भट सबको मिलाएर"

ऊपर की ओर दृष्टि डालने पर नीला असमानी पर्वत ही दृष्टिगोचर होता है और नीचे देखने पर भयानक खाई। रास्ता बित्ता भर का नहीं, अतः वह पथिक पेड़ों की डालियाँ पकड़-पकड़ कर ऊपर चढ़ता है। फिर चौतरे पर थकी अवस्था में पहुँच वहाँ अपना बोझ उतार कर आराम करता है और पाथेय के रूप में मक्की और भट्ट (जो एक रंगून की तरह होता है) का भूना खाता है।

हिन्दी साहित्य की भाँति नेपाली साहित्य में भी यथार्थवाद को अधिक महत्व दिया गया है :

दिन भरी को हिंडाईमा ज्यान थकाएर
बाल बस्छन् रुख मुनि सित जोगाएर
चुलो जोरी झुलो पारी आगो जलाउँ छन्
हत्त-पत्त ढिंडोलाई पानी दताउँ छन्

दिन भर चलते रहने के कारण वह (पथिक) थक कर चूर था अतः रात काटने के लिए किसी पेड़ के नीचे अपना डेरा लगाता है जहाँ वह पाले से सुरक्षित रह सके। फिर वह ठण्डी हवा और जंगली पशुओं से रक्षा पाने के लिए सूखे पत्तों और घास-फूस को एकत्रित कर आग जला लेता है। फिर पेट की ज्वाला शान्त करने के लिए पानी गरम कर उसमें मक्की का आटा डालकर एक प्रकार का हलुआ बनाता है, जिसे शायद ही कोई पसन्द करे क्योंकि उसमें न मीठा ही है न नमक ही। वह अलूना हलुआ गले से नीचे उतारने के लिए लाल मिर्च और नमक पीसकर रखता है फिर ठण्डे पानी की सहायता से उसे गले के नीचे उतारता है।

अधर्म का धर्म से, असत्य का सत्य से सामना करना चाहिए। दूसरों के प्रचार-कार्य से असहमत हो, उन प्रचारकों को, प्रचार के साधनों को मिटाने से क्या होगा ? उस हालत में तो वे सिद्धान्त और भी समुज्ज्वल बन जायेंगे।
—रागमूर्त्ति (तेलुगु नाट्यकार)

गत मास का साहित्य

आकलन एवं समीक्षण

श्री जय प्रकाश शर्म्मा

[स्तंभ अधिक उपयोगी हो, पूर्ण हो तदर्थ लेखकों, सम्पादकों तथा प्रकाशकों का सहयोग आमंत्रित है। सूचना-सामग्री भेजने का बदला हुआ पता इस प्रकार है : ५२, सी, सिंगल स्टोरी, रमेशनगर, नई दिल्ली—१५]

गत मास की साहित्य-चर्चा प्रस्तुत करने से पहले मैं आपका ध्यान उन गन्दी-घिनौनी संस्थाओं की तरफ दिलाना चाहता हूँ, जिन्होंने विदेशों की नकल करके साहित्य को बाजार की सब्जी बना डाला है। ऐसी संस्थायें नवजात (उदीयमान) साहित्यकारों का न केवल शोषण करती हैं, अपितु उन्हें गुमराह करने में भी नहीं चूकतीं। ऐसी ही एक संस्था से पीड़ित एक लेखक ने मुझे पत्र लिखते हुए लिखा है : "शर्माजी,···को मैं पाँच रुपये प्रवेश फीस, दस रुपये शुल्क भेज चुका हूँ। क्यों भेजा, इसे मेरी मूर्खता ही समझिये। आपने सही लिखा कि भारत में अभी सिन्डीकेट नहीं पनप सकते, पर क्या कोई ऐसा भी जरिया है जिससे मैं प्रकाश में आ सकूँ। अब ये मेरा कहानी-संग्रह प्रकाशित करने के लिये पाँच सौ रुपया माँग रहे हैं। कहाँ से दूँ······ आपका,······।" अपने इस मित्र को क्या राय दूँ, कुछ समझ नहीं आता। अलबत्ता परम्परा स्वस्थ नहीं है। सभी व्यापार करते वक्त भूल जाते हैं कि साहित्य का व्यापार नहीं हो सकता। यूँ होता हर जगह है। उम्मीद है कि पाठक, लेखक तो क्या प्रकाशक और सम्पादक जरूर इसके विरुद्ध आवाज उठायेंगे। ऐसी आशा तो की ही जा सकती है।

प्रकाशक-सेमिनार का विशिष्ट लेख आने के कारण मामला अब फिर दो मास का आ पड़ा है और इस बीच इतने अच्छे-बुरे प्रकाशन हुए हैं कि उन सब की चर्चा करना इस बार कठिन-सा है।

पाकेट बुक्स :

हिन्द, राजकमल, अशोक और सुमन चारों पाकेट बुक्स संस्थाओं ने अपनी नई पुस्तकें प्रकाशित कीं, पर आश्चर्य की बात यह है कि एक भी कृति असाधारण नहीं। राजेन्द्र यादव का 'सारा आकाश' उपन्यास, 'प्रेत बोलते हैं' की रेखा पर ही क्या, उसी का संक्षिप्त, संशोधित रूप है। हाँ, एक बात जरूर है कि इन दो उपन्यासों को पढ़कर राजेन्द्र यादव की प्रगति का अनुमान लग सकता है। विशेषतः उस ईमानदारी का पता तो लग ही सकता है जिसने राजेन्द्र यादव का निर्माण किया है।

अशोक पाकेट बुक्स ने जिन दस पुस्तकों का सेट प्रस्तुत किया है; उनमें सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक है श्री सुदर्शन का पुनर्मुद्रित उपन्यास। 'पुजारिन' हिन्दी साहित्य की ऐसी निधि है; जिसका पुनर्मुद्रण होना ही चाहिये था। इसके अलावा अन्य रोचक उपन्यासों में 'वह माँ थी' और श्री विनोद रस्तोगी का वेश्यावृत्ति के उन्मूलन पर लिखा गया सुरुचिकर उपन्यास तथा स्वेट मार्टन का 'जीवन और व्यवहार' तथा अब्बासी द्वारा प्रस्तुत 'इश्किया गजलें' उल्लेखनीय हैं।

सुमन पाकेट बुक्स के नये उपन्यासों में 'टूटे पत्ते' तथा ओमप्रकाश शर्मा कृत 'चम्पा के फूल' का नाम लिया जा सकता है। परन्तु, इसके अतिरिक्त एक नया उल्लेखनीय पाकेट बुक प्रयास उपन्यास प्रकाशन, ३१६६, बड़वाला चौक से शुरू हुआ है जिसका प्रथम पुष्प 'भयंकर जाल' अपने में एक ही कृति है।

देवदत्त अटल का नया उपन्यास 'छँट चले बादल' पुराने संघर्ष की स्मृतियों में रंग भरता है। मन्मथनाथ गुप्त ने जिस परम्परा को प्रारंभ कर 'रंगमंच' जैसे उपन्यास लिखे हैं, प्रस्तुत उपन्यास उसी दिशा में एक नया, किन्तु अलग-थलग कदम है।

यादवेन्द्र का 'खून का टीका' उनकी ही परम्परा को एक कदम आगे बढ़ाता है। इसके साथ ही अन्य पठनीय उपन्यासों में 'जमुना की लहरें', नीरव का 'धरती रोती है', हिन्दिया प्रकाशन द्वारा प्रकाशित द्वारका नाथ माधव राव का ऐतिहासिक उपन्यास 'उल्कापात' को भी उल्लेखनीय कहा जा सकता है।

अशोक पाकेट बुक्स में मैंने जानबूझ कर दो पुस्तकों का उल्लेख नहीं किया था : 'माथे की बिन्दिया' और रत्नप्रकाश शील कृत 'अंधियारी पूनम की रात'।

अनीता चट्टोपाध्याय हिन्दी की जानी-मानी कथाकार हैं। इन्होंने जिन दो परम्पराओं का मिश्रण कर एक नई मिली परम्परा को जन्म दिया, वह है शरत् की स्निग्धता की ओर अपने यथार्थ की। अज्ञेय तथा सुमित्रानन्दन का पानी लेकर यथार्थवाद ने जिस नयी परम्परा को जन्म दिया था; वह न केवल 'माथे की बिंदिया' में, बल्कि दयाशंकर मिश्र की 'चातकी', मधूलिका कृत 'प्राणों की प्यास' तथा 'अंधियारी पूनम की रात' में साफ-साफ झलकती है। कुछ इससे अलग-अलथ परम्परा अनूपलाल मंडल ने शुरू की थी और 'तूफान और तिनके' उसका ही परिष्कृत रूप है। पर सारी परम्परायें 'लेंडिंग लायब्रेरी' के सामने आकर मिट्टी में मिल जाती हैं। वहाँ चाहिये कुछ गरम, कुछ ताजा और कुछ चिपचिपा जैसा जिस्म, जिसके सौदागर जहाँ-तहाँ हैं। पर जिस्म के सौदागर के प्रकाशक भी कितना कमाते हैं—यह एक प्रश्न है जो हमेशा ही एक प्रश्न बना रहेगा।

चित्रकार का पहला प्रयास 'विचित्र संन्यासी' एक प्रतिभा को सामने रखता है; पर अगर इसमें चित्रकार की भावना निहित है, तो निश्चित रूप से इसमें चित्रकार की आदर्शवादिता इतनी अतिशयोक्ति के रूप में प्रयुक्त नहीं होनी चाहिये।

एक और उपन्यास है 'विस्मृता'। विद्यास्वरूप शर्मा का यह उपन्यास आकार में बड़ा होने के कारण अब तक गले नहीं उतर पाया था। पर उस दिन जो पढ़ने बैठा तो एक ही बैठक में पढ़ गया और उसके जोरदार पात्र काफी समय तक कुलबुलाते रहे। शरत् की टेकनीक पर लिखा यह उपन्यास शाब्दिक व्यंजना लिये अगर कलेवर में कुछ कम हो सकता तो अधिक रुचिकर और लोकप्रिय हो पाता। फिर भी उपन्यास पठनीय है।

अन्त में एक नये ढंग के उपन्यास का उल्लेख और कर दूँ। बनारस का आनन्द पुस्तक भवन—बनारस जो अबतक हास्य-रस की पुस्तकों के लिये प्रसिद्ध है—अब एक नया क्षेत्र, कालिदास के जीवन पर उपन्यास प्रकाशित कर, तैयार कर चुका है। इस तरह का प्रयास निश्चित रूप से स्वागत के योग्य है और एक स्वस्थ परम्परा का द्योतक है।

मास के अन्य पठनीय उपन्यासों में शैलेश मटियानी का 'हौलदार', मिलिन्द का 'सुहाग की सुबह' के नाम लिये जा सकते हैं। पर, फिर भी सामयिक अन्ताराष्ट्रीय समस्याओं पर तो हमेशा से ही उपन्यासों की कमी मौजूद है और फिलहाल तो रहेगी भी।

पत्र-पत्रिकायें

वर्ष की शुरुआत गणतंत्र-दिवस के विशेषांकों से हुई है और देश के समस्त साप्ताहिक पत्रों ने अपने ढंग से विशेषांक निकाले हैं—क्या धर्मयुग, क्या सा० हिन्दुस्तान। पर, आदिवासी का विशेषांक सबसे अधिक सजधज और सुरुचिपूर्ण ढंग से निकला।

'सेनानी' बीकानेर से निकलने वाला एक ऐसा साप्ताहिक है जिसे राजस्थान का एक निर्भीक वक्ता कहा जा सकता है, पर अगर इसका विकास कुछ और तौर-तरीके से हो तो हो सकता है कि यह देश का एक और राजनीतिक प्रमुख पत्र बन जाय।

फिल्म के विषय में कुछ न कुछ लिखना एक परम्परा-सी बन गई है पर श्री ओ० पी० राजन ने जब से 'हिन्दी टाइम्स' में फिल्मी पृष्ठ का उत्तरदायित्व सम्हाला है, तब से उसमें नये रंग उभर आये हैं। किन्तु सवाल यह पैदा होता है कि क्या फिल्म के विषय में अटकलबाजी लगाना जरूरी है, जबकि अन्य आवश्यक क्षेत्रों के लिये स्थान नहीं मिल पाता।

फिल्मी साहित्य को विशिष्ट रूप से प्रस्तुत करने में 'सुषमा,' 'फिल्मी दुनिया' और 'नीलम' का नाम उल्लेखनीय है।

मासिक पत्रों में एक नया पत्र आ मिला है 'कथा-कहानी'। 'कथा कहानी' नया नहीं है। फिर भी इतना पुराना नहीं है कि उसे 'पुराना' मात्र कहकर टाला जा सके। यह 'कहानी', 'नई कहानी' जैसा ही एक मासिक है, जिसकी विशिष्टता है इसके सीमित साधन और उन्हीं साधनों से एक विशिष्ट ध्येय की ओर बढ़ना। किन्तु इसी बात से 'कथा कहानी' की खामियों को क्षम्य नहीं माना जा सकता। विशेषतः जब स्वयं सम्पादक गुट-बन्दी के खिलाफ एक नयी गुटबाजी का प्रश्रय ले। उम्मीद की जानी चाहिये कि धर्मेन्द्र गुप्त इस विषय में दल के दलदल की पर्त और मोटी नहीं होने देंगे।

'सारिका' का दूसरा अंक दूसरा कदम कहा जा सकता है, पर यहाँ भी सवाल उठ सकता है कि क्या फिल्मी पृष्ठ देना जरूरी है?

अन्य पठनीय पत्रिका 'मुक्ता' और स्त्रियोपयोगी पत्रिका 'अनुजा' दोनों ही एक विशिष्ट रूप की तरफ इंगित करती हैं और आशा की जा सकती है कि पत्रिका-पाठकों के लिये यह वर्ष काफी शुभ रहेगा।

बालोपयोगी पत्रों में 'राजा भैया', 'पराग' और 'चन्दा मामा' की टक्कर का ही एक पत्र है जिसमें श्री दयाशंकर मिश्र के मनोवैज्ञानिक सम्पादन की वजह से बहुत कुछ पठनीय और विचारणीय होता है।

सहयोग आमंत्रित !

हिन्दी उपन्यास-कोष के निर्माण में लेखकों, पाठकों तथा प्रकाशकों का सहयोग आमंत्रित है। इस बृहद् ग्रन्थ में हिन्दी में मार्च १९६१ तक प्रकाशित समस्त उपन्यासों का रचनाकाल, विषय तथा महत्वपूर्ण उपन्यासों का कथासार रहेगा।

लेखक और प्रकाशक अपनी प्रकाशित कृति की एक-एक प्रति तथा उसका रचनाकाल, विषय तथा लेखक का एक-एक चित्र ग्रन्थकार जयप्रकाश शर्मा, ५२ सी०, सिंगल स्टोरी, रमेश नगर, नई दिल्ली—१५, के पते पर भेजने का कष्ट करें। समस्त पुस्तकें लौटा दी जायेंगी। दुर्लभ ग्रन्थों की सूचना दी जा सके तो लेखक आभारी होगा।

हमारे नवीन प्रकाशन

कुछ पुरानी चिट्ठियाँ	जवाहरलाल नेहरू	१०.००
इतिहास के महापुरुष (संस्मरण)	जवाहरलाल नेहरू	३.००
राजाजी की लघु कथाएँ (कहानियाँ)	राजाजी	१.५०
रूस में छियालीस दिन (यात्रा)	यशपाल जैन	३.००
पत्र-व्यवहार भाग—३	संपा०—रामकृष्ण बजाज	३.००
मनुष्य का बचपन (मानव की कहानी)	देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय	१.००
मैं इनका ऋणी हूँ (संस्मरण)	इन्द्र विद्यावाचस्पति	२.००
सुभाषित-सप्तशती (नीतिवचन)	मंगलदेव शास्त्री	२.५०
मानव-अधिकार (इतिहास)	विष्णु प्रभाकर, राजदेव त्रिपाठी	१.००
शारदीया (नाटक)	जगदीशचन्द्र माथुर	१.५०
सर्वोदय-सन्देश	विनोबा	१.५०
चम्पू भारत	अनन्त कवि	०.३७
आधुनिक सहकारिता	विद्यासागर शर्मा	२.००
बंगला साहित्य-दर्शन	मन्मथनाथ गुप्त	४.००
खंडित पूजा (कहानी-संग्रह)	विष्णु प्रभाकर	३.००
भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास	इन्द्र विद्यावाचस्पति	५.५०
कर भला, होगा भला (मैथिली लोक-कथाएँ)	भगवानचन्द्र 'विनोद'	१.५०
प्राकृतिक जीवन की ओर (स्वास्थ्योपयोगी)	संपा०—विट्ठलदास मोदी	१.५०
पुष्पोद्यान	शंकरराव जोशी	३.००
अक्षर-गीत (बालोपयोगी)	कमला रतनम्	२.००
जब दीदी भूत बनी ,,	विष्णु प्रभाकर	१.००
दुनिया के अचरज ,,	मुरारिलाल शर्मा	१.००
मूरखों की दुनिया ,,	नारायणदत्त पांडे	१.००
भालू बोला ,,	राधेश्याम भिंगन	१.००
सेवा करे सो मेवा पावे ,,	यशपाल जैन	१.००
बहादुरी का भूत ,,	अनु०—विश्वनाथ गुप्त	१.५०
एक थी चिड़िया ,,	यशपाल जैन	१.००

ये तथा अन्य पुस्तकें अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से माँगिये।

वहाँ न मिलें तो हमें अवश्य लिखिये।

सस्ता साहित्य मंडल

कनॉट सरकस, नई दिल्ली

पुस्तक-समारोहों की आवश्यकता

श्रीमती लीलावती जैन "प्रभाकर"

भारत में पुस्तकें, समाचार-पत्र आदि बहुत कम बिकते हैं, यह आम शिकायत है। पत्रकार, लेखक, प्रकाशक, पुस्तक-विक्रेता आदि, भारतीय जनता की माँग कर पढ़ने की आदत की शिकायत करते हैं। वे कहते हैं कि भारतीय पुस्तकें खरीदकर पढ़ना नहीं जानते।

इस स्थिति में अब कुछ परिवर्त्तन आ गया है। पुस्तकें, समाचार-पत्र आदि अधिक निकलने लगे हैं और पहले की अपेक्षा अधिक बिकने लगे हैं। परन्तु विदेशों के मुकाबिले इन चीजों की लोकप्रियता नाममात्र की ही है।

दूरदर्शिता का अभाव— हमारा ख्याल है कि भारतीय प्रकाशकों ने सिवाय तुरन्त लाभ कमाने के दूरदर्शी दृष्टि से काम नहीं लिया है। उन्होंने आपस में मिलकर सामूहिक रूप से भारतीय जनता में पुस्तक, समाचार-पत्र आदि खरीद कर पढ़ने की आदत डालने के लिये भगीरथ-प्रयत्न नहीं किया है। अगर वे ऐसा करते तो निश्चय ही भारतीय जनता का रुख दूसरा होता और भारत की शिक्षा तथा आर्थिक अवस्था को देखते हुए हम उसको बुरा-भला नहीं कहते।

कुछ पुस्तकें तो सदा से ही बिकती रही हैं और कई प्रकाशक किताबों की बदौलत ही मालामाल हो गये हैं। लन्दन की संसार-प्रसिद्ध फायल्स की सस्ती पुस्तकमाला के भारत में ५०० से ऊपर ग्राहक हैं। इससे स्पष्ट है कि अगर उपयुक्त ढंग की पुस्तकें निकाली जायँ और उचित ढंग, उचित मूल्य पर बाजार में रखी जायँ तो वे खूब खप सकती हैं।

पुस्तकों को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिये प्रकाशकों को सामूहिक प्रयत्न करने चाहिये। कोई एक प्रकाशक या भारत की एक भाषा के सब प्रकाशक भी मिलकर यह कार्य नहीं कर सकते। आवश्यकता है कि भारत की सभी भाषाओं के सभी प्रकाशक मिलकर इस ओर दो-चार वर्षों तक भगीरथ-प्रयत्न करें। इतने समय में भारतीय प्रकाशकों की शिकायतें अवश्य दूर हो जायेंगी। इस क्षेत्र में हम विभिन्न देशों से बहुत-कुछ सीख सकते हैं।

हंगरी का उदाहरण— पूर्वीय योरप के छोटे-से एक करोड़ की जनसंख्या वाले देश हंगरी की कुछ बातों का हम इस क्षेत्र में अनुकरण कर सकते हैं। वह भी भारत की तरह १५ वर्ष पूर्व ही कई शताब्दियों बाद स्वतंत्र हुआ है। वहाँ भी अशिक्षा, बीमारी और गरीबी भयंकर रूप से थी। इधर के वर्षों में पुस्तक-प्रकाशन और उनकी बिक्री के क्षेत्र में आशातीत प्रगति हुई है। यह सब कैसे हुआ, यह जानने योगय बात है।

वहाँ कितने ही वर्षों से एक पुस्तक-दिवस मनाया जाता है। कुछ प्रकाशकों, विक्रेताओं और लेखकों ने मिलकर हंगरी की राजधानी बुडापेस्ट की खास-खास सड़कों पर किताबों के स्टैण्ड कायम किये और जनता को किताबें खरीदने के लिये प्रेरित करने के लिए उसदिन किताबों के दाम कम कर दिये।

राष्ट्रीय पर्व— स्वतंत्रताकाल के इधर के वर्षों में यह पुस्तक-दिवस के बदले पुस्तक-सप्ताह बन गया। यह देशव्यापी रूप धारण कर चुका है। अब यह केवल लेखकों, प्रकाशकों और विक्रेताओं की दिलचस्पी की चीज नहीं रही है वरन् एक राष्ट्रीय पर्व-सा बन गया है जिसमें पुस्तकालय, संस्कृतिघर और थियेटर तक भाग लेते हैं। अब पुस्तकें दूर-दूर के गाँवों और फार्मों पर बने घरों तक पहुँचने लगी हैं, क्योंकि बसों पर खासतौर की बॉडी बनाकर और उनपर दूकान सजाकर सब जगह भेजी जाती हैं। यह कोरा व्यापारिक कार्य न रहकर जनता के सामने साहित्यक प्रगति के वार्षिक विवरण प्रस्तुत करने का भी अवसर प्रदान करता है।

लेखक-पाठक-सम्मेलन—इस अवसर पर लेखकों और पाठकों के सम्मेलन होते हैं। जिनमें पाठक लेखकों की कृतियों की आलोचनायें भी करते हैं। इन दिनों पुस्तकालय और साहित्यिक सभायें भी पुस्तक-प्रदर्शनियाँ आयोजित करती हैं और इनमें वाद-विवाद-प्रतियोगिता भी होती है, जिनमें हजारों स्त्री-पुरुष भाग लेते हैं। इन्हें गाँवों में "बुकवाल" के रूप में आयोजित करते हैं। इनका

रूप-रंग हरएक गाँव में एक-दूसरे से पृथक होता है। कहीं प्रवेश-फी एक पुस्तक खरीदना रखी जाती है, कहीं प्रवेश-फी से पुस्तकालय के वास्ते किताबें खरीदी जाती हैं, कहीं उससे जनता में बड़े-बड़े इनाम पुस्तकों के रूप में बाँटे जाते हैं। वे अपने आप ही जनता के उत्साह के फलस्वरूप इधर के वर्षों में संगठित किये जाते हैं। सप्ताह के दिनों में एक दिन कविता-दिवस मनाया जाता है जब सब समाचार-पत्र कविता प्रकाशित करते हैं। प्रमुख बुकस्टालों पर प्रसिद्ध कवि हंगरी की श्रेष्ठ कवितायें सुनाते हैं। देश के विभिन्न भागों में साहित्यिक थियेटरों में जो विद्यार्थी, अध्यापक, मजदूरों आदि के होते हैं—इस अवसर पर नाटक दिखाये जाते हैं।

पाठक विक्रेता के रूप में—जनता ने भी सोत्साह इनमें सहयोग दिया। सन् १९५९ के पुस्तक-सप्ताह के दिनों में ८०० स्थानों पर—जिनमें गाँव, कल-कारखाने, कार्यालय, स्कूल, सहकारी समितियाँ शामिल थीं—पुस्तकें बेची गईं। इनको बेचनेवाले अपने आप आगे आये थे। एक गाँव में विद्यार्थियों ने १०००० फोरिन्ट (हंगरी का सिक्का) और दूसरे में ६००० की बेची। कई जगह ट्रेड यूनियनों के कार्यकर्ताओं ने इनको बेचने के लिये खेमे लगाये थे। कुछ लोगों ने घर-घर जाकर पुस्तकें बेचीं। पाठक-विक्रेताओं की संख्या १५००० से ऊपर थी।

भारी विक्री—इस चतुर्दिक जोश-खरोश का जो परिणाम हुआ है उसको निम्न आँकड़े बोधगम्य बनाते हैं और इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालते हैं। सन् ५९ में पौने दो करोड़ फोरिन्ट की कीमत की पुस्तकें बिकीं जबकि ५८ में डेढ करोड़ से कम की बिकी थीं। इसका अर्थ है कि सन् ५८ में बिकनेवाली ८५०,००० पुस्तकों की तुलना में ५९ में इनकी संख्या ९६०००० थी। इस संख्या में वे पुस्तकें शामिल नहीं हैं जो पुस्तकालय और अन्य सार्वजनिक संस्थाओं ने खरीदीं। पुस्तकों की बिक्री पुस्तक-सप्ताह में किस प्रकार बढ़ रही है, यह बात निम्नलिखित तालिका से स्पष्ट है—

वर्ष	कुल वार्षिक विक्री	पुस्तक-सप्ताह की विक्री
१९५१	१००	१००
१९५४	१२९४	१५०९
१९५६	१६०४	१८४६
१९५९	३००	३६०३

इससे यह भी स्पष्ट है कि जहाँ पुस्तकों की विक्री प्रतिवर्ष बढ़ रही है, वहाँ पुस्तक-सप्ताह में भी बढ़ रही है और वह वर्ष भर की विक्री से ज्यादा है। उल्लेखनीय बात यह है कि पिछले दस वर्षों में पुस्तकों को कम मूल्य में बेचने की रियायत एक बार भी नहीं दी गई है।

इस अवसर पर ८२ नई पुस्तकें प्रकाशित हुईं जिनकी संख्या ७८१, ८६० थी। इनमें ६३ पुस्तकें साहित्यिक और युवकों के लिये थीं जिनकी संख्या ६३६२६० थी। इनमें जीवित देशी-विदेशी लेखकों की कृतियाँ इस प्रकार थीं—

	प्रतियाँ
हंगरी के जीवित लेखकों की कृतियाँ—२६	२२७,८१०
हंगरी के मृत प्रसिद्ध लेखकों की कृतियाँ—१५	१८६,०००
विदेशी जीवित लेखकों की कृतियाँ – १४	१११,६००
विदेशी मृत प्रसिद्ध लेखकों की कृतियाँ – ८	११०,८५०

इसपर बारीकी से विचार करने पर पता चलता है कि जनता की रुचि वर्तमान तथा हाल की ही घटनाओं और समस्याओं पर ज्यादा है। इनमें साम्यवादी विचारधारा से लगाकर पूँजीपति विचारधारा तक के लेखकों की पुस्तकें हैं। इससे यह भी पता चल गया कि सर्वाधिक बिकनेवाली पुस्तकें वर्तमान लेखकों की हैं।

भारत में इस प्रकार के समारोहों का समावेश न केवल प्रकाशकों, विक्रेताओं के हित में है, वरन् देश के लाभ में भी है। यह तभी सम्भव है जब पुस्तक-व्यवसाइयों के साथ जनता और सरकार दोनों ही दिल खोलकर सहयोग करें।

बहिरंग और वस्तु

श्री ज्योतिर्मय वसु राय

साहित्य एवं विभिन्न ललितकला के गुणों के विषय में विचार करने में नंदन-शास्त्र के कई-एक स्पष्ट और साधारण सूत्र प्रयुक्त किये जा सकते हैं या नहीं, इस विषय को लेकर बहुत दिनों से कला-रसिक लोग विचार करते आ रहे हैं। रस-विषय पर विचार करने में किसी अविचल नियमावलि का होना शायद संभव ही नहीं है, बल्कि अनुचित भी है। फिर भी, कुछ दिन पहले तक, प्रायः सभी देशों के सुधी विदग्धजन एक विषय में प्रायः एकमत ही थे। रसवस्तु के उत्कर्ष-विचार में फॉर्म या बहिरंग से कन्टेन्ट या भाववस्तु को ही उन्होंने अधिकतर प्राधान्य दिया है।

साहित्य के विषय में यह विचार इतने दिनों तक विशेषरूप से ही चलता आया। अभी हाल में भी, समरसेट माम के साहित्य पर विचार करते हुए उस देश के समालोचकों ने उनको 'कम्पिटेन्ट राइटर', 'क्लेवर स्टोरी-टेलर' इत्यादि कहते हुए अपना कर्त्तव्य सम्पन्न किया था। लेखन-कौशल और गल्प-गठन की क्षमता में माम में कुछ असाधारणत्व होने पर भी, समालोचकों के विचार से, वक्तव्य या भाववस्तु की दिशा में उनकी रचना में सामान्य सम्पद् ही है। एवं, इसी प्रमुख कारण से उनका साहित्य-कर्म 'महत्' उपाधि पाने से वंचित है।

तब इस बात की मीमांसा जितनी सहज थी, आज उतनी ही अनायास-लभ्य नहीं कही जा सकती। पुरातन विश्वास ने आज संशय का रास्ता ही खोला है। और, उसी के साथ उसने निर्मम युक्ति को भी एक रास्ता दिया है। इसीलिए आज प्रश्न होता है कि कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता, रम्य-रचना—जो भी क्यों न हो—किसी लेखन का मूल्य केवल लेखन के मूल्य के नाते ही क्यों नहीं आँका जायगा? केवल प्रश्न ही नहीं, बल्कि मैं समझता हूँ कि यह इस समय का एक चैलेंज भी है। आज के साहित्य की विभिन्न शाखाओं में यह चैलेंज अनेक रूपों में पुष्पित पल्लवित भी नहीं हो रहा है क्या?

कोई-कोई कहते हैं कि उस समय के साहित्यस्रष्टाओं ने समझा था कि कन्टेन्ट या भाववस्तु की ओर से नए पथ का संधान पाने में वे अक्षम हैं; और इसी कारण ही उन्होंने नए आंगिकों का या रचना-कौशल का रास्ता चुन लिया था। यह अक्षमता वाली बात कितने दूर तक सत्य है, अथवा सच है भी कि नहीं, यह एक अलग तर्क की बात है। किन्तु, आंगिक के क्षेत्र में यदि लेखक असाधारणत्व का परिचय दे, तो उसकी वह रचना क्योंकर उत्कर्ष पाने के गौरव से वंचित मानी जायगी? गतानुगतिक पद्धति में, विरस भाषा में भी एक महत् भाव की बात कहना यदि बड़ा आर्ट हो, तो एक अकिंचित्कर वस्तु को सरस भाव और अनन्य भंगी में कह सकना ही क्यों नहीं अनुरूप स्वीकृति पाने का अधिकारी होगा?

शिल्पकला के अन्यान्य माध्यम के संबंध में इस प्रश्न को कुछ और जोर से उत्थित किया जाता है। चित्रकला की ही बात ली जाय। ल्युनार्दो द विंचि का 'दि लास्ट सपर' और राफायेल का 'मैडोना' चित्रावली, माइकेल एंजिलो का 'दि डेलिअोज' आदि चिरकाल के स्वाक्षर पाए हुए चित्र भाववस्तु में समृद्ध हैं। भैन गाग के 'दि पोस्टमैन' अथवा 'दि पोटाटो ईटर्स' चित्र में भाव का आवेदन एकदम उसी अनुपात में नहीं पाया जाता। उनकी इन दोनों विख्यात शिल्पकृतियों में बड़ा हो उठा है चित्रकार की तूलिका का खिंचाव और रंगों का समावेश। एक सहज वक्तव्य उनके इन चित्रों में विचित्र भंगी में पकड़ आया है। चित्रकार की रेखा की भंगी या उनकी निजी दृष्टि-भंगी ने इन दो चित्रों में जो लावण्य-संचार किया है, उसी ने क्या अपने क्षेत्र में शिल्पी को कम प्रतिष्ठित किया है? वस्तुतः कोई चित्रकार जब एक फूल, एक पक्षी, अथवा एक नारी के मुख का अंकन करता है; तो आप और हम निरीक्षक उसके बीच क्या खोजना चाहेंगे? शिल्पी का वक्तव्य? अथवा अंकन का वैशिष्ट्य? एवं, उस अंकन-वैशिष्ट्य में चित्रकार की जो शिल्प-सत्ता प्रकाशित होती है, उसकी उपलब्धि क्या रसिक व्यक्ति के लिए कम आनंद की चीज है?

संगीत के प्रसंग में भी यही प्रश्न है। बोल और सुर के

(शेष पृष्ठ ३८ के नीचे)

बंगला साहित्य : असल-नकल

श्री चंडी लाहिड़ी

नकल के अस्तित्व में असल का उत्कर्ष भी जनप्रियता का प्रमाण है। मणि-माणिक्य के विषय में यह बात जितनी ही सत्य है, साहित्य के क्षेत्र में भी उतनी ही। इस जमाने के पाठक भाग्यशाली हैं कि उन्हें नकली साहित्य का उपद्रव शायद कभी ही सहन करना पड़ता हो। विदेशी साहित्य की बे-मालूम कहानी या भाव को आत्मसात् करने की घटना आजकल नहीं घटा करती है, सो बात नहीं ; बल्कि ऐसी चोरियों को पकड़ सकने वाली गृद्धदृष्टि वाले पाठकों की संख्या भी आजकल यथेष्ट ही है।

खैर, गत शतक में हमेशा ही नकलनवीश साहित्यिकों का आविर्भाव होता रहा है। सभी क्षेत्रों में इन नकलनवीशों की लेखनी अक्षम या दुर्बल कही जाय, सो नहीं। बल्कि लगभग सभी क्षेत्रों में ही उन्होंने सामर्थ्य का परिचय दिया है। हूतोम पैंच का नकशा प्रकाशित कर (१८६१ में) कालीप्रसन्न ने उस समय के बंगाली-समाज में जो हलचल पैदा की थी, उस समय उसका कोई मुकाबला नहीं था। कालीप्रसन्न की मृत्यु के बाद सहसा और एक दूसरे हूतोम का आविर्भाव घटित हुआ।

इन नकली हूतोम के नकशे प्रति सप्ताह प्रकाशित होते थे और प्रत्येक अंक का दाम दो आना होता था। पहला अंक १८७५ की २५ अप्रैल को प्रकाशित हुआ था। असली हूतोम की नकल करते हुए इन नकली हूतोम ने भी एक संस्कृत सूक्ति का उद्धरण देते हुए नकशे को प्रकाशित करने का उद्देश्य समझाना चाहा था कि :

"क्रुद्ध्यन्ति मूर्खाः न विपश्चितो जनाः।
आकर्ण्य तथ्यं बहुशोपभाषितम् ॥"

ये नकली हूतोम कालीप्रसन्न के एक एकलव्य शिष्य थे। इनकी तरह के नकलनवीस, मैं मानता हूँ कि, बंगला साहित्य में और दूसरे नहीं हो सके हैं। दोनों असल और नकल को आमने-सामने रख कर पढ़ने पर, कौन किनकी रचना है, यह समझने जाकर कोई विचक्षण पाठक भी विभ्रान्त हो जायगा। बाबू लोगों का समाज और बाबू लोगों का चरित्र, दोनों हूतोमों का ही लेख्य या आलोच्य विषय था। किन्तु यह होने से होता क्या है; नकली हूतोम की रचना में उधार ली हुई चीज जितनी थी, उतना वजन नहीं था। कारण-अकारण से तगादों और माँगों का मुँह देखकर ये नकली हूतोम अपने नकशों की खपत बढ़ाने की चेष्टा करते थे। हूतोम ने लिखी है 'जेलेपाड़ा के साथ' की कहानी और नकली हूतोम ने लिखी है 'काँसारीपाड़ा के साथ पार्वण' की कहानी। किन्तु उनमें 'साथ' की बात विशेष नहीं है, बल्कि कई एक वारांगना-ग्रामों का छिटपुट वर्णन भर ही है।

प्यारीचाँद मित्र ने टेकचाँद ठाकुर के छद्मनाम से 'आलाल के घर में दुलाल' नामक चित्रकथा की रचना की थी। प्यारीचाँद की जीवद्दशा में ही और एक टेकचाँद का प्रादुर्भाव हुआ था। "टेकचाँद ठाकुर (जूनियर)" इस नाम से नकली टेकचाँद ने "कलकत्ते की लुक्काचोरी" नाम की पुस्तक लिखी। यह पुस्तक सबसे पहले १८६९ साल में विद्यासागर प्रेस से प्रकाशित हुई।

असली टेकचाँद की जीवद्दशा में ही इन नकली टेकचाँद के प्रादुर्भाव से प्यारीचाँद क्षुब्ध नहीं हुए। इसका कारण यह था कि उन नकली टेकचाँद ने सबसे पहले ही इन असली टेकचाँद—प्यारीचाँद—को गुरु मानकर अपना नमन दिया था।

आज के जमाने में मृत व्यक्तियों के प्रति कटूक्तिपूर्ण वर्णन करना हीनरुचि का परिचय माना जाता है। जूनियर टेकचाँद में यह भद्रताबोध नहीं था। कालीप्रसन्न की मृत्यु के बाद अपनी कई रचनाओं में इन नकली टेकचाँद ने उन्हें प्रायः अश्लील भाषा में गाली-गलौज का तर्पण

दिया। 'कलकत्ते की लुकाचोरी' पुस्तक की सूचना में ही इन नकली टेकचाँद ने हुतात्मा पर आक्रमण किया है कि "हूतोम के नकशों की रचना यद्यपि चमत्कार कही जा सकती है, फिर भी अच्छी याददाश्त के साथ उसे पढ़ने पर टेकचाँद ठाकुर महोदय के उच्छिष्टों का संकलन ही पूरे तौर पर कहना पड़ेगा। हम और दूसरे-दूसरे पाठक, अनेकों ही, उसे टेकचाँद ठाकुर की ट्रू-कापी कहा करते हैं। वह भी एक तरह की कलकत्ते की लुकाचोरी ही है।"

नकली टेकचाँद ने अपनी पुस्तक का समर्पण कालीप्रसन्न के प्रतिद्वन्द्वी भोलानाथ मुखोपध्याय के नाम किया था। कालीप्रसन्न बनाम भोलानाथ का यह मसियुद्ध उस समय के पाठकों के समक्ष विशेष उपभोग-योग्य चीज मानी जाती थी।

स्वाधीनता-आन्दोलन के इतिहास में 'नीलदर्पण' का भी एक विशिष्ट अवदान है। दीनबन्धु के चरण-चिह्नों का अनुसरण कर उस जमाने में अनेक दर्पणग्रन्थ प्रकाशित हुए थे। प्रत्येक ने ही इन ग्रन्थों को अपने नाम से लिखा था एवं प्रत्येक का ही उद्देश्य महान था। दक्षिणारंजन चट्टोपाध्याय ने 'चा-कर दर्पण' और 'जेल दर्पण' नाम के दो नाटक लिखे थे। मीर मुशर्रफ हुसेन ने 'जमींदार दर्पण' लिखा था।

'नीलदर्पण' का अनुसरण करने के बावजूद 'चा-कर दर्पण' और 'जमींदार दर्पण' का उद्देश्य महान था। इनके लेखकों ने आर्थिक बुद्धि के ऊपर जातीय कल्याण की बुद्धि को स्थान दिया था। किन्तु, एक दूसरे प्रकार का भी नकली साहित्य सामने आया था, जो न तो नकल ही था और न साहित्य ही। बंकिमचंद्र की मृत्यु के बाद विभिन्न व्यक्तियों ने उनकी ग्रन्थादि रचनाओं का संपादन किया, और अनेक क्षेत्रों में ही सम्पादित ग्रन्थों के साथ मूल ग्रन्थों का पाठान्तर होता ही गया।

किन्तु, क्या आप किसी ऐसी बंकिम-रचना की बात मन में कभी सोच सकते हैं, जिसके असल और नकल के बीच कहानी या भाषा का कोई भी सादृश्य न हो?

लगभग तीन साल पहले मैंने कलकत्ते के बटतला महल्ले की एक दूकान से 'बंकिमचन्द्र के कई नाटक' खरीदे थे। प्रत्येक नाटक का दाम था पंद्रह पैसा। सबकी पृष्ठसंख्या थी पचीस से तीस के बीच। आलंकारिक लोग जिसे 'अघटघटनापटीयसी विद्या' कहकर उल्लिखित कर गए हैं, वह विद्या बटतला के उन नाटकों में पूरे तौर पर भरी मिली। नाटक की भाषा से बंकिम-उपन्यास की भाषा में कोई सादृश्य नहीं था और कहानी भी विकृत ही थी। जैसे; 'आनन्दमठ' नाटक में संन्यासीगण अंत में युद्ध को भंग कर हिमालय की ओर वाणप्रस्थ के लिए नहीं जाते हैं, बल्कि वे बृटिश सैन्य को पराजित कर बन्दी बना लेते हैं और बाद में स्वाधीन हिन्दू राज्य तक की स्थापना करते हैं। 'दुर्गेशनन्दिनी' में आयशा ने जगतसिंह को क्षमा नहीं किया, बल्कि तिलोत्तमा को द्वन्द्व-युद्ध में पराजित कर बाद में वह जगतसिंह से विवाह करती है।

यह बटतला के नाट्यकार का परम सौभाग्य है कि उसने बंकिमचन्द्र की जीवद्दशा में इन नाटकों की रचना नहीं की। अपनी कहानी को विकृत करने के लिए जिन्होंने अपने रिश्तेदार ललित वन्द्योपाध्याय तक को क्षमा नहीं किया, वे बंकिमबाबू क्या इस बटतला के नाटककार को जेल भिजवाए बिना रह सकते थे?

(पृष्ठ ३६ का शेष)

समन्वय से गान में एक विशेष भाव की सृष्टि होती है। स्वतंत्रभाव से वह भाव बड़ा होता है, या शिल्पी के गाने की भंगी? यदि शिल्पी की भंगी का समान प्राधान्य स्वीकृत न हो, तो इस निष्कर्ष पर पहुँचा जायगा कि हर-कोई शिल्पी स्वरलिपि-निर्धारित सुर में गाकर किसी गान को रसोत्तीर्ण कर देने में सक्षम है। किन्तु कार्यक्षेत्र में यह नियम अचल नहीं है क्या? वस्तुतः, शिल्पी के कंठस्वर के गुण में और गाने की भंगी में ही, अन्त तक गान गान होकर नहीं ठहरता है क्या? और, अगर गान का गाना ही श्रोता को अच्छा नहीं लगे, तो राग के भाव और शब्द-पुंज के तात्पर्य का मूल्य ही क्या होगा?

पुस्तक-व्यवसाय : कुछ समस्या

श्री हंसकुमार तिवारी

हिंदी में पुस्तक-व्यवसाय इधर काफी बढ़ा है, इसमें शक नहीं; लेकिन इस बढ़ने को आशातीत तो नहीं ही कहा जा सकता, मैं संतोषजनक भी न कहूँगा। न कहूँगा इसलिए कि बिक्री के बढ़ने का जो स्वरूप है, उससे आशा चाहे जितनी बड़ी हो, स्थायी विश्वास का यह ठोस आधार नहीं। विश्वास का ठोस और स्थायी आधार हम तभी मानेंगे, जब पुस्तक सामाजिक जीवन का आवश्यक अंग हो। जनसंख्या एवं उसके अनुसार शिक्षितों की जो औसत संख्या पड़ती है, इस दृष्टि से आप विचार करके देखें, तो पाएँगे कि पुस्तकों की माँग और खपत नहीं के बराबर है। पुस्तकों की कीमत ज्यादा होती है, लोग अभाव-ग्रस्त हैं— यह वह बहुत-से कारण बताए जाते हैं। हकीकत में वे दलीलें हैं, सचाई नहीं। अभाव और गरीबी के इसी हाहाकार में फिजूल-खर्चियों का लेखा लगाकर आप देखें, तो हैरत होगी। वैसे मदों में, जिनके बिना भी जिंदगी मजे में चल सकती है, मँहगाई बाधा नहीं होती। इधर रोना चाहे जितना रोएँ, लोग वैसे सामानों में रुपया खुशी-खुशी खर्च करते हैं। बहाना अगर कहीं बनाते हैं, तो किताबों के बारे में। लिहाजा यह तय है कि किताबों को लोगों ने जीवन के लिए अभी जरूरी नहीं समझा है। प्रकाशन-व्यवसाय को फलते-फूलते देख या पुस्तकों से जो आय-आमद होती है, उसका लंबा-चौड़ा आँकड़ा देख व्यवसाय की प्रगति का अनुमान स्वाभाविक है। लेकिन आमद-रफ्त के इस लंबे लेखे के भीतर की बात और है। यह खरीद-फरोख्त जो लाखों-लाख, करोड़ों-करोड़ का होता है, वह या तो सरकारी खरीदगी है, पुस्तकालयों या पुरस्कार-वितरण-उत्सवों के लिए होती है। गाहे-बगाहे इक्के-दुक्के जो खरीदार दूकानों पर आते हैं, उनमें से अधिकतर लोग शादी-ब्याह, जन्म-दिन, साल-गिरह पर उपहार देने के लिए किताबें खरीदते हैं। इस खरीदने में भी उनकी नीयत को मैंने टटोल कर देखा है। और पाया है कि उपहार में किताब को उत्तम समझकर वे किताब नहीं देते हैं—देते हैं कि और [illegible] से यह सस्ती पड़ती है। मैंने अखिल भारतीय स्तर पर आँकड़ा जरूर नहीं बटोरा है, लेकिन छानबीन करके देखा है। व्यक्तिगत तौर पर अनुभव किया है। मैं जिस शहर में हूँ, उसकी आबादी डेढ़-लाख से ऊपर है। तीन-चार कालेज हैं। नौ-दस स्कूल हैं। सैकड़ों डाक्टर-वकील हैं। सैकड़ों अध्यापक-प्राध्यापक हैं। गर्ज कि इस आबादी में पढ़े-लिखों का अनुपात भी खासा है। आर्थिक संपन्नता वाले भी कम नहीं। मगर दुःख के साथ मैं आपको यह बताऊँ कि इतने बड़े शहर में मैं दस भी ऐसे परिवार का जिक्र नहीं कर सकता, जिनके मासिक या सालाना बजट पर महज दस रुपये भी किताब के नाम पर नियमित रक्खे जाते हों। महीने में दस-बीस भी ऐसे जिज्ञासु दूकान पर नहीं आते जो इस विषय में पूछे-आछें कि साहित्य के किस अंग की कौन-सी किताब इधर नई निकली या उनके खास अमुक फलाँ लेखक की कौन-सी नई कृति निकली। मैंने विभिन्न जगहों में पुस्तक-व्यवसाइयों से समय-समय पर मौखिक पूछा है और कमोवेश सब जगह की स्थिति ऐसी ही पाई है। फलस्वरूप जन-जीवन के मन का किवाड़ किताबों की ओर से कितना खुला है, समझना आसान है। सामयिक तौर पर सरकार की देश-प्रगति-योजनाओं की बुनियाद पर ही इस व्यवसाय की यह आकस्मिक प्रगति है। थोड़ी देर के लिए कहीं यह खरीदगी रोक दी जाय तो इस व्यवसाय में आए ज्वार में बेशक भाटा पड़ जाय। गोकि वैसी संभावना नहीं। न भी हो, परंतु इस प्रगति को इसीलिये मैं बुनियादी और ठोस नहीं कहता।

अंग्रेजी भाषा की शिक्षा का भारत में प्रवर्त्तन करने के पीछे लार्ड मेकाले की एक बड़ी दूर-दर्शिता थी। उन्होंने खूब समझा था कि एक विशाल जाति सिर्फ तोप-तलवार की ताकत से ज्यादा दिनों तक गुलाम बनाकर नहीं रक्खी जा सकती, जबतक उसकी संस्कृति की पूँजी का वाहन उसकी अपनी भाषा है। फलतः उसकी भाषा छीनो, इसकी शक्ति ही जाती रहेगी, जो उसके संस्कारों से उद्बुद्ध है। इसका ज्वलंत उदाहरण हमारी गुलामी का इतिहास है हमारे स्वाधीनता-संग्राम का इति-वृत्त है। पुस्तक-व्यवसाय की ठोस बुनियाद भी हमें असल में जन-

जीवन में ही रखनी होगी। बेशक इन चेष्टाओं में भी वह निहित है और दस-बीस साल में पुस्तक-प्रेम अपेक्षाकृत बढ़ा है, यह भी मानना ही पड़ेगा। फिर भी इस व्यवसाय की नई सब्ज शाखों में ही घुन के भी आसार दीख रहे हैं, उनकी ओर भी हमारा ध्यान जाना जरूरी है। प्रगति के इस आवेगमय कदम के साथ-साथ ही खतरे की घंटियाँ भी बज रही हैं। विस्तार से उन वजूहातों को कह सकना यहाँ संभव नहीं—उनमें से कुछ की ओर संकेत ही कर सकूँगा।

सबसे पहली बात तो है आपस की एक अकारण और बेतौर होड़। प्रतिस्पर्द्धा अच्छी चीज है, बशर्ते उसके पीछे की कामना निर्मल हो। अनर्थकारी होड़ अच्छी नहीं और दुःख है कि उत्पादन और वितरण दोनों में यह अमंगलकारी होड़ मची है। अनियंत्रित बाढ़ की वजह से प्रकाशन के स्तर और मान को आँच आती है और वितरण में नैतिकता को। प्रकाशक-संघ की स्थापना से इन अनियमों को नियंत्रित करने एवं सद्भावना पर आपस के मीठे संबंध के द्वारा व्यवसाय की चौमुखी उन्नति का सराहनीय प्रयास हो रहा है। लेकिन अनैतिकता के इस विषाक्त वायुमंडल में संगठन का वह सौम्य मंगल-स्वरूप अभी भी सपना है। मसलन एक बात मैं बताऊँ। संघ ने भारत भर के विक्रेताओं को पंजीबद्ध किया और आपूर्त्ति आदि के निश्चित नियम बना दिए। फिर भी उनमें घनघोर धाँधली है, वैसी ही धाँधली, जो सरकारी कंट्रोल कांड के जमाने में थी। शिव ने कामदेव को भस्म किया। कवि ने इसपर एक बड़ी कीमती बात कही है। कहा, हे संन्यासी, तुमने यह किया क्या? अबतक तो यह कंबख्त एक ही जगह था। अब तो इसकी राख तमाम फैल गई। सरकारी विभागों की वह अनैतिकता आज सर्वव्यापी है। कंट्रोल के युग में एक अजीब बात देखी गई। उत्पादन के तिल-तिल का हिसाब है, वितरण के के जर्रे-जर्रे का लेखा बही में है, मगर आप बाजार में जायँ, ज्यादा दाम देकर जितना सामान चाहें, तुरत उठा लें। हमारे संघ में हर संभव नियम के बावजूद अनियम का पहाड़ है। निविदा में लोग कमीशन की दरें दिखावे की भरते हैं और जहाँ आपूर्ति करते हैं, वहाँ के अधिकारियों को गुपचुप वादा अलग से करते हैं। यह बात वहाँ और भी भयंकर हो उठती है, जहाँ प्रकाशक खुद आपूर्ति का काम भी करते हैं, अपने जिम्मे भारत भर के दूसरे प्रकाशकों की एजेंसियाँ भी रखते हैं। उन्हें यह गुंजाइश होती है कि थोड़ा-सा मुनाफा रखकर ज्यादा-से-ज्यादा का प्रलोभन देकर बड़ी-बड़ी आपूर्तियों का सुयोग ले लेते हैं। हाथी के इस दो दाँत के रवैये आज सर्वत्र हो रहे हैं, अथच किसी की कुछ नहीं चलती। इसपर चाहे जैसे हो, नियंत्रण करना होगा। क्योंकि इससे अनाचार को बढ़ावा मिलता है, आपसी कटुता बढ़ती है, इतना ही नहीं, बीच का एक साधारण वर्ग, जो संख्यागुरु है, धीरे-धीरे नष्ट हो रहा है। वह वर्ग है साधारण विक्रेताओं का। उत्पादक और पाठक के बीच की कड़ी ये विक्रेता हैं। आपूर्ति की इस घुड़दौड़ में कायदे-कानून को बालाए-ताक रखकर लोग हर कुछ करते हैं। प्रकाशक समर्थ हैं। संपन्न हैं। साधन के धनी हैं। उनके प्रतिनिधि अब भारत भर में घूम-घूम कर संस्थाओं से आर्डर तक ले लेते हैं—ले लेते हैं इसीलिए कि वे ज्यादा-से-ज्यादा सुविधा दे सकते हैं, देते हैं। बेचारे स्थानीय हीन-साधन विक्रेताओं की आजीविका तक पर आ बनती है। यह एक जलता हुआ प्रश्न है, जिसका समाधान ढूँढना है। और इस एक प्रश्न के ही अनेक आनुषंगिक हैं—इस एक रोग के बहुत-से उपसर्ग हैं, जिनसे हमारी संगठन-शक्ति खोखली होती है।

इन कारणों से एक नई महामारी आई है। प्रसंगवश एक बात याद आ गई। एक बार ठाकुर श्रीनाथ सिंह ने एक लेख में यह बताया था कि प्रेमचन्दजी ने उनके किसी उपन्यास का प्लाट चुरा लिया है। प्रेमचंदजी ने इसके प्रतिवाद में हाय-तौबा न की। उन्होंने एक जगह चार-छह पंक्तियों में इतना ही कहा, लगता है ठाकुर साहब को मालीखूलिया की बीमारी हो गई है। इस बीमारी के मरीज को हर घड़ी यही लगता रहता है कि लोग मेरी चीज को उठाए लिए जा रहे हैं। गनीमत है कि वह तो एक लक्षण भर है और सिर्फ वहम ही होता है, किताबों की दुनिया में तो ले भागने की यह बीमारी ला-इलाज हो उठी है। आपकी किताब है,

मजे में छाप कर बेच रहा हूँ। आप टुकुर-टुकुर ताक रहे हैं, करते-धरते कुछ नहीं बनता। पहले यदा-कदा ऐसी बात सुनने में आती थी और तब उसका प्रतिकार भी हो जाता था। लोग छिपा-छिपा कर बचा-बचा कर ऐसा करते थे। अब तो यह बात आम हो गई है। और खुले आम हो रही है। आप प्रकाशक हैं, किताब छपाइए, लेखक को पारिश्रमिक दीजिए, दौड़-धूप कर एड़ी-चोटी का पसीना एक करके उसे पाठ्यपुस्तक में या सरकार की स्वीकृत सूची में रखिए-रखाइए और दूसरे हैं जो मजे में उसे छाप कर सरेआम बेचें, कौड़ी से करोड़ीमल हो जायँ। और मजा यह कि हर्र लगे न फिटकिरी, रंग चोखा। यह कोई कल्पना नहीं, हकीकत है। कई साल से, जब से सरकार ने पाठ्य-पुस्तकों का आंशिक राष्ट्रीयकरण किया, हमारे यहाँ तो यही हो रहा है। और राज्यों के मेरे अनुभव जरूर नहीं हैं। मगर छूत की बीमारी को फैलते कितनी देर लगती है। हमारे यहाँ सरकार की पाठ्यपुस्तकों में से एक-एक के दर्जनों प्रकाशक हैं। जिसके जी में आया, उसी ने छाप दिया। लेखक को देना नहीं, मंजूर कराने की बला नहीं मोल लेनी और निश्चित बिक्री—ऐसे लाभ का व्यवसाय कौन न करे। अबतक यह बात पाठ्य-पुस्तकों तक ही महदूद थी, अब उसका कार्यक्षेत्र और भी विस्तृत हो गया। आपकी किसी किताब की पाँच सौ प्रति का आर्डर किसी प्रसार-खंड या कहीं से मिला। आपसे मँगायें—यह खट-पट कौन करे। सीधे छपवा कर किताब दे आया। शुरूआत सरकारी किताबों से हुई—चूँकि वहाँ विक्रेताओं की असुविधाओं का अंत नहीं था और खुद वहीं विभीषण थे। अब जब लोगों को इस सेंत के लाभ का चस्का लगा तो ये किसी को भी बरी करने को तैयार नहीं। जिनकी भी कोई बिकने लायक किताब हो, वह मजे में कहीं छप गई, किसी ने छाप ली।

प्रकाशक अलग परेशान हैं और जो ईमानदार दूकानदार हैं, वे अलग परेशान हैं कि इन जारज पुस्तकों के चलते उनके व्यवसाय को धक्का लगता है। जिन पाठ्य-पुस्तकों पर सरकार दस, प्रकाशक पंद्रह प्रतिशत कमीशन देते हैं—वही पुस्तकें घर बैठे दूकानदार को पैंतालीस और पचास प्रतिशत पर मिल जाती हैं। जो दूकानदार दाँत पर दाँत रक्खे इस प्रलोभन को जीतने की कोशिश करता है, पड़ोसी दूकानदार की इस हरकत से उसकी रोजी जाती है। यह बुराई और क्या क्या गुल खिलाएगी कहा नहीं जा सकता। अगर इस राक्षस-शिशु को अभी से नमक नहीं चटाया जायगा तो आगे चल कर यह सब को लील जायगा।

बातें और भी हैं, कहाँ तक गिनाई जायँ—लेकिन ये अहम मसले हैं और यथाशीघ्र इनके हल की जरूरत है। नहीं तो यह मर्ज तो लाइलाज हो ही जायगा, इससे और भी अजीबोगरीब रोग के कीटाणु पैदा होंगे—जो फूलते-फलते पेड़ की एक एक पत्ती को चाट जाएँगे—आशा का पेड़ ठूँठ और नंगा ही खड़ा रहेगा।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ

छठा अधिवेशन, पटना

अध्यक्षीय अभिभाषण

*

श्री कृष्णचन्द्र बेरी

अखिल भारतीय हिन्दी-प्रकाशक-संघ के छठे वार्षिक सम्मेलन का, जो आज प्राचीन मगध की राजधानी पाटलिपुत्र में अनुष्ठित होने जा रहा है, सभापतित्व करने का मुझे जो अवसर दिया गया है, उसके लिये मैं संघ का कृतज्ञ और आभारी हूँ। यह दायित्वपूर्ण भार इस विश्वास के आधार पर ही ग्रहण कर रहा हूँ कि बड़ों का आशीर्वाद और समवयस्कों का स्नेह मुझे निरंतर प्राप्त होता रहेगा और उनके निर्देश का प्रकाश मेरे कर्त्तव्य-पथ को बराबर आलोकित रखेगा।

शिक्षा के क्षेत्र में बिहार का वैशिष्ट्य हमारे गौरवपूर्ण इतिहास की प्रेरणामयी गाथा का उज्ज्वल अंश है। वैशाली और नालन्दा जैसे प्राचीन विद्यापीठों का इतिहास बिहार की गौरवगाथा को सारे भारत में ही नहीं, प्रत्युत विश्व में मुखरित कर रहा है। बिहार ने प्रकाशन-कार्य में जो महत्वपूर्ण भाग लिया है, वह अपनी जगह एक ही है। स्वर्गीय आचार्य महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, पं० सकलनारायण शर्मा आदि विभूतियाँ आज भी हमें हिन्दी के गौरव का स्मरण दिलाती हैं। हिन्दी-प्रचार के क्षेत्र में बिहार-केशरी स्व० डॉ० श्रीकृष्ण सिंह तथा डॉ० अनुग्रहनारायण सिंह की हिन्दी-सेवाएँ चिरस्मरणीय रहेंगी। राजा राधिकारमण सिंह, आचार्य शिवपूजन सहाय, राष्ट्रकवि दिनकर, रामवृक्षजी बेनीपुरी आदि विद्वान् भारतीय सहित्य के जाज्वल्यमान नक्षत्र माने जाते हैं। प्रकाशन के क्षेत्र में खड्गविलास प्रेस, आचार्य रामलोचन शरण का पुस्तक-भंडार, स्व० पं० रामदहिन मिश्र की बाल-शिक्षा-समिति, अजन्ता प्रेस, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, ज्ञानपीठ प्राइवेट लि०, अशोक प्रेस आदि प्रकाशन-संस्थाओं ने हिन्दी की जो सेवा की है, वह भारतीय प्रकाशन के इतिहास में चिरस्मरणीय रहेगी।

पुस्तक-प्रकाशन एवं तत्संबंधी समस्याओं पर कुछ कहने से पूर्व मैं प्रकाशकों के संबंध में दो शब्द निवेदन करना चाहता हूँ, क्योंकि मैं अनुभव करता हूँ कि प्रकाशकों के त्याग की कहानी संभवतः देश भूल चुका है। मेरी आँखों के सामने आज भी वह दृश्य नाच रहा है जब मैं देखता था कि कलकत्ते के चौराहों पर राष्ट्रीय पैम्फ्लेट छापते तथा बेचते हुए ये प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता पुलिस द्वारा बेरहमी से पीटे जाते थे और उनके प्रेस तथा कार्यालय गोरी सरकार की चेरी पुलिस उठा ले जाती थी। राष्ट्रीय आंदोलनों के दिनों में इन्हीं प्रकाशकों ने साहित्य के दीप को अपनी साहित्य-सेवा से दीप्त रखा। स्मरण कीजिए, राष्ट्रीय आन्दोलनों के दिनों में देश के इन्हीं प्रकाशकों ने बापू के आह्वान पर दिन-रात ब्रिटिश जुल्मों के बावजूद राष्ट्रीय भावना जागृत करने वाले साहित्य का प्रकाशन किया और जनजीवन को बल दिया। मुझे यह देखकर दुख होता है कि आज प्रकाशन का कार्य करने वाले इस वर्ग का उतना समादर नहीं है जितना होना चाहिए था। मुझे आपसे कहना है कि प्रकाशक, जनता और साहित्यकार के बीच एक कड़ी है। साहित्यकारों के साहित्य को जनता तक पहुँचाने के उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस कड़ी को बनाये रखना आवश्यक है।

पुस्तकों की वह भूमिका, जबकि उन्हें आध्यात्मिक या बौद्धिक विचारों की अभिव्यक्ति का एकमात्र साधन माना जाता था, समाप्त हो चुकी है। रेडियो और टेलीविजन को लोग अब शिक्षा का माध्यम मानने लगे हैं। प्रकाशकों को इन्हीं परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्य का निर्वाह करना पड़ रहा है। सन् १९१४ के पूर्व जिस तरह जनता की रुचि पुस्तकों की ओर रही, वह आज

जनसंख्या के अनुपात से नगण्य है। आज समस्त विश्व का ढाँचा बदल चुका है। लोग यह समझने लगे हैं कि जबतक हम मोटर-गाड़ियों, दवाइयों, सौंदर्य-प्रसाधक-सामग्रियों तथा साज-सजावट के समानों का उपयोग नहीं करेंगे, तबतक हमारा समाज में सम्मान नहीं होगा। आर्थिक विभीषिका के इस युग में मानव का ध्यान फैशन की होड़ में उसे मानसिक शान्ति नहीं देता। मानसिक शान्ति के अभाव में चिन्तन की ओर बहुत ही कम ध्यान जाता है और चिन्तन के अभाव में मनुष्य को अपने कर्त्तव्याकर्त्तव्य को स्थिर करने का अवसर ही नहीं मिलता। चिन्तन पठन का दूसरा रूप है। जब चिन्तन नहीं तो पठन भी नहीं। पठन की प्रवृत्ति होना ही पुस्तकों की ओर झुकाव है। आज लोग पुस्तकें पढ़ने की अपेक्षा वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा प्रस्तुत रेडियो, चल-चित्रों एवं टेलीविजनों आदि में ही खाली समय बिताना अधिक पसन्द कर रहे हैं। लोग प्राकृतिक आनन्द को छोड़कर अप्राकृतिक जीवन को अपनाते जा रहे हैं। यही कारण है कि उन्हें प्राकृतिक आनन्दों से वंचित रहना पड़ता है और वे पुस्तकों के नैसर्गिक आनन्द को भूल जाते हैं। आज जनता की रुचि पुस्तकों की ओर उतनी नहीं है, जितनी कि १९वीं शताब्दी में रही है। मेरे कहने का यह तात्पर्य नहीं कि पहले की अपेक्षा आज पुस्तकें कम बिक रही हैं। भारत में जनता की रुचि पुस्तकों की ओर वैसे ही कम है। पश्चिम का एक उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ। १८९० में मध्य योरोप में सवा छह करोड़ आबादी वाले जर्मनी में जर्मन भाषा में १९००० नये प्रकाशन हुए। अर्थात् प्रत्येक एक लाख अबादी के पीछे ३० नये प्रकाशन। आज जब कि पश्चिम में शिक्षा के क्षेत्र में पहले से अत्यधिक प्रगति हुई है, तब भी एक लाख जनता के पीछे जर्मनी में केवल ३४ नये प्रकाशन हुए हैं। जनता की रुचि पुस्तकों की ओर बढ़ाने के लिए प्रकाशकों को चाहिए कि वे इस भार को अपने सबल कन्धों पर उठायें और जनता में पठन-रुचि पैदा करने के लिए स्वस्थ, सुमुद्रित, रुचिकर साहित्य प्रस्तुत करें। हमें इस बात की खोज-बीन करनी है कि क्या कारण है कि आज ४४ करोड़ की आबादीवाले भारत देश में पुस्तकों की ओर जनता की रुचि कम है। हमें ऐसी स्थिति उत्पन्न करनी है कि सामान्य जनता का ध्यान साहित्य की ओर आकृष्ट हो। यह कार्य तभी संभव है, जब प्रकाशक यह समझें कि पुस्तक-प्रकाशन-कार्य व्यवसाय नहीं, समाज-सेवा है। समाज-सेवा की दृष्टि से उन्हें इस व्यवसाय में आना चाहिए। जो लोग इस व्यवसाय से अंधाधुंध धनोपार्जन करना चाहेंगे, उनसे मैं हाथ जोड़कर कहूँगा कि वे अन्य धंधों की ओर जायँ, क्योंकि ऐसे लोगों के हाथों से साहित्य का मंगल और कल्याण नहीं हो सकता।

हिन्दी के राष्ट्रभाषा हो जाने के बाद हिन्दी-प्रकाशकों का दायित्व बहुत-कुछ बढ़ा है। आवश्यक है कि हिन्दी में विज्ञान, गणित और तकनीक सम्बन्धी साहित्य काफी संख्या में प्रकाशित किये जायँ। हिन्दी में कोश-ग्रन्थों का अभाव है, हालाँकि इस क्षेत्र में प्रकाशकों तथा सरकार के उद्योग से काफी प्रगति हुई है। केन्द्रीय सरकार ने अभी हाल में ही विज्ञान-संबंधी पुस्तकें छापने के लिए प्रकाशकों को आमन्त्रित किया है, परन्तु उसके नियम-उपनियम ऐसे विचित्र हैं कि प्रकाशक उन्हें स्वीकार नहीं कर सकते। यदि सरकार को विज्ञान और तकनीक संबंधी प्रकाशनों को बढ़ावा देना है तो उसे प्रकाशकों को उदारतापूर्वक ऐसी सुविधाएँ देनी चाहिए जिनसे उन्हे प्रोत्साहन मिले। हिन्दी में इस तरह की पुस्तकों का प्रकाशन सरकारी तथा गैर-सरकारी स्तर पर थोड़ा-बहुत हो रहा है, परन्तु सरकारी पक्ष की ओर से इस पर बहुत ही रुपया व्यय किया जा रहा है। यदि यह कार्य इससे आध रुपयों से प्रकाशकों द्वारा कराया जाय तो बहुत ही अच्छा होगा, क्योंकि यह स्पष्ट है कि सरकारी प्रकाशनों की बिक्री की वह व्यवस्था नहीं हो सकती जो प्रकाशकगण अपने प्रकाशनों के वितरणार्थ करते हैं। यहाँ यह बता देना भी समीचीन होगा कि कभी-कभी सरकारी प्रकाशन अनुदान पानेवाली लाइब्रेरियों की खरीद के लिए अनिवार्य किये जाने पर भी उतने बिक नहीं पाते, जितना कि सामान्य प्रकाशक अपने प्रकाशनों को बेच लेते हैं। ऐसी स्थिति में मैं सरकार से अनुरोध करूँगा कि वह प्रकाशक-संघ के सहयोग से अच्छे प्रकाशकों को आर्थिक

सुविधाएँ दे ताकि वे वैज्ञानिक साहित्य के प्रकाशन में विशेष रूप से दिलचस्पी ले सकें।

आज भारत का स्थान प्रकाशन की संख्या की दृष्टि से तृतीय अवश्य है, परन्तु इससे प्रकाशन-स्तर को ऊँचा नहीं कहा जा सकता। निसन्देह जो स्थिति प्रकाशन-स्तर की १९४७ तक रही, वह आज ६१ में नहीं है। पहले की अपेक्षा मुद्रण का स्तर बहुत ऊँचा हो गया है। परन्तु यह बात सभी प्रकाशन-संस्थाओं के लिए लागू नहीं है। इने-गिने प्रेस ही अच्छी छपाई कर सकते हैं। केन्द्रीय गवेषणा और संस्कृति मंत्रालय ने देश में चार प्रिंटिंग टेकनालाजी स्कूल प्रान्तीय सरकारों के सहयोग से स्थापित किये हैं। ये स्कूल इलाहाबाद, मद्रास, बम्बई तथा कलकत्ता में स्थित हैं, परन्तु बड़े आश्चर्य की बात है कि केन्द्रीय गवेषणा-मंत्रालय या राज्य-सरकारों ने अभी तक प्रकाशक-संघ को इन स्कूलों के कार्य में दिलचस्पी लेने के लिए आमन्त्रित नहीं किया। देश में कुछ ऐसी संस्थाएँ हैं—जैसे भारतीय मानक संस्था, नेशनल प्रोडक्टिविटी कौंसिल, नेशनल बुक ट्रस्ट आदि—जिनमें प्रकाशक-संघ को समुचित स्थान मिलना चाहिए। मुद्रक-संघ को तो आमंत्रित किया गया है, परन्तु यह कभी सोचने की स्थिति नहीं आई कि पुस्तक-प्रकाशन के लिए प्रकाशक-वर्ग को भी प्रशिक्षित करना नितान्त आवश्यक है। मैंने इन स्कूलों का निरीक्षण किया है। इन स्कूलों द्वारा प्रकाशन-संस्थाएँ अपने कार्य-कर्त्ताओं को पुस्तक-प्रकाशन संबंधी ट्रेनिंग दिला सकती हैं, परन्तु ये स्कूल इतने पर्याप्त नहीं है कि इनसे प्रत्येक प्रकाशन-संस्था का एक-एक प्रतिनिधि भी शिक्षित हो सके। उपर्युक्त स्थिति में सरकार को चाहिए कि वह पंचवर्षीय योजनाओं में इस तरह की सुविधाओं की ओर अधिक व्यवस्था करे और इन स्कूलों के संचालन में प्रकाशक संघ का सहयोग प्राप्त करे।

मैंने पहले ही कहा है कि देश में पूर्वापेक्षा रेडियो, टेलिवीजनों, चलचित्रों के कारण पुस्तकों के पठन की ओर रुचि घट रही है, परन्तु आपको मैं और बताऊँ कि पुस्तकों की बिक्री घटने का कुछ दायित्व प्रकाशकों और लेखकों पर भी है। आज का लेखक न तो यह सोचता है कि वह जनता को किस तरह का साहित्य दे और न प्रकाशक परखने की चेष्टा करता है कि जनता के लिए वह किस तरह का साहित्य प्रकाशित कर रहा है। गन्दी, अश्लील पुस्तकों की यथार्थवाद के नाम पर बाजारों में भीड़-सी लग गयी है। अच्छे प्रकाशक भी थोथी दलीलों में आकर ऐसा गन्दा साहित्य भूल से छाप बैठते हैं। मुझे उस समय दुख होता है जब मेरे टेबुल पर लाकर आलोचक ऐसी पुस्तकें रखते हैं, जिनमें सामाजिक मर्यादा का अस्वाभाविक चित्रण रहता है। मैं सोचता हूँ, यदि हम ऐसे ही प्रकाशन करते रहें तो हिन्दी साहित्य का क्या भविष्य होगा, आनेवाली पीढ़ियाँ क्या बनेंगी और देश के चरित्र-निर्माण का क्या होगा? हिन्दी के किसी भी युग में इतनी अधिक संख्या में असंस्कृत लेखक और प्रकाशक नहीं हुए, जितने कि हम आज देख रहे हैं। मैं न ऐसे प्रकाशकों को प्रकाशक मानता हूँ और न ऐसे लेखकों को लेखक, जो साहित्य के नाम पर व्यभिचार बेचना चाहते हैं। हम सम्भवतः यह भूल जाते हैं कि साहित्य आध्यात्मिक और नैतिक चेष्टा को बल देने के लिए लिखा जाता है, उसके मूल को नष्ट करने के लिए नहीं। मेरे उपर्युक्त शब्द उन व्यभिचार बेचनेवाले लेखकों और प्रकाशकों के प्रति चेतावनी हैं जो इस तरह का साहित्य प्रकाशित कर रहे हैं। मैं आपको विश्वास दिलाता हूँ कि प्रकाशक-संघ ऐसे साहित्य के प्रकाशन को हरगिज बरदाश्त नहीं करेगा और अपने सदस्यों से कहेगा कि ऐसे साहित्य का प्रकाशन भूल से भी न करें, जिससे जनता की रुचि चरित्र-निर्माण और देश-सेवा से हटकर गन्दगी की ओर जाती है।

आजकल हिन्दी-प्रकाशनों में सबसे खटकनेवाली चीज दिखाई देती है प्रूफरीडिंग की असावधानी। अधिकतर पुस्तकें अशुद्धियों से भरी हुई हैं। शुद्ध पुस्तकें प्रकाशित करने के दायित्व को प्रकाशक समझें। विशेषतः जब विज्ञान और गणित की पुस्तकों में प्रूफरीडिंग की भूलें रह जाती हैं तो सर्वनाश समझिए। यदि कोई कोष-ग्रन्थ अशुद्ध छपा तो आप ही सोचिये कि उसका क्या महत्त्व रह गया? आवश्यक है कि प्रकाशक पाण्डुलिपियों की तैयारी, सम्पादन और प्रूफरीडिंग में विशेषरूप से

दिलचस्पी लें जिससे शुद्ध पुस्तकों का प्रकाशन हो और अशुद्ध पुस्तकें छपने-छपाने का कलंक उनपर न लगे। पुस्तकों को सुसंस्कृत रूप में प्रकाशित करना प्रकाशकों का नैतिक कर्त्तव्य है।

यह ठीक है कि पुस्तकों की बिक्री नहीं हो रही है, परन्तु कारण क्या और क्यों है, यह हमें देखना होगा। यदि हम सचेष्ट होकर पुस्तकों के प्रचार-प्रसार की वैज्ञानिक प्रणाली को अपने देश में लागू करें और जनता को नये प्रकाशनों की सूचना दे सकें तो निश्चय ही पुस्तकों की बिक्री बढ़ सकती है। हिन्दी के प्रकाशकों ने इस दिशा में देश का नेतृत्व किया है। कई पत्र, यथा 'प्रकाशन समाचार' 'हिन्दी प्रचारक' 'पुस्तक-जगत' 'नया साहित्य' आदि इसलिए प्रकाशित किये जाते हैं कि जनता को नयी पुस्तकों की सूचना मिलती रहे। इसी दिशा में प्रकाशक-संघ ने गतवर्ष राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का आयोजन किया था। आवश्यकता इस बात की है कि देश में आगामी वर्ष से राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह विदेशों की तरह धूमधाम से मनाया जाय। इस समारोह को राष्ट्रीय पर्व का रूप दिया जाना चाहिए। पुस्तकों का प्रचार शिक्षा का प्रचार है। शिक्षा का प्रचार देश के निर्माण की ओर बढ़ता हुआ कदम है। इस तरह का समारोह करने का दायित्व यदि प्रकाशकों पर है तो उसमें कन्धा देने का दायित्व जनता और सरकार पर भी है। प्रकाशक-संघ की योजना है कि आगामी वर्ष इस समारोह में राजनीतिक पार्टियों, सांस्कृतिक संस्थाओं, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों, लेखकों, पत्रकारों, आकाशवाणी आदि के सहयोग से राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह धूमधाम से मनाया जाय। आशा है कि हमें सबका सहयोग राष्ट्र-निर्माण के इस रचनात्मक कार्य में मिलेगा। समारोह की यह पद्धति यदि हमारे देश में आशानुकूल रूप में प्रचलित हो जाय तो शिक्षा के क्षेत्र में वह कार्य हो जायगा जो हमारी पंचवर्षीय योजनायें अबतक नहीं कर सकीं। पंचवर्षीय योजनायें तो सरकारी सीमा तक ही सीमित रह जाती हैं, परन्तु राष्ट्रीय-पुस्तक-समारोह यदि जनता को आकर्षित कर सका तो यह एक नयी क्रान्ति होगी और शिक्षा की ओर जनता का ध्यान आकर्षित होगा जो हमारी पंचवर्षीय योजनाओं का एक लक्ष्य है। गतवर्ष मैं प्रकाशक-संघ की ओर से अन्ताराष्ट्रिय प्रकाशक-संघ की वियेना कांग्रेस में सम्मिलित हुआ था। मुझे वहाँ विभिन्न देशों से आये हुए प्रतिनिधियों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। मैंने देखा, प्रत्येक पश्चिमी देशों में राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह मनाया जाता है और सारा राष्ट्र तन-मन-धन से उसमें जुट जाता है। प्रकाशक उन समारोहों के अवसर पर सारे देश में पुस्तक-प्रदर्शनियाँ करते हैं। पुस्तकों से सम्बन्धित चल-चित्रों का प्रदर्शन उन दिनों देश के सिनेमाघरों में होता है। कलाकार नाटकों द्वारा वर्ष की प्रसिद्ध कृतियों का अभिनय करते हैं। लेखक स्थान-स्थान पर भाषण देकर पुस्तकों की महत्ता समझाते हैं। राष्ट्रनायक आकाशवाणी द्वारा अपने भाषणों में पुस्तकें पढ़ने के लिए जनता से अपील करते हैं। वे पाठक पुरस्कृत किये जाते हैं जो वर्ष में अधिक पुस्तकें पढ़ लेते हैं। कई देशों में तो सिनेमा-घरों में टिकट के साथ-साथ उस समारोह के अवसर पर पुस्तकें भी खरीदनी पड़ती हैं। आपको आश्चर्य होगा जब मैं आपसे कहूँगा कि हालैण्ड और फ्रैन्कफर्ट के पुस्तक-मेलों की टिकटें उनके आकर्षक कार्यक्रमों के कारण एक वर्ष पहले ही बिक जाती हैं। मैं सरकार, प्रकाशक, लेखक और पुस्तक-प्रेमियों से अनुरोध करूँगा कि वे भारत की संस्कृति और शिक्षा की गौरववृद्धि के लिये तत्पर हों और आनेवाले समारोह में प्रकाशक-संघ को सहयोग दें।

पुस्तकों की बिक्री में कमी का एक और कारण है। इतना समय बीत गया फिर भी किसी जिज्ञासु को विषय-विशेष पर पुस्तक-सूचियाँ प्राप्त नहीं होतीं। यदि कोई व्यक्ति यह जानना चाहे कि हिन्दी में इतिहास के कितने ग्रन्थ छपे हैं और विज्ञान के कितने, तो उसके लिए एक समस्या खड़ी हो जाती है और वह विभिन्न प्रकाशकों से सूचियाँ एकत्र करते-करते थक-सा जाता है। ऐसी स्थिति में प्रकाशकों का यह दायित्व हो जाता है कि वे जनता के लिए प्रकाशक-संघ के माध्यम से विषय-क्रमानुसार सूचियाँ प्रस्तुत करें। प्रायः देखने में आता है कि माँग हिन्दी पुस्तकों की होती है लेकिन निश्चित सूचना के अभाव में हिन्दी पुस्तकों के समय पर न मिलने के कारण पुस्तकालय अंग्रेजी की पुस्तकें खरीद लेते हैं, चाहे सामान्य

जनता उन पुस्तकों का उपयोग भले ही न करे। हिन्दी पुस्तकों की बिक्री की कमी इसलिए भी है कि हिन्दी में ठोस साहित्य के प्रणयन का अभाव है। पुस्तकें खरीदकर पढ़ने का शौक हमारे देश में वैसे ही नहीं है और यदि पढ़े-लिखे लोग कभी पुस्तकें खरीदते भी हैं तो देखने में आता है कि उनकी रुचि अंग्रेजी में प्रकाशित पुस्तकों की ओर ही रहती है। इसका कुछ दोष हिन्दी के साहित्यकारों और प्रकाशकों को दिया जा सकता है। रचनाओं और प्रकाशनों में कुछ कमियाँ हैं, जिनके कारण जनता का ध्यान अबतक उतना आकृष्ट नहीं हो पाया जितना होना चाहिए था। यदि लोगों को मालूम हो जाय कि हिन्दी की अमुक रचना कोई नयी विचारधारा की प्रवर्त्तक या सर्वथा मौलिक है तो निश्चय ही पाठक हिन्दी की पुस्तकें पढ़ने में पूर्वापेक्षा अधिक दिलचस्पी ले सकते हैं।

पुस्तकों की बिक्री बढ़ाने के लिए प्रकाशक-संघ की ओर से पिछले दिनों 'सहकारिता के आधार पर पुस्तक-विक्रय' विषय पर एक विचार-गोष्ठी दिल्ली में आयोजित हुई थी। गोष्ठी ने एक निष्कर्ष यह भी निकाला था कि प्रकाशक-संघ के माध्यम से एक ऐसे सहकार की स्थापना की जाय जो प्रचार-सामग्री संयुक्तरूप से प्रकाशित करके प्रकाशकों तथा विक्रेताओं को दे। गोष्ठी का मत था कि इससे हिन्दी पुस्तकों का प्रचार-प्रसार काफी हो सकता है। यह नहीं है कि हिन्दी में ठोस प्रकाशन कतई नहीं हो रहे हैं, परन्तु वास्तविकता यह है कि जो प्रकाशन हो भी रहे हैं, उनकी सूचना जनता तक समुचितरूप से नहीं पहुँच पा रही है। ४४ करोड़ आदमियों का देश हो गया है। प्रकाशक-वर्ग इतना समृद्ध नहीं है कि वर्त्तमान वैज्ञानिक प्रणाली पर अधिक धनराशि व्यय कर सकें। ऐसी स्थिति में सहकारिता ही एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा प्रकाशक-वर्ग अपनी समस्या का हल खोज सकता है। पाठ्य-पुस्तकें तो अपने आप बिकती हैं, परन्तु हमें साहित्यिक प्रकाशनों की बिक्री की व्यवस्था की ओर ध्यान देना है। मैं पाठ्य-पुस्तक-प्रकाशकों से अनुरोध करूँगा कि वे जो रुपये पाठ्य-पुस्तकों से कमाते हैं, उसका कुछ अंश साहित्यिक प्रकाशनों में लगायें और साहित्यिक प्रकाशनों के प्रचार-प्रसार में योग दें। पाठ्य-पुस्तकों के प्रकाशकों के लिए यह आवश्यक है कि वे प्रकाशित होनेवाली पाठ्य-पुस्तकों का मुद्रण तथा विषय-स्तर ऊँचा उठायें ताकि हमारी आनेवाली पीढ़ी उचित रूप से शिक्षा प्राप्त कर सके और उसकी रुचि साहित्य की ओर बढ़े।

दो शब्द मुझे पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों तथा व्यवस्थापकों से भी कहना है। आज के युग में समाज में पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साहित्य के प्रचार के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि प्रत्येक पत्र-पत्रिका में पुस्तकों की समालोचना का स्तम्भ रहे और पुस्तकों के विज्ञापन की निर्धारित दरों में पचास फीसदी कमी की जाय। मुझे यह बताते हुए प्रसन्नता होती है कि भारत की कई पत्र-पत्रिकाओं ने अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के अनुरोध पर समालोचना के लिए स्तम्भ की स्थापना की है और अपने विज्ञापन की दरों में काफी कमी भी की है। मैं अन्य पत्र-पत्रिकाओं के व्यवस्थापकों तथा सम्पादकों से अनुरोध करूँगा कि वे इस दिशा में प्रकाशक-संघ की सहायता करें।

इस युग में जबकि दुनिया के किसी भी प्रबुद्ध देश में पुस्तकों पर टेण्डर-प्रणाली नहीं है, भारत में प्रकाशक-संघ के अनवरत प्रयत्नों के बावजूद यह प्रणाली पुस्तकों के लिए अभी तक लागू है। गुड़-गोबर एक ही भाव में तौला जाय तो चल नहीं सकता। साहित्य, साहित्य है। इसमें मोल-भाव बहुत ही बुरी चीज है। प्रकाशक-संघ ने इस मोल-भाव को खत्म करने के लिए 'नेट बुक एग्रिमेण्ट' कायम किया है जोकि बहुत ही सफल हुआ। आज सारे भारत में हिन्दी की पुस्तकों को आप कहीं भी जाइये एक ही दाम में प्राप्त कर सकेंगे। यदि टेण्डर-प्रणाली खत्म हो जाय तो निश्चय है कि साहित्य के प्रकाशन को प्रोत्साहन मिल सकेगा और अच्छे साहित्य के प्रकाशन करने की ओर प्रकाशकों का और अधिक झुकाव होगा। देश में पंचवर्षीय योजनाएँ चल रही हैं; द्वितीय पंचवर्षीय योजना समाप्त हो चुकी है, तृतीय का चरण पड़ चुका है, परन्तु हमें दुख है कि इन पंचवर्षीय योजनाओं में सहयोग करने के लिए प्रकाशकों को कभी भी आमंत्रित नहीं किया गया। मेरा अपना ख्याल है

कि जिस तरह सरकार ने समाचार-पत्रों का महत्त्व समझा है, यदि उसी तरह से उसने प्रकाशकों का सहयोग प्राप्त किया होता तो योजनाओं के प्रचार-प्रसार में काफी गति आ सकती थी। मैं प्रकाशकों की ओर से सरकार को यह विश्वास दिला सकता हूँ कि इन योजनाओं की सफलता में हमारा सहयोग माँगा गया तो वह सहर्ष दिया जायगा।

पिछले दिनों जब मैं यूनस्को द्वारा आयोजित दक्षिण-पूर्वी एशिया के प्रकाशकों की विचार-गोष्ठी में सम्मिलित होने गया था तो मुझे इस बात की आवश्यकता प्रतीत हुई कि हिन्दी प्रकाशनों का परिचय हमारे पड़ोसी देशों को प्राप्त होना चाहिये। लोगों का सुझाव था कि हिन्दी प्रकाशनों के इनर टाइटिल में यदि हमलोग पुस्तकों का विषय तथा नाम अंग्रेजी में छाप दिया करें तो लोगों को यह जानने की सुविधा रहेगी कि अमुक विषय पर अमुक पुस्तक प्रकाशित हुई है। मेरा ख्याल है कि यह एक साधारण-सी बात है और प्रकाशकवर्ग इसको स्वीकार करेगा।

लेखक-प्रकाशक-संबंध प्रकाशक-संघ की स्थापना के बाद काफी उन्नत और सुदृढ़ हुआ है। मैं प्रकाशकों और लेखकों से अनुरोध करूँगा कि वे आपसी संबंध बहुत ही सद्भावपूर्ण रखें। प्रकाशकों का यह इतिकर्त्तव्य है कि वे लेखकों को समुचित पारिश्रमिक दें और लेखकों को इस बात के लिये सचेष्ट रहना चाहिये कि वे जो सामग्री जनता के लिये प्रस्तुत करें, वह ठोस हो और वस्तुतः उपादेय भी। चूँकि मैं लेखक भी रह चुका हूँ इसलिए कह सकता हूँ कि प्रकाशक जो सुविधाएँ लेखकों को पहले दिया करते थे, भारत की स्वतंत्रता के बाद उसमें महान क्रान्ति हुई है और आज का प्रकाशक यह समझने लगा है कि पुस्तक-प्रकाशन में लेखक और प्रकाशक दोनों का ही समान योग है। मुझे आशा है, दिनोत्तर हमारा सम्बन्ध और दृढ़तर होगा और संयुक्त रूप से हम साहित्य की सेवा करते रहेंगे।

मैंने ऊपर जिक्र किया है कि सुमुद्रित पुस्तकों की नितान्त आवश्यकता है। देश में अच्छी पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए अभी मशीनरी की कमी है। सरकार को चाहिये कि वह वास्तविक उपभोक्ता प्रकाशकों को मशीनें आयात करने के लिए लाइसेंस बिना किसी रोक-टोक के दे। इस तरह की मशीनरी से हमारे विदेशी मुद्रा-कोश में कोई विशेष कमी नहीं होगी, क्योंकि ये मशीनें सामान्य मूल्य की ही होती हैं।

पहले राजनीति के दायरे में ही साम्प्रदायिकता, जातीयता और प्रान्तीयता थी। मुझे आज यह कहते हुए दुख हो रहा है कि प्रकाशकों के बीच भी प्रान्तीयता के विषबीज का वपन किया जा रहा है। मेरे पास समाचार आते हैं कि अमुक प्रान्त के प्रकाशकों ने अमुक राज्य के शिक्षा-विभाग को लिखा है कि राज्य के ही प्रकाशकों को संरक्षण दिया जाय। जन-मानस दीप्त करनेवाले प्रकाशक बन्धुओ, यदि आपने राजनीति की इस गन्दी चीज का सहारा लिया तो देश का क्या होगा? परमात्मा के नाम पर इन चीजों से दूर ही रहिये। हम सारे भारत के हैं, हम सारे विश्व के हैं और हमारी सीमा अनन्त है। राजनीति का दूसरा चक्र प्रकाशकों पर है, विदेशी सहायता स्वीकार करना। मेरा संकेत लोग स्वयं समझ लें। मैं यही अनुरोध करूँगा कि प्रकाशक दलगत राजनीति के लिए रुपयों के गुलाम न बनें और ऐसे प्रकाशनों से बाज आयें जोकि उन्हें रुपये देकर और खरीदकर कराये जाते हैं।

अन्त में मैं हिन्दी के उन प्रकाशकों के प्रति श्रद्धा निवेदित करता हूँ, जिन्होंने हिन्दी प्रकाशन की नींव डाली है। ऐसे लोगों में स्वर्गीय सर्वश्री महादेव सेठ, मुंशी नवलकिशोर, रामकृष्ण वर्मा, गोपालराम गहमरी, चन्द्रशेखर पाठक, चिन्तामणि घोष, राधामोहन गोकुलजी, रामलाल वर्मा, नाथूराम प्रेमी, मूलचन्द अग्रवाल, पद्मराज जैन, गणेशशंकर विद्यार्थी, महाशय राजपाल, नारायण प्रसाद अरोड़ा, बैजनाथजी कैड़िया, श्री शिवनारायणजी मिश्र तथा हमारे बीच आज भी उपस्थित राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त, नारायण दत्त सहगल, श्री निहालचन्द वर्मा, श्री देवनारायण द्विवेदी, पं० मार्तण्ड उपाध्याय, श्री महावीर प्रसाद जी पोद्दार, श्री जीतमल लूणिया, पं० वाचस्पति पाठक, श्री रायकृष्णदास जी आदि स्मरणीय हैं।

भारतीय लेखकों और भाषाओं का अपमान

नवसाक्षर

हमारे यहाँ साक्षरता-प्रचार-अभियान चल रहे हैं। अनेक सरकारी, अर्ध-सरकारी एवं गैर-सरकारी संस्थाएँ इस दिशा में काम कर रही हैं। यह बड़ा शुभ है। लेकिन इस सिलसिले में एक कठिनाई अनुभव की जाती रही है कि नवसाक्षरों की अध्ययन में अभिरुचि को कायम रखने के लिये यहाँ पाठ्य-पुस्तकों का अभाव है।

इस कमी को दूर करने के लिये भारत सरकार ने एक योजना के अनुसार लेखकों को नवसाक्षरों के लिये पुस्तकें लिखने के लिये आमंत्रित किया है। इससे धीरे-धीरे पुस्तकों की कमी पूरी हो जायगी और नवसाक्षरों को पुष्कल साहित्य उपलब्ध हो सकेगा। इस योजना के लिए भारत सरकार धन्यवाद की पात्र है।

किंतु...

भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विषय-सूची को देखने से पता चलता है कि शिक्षा-मंत्रालय के विशेषज्ञों ने इस विषय पर पूरा ध्यान नहीं दिया है। आम तौर पर नवसाक्षर नयी-नयी चीजों के बारे में जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। क्योंकि अक्षर-ज्ञान होने पर वे समाचार-पत्रों की ओर आकृष्ट होना प्रारंभ करते हैं, इससे उनमें ज्ञान की प्रवृत्ति के प्रति आकर्षण प्रारंभ होता है, यह बात खास तौर से प्रौढ़ नवसाक्षरों पर लागू होती है। साथ ही ये लोग अपने धंधों और पेशों से सम्बन्धित चीजों के बारे में ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं। इसलिये शिक्षा-मंत्रालय की विषय-सूची में पाठ्य-पुस्तकों के लिये ऐसे भी विषय होने चाहियें, जिनका नवसाक्षरों की रोजमर्रा की जिन्दगी से सम्बन्ध हो।

आश्चर्य

एक बात और। शिक्षा-मंत्रालय का निर्देश है कि भारतीय भाषाओं में लिखी पुस्तकों अथवा पांडुलिपियों के अंग्रेजी अनुवाद की चार-चार प्रतियाँ भी भेजी जायँ। क्यों, किस लिये? क्या यहाँ अभी अंग्रेजों का शासन है?

हम समझते हैं कि इस प्रकार के निर्देश भारतीय भाषाओं का अपमान है। यदि पुरस्कार-वितरण-समितियों में ऐसे लोग हैं, जो भारतीय भाषाओं का ज्ञान नहीं रखते, तो क्या यह भारतीय शासन के गौरव के अनुरूप है।

भारतीय भाषाओं में लिखी पुस्तकों और पांडुलिपियों के अंग्रेजी अनुवाद का सवाल पैदा करना एकदम गलत है। इस दासतापूर्ण प्रवृत्ति को भारत सरकार को स्वयं उन्मूलित कर देना चाहिये, इसके लिये जन-आंदोलन को उभारना ठीक नहीं।

बीज...

हमारे राजनेता आंदोलनात्मक प्रवृत्ति की आलोचना करते रहते हैं। उनका कहना है कि इसमें जनता की निर्माण-शक्ति क्षीण होती है, लेकिन आम तौर पर यह देखने में आता है कि केन्द्रीय तथा राज्य-प्रशासन एवं राजनेता ही आंदोलन के बीज बोते रहते हैं, और 'बीज बोयें बबूल के तो आम कहाँ से पायँ।' आंदोलन के बीज बोकर निर्माणात्मक उपलब्धियाँ तो नहीं ली जा सकतीं। यह बात हमारे नेता समझकर भी नहीं समझना चाहते।

अत्यंत असंगत

अंग्रेजी की चार प्रतियाँ मँगाने का यह अर्थ भी होता है कि अंग्रेजी अनुवाद से ही पांडुलिपि की सार्थकता मापी जायगी। इससे विषय-प्रतिपादन के सम्बन्ध में तो अधिकारी अपने विचार बना लेंगे, लेकिन उन्हें पुस्तकों अथवा पांडुलिपियों की भाषा के बारे में कैसे पता चलेगा कि वह नवसाक्षरों के लिये उपयुक्त है अथवा अनुपयुक्त। इस दृष्टि से केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय का यह कार्य एकदम असंगत है।

—'नवभारत टाइम्स'

'विचार-प्रवाह'

१३-३-६१

हिन्दी प्रकाशक संघ की सदस्यता और नैतिक अनुबंध

यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आप अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के पाटलिपुत्र अधिवेशन के अवसर पर अपना संयुक्तांक निकालने जा रहे हैं, जिसमें संघ के गठन और पुस्तक-व्यवसाय की समस्या आदि विषयों पर एक सुझाव और चर्चा का स्तंभ दे रहे हैं। यह कार्य निश्चय ही अवसर को देखते हुए स्तुत्य और आवश्यक भी है। आज हिन्दी भाषा के आगे कई राजनैतिक और अन्य समस्याएँ हैं और यहाँ अपने घर में भी विशद्रूप से झाड़ू देने की जरूरत है। हिन्दी की सर्वांग चौमुखी प्रगति के साथ हिन्दी पुस्तक-व्यवसाय का उत्थान-पतन नाखून और उँगली की तरह जुड़ा हुआ है, परस्पर-निर्भर है। प्रकाशक संघ के संगठन के बारे में एक बात यह है कि उसके विधान में मौलिक परिवर्त्तन की जरूरत है और वह है कि सदस्यता में, मेरा मत है कि, साधारण, विशेष एवं अधिकारीगण तक चुने जाने के सिलसिले में उत्तरोत्तर अधिक शुल्क का कोई आधार न हो। इस प्रजातांत्रिक युग में पैसे का आधार एक व्यवसाय-संबंधी संगठन में, जो निश्चय ही एक ट्रेड यूनियन है, पूँजीवादी मनोवृत्ति की बिल्कुल गलत पद्धति है। अधिक शुल्क देनेवाला व्यक्ति अधिक योग्य हो सकता है—निःसन्देह यह कोई आधार नहीं है। हमारे व्यवसाय में भी, जो लोग चंदे का कोटा देने का अधिक सामर्थ्य रखते हैं, उनमें निश्चय ही अनुभवी, योग्य और उत्साही जीव भी हैं। किन्तु इस तथ्य से भी कोई इनकार नहीं कर सकता कि योग्यता आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न व्यक्तियों का कोई ठेका नहीं है। जबकि केवल पैसे के आधार पर चुने जाने के बाद कई मिट्टी के माधो लोकसभा और विधान-सभा तक में देखे जाते हैं, तो ऐसे कारोबारी संगठन में तो और भी आसानी से आ सकते हैं। किंतु ऐसे संगठन निश्चय ही उस व्यवसाय या वर्ग का सच्चा प्रतिनिधित्व नहीं करते। वह महज गुटबन्दी होती है। सदस्यता बिलकुल ही निःशुल्क हो, ऐसा कहने का साहस मैं नहीं कर सकता, किन्तु शुल्क में पहले तो समानता हो, दूसरे वह इतना साधारण हो कि सभी आसानी से सदस्यता-लाभ के हकदार हो सकें। प्रकाशक-संघ का काम-काज चलाने के लिए जो प्रकाशक स्वेच्छा से दान देना चाहें, उन्हें कौन रोकना चाहेगा। अपने सहयोग से, बड़ी संस्थाओं से यूँ भी अपनी बिरादरी के हित में दान लिए जा सकते हैं। प्रकाशक-संघ को इस संबंध में कई प्रादेशिक प्रकाशक-संघ और विक्रेता-संघ का अनुकरण करना चाहिए, जहाँ शुल्क उस वर्ग के साधारण सदस्यों के हित और स्तर के अनुकूल लिया जाता है और अर्थ की किसी ऐसी-वैसी कमी के कारण कोई संघ टूटा नहीं। अतः जरूरत है कि हिन्दी प्रकाशक संघ से सदस्यता-शुल्क की ज्यादती और असमानता समाप्त की जाय।

कलकत्ता-अधिवेशन में विक्रेता और प्रकाशकों के लिए एक नैतिक अनुबंध की चर्चा सुनी थी। मगर उसकी रूपरेखा सामने नहीं आई। आज पुस्तक-व्यवसाय की सबसे बड़ी समस्या मेरे विचार में आपसी लेन-देन की ही है। हम व्यवसाय और नैतिक कर्तव्य दोनों को ही भुला रहे हैं। किताब के काम में पहले ही रुपया देर से लौटता है, लेकिन जो बिक्री आपने परिश्रम से की भी उसके मिलने की ही क्या आशा है? कुछ विक्रेता तो इस मामले में सोचने को तैयार तक नहीं होते, सहयोग देने पर भी उलटे भयंकर असहयोग देते हैं। यह ठीक है कि जिम्मेदार और अच्छे व्यवसायी भी हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत कम है। यह भी सत्य है कि कुछ विक्रेता अच्छी मनोवृत्ति रखने पर भी आर्थिक तंगी के कारण लाचार हो जाते हैं। दूसरा कारण यह है कि आज की प्रायः सारी सप्लाई सरकारी परचेज की है। वहाँ से ज्यादातर बिल छह महीने, एक साल तक भुगतान नहीं होते, जिसके चलते आगे सारी गाड़ी रुक जाती है। इसके लिए मेरा सुझाव है कि केन्द्रीय संघ और प्रादेशिक प्रकाशक संघ की तरफ से सामूहिक तौर पर संबंधित अधिकारियों की सुस्ती या ऐसी दुर्नीति के संबंध में सरकार को स्मरण कराया जाय। ऐसे सामूहिक प्रयास से निश्चय ही प्रभाव पड़ता है। किन्तु जिन बन्धुओं की मनोवृत्ति यह है कि किसी प्रकार पैसा पायें और दबाकर बैठ जायें इसके लिए संघ में निश्चित अनुशासन अवश्य तय होना चाहिए। बिक्री के लिए सहकारिता और कमीशन आदि समस्या पर और भी वार्त्तालाप बढ़ाना चाहिए।

—रामतीर्थ भाटिया
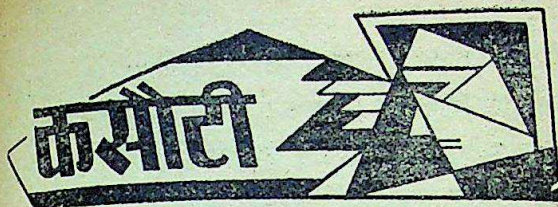
सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य

लेखक—डा० शिवप्रसाद सिंह

प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी

पृष्ठ -४०८ : मूल्य—१२.५०

भारतीय हिन्दी परिषद् के आनंद (गुजरात) अधिवेशन में शोध-गोष्ठी के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए आचार्य नलिनविलोचन शर्मा ने शोधार्थियों और उनके निर्देशकों के विचारार्थ शोध-सम्बन्धी समस्याओं, तज्जन्य सफलताओं-विफलताओं और तात्त्विक शोध की आवश्यकता के सम्बन्ध में कुछ बड़े ही मौलिक और चिन्तन-प्रेरक विचार प्रस्तुत किए हैं। नलिनजी के अनुसार शोध-कार्य न तो नवीन का आविष्करण है, और न प्राचीन का पिष्टपेषण या सामग्री-संकलन बल्कि वह अज्ञात या अल्पज्ञात साहित्यकारों की कृतियों का पुनरुद्धार और तमआच्छन्न सामग्री पर प्रकाश-निक्षेपण और उसका वैज्ञानिक पुनःपरीक्षण है। वस्तुतः शोध का श्रेय है साहित्येतिहास की शृंखला की टूटी कड़ियों की योजना, उसके मौन को मुखर करना, उसकी अंधी गलियों में दीप जलाना। डा० शिवप्रसाद सिंह का शोध-कार्य ऐसा ही वास्तविक और 'तात्त्विक' शोध है।

यूँ सूरदास और उनके काव्य को न जाने कितने विशेषज्ञ अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं ने अपने अध्ययन और अनुसंधान का विषय बनाया, विवरण-संकलन उपस्थित किया, पर उनमें से अधिकांश में उस साहित्यिक प्रज्ञा-समन्वित 'दृष्टि' का अभाव है, जिसके कारण आज भी शुक्लजी द्वारा प्रस्तुत सूराध्ययन सूरसागर में संतरण करनेवालों के लिए ज्योति-स्तम्भ बना हुआ है। शुक्लजी ने जो कह दिया उसका विस्तार तो बहुत हुआ, पर जो नहीं कहा, वह दूसरों ने भी नहीं कहा। पर शुक्लजी की उपलब्धियाँ चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हों, उनकी सीमाएँ भी थीं, उनके पूर्वग्रह भी थे। शुक्लजी शोधकर्त्ता नहीं थे आलोचक थे; उनके युग में वैज्ञानिक शोध का अभाव था। शुक्लजी ने शायद ही किसी कवि या लेखक के सम्बन्ध में नई सामग्री उपस्थित की हो, तथ्यों और विवरणों के लिए तो वे शिवसिंह, तासी, मिश्रबन्धु, ग्रियर्सन आदि के ही ऋणी हैं। शुक्लजी आलोचक ही थे, इतिहासकार तो वे परिस्थिति-वश बन गए। इतनी सारी बात मैं इसलिए कह गया चूँकि इस शोध-प्रबन्ध की प्रेरणा शुक्लजी के इतिहास की ही एक पंक्ति है—"...अतः सूरसागर किसी चली आती हुई गीत-काव्य परम्परा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास-सा प्रतीत होता है।" शिवप्रसाद सिंह के इस महार्घ शोध-प्रबन्ध की सबसे बड़ी उपलब्धि यही है कि उनने शुक्लजी की अनुमानाश्रित संभावना को तथ्यों और उद्धरणों से परिपुष्ट किया है। इस शोध-प्रबन्ध के द्वारा ब्रजभाषा-काव्य के विस्मृत और अनुपलब्ध काव्य-भांडार का उद्‌घाटन हुआ है; और मध्यकालीन हिन्दी साहित्य के इतिहास के पुनर्लेखन की आवश्यकता अनुभव हुई है। अभी ऐसे और भी कई अंधे युग हैं जिन्हें देखने और दिखाने के लिए शिवप्रसाद सिंह की आँखों जैसी नई और पैनी आँखें चाहिए, ऐसा ही स्वेद-प्रवाहक श्रम चाहिए।

यह पुस्तक अस्पष्ट-नाम है। भ्रम होता है कि इसमें भाषा और साहित्य का अलग-अलग विवेचन होगा, पर ऐसा है नहीं। साहित्यिक, वैयाकरणिक और भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन एक-दूसरे से असम्पृक्त नहीं हैं, वे यहाँ सहगामी ही हैं। प्रास्ताविक के बाद के तीन अध्यायों में ब्रजभाषा की प्रकृति और स्वरूप का ऐतिहासिक विवेचन है, फिर अप्रकाशित-प्रकाशित सामग्री का क्रमिक परिचय-परीक्षण। 'हिन्दीतर प्रान्तों के ब्रजभाषा-कवि' नामक अध्याय विशेष रूप से उपयोगी है। छठे अध्याय में प्रस्तुत 'आरंभिक ब्रजभाषा : भाषाशास्त्रीय विश्लेषण' मेरे विचार से पहले आना चाहिए था, पर शायद लेखक की यह कठिनाई थी कि तब 'भाषा' और 'साहित्य' का विवेचन अलग-अलग लगने लगता। सातवें अध्याय में प्राचीन ब्रज-काव्य की प्रमुख धाराओं की विवेचना है और फिर लेखक ने प्राचीन ब्रज के काव्यरूपों के उद्‌गम-स्रोत और विकास पर अपने विचार प्रस्तुत किए हैं। उपसंहार में शोधोपरान्त प्राप्त निष्कर्षों और उपलब्धियों की चर्चा है। परिशिष्ट में शिवप्रसादजी ने सूर-पूर्व ब्रजभाषा की

रचनाओं के हस्तलेखों से कुछ अंश उद्धृत किए हैं। नियमतः अन्तिम स्थान 'संदर्भ ग्रन्थ-सूची' को मिला है, जो अपने आप में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रारंभ में, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की आशीर्वाद-संवलित भूमिका है।

इतनी महत्त्वपूर्ण और प्रामाणिक पुस्तक में भी अशुद्धि-पत्र है, एक तो उसका होना ही खेद की बात है, दूसरे कि वह भी अधूरा ही है। सारी पुस्तक में 'ब्रजभाषा' और 'व्रजभाषा' दोनों ही मिलते हैं, यहाँ तक कि द्विवेदीजी द्वारा लिखित भूमिका में भी 'ईषद्' और 'काव्यरूपों' आदि हैं। यद्यपि लेखक ने प्रूफ की अशुद्धियों के लिए क्षमा माँग ली है, पर उत्तरदायित्व तो प्रकाशक का है। अगले महत्त्वपूर्ण प्रकाशनों के मुद्रण में वे विशेष सावधानी का परिचय देंगे, ऐसी आशा की जा सकती है। मुद्रण का विषयानुरूप होना भी आवश्यक है।

आलोचना और शोध के क्षेत्र में प्रायः ऐसे लोग आते हैं जो रचनात्मक कर्तृत्व के क्षेत्र में 'फ्रस्ट्रेटेड' हुआ करते हैं, पर यह शोध-प्रबन्ध 'कर्मनाशा की हार' के सफल कहानीकार का है। नई संवेदना और अनुभूतियों को संजोनेवाले ने गुटकों के अवाच्याक्षरों को उकीलने में जो श्रम किया है, वह विशेष रूप से प्रशंसनीय है।

—शैलेन्द्र श्रीवास्तव

तन की हार

लेखक—दत्त भारती
प्रकाशक—पंजाबी पुस्तक भंडार, देहली—६
मूल्य—३.५० : पृष्ठ—१६४

"इस उपन्यास के पात्र साधारण जीव नहीं हैं"—लेखक का दावा सही मालूम होता है क्योंकि सभी पात्र साधारण से भिन्न अर्थात् असाधारण हैं। ऐसी बात नहीं है कि पात्र नये हैं। अन्य उपन्यासों में भी इन पात्रों से भेंट हो सकती है। हाँ, लेखक ने इतना परिश्रम अवश्य किया है कि पात्रों को नया रोल अदा करने के लिये नया चोगा पहना दिया है। ऐसा इसलिये करना पड़ा है क्योंकि "प्रत्येक उपन्यास में नए पात्रों और प्लाट का लाना कुछ कठिन है।" मैं पूछता हूँ कि अगर नये पात्र एवं नये प्लाट नहीं मिलें तो भी क्या उपन्यास लिखना आवश्यक है? ऐसा तो कोई बन्धन नहीं कि उपन्यास लिखना ही है। (अगर प्रकाशक से पेशगी लिया जा चुका हो और प्रकाशक सर पर सवार हो तो बात दूसरी है)।

अश्विनी (उपन्यास का नायक) की नयी-नयी शादी हुई है। अपनी पत्नी रम्पा में वह रम जाता है। तभी उसे पता चलता है कि शादी से पहले रम्पा हरवंश से प्रेम करती थी और अब भी करती है। व्यर्थ की जाँच-परीक्षाओं के बाद अश्विनी हरवंश से रम्पा के प्रेम का कारण पूछता है। हरवंश क्षय का रोगी था। रोग से पीला हो गया था। रम्पा को पीला रंग पसंद था और प्रेम हो गया। अश्विनी रम्पा के तन को तो जीत ही चुका है, मन को जीतने के लिये खूब शराब पीकर क्षय का रोग बुला लेता है और अपनी जान दे देता है। इस उपन्यास की कहानी को तीन भागों में बाँटा गया है। लेखक के अनुसार "कहानी का प्रथम भाग शान्त है—दूसरा बेचैन और तीसरा भाग बहुत तीव्रता से चलता है।"

असंगत बातों की तो भरमार ही है। (१) अश्विनी सिगरेट पीता है, इस सत्य से परिचित होते हुए भी उसकी माँ ने कभी उसको नहीं टोका था बल्कि यह भी प्रकट न होने दिया था कि वह इस बात को जानती है। अश्विनी रात को देर गये सिनेमा से लौटा करता है। माँ कहती है "तुम रोज सिनेमा देखो।" इसपर लेखक कहता है—"वह बड़ी समझदार माँ थी।"

(२) अश्विनी बीमार हो जाता है। उसकी पत्नी का भाई आकर अपनी बहन को ले जाता है और वह इसलिए उसे छोड़कर चली जाती है कि कहीं वह भी बीमार न पड़ जाय। अश्विनी सेनेटोरियम में जीवन की अंतिम साँसें गिन रहा है और उसकी पत्नी रम्पा मसूरी में घूम रही है। वह यह सोचती है कि उसका पति पहाड़ पर आराम करने गया है। वाह रे पति-परायणा पत्नी!

(३) अश्विनी की माँ दिन-रात अश्विनी की तीमारदारी करती है पर शायद वह स्वयं अश्विनी को दवा नहीं पिलाती। लेखक लिखता है—"लेकिन खाँसी बढ़ती गई क्योंकि दवा की गोलियाँ तो बाथरूम में फेंक दी जाती थीं।" यह कैसी सेवा-सुश्रूषा है कि दवा नहीं दी जाती थी। किन्तु लेखक का भी क्या दोष। अगर घटना इस प्रकार न घटती तो नायक को क्षय कैसे होता और अगर

क्षय न होता तो उपन्यास का कथानक कैसे आगे बढ़ता ?

भारतीजी प्रेम और इश्क को दो मानते हैं। वे कहते हैं—"प्रेम एक कर्त्तव्य है, इश्क एक उन्माद है। ··मेरी समझ में तो प्रेम एक लगाव है जो सामीप्य से उत्पन्न होता··इश्क क्षय का दूसरा नाम है।" वे प्रेम को इश्क में बदल सकते हैं। किन्तु स्वयं कई जगह प्रेम और इश्क को एक ही कहते हैं। प्रेम का भी अन्य कार्यों की तरह कारण होता है यह इसी उपन्यास में पढ़ा। "प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण होता है और आवश्यक है कि इस प्रेम का भी कारण होगा।" भारतीजी के अनुसार अगर कोई एक-दूसरे के समीप रहा तो तुरत दोनों में प्रेम हो जायगा। और इसपर तुर्रा यह है कि "(इसे) केवल वही समझ सकता है, जिसने स्वयं जीवन में कटु-यातनायें उठाई हों।" लेखक से मुझे सच्ची सहानुभूति है।

चूँकि लेखक हिन्दी में अभी तो आया ही है अतः अशुद्धियाँ भी अनिवार्य ही हैं। कुछ उदाहरण ये हैं—

(१) "तुमने कहा था कि तुम गाना नहीं जानती है।" (पृ० ४६)

(२) "लड़का भी मिली तो बिल्कुल नसवारी।" (पृ० ५१)

(३) "अतीत के घावों की मरहम भी बन जाता है।" (पृ० ६१)

(४) "समय की मरहम बड़े-बड़े घावों को भर देती है।" (पृ० ७४)

(५) "इस सेवा ने उसका स्वास्थ्य खराब कर दी।" (पृ० १५६)

(६) "तुम्हें मेरी बात सुनना पड़ेगी।" (पृ० १७६)

क्या प्रकाशक इन अशुद्धियों को शुद्ध नहीं कर सकता था। प्रूफ संबंधी भूलें प्रत्येक पृष्ठ पर कम-से-कस एकाध अवश्य मिलेंगी। ये भूलें तो हर जगह हैं—बहु (बहू), वस (वस), बोला (वोला), करीज (क्रीज), पत्नी (पत्नि), आन्तिरक (आन्तरिक), फैंक (फेंक), झूठ (झूँठ), अविकाश (अवकाश) इत्यादि।

मुद्रण में काफी सुधार अपेक्षित है। प्रच्छद-पट सुन्दर है।

पागल का सन्देश

लेखक—ब्रह्मदेव

प्रकाशक—सहयोगी प्रकाशन, मेरठ

मूल्य—२.५० : पृष्ठ—१२१

'पागल का सन्देश' ब्रह्मदेवजी की तेरह कहानियों का संग्रह है, जिसकी पहली कहानी के नाम पर इस पुस्तक का नाम रखा गया है। वैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर सारगर्भित सामाजिक व्यंग्य उभार कर रखना—लेखक का शायद यही उद्देश्य है। पुस्तक की भूमिका दो पृष्ठों में है। एक राहुल सांकृत्यायन ने लिखी है, शीर्षक है 'दो शब्द' और दूसरी लेखक ने स्वयं लिखी हैं, जिसका शीर्षक है 'दो शब्द मेरे भी।' दो शब्द कहते-कहते दोनों व्यक्तियों ने पूरे दो पृष्ठ ले लिये हैं। खैर, ब्रह्मदेवजी लिखते हैं, "हिन्दी में मौलिक वैज्ञानिक कहानियों का यह सर्वप्रथम संग्रह भेंट करते हुए मुझे प्रसन्नता है—और हिन्दी-साहित्य में वैज्ञानिक कहानियों से उसका देय भाग लेना आपका काम।" वैज्ञानिक कहानियों का कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्व है। मनोरंजन के साथ वह विज्ञान की प्रगति और उसकी बातें बतलाती है। इस पुस्तक की कहानियों में विज्ञान की जिन बातों का उल्लेख हुआ है, वह बतलाती हैं कि लेखक दिन-प्रतिदिन होती वैज्ञानिक प्रगति का अध्ययन करता रहता है। ब्रह्मदेवजी सचमुच प्रशंसा के पात्र हैं, पर उपर्युक्त उक्ति में दम्भ की झलक मिलती है। यह प्रशंसनीय नहीं।

इस संग्रह की लगभग सभी कहानियाँ रोचक हैं, विशेषकर 'स्वप्नमित्रा', 'फारमूला एफ़', 'कल की बात' और 'मृत्यु-राग'।

कई जगह भयंकर अशुद्धियाँ हैं, जैसे 'आपकी इन्तजार', 'मेरी इन्तजार' (पृष्ठ ४२)। प्रूफ संबंधी भूलें भी हैं जैसे 'विनायक' के स्थान पर 'विनागक'।

प्रच्छद-पट और भी सुन्दर बनाया जाता तो अच्छा था।

—विचारकेतु
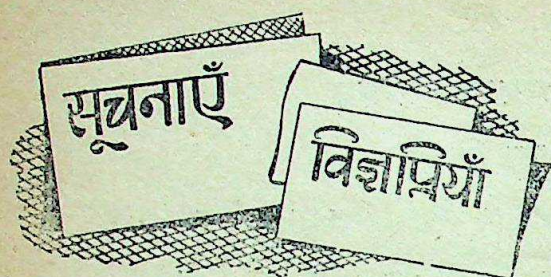
—भारत सरकार के शिक्षा मंत्रालय द्वारा आयोजित बाल-पुस्तकों की सातवीं पुरस्कार-प्रतियोगिता में निम्न-लिखित तीस पुरस्कार दिए जाएँगे:—

१५ पुरस्कार : १,००० रुपये प्रत्येक

१५ पुरस्कार : ५०० रुपये प्रत्येक

ये पुरस्कार बालकों के लिए सर्वश्रेष्ठ पुस्तक या पाण्डुलिपि पर लेखकों को दिये जाएँगे। इस प्रतियोगिता में भाग लेने के इच्छुक लेखकों, प्रकाशकों की पांडुलिपियाँ १९५९-६१ में प्रकाशित पुस्तकें ३० अप्रैल, १९६१ तक सम्बन्धित भाषा के निर्धारित अफसर के पास पहुँच जानी चाहिए। (हिन्दी, उर्दू और सिन्धी भाषाओं की पुस्तकें) असिस्टेंट एजुकेशनल एडवाइजर, बी-३ सेक्शन, शिक्षा-मंत्रालय, नई दिल्ली को भेजनी चाहिए। अन्य प्रादेशिक भाषाओं की पुस्तकें सम्बन्धित राज्य-सरकार के शिक्षा विभाग के सचिव के पास भेजी जानी चाहिएं; उदाहरण के लिए—गुजराती भाषा की पुस्तकें सचिव, गुजरात सरकार, शिक्षा विभाग, अहमदाबाद को भेजी जाएँगी। प्रत्येक पुस्तक या पाण्डुलिपि की ५-५ प्रतियाँ भेजनी हैं और हर प्रविष्टि के साथ ३ रुपये का (यदि लेखक पुस्तक भेजता है) और ५ रुपये का (यदि प्रकाशक पुस्तक भेजता है) ट्रेजरी चालान संलग्न होना चाहिए।

—'इण्डिया आफिस लाइब्रेरी' (लन्दन) में भारतीय भाषाओं की या भारत विषयक दो लाख ८० हजार पाण्डुलिपियों और पुस्तकों का अमूल्य संकलन है। भारत-पाक सभ्यता के सम्पूर्ण अध्ययन के लिए वहाँ जाना अनिवार्य है। यह पुस्तकालय १८०१ में 'ओरियण्टल रिपाजिटरी' नाम से स्थापित हुआ था और बाद में इसका वर्तमान नाम पड़ा। इसके दावेदार तीन हैं—भारत, पाकिस्तान और इंगलैंड।

—विश्व का सबसे बड़ा पुस्तकालय 'कांग्रेस लाइब्रेरी' वाशिंगटन में अवस्थित है। वैसे तो १८७६ में ही 'अमरीकन लाइब्रेरी एसोसिएशन' की स्थापना हुई थी। उसके बाद पुस्तकालयों का प्रचार अमेरिका में बढ़ता ही गया और आज वहाँ ६००० से ऊपर सार्वजनिक पुस्तकालय हैं। 'कांग्रेस लाइब्रेरी' में तो हर वर्ष लगभग ५० लाख नयी पुस्तकें मंगायी जाती हैं।

—रूस का सबसे पुराना पुस्तकालय पीटर प्रथम द्वारा १७१४ में सेंट पीटर्सबर्ग में स्थापित किया गया था। अब यह वहाँ की विज्ञान अकादमी का पुस्तकालय है। रूस के सबसे बड़े पुस्तकालय 'मास्को पुस्तकालय' में १६० भाषाओं की दो करोड़ सात लाख से भी अधिक पुस्तकें हैं और औसतन छः हजार व्यक्ति प्रतिदिन उसमें पढ़ने जाते हैं। इस प्रकार संख्या की दृष्टि से उसका स्थान 'कांग्रेस लाइब्रेरी' (वाशिंगटन) के बाद आता है, किंतु पाठकों की संख्या वहाँ से तिगुनी है।

—रूस में 'लेनिन पुस्तकालय' १८३२ में एक लाख ग्रंथों से स्थापित हुआ था और उसमें, १९१७ में, दस लाख से भी अधिक ग्रंथ थे। वहाँ के "मास्को पुस्तकालय" में रामचरितमानस, सूरसागर और बिहारी सतसई के अतिरिक्त भूषण, रहीम, जायसी आदि प्राचीन कवियों और आधुनिक लेखकों की पुस्तकें भी हैं। अन्य भारतीय भाषाओं में मराठी, पंजाबी, गुजराती, तामिल, तेलुगु, कन्नड और मलयालम के व्याकरण एवं शब्दकोष आदि भी उपलब्ध हैं।

—जर्मनी में, १९२४ में, पिचानवे ऐसे पुस्तकालय थे, जिनमें एक लाख से अधिक पुस्तकें थीं। १९३० में एक बर्लिन के पुस्तकालय में पचीस लाख और म्यूनिख के 'बावेरियन पुस्तकालय' में अठारह लाख पुस्तकें थीं। द्वितीय महा-युद्ध के समय जर्मनी के पुस्तकालय नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे। लेकिन अब इस क्षति को पूर्ण कर लिया गया है। वहाँ के पुस्तकालयों में पूर्वी भाषाओं की लगभग १४,००० हस्तलिपियाँ हैं; जिनमें संस्कृत, प्राकृत, पालि आदि की ३,६४५ प्रतियाँ हैं।

चीन में सब से पुराना पुस्तकालय ईसा-पूर्व सातवीं शती में स्थापित हुआ था और लाओसी नामक एक दार्शनिक उसका अध्यक्ष था। वहाँ पहला सार्वजनिक पुस्तकालय १९०५ में, हुनान में, स्थापित हुआ। १९२७ में चीन और मंचूरिया में ५,०३ व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक पुस्तकालय थे। पेकिंग के राष्ट्रीय पुस्तकालय में, १९५४ में

२५ लाख पुस्तकें एवं हस्तलिपियाँ थीं। चीन के चारों प्रमुख विद्यालयों—पेकिंग, केंटन, एमाय तथा नानकिंग—के पुस्तकालय समृद्ध और सुव्यवस्थित हैं।

—असम सरकार ने जोरहाट के श्री एस० पाठक द्वारा लिखित अंग्रेजी पुस्तिका 'हाउ इण्डिया केन प्रिपेयर फॉर वार' को जब्त कर लिया है। इससे साम्प्रदायिक वैमनस्य की आशङ्का थी।

—रूसी दूतावास के सांस्कृतिक अधिकारी श्री एम० ए० कुदिनोव, जो हिन्दी के अच्छे ज्ञाता हैं, पाँच वर्ष भारत में रहकर १६ फरवरी को मास्को चले गए।

- शिक्षा मंत्रालय द्वारा श्री राजेन्द्र अवस्थी 'तृषित' को उनकी पुस्तक "सपने जागे" पर नवसाक्षरों के लिए सांस्कृतिक साहित्य रचना की दूसरी प्रतियोगिता में १०००) पुरस्कार दिया गया है।

—केन्द्रीय अंग्रेजी संस्थान (हैदराबाद) में शेक्सपीयर की रचनाओं में पुरुष और नारी पात्रों को लेकर उच्चकोटि का अनुसंधान करने वाला युवक लक्ष्मीकान्त मोहन मैट्रिक भी पास नहीं है, पर उसका अध्ययन गंभीर है।

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने लोकप्रिय पुस्तकों का हिन्दी में अनुवाद और प्रकाशन करने की एक योजना बनायी है। जो प्रकाशक इस योजना के अन्तर्गत पुस्तकें प्रकाशित करना चाहते हैं, उनसे पहले २० मार्च, १९६१ तक टेण्डर माँगे गये थे। अब योजना में कुछ परिवर्तन किये गये हैं। साथ ही टेण्डर भेजने की आखिरी तारीख ३० अप्रेल, १९६१ तक बढ़ा दी गयी है।

जो व्यक्ति इस योजना की पूरी जानकारी प्राप्त करना चाहें, वे "निदेशक : केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, १५/१६ फैज बाजार, दरियागंज, दिल्ली" से पत्र-व्यवहार करें।

—भारत सरकार ने नव-साक्षरों एवं सामुदायिक विकासखण्ड के कार्यकर्ताओं के उपयोगार्थ 'बुनियादी और सांस्कृतिक साहित्य की तृतीय स्पर्धा" के निमित्त भारतीय लेखकों की उत्तम पुस्तकों या पाण्डुलिपियों पर एक-एक हजार रुपये के २५ पुरस्कार देने का निश्चय किया है। जो पुस्तकें या पाण्डुलिपियाँ १ जनवरी सन् १९५९ के बाद की होंगी, वे ही इस स्पर्धा में शामिल हो सकेंगी।

—रोम-विश्वविद्यालय ने २८ मार्च, ६१ को प्रसिद्ध भारतीय विद्वान्, लेखक और पश्चिम बंगाल विधान परिषद् के अध्यक्ष, डाक्टर सुनीतिकुमार चटर्जी को डाक्टर ऑफ लेटर्स की आनरेरी डिग्री से सम्मानित किया है।

—उत्तर प्रदेश शासन द्वारा १९६०-६१ में प्रकाशित पुस्तकों का लेखा रखने के लिए जिला बनारस के सांख्य-की अधिकारी ने जिले के समस्त रजिस्टर्ड प्रेसों के प्रकाशकों से अनुरोध किया है कि उनके द्वारा इस अवधि में जितनी पुस्तकें जितनी भाषाओं में प्रकाशित हुई हैं, उनकी सूचना अविलम्ब उनके तेलियाबाग स्थित कार्या-में दे दें।

—केन्द्रीय शिक्षा मंत्रालय ने विज्ञान, शिल्प तथा अन्य विषयों की विदेशी पुस्तकों के सस्ते संस्करण प्रकाशित करने की योजना शुरू की है। इन पुस्तकों का मूल्य विदेशी संस्करण के मूल्य का लगभग तिहाई होगा। मंत्रालय ने विज्ञान, इंजीनियरी और शिल्प-विज्ञान, कृषि और पशु-चिकित्सा, औषधशास्त्र तथा साहित्य आदि की ऐसी पुस्तकों की सूची तैयार की है, जिनका शिक्षा आदि में पढ़ना आवश्यक है। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने इस योजना में सहयोग का निर्णय किया है और पुस्तकें खरीदने की गारण्टी दी है, ब्रिटेन तथा अमेरिका की सरकारों ने भी पुस्तकों के सस्ते संस्करण छापने में सहायता देने को कहा है।

—साहित्य अकादमी की ओर से २६ मार्च को प्रधान मंत्री पं० जवाहरलाल नेहरू ने नौ लेखकों को उनकी कृतियों पर पाँच-पाँच हजार रुपये के नकद पुरस्कार वितरित किये। पुरस्कार पानेवाले लेखक—श्री सुमित्रा-नंदन पंत, श्री आर० के नारायन, श्री रसिकलाल पारीख, श्री बेनुधर शर्मा, श्री बी० के० गोकाक, श्री पी० सी० कुट्टी कृष्णन, श्री वी० एस० खांडेकर, श्री रामा अप्पा राव और फिराक गोरखपुरी हैं।

—उत्तरप्रदेश की सरकार ने हिन्दी पुस्तकों के १७२ लेखकों को ५३, ९५० रुपये के नकद पुरस्कारों की घोषणा की है। १२०० रुपये का सबसे बड़ा पुरस्कार दो लेखकों, डाक्टर निहालकरण सेठी (आगरा) को उनकी पुस्तक 'चुम्बकत्व और विद्युत्' और बम्बई के श्री बी० एन०

थडानी को उनकी पुस्तक 'निर्माण विज्ञान के सिद्धान्त' पर मिला है।

—हिन्दी की प्रमुख प्रकाशन संस्था, राजपाल एण्ड सन्ज के पार्टनर तथा अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के उपाध्यक्ष श्री दीनानाथ मल्होत्रा ता० ७ मार्च को इंग्लैंड के लिए वायुयान द्वारा रवाना हो गए। उन्हें यूनेस्को ने अपनी फैलोशिप प्रदान की है जिसके अंतर्गत प्रकाशन-व्यवसाय का अध्ययन करने के लिये वे लगभग साढ़े चार मास तक देश से बाहर रहेंगे। दो सप्ताह इंग्लैंड में ठहरकर वे अमेरिका पहुँचेंगे। वहाँ तीन मास तक ठहर कर जापान जाएँगे। जापान में एक मास ठहरकर स्वदेश वापस लौटेंगे। इस अवधि में वे उपर्युक्त तीनों देशों के प्रकाशन, विक्रय और मुद्रण-व्यवसायों का विशेष अध्ययन करेंगे।

—नयी दिल्ली, १२ मार्च। साहित्य अकादमी ने ५,५०० भारतीय लेखकों की एक परिचायिका प्रकाशित की है। यह भारत में अपनी तरह का पहला प्रकाशन है। इसमें उन लेखकों के बारे में सामान्य परिचय दिया गया है, जिन्होंने किसी भारतीय भाषा या अंग्रेजी में एक से अधिक पुस्तकें लिखी हैं। पुस्तक की विशेषता यह है कि इसमें लेखक की पुस्तकों के नाम और उनके प्रकाशन की तिथि दी गयी है। छह पुस्तकों तक के तो नाम दिये गये हैं, पर यदि लेखक ने विविध विषयों पर अधिक पुस्तकें लिखीं या उनका सम्पादन या अनुवाद किया है तो उनका भी नामोल्लेख है।

—पटियाला। पंजाब के लेखकों ने हिन्दी तथा पंजाबी साहित्य में अनेक अनुपम ग्रन्थ लिखे हैं। पंजाब सरकार ने उनके इन ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए पर्याप्त धनराशि अनुदान के रूप में दी है। इन ग्रंथों में निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—तुलसी रामायण का पंजाबी में छन्दोबद्ध अनुवाद, पंजाबी भाषा तथा साहित्य का इतिहास (हिन्दी), बच्चों के लिए रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कहानियों का पंजाबी में अनुवाद, भारत में पत्रकार कला (पंजाबी), विश्व के महापुरुषों के वीरतापूर्ण बाल-चरित्र (पंजाबी), आधारभूत अंग्रेजी शब्दों के नमूने पर पंजाबी भाषा के आधारभूत १००० शब्दों का संग्रह।

हमें यह कहना है

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ :
छठा अधिवेशन

यह हमारे लिए हर्ष की बात है कि हमारे पटना नगर में अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ का छठा वार्षिक अधिवेशन हो रहा है। इससे भी अधिक हर्ष की बात यह है कि इसे बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ ने पटना नगर में १६-१७-१८ अप्रेल ६१ के लिए आमंत्रित किया है। इस समय (१५ अप्रेल) तक हमने उक्त अधिवेशन के उपलक्ष में पुस्तक-प्रदर्शनी के उद्घाटन-समारोह को देखा है। उसे देखते हुए, सर्वाधिक हर्ष की बात यह मिली कि समारोह के आसन पर बिहारवासी और देश के प्रख्यात साहित्य-मनीषी ही अधिक थे। प्रकाशन, खासकर अपने देश में, किसी हालत में मात्र उद्योग नहीं रह सकता है, क्योंकि यह उद्योग तो मात्र आजीविका के ही नाते है, जबकि शिल्प, सांस्कृतिक-साधन वह हर नाते है। दूसरे देशों में सरकार या जन-साधारण के संघ, या व्यक्तिगत पाठक, प्रकाशन से ऐसी ही आशा और भरोसा रखते हैं। दूसरे उद्योगों के मुकाबले, लाभ में ओछा पड़ते हुए भी, प्रकाशक इसीलिए अधिक सम्मान की साँसों पर जीता है। इस सम्मान की रक्षा और अग्रसरता के नाते अधिवेशन को बहुतेरी बातें सोचनी हैं, जिनमें से महत्वपूर्ण तो यह है कि बिक्री और मदद के मामले में प्रकाशक सरकार पर निर्भर करने से किस प्रकार उत्तरोत्तर अलग हो। क्योंकि उसे स्रष्टा के स्वतंत्र-विचारों का प्रकाशक होना है, न कि सरकारी मर्जी का। और, सरकार पर निर्भर होने से. वह उसे व्यापार में लेगी, और तब असम्मान के साथ-साथ उसे सरकारी विचारों-आचारों का प्रकाशक भर हो जाना पड़ेगा। इस चलते दौर में, संसार के नकशों पर नजर डालने से, दुनिया के लगभग ६०-६५ भाग में प्रकाशक सरकारी दबाव में ही मिलेगा। उन अधिकतर भागों में राजनीतिक दबाव भले ही हो, यहाँ जैसा आर्थिक दबाव भी तो आगे चलकर वही हो सकता है।

अतः आवश्यक है कि व्यक्तिगत पाठकों का दायरा बढ़ाया जाय और उन्हें उत्तरोत्तर इतनी सचेतन विद्या दी जाय कि वे देश, काल तथा राजनीति तक की अड़चनों को असह्य कर विद्या को विश्वजनीन गोष्ठी की चीज कर दें। यह सत्य है कि प्रकाशन का आकल्पन-स्तर और मात्रा बढ़ी है, पर शिक्षा-प्रसार के अनुपात के मुकाबले, पहले के मुकाबले, सुरुचिपूर्ण रस और शास्त्र के पाठकों की मात्रा क्या गिरी नहीं है? हम तो समझते हैं कि वह हिन्दी में गिरी ही है। उसे कैसे बढ़ाया जाय और स्तर को कैसे उन्नत किया जाय, यही सोचने की बात है।

इस पुस्तक-प्रदर्शनी को हम गत कलकत्ता-अधिवेशन से अधिक उत्साहपूर्ण मानेंगे कि इसमें सारी सज्जा, आल्पना, साहित्यकारों की उन्नत भारतीय शिष्टता और संकल्प की परिचायक बातें थीं।

हम अधिवेशन और उसके निमंत्रण पर आए हर प्रकाशक, विक्रेता और साहित्यमनीषियों का सादर अभिनन्दन करते हैं।

'पुस्तक जगत'

और

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड

पटना—४

की ओर से

अखिल भारतीय

हिन्दी प्रकाशक संघ के

छठा अधिवेशन पटना में

आए हुए प्रतिनिधियों एवं

आमंत्रितों का सादर अभिनंदन

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक २५ न० पै०, यह अंक ५० न० पै० वार्षिक—तीन रुपये

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत
हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

बंगभाषा के मूर्धन्य साहित्य-शिल्पी

श्री बुद्धदेव वसु की प्रख्यात उपन्यास-कृति

शेष पांडुलिपि

अनुवादक : श्री अनूपलाल मंडल

संस्मरणात्मक शैली में लिखे हुए इस श्रेष्ठ साहित्य-शिल्प में साहित्यकार की सारी चिन्ताधारा तमाम घटनाओं और आघातों के मूवी-कैमरे में नेगेटिव होकर चित्रित हुई है, जिसको सकारने या पाजिटिव रूप देने का निर्मम भार हर सहृदय पाठक के मन को अभिभूत करता है। किसी विचारशील शिल्पी के सारे निस्संग कृत्यों-अकृत्यों को इस कृति से अधिक शायद ही कहीं तटस्थतापूर्वक उपस्थित किया गया हो।

सुन्दर कागज और मुद्रण : सजिल्द

मूल्य : २.५०

बुक्स एण्ड बुक्स

अशोक राजपथ, पटना—४

साहित्य सम्मेलन, हिन्दी विद्यापीठ, इंटर, बी० ए०, हायर सेकेंडरी, संस्कृत-परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए

काव्य-प्रवेश

लेखक : श्री रासबिहारी राय शर्मा, एम० ए०, डिप० एड्०, साहित्यरत्न
भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, बिहार शिक्षा-अधिसेवा

काव्य क्या है?—काव्य के भेद—शब्दार्थ शक्ति—रस की व्युत्पत्ति—रस के अवयव—रस-भेद-निरूपण—दृश्य-काव्य—रसानुभूति—रिचार्ड की रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया—काव्य गुण—काव्य में रीति—शब्दालंकार—अर्थालंकार—छन्द—मात्राविचार—गति और यति—दग्धाक्षर या अशुभाक्षर—चरण—अन्त्यानुप्रास—छंदों के भेद—पाठ्यक्रम—काव्यदोष आदि विषयों से सम्पन्न।

मूल्य : १.५० न० पै०

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

नये उपन्यास

★

श्री श्यामसुन्दर घोष

सुप्रसिद्ध रूसी कथाकार इलिया एहरेन्बुर्ग ने अपने उपन्यास 'फॉल ऑफ पेरिस' के हिन्दी संस्करण की भूमिका में लिखा है—"उपन्यास को न्यूयार्क के बजाय पेरिस की तरह होना चाहिये।" अपनी इस बात को स्पष्ट करने के लिये उसने न्यूयार्क और पेरिस की अलग-अलग विशेषताओं का उल्लेख इस प्रकार किया है—"जब आप किसी गगनचुम्बी अट्टालिका की छत से न्यूयार्क नगर को देखते हैं तो जो दृश्य आपको दिखाई देता है वह उतना ही नीरस और मनहूस होता है जितना किसी प्रबंध-ग्रंथ का संस्थाओं और आँकड़ों से भरा पृष्ठ अथवा कोई नक्शा या चार्ट। सभी सड़कें और रास्ते सीधी रेखाओं की तरह बिछे हैं, निश्चित फासले पर एक-दूसरे को काटते हुए और ऐसा प्रतीत होता है जैसे यहाँ आदमी की जिन्दगी भी सीधी और सपाट रेखाओं पर चलती है। लेकिन नोत्रदाम की छत से पेरिस नगर ऐसा नहीं लगता। उलझे हुए बाल जैसी सड़कों और किसी अज्ञात शक्ति से आपस में सम्बद्ध-सी विभिन्न युगों का प्रतिनिधित्व करती हुई इमारतों, विस्मय-विमुग्ध कर देने वाली वृक्षावलियों और खुले मैदानों तथा मानवीय भावनाओं और रंगों की विस्मयकारी गुत्थियों से भरा पेरिस जैसे रंग-बिरंगे पत्थरों और चट्टानों के जंगल की याद दिलाता है; जैसे वह सदियों का वन-प्रान्तर हो!"

उपर्युक्त वक्तव्य से जहाँ उपन्यास के संबंध में इलिया की व्यक्तिगत मान्यता स्पष्ट होती है, वहाँ नये और पुराने उपन्यासों के मूलभूत अंतरों पर भी प्रकाश पड़ता है। पुराने उपन्यासों का गठन प्रायः न्यूयार्क की तरह होता है, जबकि नये उपन्यासों का गठन पेरिस-जैसा देखा जाता है।

उपन्यास की मूलभूत आवश्यकताओं में कथानक भी एक है। पर उपन्यास की कथानक-संबंधी धारणा में बड़ा चरित परिवर्त्तन हुआ है। यह जहाँ उपन्यास की गतिशीलता और विकास सूचित करता है, वहाँ यह भी स्पष्ट करता है कि यह साहित्य-रूप अत्यधिक लचीला है और इसमें प्रयोग की काफी गुंजाइश है। पहले के उपन्यासकार कथानक तैयार करते थे, गढ़ते थे, सजाते सँवारते थे, काट-छाँट करते थे; एक निश्चित योजना और उद्देश्य से ढाँचा खड़ा करने की परिपाटी थी। कथानक की हर रेखा और मोड़ पहचाने जा सकते थे! लेकिन नये उपन्यासों के संबंध में यह बात नहीं कही जा सकती। वह तो किसी सुस्पष्ट योजना के अधीन होने से साफ इन्कार करता है। कथानक इतना उलझा और जटिल होता है, कि उसके पीछे कोई योजना या उद्देश्य निहित है, यह स्पष्ट नहीं होता।

पुराने उपन्यास, लेखकों के लिये शतरंज की तरह थे। जिस प्रकार शतरंज का एक नक्शा होता है, उसी प्रकार पुराने उपन्यासों का कथानक था। शतरंज के नक्शे में कई खाने होते हैं; ठीक उसी प्रकार कथानक के भी कई खंड थे। जिस प्रकार शतरंज के किसी निश्चित खाने पर मोहरों के पहुँच जाने से खेल का मोटा-मोटी अन्दाज हो जाता है, उसी प्रकार पात्रों को किसी विशेष स्थिति या ऊँचाई-गहराई में देखकर कथा या चरित्रों की गति का अनुमान होता था। चरित्र तो ठीक मोहरों की तरह थे, जब जिसे चाहा उठाया और अपनी समझ के अनुसार ठीक या गलत जगह पर रख दिया। वहाँ रखे जाने का औचित्य भी होता था, और कभी-कभी यों ही खेल-खेल में एक घर से उठाकर दूसरे घर में रख दिये जाते थे। नये उपन्यासों को पढ़ने के बाद आप इन बातों को मानने के लिये कतई तैयार नहीं होंगे।

साहित्य के रूपों का विकास अनायास नहीं होता और न उन रूपों में वैविध्य एकाएक आता है। एक समय था जब साहित्य में मात्र काव्य की प्रचुरता थी। धीरे-धीरे अन्य साहित्य-रूपों का प्रादुर्भाव हुआ। फिर वे इतने विकसित हुए कि उनके ही किसी किस्मों में प्रर्याप्त अंतर दिखाई देने लगा। यह इसलिये सम्भव हुआ कि जीवन निरन्तर विकसित होता रहा और उसी के स्वरूप के अनुसार साहित्य के भी स्वरूप-भेद होते गये। जब हम सीदे-सादे मनुष्य थे, शांत सरल प्रकृति की गोद में रहते थे और ऋजु-सहज मनोभावों के पुतले थे, तो मात्र गीति

और लय प्रधान काव्य ही हमारे जीवन के रूप और प्रवृत्ति को व्यक्त करने के लिये काफी था। लेकिन ज्यों-ज्यों हममें मनोभावों की जटिलता आती गई, हमारे परिवेश में विविधता और विस्तार आता गया, त्यों-त्यों साहित्य के प्रचलित रूप, जीवन के स्वरूप और स्वभाव को व्यक्त करने में असमर्थ होते गये। इसलिये पुराने साहित्य रूपों के साथ-साथ कितने ही नये साहित्य-रूप विकसित हुए।

उपन्यासों का प्रणयन युगों पूर्व शुद्ध मनोरंजन की दृष्टि से हुआ। बाद में हम उसके द्वारा अपने मनोभावों को प्रकाशित करने लगे। होते-होते वह एक ऐसे माध्यम के रूप में विकसित हुआ कि उसके व्याज से हमारा सम्पूर्ण जीवन और समाज ज्यों-का-त्यों ध्वनित होने लगा। लेकिन स्वरूप और उद्देश्य में इतना अंतर आने पर भी उपन्यासों ने मनोरंजन का साथ नहीं छोड़ा। जीवन और समाज के रूप को ध्वनित करते हुए भी उसने अपने आदिम उत्तरदायित्व के प्रति निष्ठा बरती। वह बड़े कौशल और सामर्थ्य के साथ अपना दुहरा कार्य सम्पादित करता रहा। हाँ, ऐसा अवश्य हुआ कि पाठकों के विकसित रुचिबोध को ध्यान में रखकर यथार्थ की अभिव्यक्ति को अधिक महत्व दिया गया और शुद्ध मनोरंजन गौण हो गया।

जब उपन्यासों का लक्ष्य मनोरंजन था तो उनका रूप-गठन भिन्न रीति से हुआ करता था। जब दर्शक-समुदाय किसी जादूगर के कृत्य से प्रभावित होना चाहता है तो जादूगर अपने 'करतब' दिखाता है, उनके सामने अपने कौशल की दुनिया खड़ी करता है। लेकिन यदि दर्शक समुदाय जिज्ञासु श्रोता बनकर जीवन और समाज के बारे में कुछ जानने और सुनने के लिए तत्पर हो तो उसे जादूगर के करतब से संतोष नहीं होगा। तब तो उसके आगे किसी विचारक, पंडित या नेता को आना होगा जो अपनी सीधी-सरल भाषा में जीवन और समाज के रूप को प्रकाशित कर सके, विचारों को पुष्ट करने वाले दृष्टान्त रखे, तर्क दे, आँकड़े इकट्ठा करे।

नये उपन्यासों में कथा का जादू क्रमशः घटता चला गया। जादू का अभाव होने से कथा सिर पर चढ़कर बोलने से लाचार हो गई। पहले के उपन्यासों की यह एक बहुत बड़ी विशेषता थी कि वे एक साँस में पढ़ लिए जाते थे। बेचारा पाठक खाना-पीना और काम-काज छोड़-छाड़ कर उपन्यास के पीछे पड़ा रहता था। वह एक दूसरी दुनिया की सैर में अपने आप को भूल जाता था। इसीलिए तब के अभिभावक किशोर-मति के लिये उपन्यासों को अफीम की तरह खतरनाक समझते थे। अब यह खतरा बहुत अंशों में घट गया है। सचाई जटिल होती है और जटिलता को ढोने के कारण आज उपन्यास एक साँस में पढ़े जाने योग्य नहीं रह गये। पहले के पाठक घुड़सवार होते थे जो कथानक की लम्बी-चौड़ी सीधी-सपाट सड़क पर घोड़ा दौड़ाते हुए साफ निकल जाते थे। तब दूरी मापने का सवाल था, इसलिये आगे बढ़ने की जल्दबाजी थी। अब तो रास्ते के इर्द गिर्द पड़ने वाली भूमि, खेत, खलिहान, लता-झाड़ी, जंगल आदि का मुआयना करते चलना है, जिससे उस अंचल-विशेष का जीवन, भूगोल, इतिहास, अर्थशास्त्र और मनोविज्ञान स्पष्ट हो।

यदि चरित्रों की बात लें, तो पहले के उपन्यासों में चरित्र होराइजेंटल ढंग से उपस्थित होते थे। उनका विकास सीधा-सादा और स्पष्ट होता था। वे बहुधा एक सीध में विकसित होते चले जाते थे। यथार्थ जीवन में चरित्रों का विकास इस ढंग से नहीं होता, इस ओर उपन्यासकार का ध्यान ही नहीं रहता था। उसके कथा-जगत में चरित्रों के विकसित होने का अपना निराला ढंग था। इस एकमुखी और त्वरित विकास को उपन्यास-कार रोक नहीं सकता था, क्योंकि ऐसा करने से चरित्रों के बौने हो जाने की सम्भावना थी। उनके विकास की कई दिशाएँ नहीं होती थीं कि वे एक ओर रास्ता न पाकर दूसरी ओर चल निकलते।

नये उपन्यासकारों ने चरित्रों के मामले में पुराने उपन्यासकारों के विपरीत भिन्न मार्ग पकड़ा। उनके उपन्यासों में चरित्रों के विकास की पथ-रेखा सीधी, स्पष्ट और सरल न होकर घुमावदार और चक्करों से भरी होने लगी। चरित्र बहुधा परस्पर-विरोधी दिशाओं में विकसित होने लगे। ऐसा होने से चरित्रों में विकास की अत्यधिक ऊँचाई तो नहीं आई; लेकिन वे जमीन अधिक घेरने लगे। ऐसे चरित्रों का मूल्यांकन भी अपेक्षाकृत अधिक कठिन प्रतीत होने लगा। उनके विकास की कोई एक निश्चित दिशा नहीं थी, व्यक्तित्व का कोई एक विशेष कोण नहीं था, इसलिए इनका रहस्यमय और जटिल होना स्वाभाविक था। इन विशेष गुणों के कारण ही ये आधुनिक चरित्र समझे गये और पुराने उपन्यासों के खल्वाट चरित्रों से भिन्न माने गये। ऐसे चरित्रों की संगति यथार्थ जीवन के क्रोड़ में पलनेवाले चरित्रों से सहज ही बैठने लगी, इसलिये इनसे नाक-भौं सिकोड़ने का सवाल ही नहीं था। विकसित मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों की प्रामाणि-कता ने इनके स्वरूप पर सचाई और स्वाभाविकता की मुहर डाल दी जिससे ये हमारे लिये सहज ग्राह्य हो उठे।

★
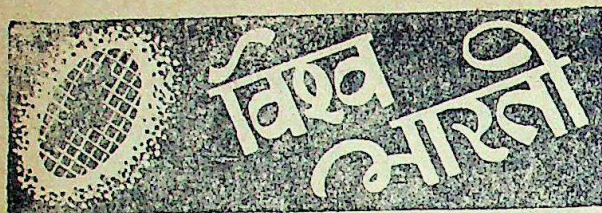
एक जीवनीकार : आन्द्रे मोरोया

★

श्री लोकदूत

आन्द्रे मोरोया मुख्यतः जीवनीकार हैं। साधारण जीवनीकार से अवश्य ही उनका प्रभेद है। उनका लेखन मिट्टी झाड़कर सुखाया गया रोजनामचा नहीं है। उनके हाथ में जीवनी रोमांस का पर्याय बनकर उठ खड़ी होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कहानी खड़ी करने के निमित्त वे हमेशा सत्य को तिलांजलि देने के लिए प्रस्तुत रहते हैं। अपनी साम्प्रतिक पुस्तक 'दि आर्ट आफ राइटिंग' में मोरोया ने कहा है कि अनेक क्षेत्रों में पूर्ण सत्य के उद्घाटन में जीवनीकार को असुविधा हो सकती है; और इसीलिए उन सब क्षेत्रों में, प्रयोजन के अनुसार, सत्य को छिपा लेना क्षम्य है, किन्तु मिथ्याकथन कदापि क्षम्य नहीं है। जीवनीकार जो भी प्रकट करेगा, उसके बीच किसी प्रकार का तीखापन नहीं आने देगा। जीवनी को जो रोमांस के बतौर उपस्थित करना चाहते हैं, वे यदि इस तीखापन न लाने की नीति के अनुसरण के इच्छुक हों; तो लेखन के लिए जीवनी-विषय के चुनाव में उन्हें काफी सतर्कता के अवलंबन की आवश्यकता है। सत्य और रोमांस—दोनों निष्कपट उपस्थित हो सकें, ऐसा जीवन मिलना मुश्किल है। जिस जीवन को उपलब्ध करने में किसी वितर्क की सृष्टि नहीं हो—वही जीवन जीवनी लिखने की अचल चीज है। मोरोया चाहते हैं ऐसा जीवन, जिसे केन्द्र कर एक ज्योतिर्मय कुज्झटिका (लूमिनास फग) की सृष्टि सम्भवपर हो। इसलिए उन्हें विषय के अन्वेषण में देश-काल की गाँठ को भूलना पड़ा है। वे फ्रेंच साहित्यिक हैं, किन्तु उनकी ख्याति प्रधानरूप से अंगरेज कवियों के जीवनीकार के नाते है।

मोरोया का विचार है कि साहित्यकार का जीवन और उसके सृष्ट साहित्य का संबंध अविच्छेद्य है। अंगरेज कवियों की जीवनी लिखने के समय उन्होंने केवल जीवनकथा ही नहीं लिखी, बल्कि काव्य-समालोचना भी की है। उसी प्रकार, प्रूस्त के अभिमत जीवनदर्शन के संबंध में उनकी प्रख्यात पुस्तक 'आला रसार्स द मार्सेल प्रूस्त' केवल समालोचना-पुस्तक ही नहीं है, बल्कि उसमें प्रूस्त का जीवन भी स्थान पाया है। अर्थात्, केवल जीवनीकार और केवल समालोचक होने में मोरोया को आपत्ति है। अपने साहित्य-जीवन के शुरू से ही मोरोया अपने सनातनी समालोचकों का विरोध झेलते आए हैं। साहित्यबोध के लिए ही साहित्यिक के जीवन की आलोचना में उन्हें कभी द्विधा नहीं हुई, और उनकी लिखी जीवनियों में भी शुद्ध समालोचना का मिलन हुआ है। इस मिलन के कारण साहित्य के क्षेत्र में जो वर्णसंकरता की सृष्टि हुई है, अंगरेजी में उसका नामकरण हुआ है—बायोक्रिटिसिज्म। आन्द्रे मोरोया इस समय के सबसे बड़े और जनप्रिय बायोक्रिटिक कहे जा सकते हैं।

'दि आर्ट आफ राइटिंग' में भी मोरोया ने उसी रीति का अवलम्बन किया है। पुस्तक में मोरोया के तेरह निबंध सन्निविष्ट हैं, जिनमें पहले निबंध के अलावा शेष निबंध गत दो सौ वर्ष के अंगरेजी के अलावा शेष योरोपीय भाषाओं के कई एक साहित्य-दिक्पालों की चर्चा है। प्रथम प्रबंध मोरोया के अर्ध-शताब्दीव्यापी साहित्याध्ययन की अभिज्ञताजात संपत्ति है, नवीन साहित्य-साधक के प्रति ज्येष्ठ साहित्य-साधक का उपदेश है। हाँ, यह बात उठ सकती है कि साहित्यसृष्टि का कोई बँधा फर्मूला नहीं है, और वह अपनी रीति का अपने ही प्रवर्त्तन करती है। मोरोया ने प्रकारान्तर से इस युक्ति को निश्चय ही अपने मन में रखकर उक्त पुस्तक लिखी थी, तभी तो उसका नाम 'दि आर्ट आफ राइटिंग' होते हुए भी, पहले प्रबंध का नाम है 'दि राइटर्स क्राफ्ट'। लेखक के अनजाने ही उसके लिखने के 'क्राफ्ट' से 'आर्ट' उन्नीत हो उठता है, और उसे उस स्तर पर पहुँचाने का सौभाग्य सभी को नहीं होता; किन्तु क्राफ्ट में दक्षता साहित्यशोलिप्सु मात्र के लिए प्रयोजनीय है और आयत्त भी। प्रत्येक सार्थक साहित्यिक के हाथ की कलम केवल

उसके क्राफ्ट्समेन होने के नाते ही होती है; और अभिज्ञता होने पर वही अर्जित कुशलता एक दिन शिल्प में भी रूपान्तरित हो सकती है। स्वभावतः ही मोरोया ने अपने प्रिय विषय के ही शिल्प-संबंध में ये सब बातें लिखी हैं और उनका उपदेश उपन्यास और जीवनी लिखने की प्रणाली तक ही सीमाबद्ध समझना चाहिए।

मोरोया के शेष बारह निबंध, जिन्होंने क्राफ्ट्स को आर्ट के बतौर स्वीकृत किया है उन लेखकों के विषय में हैं। मोरोया खुद फ्रांसिसी हैं, और शायद इसीलिए, आलोच्य लेखकों की तालिका में इन छह फ्रेंच साहित्यिकों ने स्थान पाया है — वालतेयर, रुसो, स्ताँदाल, बालजॉक, फ्लावेयर एवं प्रूस्त। चर्चा में रूसी साहित्य के स्रष्टाओं में हैं चार — ताल्सताय, चेखव, गोगोल एवं तुर्गनेव तथा जर्मन और इतालवियों में हैं — गेटे और लियोनार्डो। रूस के साहित्यकारों के इस निर्वाचन को लेकर विवाद उठ सकता है और कहा जा सकता है कि चेखव और तुर्गनेव की जगह पुश्किन और दोस्तोवस्की को जगह देना अधिक उचित होता। इस प्रश्न के आने का अनुमान कर ही मोरोया ने कहा है कि रूसी साहित्य की प्रथम पंक्ति में स्थान पाने के योग्य छह लेखक हैं और उन छहों में तुर्गनेव और चेखव भी आते हैं।

पुस्तक के सारे निबंध ही मोरोया की निजस्व शैली में लिखित हैं, अर्थात् बायोक्रिटिकल हैं। हाँ, इसमें जीवनी और साहित्य-समालोचना का अंश सभी प्रबंधों में समान नहीं है; कई एक प्रबंध मुख्यतः जीवनी हैं, तो कई एक समालोचना। मोरोया के नायक इतने ही अधिक विख्यात हैं, एवं उनमें से प्रायः प्रत्येक का ही जीवन इतना विचित्र है कि बीस-तीस पृष्ठ के स्वल्पायतन प्रबंध में उन सबों के जीवन की आलोचना संभव नहीं है। इसीलिए मोरोया ने वैसी चेष्टा नहीं की है। उन्होंने लेखक के जीवन की किसी विशेष घटना का उल्लेख कर दिखाया है कि उस एक विशेष घटना से लेखक के जीवन की गति किस प्रकार परिवर्त्तित हो सकी थी अथवा उसने उनके साहित्य को कितना प्रभावान्वित किया। गेटे के जीवन के एक विशेष अध्याय की आलोचना करते हुए वे प्रमाणित करते हैं कि

साल की चार घटनाओं के मामले में हम गेटे के प्रति ऋणी हैं। इस साल यदि अन्त तक अना-एलिजावेथ के साथ विवाह कर, उनके साथ ड्यूक आफ वाइमर का परिचय नहीं होता, ड्यूक की भेजी हुई गाड़ी यदि अन्त तक गेटे को वाइमर ले जाने के लिए नहीं आती, एवं यदि वाइमर में गेटे के साथ वैरनेस फन स्टाइन का परिचय नहीं होता, तो गेटे की प्रतिभा का पूर्ण विकास नहीं होता। मोरोया ने लिखा है कि पृथ्वी के अन्यतम श्रेष्ठ मनुष्य की रचना के लिए नियति ने दो स्त्री, एक प्रिंस और एक गाड़ी की सहायता ली थी।

इटली के कवि लियोनार्डो के अस्वाभाविक शैशव ने ही उनके जीवन को नियंत्रित किया था। उनकी माँ थीं—पर्फेक्ट इन दि ह्वार्स्ट सेन्स ऑफ दि वर्ड— और इसीलिए बाल-बच्चों को कुसंसर्ग से बचाने के लिए घर की चहारदीवारी में बुरी तरह बंद रखा करती थीं। माँ की सतर्क दृष्टि और कठोर शासन से किसी प्रकार छुटकारा पाने के ही लिए लियोनार्डो ने पारिवारिक लायब्रेरी का सहारा लिया। जब उन्हें इस लाइब्रेरी-जैसे सहारे को छोड़ देने का हुक्म मिलता है, उस समय तक उनका पांडित्य अगाध हो चुका होता है; किन्तु लगभग अँधेरे घर में दीर्घ काल तक अध्ययनसन्नद्ध होने के कारण वे भग्नस्वास्थ्य, कुब्जदेह और प्रायः दृष्टिशक्तिहीन हो चुके थे। लियोनार्डो के परवर्त्ती जीवन और लेखन के ऊपर इस शारीरिक वैकल्य का कोई कम प्रभाव नहीं है।

ताल्सताय अपने लेखन में, दाम्पत्य-जीवन में संयम-पालन का जो इतना उपदेश दे गए हैं, वे खुद ही उसका पालन नहीं कर सके थे; यह बात सर्वजनविदित है। इस संबंध में उनकी दो पुस्तकों 'दि फैमिली हैप्पीनेस' और 'दि क्रुयत्सार सोनाता' के बीच पच्चीस वर्षों का व्यवधान है। मोरोया का कहना है कि पच्चीस वर्ष के दाम्पत्य-जीवन की अभिज्ञता ही दूसरी पुस्तक में आई हुई तिक्तता के लिए उत्तरदायी है। प्रसंगक्रम में मोरोया ने बतलाया है कि 'दि क्रुयत्सार सोनाता' के प्रकाशित होने के कुछ काल बाद श्रीमती ताल्सताय को सन्देह हुआ कि वे गर्भिणी हैं और चौदहवीं सन्तान की माता होने जा रही हैं। अपनी इस आशंका का उल्लेख करते हुए श्रीमती

तात्सताय ने अपनी डायरी में बड़े व्यंग्य के साथ लिखा था कि—"इस आशंका के सच होने पर, वही 'दि क्र्यस्सार सोनाता' का सबसे अधिक सही उपसंहार होता।" कहना न होगा कि तात्सताय की इस पुस्तक को लेकर उनमें और उनकी पत्नी में यथेष्ट मनोमालिन्य हुआ था।

समालोचक के नाते मोरोया निरपेक्ष नीति को माननेवाले हैं। किसी विशेष मतवाद के प्रति उनमें कोई पक्षपातित्व नहीं है; बल्कि उनका मत है कि कोई सार्थक उपन्यास या सुशिल्पित कहानी अपने द्वारा किसी मत को प्रभावित नहीं करती है; 'दे प्रूव नथिंग'। लेखक की कल्पना की दुनिया के साथ बहिर्जगत् की टकराहट से जो आशाभंग की वेदना जगती है, उसी का शब्दरूप है साहित्य। एकमात्र कुछ फरमायशी चीजों को छोड़ कर, अन्य सभी साहित्य के ही साथ इस संज्ञा का कोई विरोध नहीं है। यह ठीक है कि लेखक-मानस और लेखन-शैली के भेद में पड़कर इस वेदना का प्रकाश्यरूप भी भिन्न होता है। किन्तु, वह प्रभेद प्रकृत नहीं होकर बाह्यिक ही होता है। इसी उदारमनोभावना के नाते, दो लेखकों का लेखन-शैली और आदर्श के बीच दो मेरुओं जैसा व्यवधान होने के बावजूद, दोनों को ही महत् मानकर स्वीकार करने में मोरोया ने कभी कुंठा का बोध नहीं किया। उन्होंने रूसो के प्रति श्रद्धा व्यक्त की है, और फिर 'कांदीद' वाल्तेयर की श्रेष्ठतम साहित्यकीर्त्ति है—यह बात भी उन्होंने कही है। फ्लावेयर के बाहुल्य-वर्जन ने जितना उन्हें आकृष्ट किया, बालजाक की उच्छलता ने भी उन्हें उतना ही आकृष्ट किया। चेखव ने एक बार कहा था कि यदि वे करोड़पति होते तो उनकी कोई कथाकृति हाथ की तलहथी की नाप से अधिक साइज की नहीं लिखी होती। मोरोया जिस प्रकार चेखव के भक्त हैं उसी प्रकार प्रूस्त के भी, यद्यपि अनातोले फ्रांस ने एक बार परिहासपूर्वक कहा था कि "आर्ट इज लौंग, बट प्रूस्त इज लौंगर।"

मोरोया के सभी आलोच्य लेखक काल की परीक्षा में उत्तीर्ण हैं। जो परीक्षार्थी हैं उनके संबंध में भी यह संज्ञा समान भाव से प्रयोज्य है कि नहीं, इस बात को लेकर कुछ तर्क करने की गुंजाइश है। किन्तु, इस समस्या पर तर्क करना साहित्य-समालोचक का और हो तो साहित्यिकों का भी विषय है, साहित्य-पाठक का विषय तो है ही नहीं। किसी भी प्रकार की रीति, शैली और आदर्श के प्रश्न से अलग होकर साहित्य का रस-ग्रहण विदग्ध पाठकों के लिए किस तरह संभव होता है—इसी का एक सुन्दर दृष्टान्त मोरोया की यह पुस्तक है। और, इस नाते, इस पुस्तक का नाम 'दि आर्ट आफ राइटिंग' न होकर 'दि आर्ट आफ रीडिंग' होने में कोई भी बाधा नहीं थी।

The Art of Writing—By Andre Maurois; The Bodley Head, London; Pp 320; 16s—

*

देवनागरी टाइप में सुधार : एक विचार

★

श्री रामभाऊ म्हसकर

देवनागरी लिपि ने मोनो मशिन, लायनो मशिन पर स्थान पा लिया। अब वह फोटो कंपोजिंग मशिन पर भी आरूढ़ हो गयी है। आज कंपोजिंग, प्रिंटिंग में सुलभता और शीघ्रता लाने के प्रयत्न चल रहे हैं और चलते रहेंगे। उसी तरह नागरी लिपि छपाई में जितनी जगह रोकती है, उससे कम रोके, इस दिशा में भी प्रयत्न चल रहे हैं। नागरी टाइप बनावट में एक हद से ज्यादा छोटा बना नहीं सकते। क्योंकि नागरी टाइप में जितनी जगह मूल अक्षर के लिये रखी जाती है, करीव-करीब उतनी ही जगह अक्षर से ऊपर के चिह्न (उदा० रफार, अनुस्वार, ईकार, मात्रायें आदि) और नीचे के चिह्न (उदा० उकार, ऋकार, हलंत आदि), दोनों को मिलाकर देनी पड़ती है। इसके मानी, अंगरेजी का १० पाइंट का टाइप हम आसानी से पढ़ सकते हैं, तो नागरी का टाइप उतनी आसानी से पढ़ नहीं सकेंगे। क्योंकि नागरी में दस पाइंट का टाइप, याने मूल अक्षर पाँच पाइंट का हो जाता है, और २॥ पाइंट जगह मात्राएं, रफार आदि में और २॥ पाइंट जगह उकार, ऋकार आदि में जाती है।

दस पाइंट टाइप में पाँच पाइंट की जगह अक्षर के हिस्से में आयी ! इसमें भी हर अक्षर के सिर पर जो रेखा रहती है, वह भी अक्षर को और छोटा बनाने में सहायक होती है। यह रेखा लिखने में भी गति कम कर देती है। कुछ लोग एक-एक अक्षर लिखने के बाद उसपर शिरोरेखा लगाते हैं तो कुछ शब्द लिखने पर। कुछ विद्यार्थी तो पूरा पन्ना लिख लेने के बाद स्वतंत्ररूप से शिरोरेखा लगाने का कार्यक्रम ही बना लेते हैं। इससे अक्षर को खुलकर प्रकट होने का पूरा मौका नहीं मिलता। दूसरी बात लिखने में गति कम हो जाती है। आमतौर से शिरोरेखा देने से लिखने में गति कम हो जाती है। आमतौर से शिरोरेखा देने से लिखने की गति १/५ कम हो जाती है। याने शिरोरेखा न देनेवाला व्यक्ति जितने समय में पाँच पन्ने मजमून लिखेगा, उतने ही समय में शिरोरेखा देनेवाला व्यक्ति केवल चार ही पन्ने लिखेगा।

आचार्य विनोबाजी ने अपनी 'लोकनागरी लिपि' में लिखावट में शिरोरेखा रखी नहीं है और वे खुद लिखने में शिरोरेखा देते नहीं। गुजराती अक्षर नागरी अक्षरों से बड़ा लगने का कारण उसका शिरोरेखारहित होना है।

मतलब, शिरोरेखा के कारण अक्षर की बनावट और छोटी होती है, जो जन-नेत्र को तकलीफ देती है। अक्षर तो टाइप की ऊँचाई के आधे रहते ही हैं। ऐसी स्थिति में थोड़ी जगह में ज्यादा मजमून किस तरह दिया जाय, यह सवाल है। लाइनों की लंबाई बढ़ाकर, पन्नों में ज्यादा पंक्तियाँ देकर अधिक मजमून देने की कोशिश की जाती है। साथ ही, और ज्यादा देने की दृष्टि रही तो पन्ना अन्लेडेड कर दिया जाता है। इस प्रकार मैटर बढ़ाया जाता है। अंगरेजी अखबार जिस तरह भर-भर के मैटर दे देते हैं, या उनकी चीप एडिशन की किताबें जैसी कस कर भरी रहती हैं, उसे देखकर अचरज होता है। हमारे नागरी अखबार अंगरेजी की तरह मैटर देने के लिए पन्ने बढ़ा नहीं सकते, क्योंकि आर्थिक दृष्टि से उन्हें वह पुसाता नहीं। और, जितने पन्ने वे दे देते हैं, उतने में मैटर ज्यादा समाता नहीं।

इसपर एक राह सूझी, वह नीचे दे रहा हूँ।

नागरी लिपि में अक्षर के नीचे और ऊपर आनेवाले चिह्नों का अनुपात क्रमशः १ : ६ है। आमतौर से छपी किताबों में एक लाइन में औसत नीचे १॥ चिह्न आते हैं तो ऊपर की तरफ़ ६। नीचे की तरफ आनेवाले चिह्नों का यह अत्यल्प प्रमाण ध्यान में लेकर यदि इन चिह्नों को अक्षर के नीचे से उठा लें और उसी अक्षर के सामने रख दें तो टाइप की ऊँचाई तीन चौथाई हो जायगी। टाइप वही रहेगा। और, इस कारण पन्ने में सवा गुना मैटर समायेगा। मतलब, टाइप में अक्षर के हिस्से में जो आधी जगह आती थी, वह अब दो-तिहाई आयेगी। छपी किताब इस पद्धति से यदि छापी जाय, तो टाइप और लेडिंग में परिवर्त्तन न करते हुए उसमें

२०% बचत की होगी। याने १०० पन्नों की किताब ८० पन्नों में छपेगी।

प्रश्न पैदा होगा, नीचे आनेवाले चिह्न जब अक्षर के सामने की जगह रोकेंगे तो शब्दों की लंबाई बढ़ेगी और यह बढ़ी लंबाई ही मिलनेवाला लाभ शायद हजम कर जायगी। वास्तविकता भिन्न है। नीचे आनेवाले चिह्न हम पंक्ति में औसत तीन मान लें, तो भी पन्ने में ६० हुए। इन सब चिह्नों की ही यदि स्वतंत्र पंक्तियाँ बना लें तो वह दो पंक्तियों से कम ही होगी। और, पूरे पृष्ठ में जगह बचनेवाली है आठ की। मतलब, छह पंक्तियों का मुनाफा रहेगा।

दूसरा सवाल आयेगा, अक्षर के नीचे आनेवाले चिह्न अक्षर के सामने ले लेना जनता मान्य करेगी? एक तो नीचे आनेवाले चिह्न ज्यादा न होने से यह चीज प्रथम-दर्शनी वाचकों को अखरेगी नहीं। इस प्रकार की दो-चार पंक्तियाँ पढ़ते ही पाठक सुधार का रूप सहजता से समझ जायेंगे। क्योंकि, इसमें बहुत भिन्नता नहीं है। आज रु रू अक्षरों में 'र' के पेट में दिये हुए चिह्न इसी तरह के रहते हैं। कइयों को यह सुधार दिखाया गया, उन्हें वह अखरा नहीं। इस सुधार से किताबें सस्ती होंगी यह प्रत्यक्ष लाभ पाठक ध्यान में रखेंगे ही। लिखने में यह पद्धति रूढ़ की जाय, ऐसा हमारा आग्रह नहीं है।

अब इसका जरा बड़े पैमाने पर हम प्रयोग करना चाहते हैं। इसे आचार्य विनोबाजी ने मान्यता दी है और साथ प्रोत्साहन भी। लिपि-सुधार, प्रौढ-शिक्षण, साक्षरता-प्रचार, मुद्रण-कला आदि में रुचि रखनेवालों का ध्यान खींचने के लिये ही यह लेख है।

★

ग्रन्थों के अनुवाद के विषय में

★

श्री सुनील गंगोपाध्याय

अनुवाद-ग्रंथ साहित्य के खिड़की-रोशनदान की तरह होते हैं। इस खिड़की-रोशनदान से देश-देश की हवा और रोशनी मिला करती है और उसकी बदौलत देशीय साहित्य का तन मन प्रफुल्ल और पुष्ट हुआ करता है, देश का साधारण पाठक विश्वदृष्टिवाली आँखों से अपने देश के साहित्य को देखना-परखना सीखता है। और, पाठक यदि विश्व के श्रेष्ठ-श्रेष्ठ साहित्यों की कीर्त्ति से कमोबेश परिचित हो तो लेखक भी दायित्वज्ञान से सम्पन्न होने को बाध्य होंगे। और, भ्रष्ट रचनाओं का पत्र-पत्रिकाओं में 'अच्छा' कहकर डंका-निनाद बंद हो जायगा। अच्छे अनुवाद की तुलना एक अच्छे देशभक्त के साथ करना ही उचित होगा।

हमारे देशी साहित्य की अनुवादवाली शाखा बहुत दुर्बल ही कही जायगी। यों संख्या के नाते देखा जाय तो लगेगा कि अनुवाद-ग्रंथ कुछ कम नहीं प्रकाशित हो रहे हैं। किन्तु, सही माने में सोचा जाय तो साफ पता चलेगा कि इन तथाकथित अनुवाद-बाहुल्यों में अधिकाधिक भाग विदेशी प्रचार-पुस्तकों का ही होता है। शेष में कुछ तीसरी श्रेणी की फरेबदार कहानियाँ और कुछ अजीबोगरीब बातें। ख्यातिप्राप्त लेखकों की भी उन्हीं सब रचनाओं को चुन-बीछ कर अनूदित किया जाता हैं; जोकि मनुष्य के आदिम रिपु को उत्तेजित करनेवाली हों। एमिल जोला के वृहदायतन उपन्यासों को, नाना जगहों पर काट-पीट कर, पोस्टकार्ड के साइज की पोथी में छपने के लायक अनूदित किया जाता है, किन्तु इस काट पीट में आदिम रस के सारे प्रसंग हूबहू बचा लिए जाते हैं।

यह दोष अनुवादकों का नहीं है, इसके लिए अनुवाद-ग्रंथ के संबंध में पाठकों की रुचि ही अधिक दायी है। अनुवाद-ग्रंथ कौन पढ़ते हैं? कुछ स्कूल-कालेज के तरुण युवक-युवती और कुछ वैचित्र्य-विलासी लोग। महिला एवं शिक्षित व्यक्ति अधिकतर अनुवाद को छूकर भी देखना नहीं चाहते। किन्तु, तथाकथित शिक्षित लोगों की अनुवाद-ग्रंथ के विषय में बड़ी अद्भुत धारणा हुआ। करती है। अँगरेजी पुस्तकें मूल भाषा में पढ़ने का अलग स्वाद है; किन्तु फ्रेंच, रशियन, इतावली, जर्मन आदि पुस्तकों का अँगरेजी अनुवाद या हिन्दी-उर्दू-बंगला अनुवाद अपने बीच क्या पार्थक्य रखता है? एक ही पुस्तक यदि अँगरेजी या अपने देश की भाषा के अनुवाद में पाई जाय, तो हमारे देश के उत्साही पाठक अवश्यम्भावी रूप में अँगरेजी वाले अनुवाद को ही खरीदेंगे। हमारी देशी भाषाओं के अनुवाद के प्रति यह तीव्र अवज्ञा ही अनुवाद-साहित्य की श्रीवृद्धि में एक गहरी रुकावट हो रही है। इस अवज्ञा के दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह भावना कि अँगरेजी अनुवाद साधारणतः मूल के अत्यन्त अनुगत एवं विश्वासयोग्य होते हैं और हर समय मूल भाषा से सरासर अनूदित होते रहते हैं, देशी भाषाओं में कहीं-कभार ही मूल भाषा से अनुवाद हुआ करता है। अनुवाद में पाठ्यता का गुण भी कम ही हुआ करता है। और, अनुवाद के अनुवाद के संबंध में बंगभाषा के पण्डित श्री ललितमोहन गंगोपाध्याय की इस बात को ही पुनरुक्त कर देने की इच्छा होती है कि "साले के साले साथ भी कुछ आत्मीयता रह सकती है; किन्तु अनुवाद के अनुवाद के साथ मूल की कुछ भी आत्मीयता नहीं हुआ करती।" अनुवाद को कितना मूलानुसारी होना चाहिए, इस विषय में अवश्य ही तर्क करने की बातें हैं। इस विषय में श्री सुधीन्द्रनाथ दत्त ने एक बहुत सुन्दर फ्रेंच कहावत का उद्धार किया है कि : अनुवाद स्त्रियों के समान ही नाजुक चीज हुआ करता है, यानी स्त्रियाँ सुन्दरी होने पर असती होती हैं और यदि सती निकलीं तो अवश्य ही कुरूपा होंगी।

इस प्रसंग में विदेशी अनुवादकों के सम्बन्ध में भी कुछ बता देना चाहिए। हमारे देश में शिक्षित पेशेवर अनुवादकों का कोई विशेष वर्ग नहीं है। आया-उठाया-किया के अनियमित भाव से ही कुछ अनुवाद होते रहते हैं। अनुवाद-पुस्तकों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि मानो अनुवादक को भाषा की शिक्षा पाने से कोई मतलब नहीं है। अनुवादक का अधिक भाषाभाग ही गलत

और कष्ट-कल्पित प्रतीत होगा। निष्ठता का प्रश्न तो अधिकांश क्षेत्रों में दूसरी ही चीज है। एक खास अनुवादक किसी विशेष देश के विशेष साहित्यिक की पुस्तकों के सम्बन्ध में यथासाध्य तथ्य संग्रह कर एक के बाद एक उनकी पुस्तकों का अनुवाद करें—ऐसा दृष्टांत अपने देश में अत्यल्प ही है। किन्तु, विदेशों में ऐसे ही अनुवादक अधिक हैं। गीतांजलि का अनुवाद करने में प्रवृत्त होने के लिए आन्द्रे जीद ने कितना महान परिश्रम लगातार किया था—वह उनकी गीतांजलि अनुवाद की भूमिका से ही प्रकट हो जाता है। सुना जाता है कि मेलार्मे का अनुवाद करने में रोजर फ्राइन को बीस वर्ष लग गए थे। यहाँ तक कि कान्सटान्स गार्नेटर जैसे एकनिष्ठ अनुवादक के विषय में और भी कहना तो और भी असंभव है। अनुवाद का दायित्व रचनाशील अनुवादकों के ऊपर न्यस्त करना एकदम अनुचित है। किन्तु, यदि वैसे उत्तरदायित्व-सम्पन्न अनुवादक प्रस्तुत न हों तो, उनके बजाय साहित्यिकों के लिए दायित्व वहन करना कर्त्तव्य हो जाता है। भारत की भाषाओं में बंगभाषा के किसी-किसी विख्यात लेखक ने इस दायित्व को वहन किया—और वह एक-दो रचनाओं के अनुवाद तक भले ही हो -किन्तु उनकी कोई निर्दिष्ट रीति हो, यह मानना मुश्किल ही है। कोई लेखक यदि कोई उल्लेखनीय विदेशी रचना पढ़ें तो तत्क्षण उनके मन में यह बात नहीं आ सकती है कि मातृभाषा के पाठकों के लिए उस विदेशी रचना के अनुवाद की आवश्यकता है। बल्कि बहुधा उनके मन में दूसरी ही बात आती है। इस सम्बन्ध में मैं दो अनुभवों की चर्चा करना चाहता हूँ।

एक दफा किसी विख्यात लेखक के पास उनकी किसी विख्यात उपन्यास-कृति का अनुवाद अँगरेजी में करके कहीं प्रकाशित करने की मैंने प्रार्थना की। उन्होंने पहले उत्साहित होकर, बाद में उस उपन्यास-कृति के अनुवाद के विषय में आपत्ति की। मैंने उनकी दूसरी उपन्यास-कृति के विषय में चर्चा की, किन्तु उसके विषय में भी उन्हें आपत्ति हुई। अन्त में इसी प्रकार लगातार चार उपन्यास-कृतियों के विषय में मुझे अनुत्साहित करने के बाद, वे अपनी एक विशिष्ट पाँचवीं उपन्यास-कृति के विषय में उत्साहित करने की चेष्टा कर सके। उनके इस प्रकार के व्यवहार का कारण स्पष्ट है। उन चारों उपन्यास-कृतियों में कोई-न-कोई किसी दूसरे विदेश की उपन्यास-कृति की भित्ति की अवश्य ही चोरी थी। अब उस किसी विदेशी भाषा की कृति के अँगरेजी अनुवाद मात्र के पाठक को यह कैसे पता चलेगा कि वह कहाँ का टपाया हुआ प्लाट या कथ्य है? किसी भी भाषा के मात्र पाठक के लिए जो यह अनवगत बात है; वह अँगरेजी के मात्र पाठक के लिए किसी कदर कम नहीं कहा जा सकती। जहाँ तक अनुवाद का संबंध है, अँगरेजी तक इतनी सावधान नहीं कही जा सकती कि वह अनुवादतत्पर अन्य भाषाओं से अधिक ईमानदार या सोद्देश्य अथवा सोत्साह हो।

इसी प्रकार, एक दफा भारत के भ्रमण में आए हुए एक युवक अमेरिकन से अकस्मात् मेरी भेंट हुई और कुछ साहित्यिक बातचीत भी। बहुतेरी बातचीतों के बीच उन्होंने बंगला सिनेमा के संबंध में भी कुछ बातें कीं। सुतरां बाध्य होकर मैं उसदिन लगे हुए एक बंगला सिनेमा को उन्हें दिखाने के लिए ले गया। उस फिल्म के निर्देशक एक विशेष प्रसिद्ध व्यक्ति थे, कहानी भी एक श्रद्धेय लेखक की लिखी थी, और वह फिल्म भी हल्ले-गुल्ले के साथ चौबीस हफ्ते से चल रही थी। कुछ देर देखने के बाद ही वह युवक वितृष्णा और कुछ बेचैन भाव से बोलने लगा कि यह तो टेरेन्स रैन्टिगन की लिखी हुई अतिप्रसिद्ध कहानी है।- मुझे भी उसके उत्तर में तत्क्षण सप्रतिभ भाव से ही कहना पड़ा कि आप इस फिल्म के शुरू में प्रकाशित कर्त्तृत्वतालिका की बंगला लिपि को पढ़कर समझने से लाचार हैं; किन्तु उस तालिका में कहानीकार के पद पर टेरेन्स रैन्टिगन का ही नाम है। खैर, इस तरह का क्रिया-कलाप अबाध रूप से चलता रहता है और उसका एकमात्र कारण है कि हमारा अनुवाद-साहित्य अत्यन्त दीन है और अध्ययनशील व्यक्तिगण इस विषय में उदासीन हैं—साथ ही, जिनको जनगण कहते हैं, वे यह सब धाँधली या आवश्यकता को जानने की योग्यता या चारा नहीं रखते हैं।

अनुवाद के मामले में ग्रन्थ का चुनाव एक प्रधान विवेच्य विषय हुआ करता है। यह सच है कि अनुवाद

जितना ही अधिक हो उतना ही कल्याणप्रद होता है। अँगरेजी में मौलिक साहित्य से अनुवाद की संख्या ही अधिक है। ऐसे किसी देश का ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जो अँगरेजी-जिह्व व्यक्ति के लिए दुर्लभ हो। हमारे देश में जब वैसा सुयोग थोड़ा ही हुआ करता है, तो वैसी हालत में, अनुवाद-ग्रन्थों का सुनिर्वाचित होना ही पहली आवश्यकता है।

हमारे देश में विदेशों के क्लासिक साहित्य का लगभग कोई अनुवाद नहीं हैं, यद्यपि उनका अनुवाद होना विशेष ही प्रयोजन रखता है। हमारे यहाँ के विभिन्न साहित्यिक निबंधों में विदेशों के बड़े-बड़े बहुतेरे महाग्रंथों के उद्धरण या तर्क दिए रहते हैं। किन्तु, उन निबंधों के अधिकांश पाठक उन महाग्रंथों से अपरिचित होते हैं। शेक्सपीयर का अनुवाद होना चाहिए और कैसे होना चाहिए—इस बात को लेकर हमारे देश की विभिन्न भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में जमाने से चर्चा होती रही है, किन्तु सच पूछा जाय तो शेक्सपीयर की तमाम रचनाओं का कोई अनुवाद जैसा अनुवाद हमारी देशी भाषाओं में किसी के यहाँ दुर्लभ है। शेक्सपीयर जब कि वहाँ के क्लासिक कवि और नाटकार हैं और आज की अँगरेजी से कुछ दूर के हैं—तो आवश्यकता तो यह है कि कुल पाठ-भेद तथा उच्चारण-भेद, आख्यायिका-प्रसंग, व्याकरण और ध्वनि, सामाजिक यथा सांस्कृतिक पद्धति और ऐतिहासिक विवेचन, शब्दार्थ और ध्वन्यर्थ आदि तमाम बातों को समाहित करते हुए उनकी तमाम रचनाओं पर अपनी भाषाओं में विस्तृत और गवेषणापूर्ण टीका की जाय, ताकि भाषा के पाठक के समक्ष कोई ऊहापोह बाकी न बचे। यह टीका लगभग वैसी ही हो सकती है जैसी कि संस्कृत में मल्लिनाथ की टीकाएँ होती हैं। बहुत दूर की चीजों का सीधा-सपाट अनुवाद, कहानी कह देने की तरह की ही चीज होता है और उससे रसबोध में कठिनाई होती है। यह साफ समझ लेना चाहिए कि क्लासिक के पाठक, केवल कहानी या आँकड़े जैसा पाठ नहीं चाहते, बल्कि रसबोध के नाते सारी स्थिति का भाष्य जानकर तब अर्थ प्राप्त करना चाहते हैं। हिन्दी में वैसे कुछ सपाट अनुवाद हुए हैं और बँगला में कुछ समर्थ अनुवाद जो

हुए हैं वे अप्रकाशित या अपूर्ण ही हैं। जैसे, नीरेन्द्रनाथ राय, यतीन्द्रनाथ सेनगुप्त ने शेक्सपीयर का अनुवाद किया है—किन्तु वह ग्रन्थाकार में प्रकाशित नहीं हुआ। सुधीन्द्रनाथ दत्त शेक्सपीयर के सानेटों पर एक पुस्तक प्रस्तुत कर रहे थे, किन्तु वह भी असमाप्त ही रही।

उपन्यास, कविता, कहानी को भी लेकर अनेक प्रकार के परीक्षण-निरीक्षण चल रहे हैं; किन्तु वे सब साधारण पाठक के मन में किसी आवेदन को घटित नहीं कर पा रहे हैं—और; ऐसा इसलिए हो रहा है कि पाठक उस प्रकार की भाषा के प्रति एकदम परिचित नहीं हैं। बँगला में तो टामस मान की एक भी पुस्तक अनूदित नहीं हुई है, फ्रान्स काफकार की भी नहीं, जायस की भी नहीं। दास्तोवस्की की दो-एक पुस्तकों का अनुवाद अवश्य दीख पड़ता है, संभवतः इस अनुवाद के इतने जल्द हो जाने का कारण भी यह है कि उनमें बाह्यिक गल्प-रस का घनत्व होता है। लागेर्कविस्त के एक उपन्यास का अनुवाद है, किन्तु अद्भुत छोटी कहानियों में टेनेसी विलियम्स की

किसी रचना का अनुवाद नहीं है। माम और मोपासाँ के तो ढेर-ढेर अनुवाद हैं, किन्तु जार्जिया उल्फ या आँद्रे मेलरो की पुस्तकें अछूती ही छोड़ दी गईं। यह अपनी सभी देशी भाषाओं की हालत है। और, इस हालत का नतीजा यह होता है कि सदी आधी सदी पहले की विदेशी कथा और चिन्ता के शिल्प के अधकचरे और अतितुच्छ परिचय के सिवा विदेश की आज की नई कथा और चिन्ता की शिल्प-सरणि से हमारी देशी भाषाओं के पाठक नितान्त ही अपरिचित रह जाते हैं!

हमारी देशी भाषाओं की आज की नई कविता, आज भी अपने पाठकों के मन को जो नहीं पकड़ पा रही है और जो उनमें अपना संपूर्ण संस्कार नहीं डाल पा रही है, उसका कारण है कि उसके पाठक उसकी शिल्प-भंगी या शब्द-योजना के प्रति नितान्त ही अपरिचित हैं। किन्तु, जब विदेशों में काव्य-शिल्प में अनेकानेक संधान चल रहे हैं, तो अपनी देशीय भाषाओं के समझदार कविगणों के लिए केवल पूर्व-प्रचलित मार्ग पर ही कविता करना न तो संभव है और न उन्हें इतना प्रभावहीन होना चाहिए। आज की कुछ विदेशी कविताओं का अनुवाद इस विषय में पाठकों के समक्ष साक्ष्य दे सकता था। कविता का अनुवाद अवश्य ही एक आशाप्रद भाव से अग्रसर होता है। बँगला में सुधीन्द्रनाथ दत्त ने 'प्रतिध्वनि' में अनेक विदेशी कवियों के साथ परिचय प्राप्त किया है, और 'हे विदेशी फूल' नामक अनुवाद-पुस्तक में विष्णु दे ने भी इस कार्य को सार्थक भाव से किया है और उसमें इलियट, ह्विटमैन आदि श्रेण्य कवियों की श्रेष्ठ कृतियों का स्वतंत्र भाव से अनुवाद किया गया है। बुद्धदेव वसु ने बोदलेयर का अनुवाद प्रस्तुत किया है। किन्तु, जहाँ तक मैं जानता हूँ, हिन्दी, उर्दू, मराठी आदि भाषाओं में पुस्तक के बतौर इतना भी अबतक नहीं हुआ है। हाँ, इन देशी भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं में इन आधुनिक प्रचलित कवियों के एक-आध छन्दों का अनुवाद यदा-कदा देखने को मिल सकता है। चीनी तथा जापानी कविताएँ तो इस मामले में और भी अछूती हैं। बंगला में दिलीप दत्त ने कुछ चीनी कविताओं का अनुवाद अवश्य किया है, किन्तु शेष भाषाओं में ये दोनों भाषाएँ शून्य से अधिक नहीं हैं।

नाटकों के अनुवाद को प्रायः नहीं जैसा ही कहा जा सकता है और प्रबन्धों का मामला तो एकदम गायब ही ही है। लगभग सभी प्रमुख विदेशी भाषाओं में लगभग सभी संस्कृत नाटकों का अनुवाद कभी का हो चुका है—यह बात सुनकर हमारे पठित देशवासियों को अवश्य ही रोमांच होता होगा। देशी भाषाओं में बँगला नाटकों का ही विषय सर्वाधिक अन्त्यज प्रतीत होता है। जहाँ तक देशी भाषाओं में विदेशी नाटकों के अनुवाद का मामला हैं; वह तो और भी भयंकर दोषों से ग्रस्त है। हिन्दी-बँगला आदि देशी भाषाओं में जिन्होंने गए-बीते जमाने के दो-एक विदेशी नाटकों का अनुवाद कर भी दिया है, तो उन्होंने नाटककार के मूल विदेशी पात्र-पात्रियों के नाम को बदल कर देशी बना देने के परिश्रम को स्वीकार करने के बाद सही नाटककार के नाम को देने तक का परिश्रम नहीं किया है। वे यदि ऐसी अभद्रता करने से बाज आते, तो पुराने क्लासिक या आधुनिक तीक्ष्ण विदेशी नाटकों का अनुवाद करना अनादरणीय नहीं समझा जाता। वैसी अभद्रता हिन्दी, बँगला, उर्दू, मराठी के बड़े-बड़े प्रतापी लेखकों तक ने की है और उनकी ऐसी जुआचोरियाँ आज तक के सभी लोगों पर प्रकट भी हो चुकी हैं। इससे यह नसीहत भी मिलनी चाहिए कि आगे से अनुवाद-पथ के पथिक लेखक शायद ऐसा करने से बाज आवें। बँगला में बर्नार्ड शा के एक नाटक का 'विरस नाटक' नाम से अनुवाद हुआ था और उसने अभूतपूर्व समादर भी पाया था। हिन्दी में गाल्सवर्दी और मोलियर के भी इधर अच्छे अनुवाद मूल से हुए हैं, पता नहीं उन्हें कहाँ और कब समादर मिलेगा। यों, देशी भाषाओं में मराठी के आधुनिक प्रसिद्ध नाटकों के हिन्दी में कुछ अनुवाद पूना वाली राष्ट्रभाषा परिषद् ने किए हैं, और तोप्पिल के तमिल से भी हुए हैं; किन्तु लगता है कि पूर्ववर्ती कारणों या मंचहीनता के प्रसंग में पाठकों का उकताया हुआ मन उन अच्छी चीजों की ओर भी मुड़ नहीं पा रहा है। हिन्दी में बँगला के द्विजेन्द्र आदि की बहुत पुरानी चीजें हैं और बँगला में हिन्दी

की नहीं के बराबर ही। दोनों ओर, खास नई चीजों के लिए योजनाबद्ध काम होना जरूरी है।

प्रश्न है कि हमारी भाषाओं में मौलिक प्रबन्ध ही कितने लिखे जाते हैं—अतः प्रबन्धों का अनुवाद तो बहुत दूर और और देर की बात होनी ही चाहिए। अथवा, इसके उत्तर में यह भी मान्य किया जा सकता है कि हमारी देशी भाषाओं में जबकि मौलिक प्रबन्ध नहीं लिखे जा रहे हैं, इसलिए विदेशी प्रबंधों का अनुवाद होना और भी उचित होता है। इन कुछ दिनों के बीच विभिन्न देशी भाषाओं में अरस्तू के 'पोयेटिक्स' का कुछ छँटा-कटा अनुवाद जहाँ-तहाँ हुआ है। इसी प्रकार जीवनी, इतिहास, यात्रा आदि के कुछ प्रचलित विदेशी ग्रंथों का दो-एक मनमौजी अनुवाद भी बीच-बीच में दिखाई दे जाता है; किन्तु एक अनुवादक एक मूल लेखक की तमाम कृतियों का जमकर अध्ययन करे और तब तमाम का क्रमशः अनुवाद कर डाले—ऐसी सधी हुई साहित्य-साधना किसी भी भाषा के पल्ले नहीं है। हाँ, अन्य देशी भाषाओं में प्रबन्ध के अनुवादकों के मुकाबले, बँगला के अनुवादक ज्यतिरिन्द्र नाथ ठाकुर ही एकमात्र नियमित व्यक्ति कहे जा सकते हैं, जिन्होंने उपर्युक्त सभी प्रबंध-शाखाओं पर जमकर अनुवाद-कार्य किया है।

यह भी एक बात है कि अनुवाद का कार्य अनुवादक और प्रकाशक के लिए काफी लाभप्रद नहीं हुआ करता है (खासकर कम पाठकों और तदनुसार कम संस्करणों वाले अपने देश में)। यही कारण है कि इस ओर आवश्यकता का जितना ही हम अनुभव करते हैं, उतना ही व्यापाराना उत्साह कम होता है। इसीलिए, प्राथमिकता के या उचित प्रारंभ के तौर, इस ओर इस समय भर के लिए हर भाषा के बड़े-बड़े प्रकाशकों, साहित्य-संस्थाओं और सरकार तक का पहला दायित्व होना चाहिए। बादवाले व्यवसायी तो

अनुवाद-शाखा के कुछ चल पड़ने पर स्वयं एक-एक कर आगे आने लगेंगे। किन्तु, वहाँ भी इन बड़ी संस्थाओं को यह नियम चलाने का प्रयास करना पड़ेगा कि किसी एक पुस्तक पर अप्रामाणिक या दुहरा कार्य न होने लगे।

मैंने जो अनुवाद-पठन के लिए इतना अतिरिक्त जोर दिया है, उसका अर्थ यह नहीं समझा जाय कि अपने देश का साहित्य सचमुच कीर्त्तिहीन ही है। बल्कि, मेरे कथन का अर्थ यह समझा जाय कि दूसरे देशों के विख्यात साहित्य की कीर्त्ति से परिचित होने पर ही, अपने देश के साहित्य की सार्थक रचनाओं और उनके महत्त्व के उपकरणों को चीन्हा जा सकता है।

★

यदि भारत का एक विद्यार्थी जर्मनी जाकर, वहाँ की भाषा सीखकर प्रशिक्षण प्राप्तकर पाँच वर्षों के अन्दर-अन्दर एक योग्य डाक्टर या इंजीनियर बन सकता है तो कोई कारण नहीं कि सरकारी कर्मचारी इतने समय में हिन्दी का इतना ज्ञान न प्राप्त कर लें कि शासन-कार्य बखूबी चला सकें। लेकिन वे पहले हिन्दी के महत्व को ग्रहण तो करें।

—जगजीवन राम

पत्र-पत्रिका : लेखक और पाठक

★

श्री नीति नन्दी

आँख से देखी बात ही कहता हूँ। हिलेमिले चार-पाँच व्यक्ति आकर खड़े हुए। उम्र देखकर लगा कि सभी जवानी पर आ चुके हैं। किसी तरह वे बोल उठे : "आपकी एक कहानी हमें अपनी पत्रिका के फलाने विशेषांक के लिए चाहिए।"

जिनसे यह कहानी की माँग की गई थी, वे एक कहानी के लिए साधारणतः पचास रुपये दक्षिणा पाया करते हैं। वे बोले : "मगर इस वक्त मुझे लिखने का अवसर ही नहीं मिल पा रहा है। आठ लोगों को आठ कहानी देने का वायदा तो कर चुका हूँ, किन्तु अब-तक दो से ज्यादा लिख नहीं पाया हूँ। अगले वर्ष इस अवसर पर निश्चय ही आपलोगों को अपनी रचना दूँगा।"

उनसे इतना सुनना ही था कि वे लोग चलते नहीं बने। बल्कि, अनुरोध एवं खुशामद-बरामद करने के बाद, फिर एक दिन इस आग्रह के लिए वे आयेंगे—यह बात जताकर वे आधे घंटे के बाद विदा हुए।

इनकी बात से इतना ही समझा जा सकता है कि ये सभी-के-सभी कहानी-कविता-प्रबंध-समीक्षा इत्यादि के लेखक हैं; किन्तु अपनी रचनाओं को किसी दूसरी जगह न भेजकर अपनी ही पत्रिका निकाल कर उन्हें प्रकाशित करना चाहते हैं। इस विशेष अवसर पर उनकी पत्रिका का पहला अंक प्रकाशित होगा। किन्तु; अपरिचित लेखकों के नाम की रचनाएँ देखने पर कोई पत्रिका को खरीद नहीं सकेगा—इसीलिए वे कुछ नामी-गिरामी लेखकों की रचना भी उसमें रख लेना चाहते हैं। एवं, कुल लेखों को उन्हें बिना दक्षिणा दिए ही संग्रहीत करना पड़ रहा है, क्योंकि उनका यह शुभारंभ कम ही पूँजी में होने वाला है।

जिस घटना की चर्चा कर चुका हूँ, उसकी अभिज्ञता, ऐसे अवसरों के प्राक्काल में ही, लगभग सभी नामी एवं अल्पनामी लेखकों को अनभिप्रेत भाव से ही प्राप्त करनी होती है।

लक्ष्य करते ही लक्षित होगा कि अधिकांश नामी कहानी-लेखक (सैकड़े में प्रायः पंचानवे) वर्ष भर कहानी नहीं लिखते रहते हैं; हाँ एकमात्र पूजा-इत्यादि विशेषांकों का अवसर इसके अंदर नहीं आता, जबकि उन्हें लगातार लिखना पड़ता है। इसका कारण क्या है? यह निश्चित है कि पूजा-इत्यादि विशेषांकीय अवसर, पत्रों के लिए भले ही प्रेरणाप्रद हों, मगर लेखकों की प्रेरणा से उनका कोई संबंध नहीं है। इसके अलावा, कोई केवल प्रेरणा के वश ही लिखने के आदी हों—वैसी बात भी नहीं है। वह भी यदि हो, तो भी एक प्रमुख कारण बाकी बच जाता है; और वह है पैसा कमाने का प्रश्न। हाँ, उत्तरोत्तर सोचने पर, और भी एक कारण उपस्थित हुआ करता है; और वह है अधिकसंख्यक पाठक पाने की आकांक्षा।

इन उपर्युक्त कारणों को पूरी तरह स्वीकार किए बिना जो लोग फिर भी लिखा करते हैं, वे लज्जाजनक रूप में बहुत कम पैसे पाते हैं। विदेश के मुकाबले तुलना किए बिना ही यह बात कह रहा हूँ। उन्हें तो परिश्रमपूर्वक लिखना होता है, एवं अच्छा न लिख सकने पर पाठक की ऊँची नाक का धक्का तो सहना ही पड़ता है। और अच्छा लिखना कोई सरल चीज है भी नहीं, इसके लिए समय और परिश्रम दोनों की ही कड़ी जरूरत होती है। क्योंकि लेखन के द्वारा यथेष्ट परिमाण में पैसा कमाया नहीं जा सकता (एवं लेखकों को भी घर-संसार का पालन-पोषण करना होता है), इसीलिए वर्ष भर नौकरी या अन्य उपाय से उन्हें पैसा कमाने के रोजगार में व्यस्त होना पड़ता है। लेखक और साहित्यिकों की अवस्था ठीक तो लगभग होती नहीं। इसके कारण लेखक स्वधर्मच्युत हो सकता है और इस कारण उनका साहित्य भी निष्ठावान पाठकों की अश्रद्धा का उद्रेक कर सकता है।

किन्तु, पूजा-विशेषांक के लेखकगण मोटे तौर पर कुछ पैसा पा जाते हैं। इसका कारण है कि जन-साधारण पूजा के समय पहराव-पोशाक, जूता इत्यादि

सामान के साथ कुछ कहानी, कविता आदि चीजों की पुस्तकें या पत्र-पत्रिकाएँ भी खरीद लिया करते हैं। इसके अलावा उन्हें खरीदने का उपलब्ध ही और कब-कब मिलता है? सारे वर्ष अच्छे लेखकगण यदि अपनी कहानी आदि रचना न लिख कर केवल पूजा-आदि पर्व-प्रसंगों की पत्र-पत्रिका आदि प्रकाशनों के अवसर पर ही लिखें, तो पूजा-आदि प्रसंगों के विशेषांकों को खरीदने के सिवा लोगों के पास चारा ही क्या है?

इसीलिए यह बात बनती है कि लेखकगण केवल पूजादि विशेषांकों में ही इसलिए लिखते हैं कि उन्हें पैसे मिलते हैं, और पाठकगण भी पूजादि विशेषांकों को ही केवल इस नाते खरीदेंगे कि उनमें अच्छे लेखक लिखा करते हैं।

किन्तु, इस विशेषांक वाली संख्या के अलावा शेष ग्यारह महीने इन पत्र-पत्रिकाओं की अवस्था क्या रहेगी? निस्सन्देह नामहीन लेखक ही तब उनके भरोसा-स्थल होंगे। अपने देश की हर भाषा में कुछ गिने-चुने उन्नत लेखकों को छोड़कर शेष सारे-के-सारे इन ग्यारहों महीनों की लेखनवृत्ति में ही अनामी रहते-रहते, नामी होकर इन पूजादि विशेषांकों में प्रमोशन के पात्र हुआ करते हैं। अतएव, नए लेखकगण हर समय पत्र-पत्रिका के संपादकों के द्वारा निर्यातित हुआ करते हैं—यह बात सही नहीं मानी जा सकती। थोड़ा लक्ष्य करने पर ही दिखाई देगा कि मोटे तौर पर चलती-फिरती चीजों के लेखन से ही पत्र-पत्रिकाओं के साधारण अंकों के पृष्ठ भरे जाते हैं और वे सारे लेखन नए लेखकों के ही अधिकतर होते हैं। यदि कोई लेखक अच्छा लिखते हैं, तो आज की अपनी पत्र-पत्रिकाओं की संपादन-स्थिति को देखते हुए, यह गारंटी तो दी ही जा सकती है कि उनका वह लेखन अवश्य ही प्रकाशित होगा। और, हमारी पत्रिकाओं की संख्या अब एक ऐसे अंक तक पहुँच चुकी है कि नए लेखक जितना ही अच्छा लिखें उन्हें उनमें एकदम संकुल स्थान भी मिलेगा ही।

किन्तु, इतना होते हुए भी नई पत्रिकाओं के प्रकाशन का प्रयोजन किसी दिन समाप्त नहीं होगा। यह बात ठीक है कि कहानियाँ एक ढंग से नहीं लिखी जातीं और सभी लेखक एक ही कहानी कहेंगे—साहित्य में ऐसी भी कोई शर्त्त नहीं होती। नाना लेखक नाना ढंग से नाना कहानियाँ कहते-लिखते हैं। किन्तु, सभी पत्रिकाएँ सभी को प्रकाशित करने के लिए राजी नहीं होतीं। हो भी नहीं सकतीं। इसका कारण है कि सभी पत्रिकाएँ हर मत का पोषण करनेवाली नहीं होती हैं, बल्कि एक ही मत का पोषण करती हैं। कोई पत्रिका राजनीतिक मतों की विरोधी होती है, तो कोई राजनीतिबोध की दुहाई देनेवाली रचना को ही छापने के लिए लालायित। तब ऐसी हालत में, नई पत्रिका के प्रकाशन का प्रयोजन निश्चय ही अनुभूत होगा।

किन्तु, अपने पूजादि विशेषांकों के लिए ये नई पत्रिकाएँ भी पुराने लेखकों का ही दरवाजा खट-खटावें, तो किसलिए हम नई पत्रिका के प्रकाशन का समर्थन करें? हम हर राष्ट्रीय भाषाओं में, लगभग हर छह महीने में, विज्ञापन-कार्यालयों के मार्फत इधर यह जानते आ रहे हैं कि कम-से-कम १५ पत्रिकाओं का प्रकाशन तो हुआ ही करता है। इन पत्रिकाओं में दो-एक को छोड़कर, बाकी पत्रिकाओं के प्रकाशन का कोई बोधगम्य उपयुक्त कारण नहीं दिखाई देता। अतएव, यदि पाठकगण इन शेष पत्रिकाओं की पृष्ठपोषकता नहीं करते हैं, तो इसमें उनका कौन-सा दोष माना जाय?

साधारणतः शहरों में ही शिक्षितों की संख्या अधिक हुआ करती है। कलकत्ता इत्यादि अति-शिक्षितों के शहरों में भी सैकड़े ८२.५ व्यक्ति कोई पत्रिका नहीं पढ़ा करते हैं एवं ५३.५ प्रतिशत व्यक्ति समाचार-पत्रों को भी नहीं पढ़ते। अतएव मात्र सैकड़े साढ़े सतरह व्यक्तियों पर निर्भर होकर ही इन अतिशिक्षित शहरों में पत्रिकाओं की बिक्री होती है। मुफस्सिलों की तो बात छोड़ ही दी जाय, क्योंकि अच्छी पत्रिकाओं की माँग शहरों में ही अधिक होती है। अच्छे पाठकों की संख्या जबकि कम है, तो अच्छा लेखन भी कम ही समादर पाता है। यह स्वाभाविक बात है कि ऐसी स्थिति में लेखक अपने को उत्साहहीन अनुभव करते हैं। इसके सिवा, यदि उन लेखकों में अच्छा लिखने का उत्साह दिनानुदिन कम होता जाय तो हम इसका दोष

किस पर दें ? अवश्य ही इसके लिए लेखक स्वयं ही दोषी होता है; किन्तु जिस अवस्था में आज उसे लिखना पड़ रहा है, उसे भी भूल जाना एक अन्याय ही है।

किन्तु, इन सब बातों को सामने रखते हुए भी यदि सोचा जाय कि पूजादि विशेषांकों के नाम से यदि कोई विशेष आयोजन वर्ष-वर्ष न किए जायँ, तो लेखकगण क्या करेंगे ? यह सच है कि तो भी वे कहानी आदि लिखना बन्द नहीं करेंगे। अब फिर, यदि यह सोचा जाय कि एक अच्छी कहानी के लिए लेखकगण छह मन चावल का दाम पा जावेंगे, तो वैसी स्थिति में यह भी निश्चित बात है कि वे लगातार कहानी आदि चीजें नहीं लिखेंगे। इसका कारण यह है कि अच्छी कहानी कोई लगातार नहीं दे सकता है। अब फिर, यदि सोचा जाय कि हमारे पाठक अच्छी कहानियों के अलावा दूसरी कहानियाँ नहीं पढ़ेंगे — यही उन्होंने तय किया है एवं पत्रिकाओं की पाठक-संख्या प्रतिशत आबादी में नब्बे हो गई है, तो पत्रिकाओं की बिक्री निश्चय ही बढ़ जायगी, पत्रिकाएँ भी लेखकों को पूरा पैसा दे सकेंगी।

किसी प्रकार भी क्यों न सोचा जाय, यह बात ठीक है कि पाठकों की रुचि और शिक्षा एवं लेखकों की अर्थनीतिक अवस्था; दोनों ही साहित्य के स्वास्थ्य को काफी हद तक नियंत्रित करनेवाली चीजें हैं। नई पत्रिका के प्रकाशन के लिए जो लोग व्यस्त होते हैं, लेखक को दक्षिणा देने के मामले में वे उतनी ही व्यस्तता से निस्पृह भी हुआ करते हैं। साथ ही, पत्रिका की खपत के लिए पाठकों की शिक्षा और रुचि के विषय में संदिग्धता से दग्ध होकर वे पुराने नामी लेखकों का दरवाजा खटखटाने में भी बाज नहीं आते। उनके आगे रचना पाने से अधिक बढ़े-चढ़े लेखकों के नाम के व्यवहार का सुयोग पाना ही बड़ी चीज बन उठती है।

ऐसे पूजादि अवसरों के विशेषांक एक ही साथ एक मास से कम समय में ही तैयार और प्रकाशित हुआ करते हैं। ऐसे विशेष अवसरों के अंकों में कई सौ कहानी-कविताएँ प्रकाशित होती हैं। अच्छा या बुरा—इस प्रश्न के विचार से अलग होकर ही कह रहा हूँ कि ऐसे विशेषांकों के विषय में लेखक एवं पाठक दोनों के ही लिए सतर्क होकर तत्पर होना भला है। ★

पालि-प्राकृत के विकास में मगध की देन

★

श्री श्रीरञ्जन सूरिदेव

नवीन शिक्षा-दीक्षित साम्प्रतिक हिन्दी-कर्णधार प्राकृत-भाषा के पक्ष की पुष्टि में बहुधा कहा करते हैं कि यह भाषा संस्कृत से उत्पन्न नहीं हुई। यह तो प्रकृति के नियमानुसार सबसे पहले स्वयं उत्पन्न हुई। इसीलिए, इसका नाम 'प्राकृत' है। और, इसी प्राकृत भाषा में संस्कार आने के बाद संस्कृत भाषा बनी।

किन्तु, प्राकृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित तथा प्रसिद्ध कोषकार हेमचन्द्राचार्य के सूत्र से स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा से ही प्राकृत भाषा की उत्पत्ति हुई : 'प्रकृतिः संस्कृतम्, तत आगतं प्राकृतम्।' प्राकृत भाषा की उत्पत्ति के सम्बन्ध में पं० श्रीमथुरानाथ शास्त्री ने गाथासप्तशती की अपनी विस्तृत भूमिका में प्रसंगवश लिखा है कि देश और जल-वायु के प्रभाव से, या कण्ठ, तालु आदि के विलक्षण अभिघात से, या उच्चारण-आदि की अपटुता या और भी किसी मूल कारण से प्राकृत आदि भाषाओं की उत्पत्ति सम्भव हुई होगी। किन्तु, प्राकृत के लिए एक बड़ी ही खेद बात हुई कि यह वर्गवाद में पड़कर पारस्परिक स्पर्धावश प्रचुर प्रसार पा गयी। वैदिकों तथा जैनों और बौद्धों के बीच जब धार्मिक संघर्ष उपस्थित हुआ, तब वैदिकों की भाषा तो संस्कृत रह गयी, किन्तु प्रतिद्वन्द्विता-वश जैनों ने अर्द्धमागधी और बौद्धों ने पालिभाषा में धर्म-प्रचार प्रारंभ किया। हालाँकि, पाली और प्राकृत भाषाएँ संस्कृत का ही अनुसरण करके चलती हैं। इसलिए, इन दोनों भाषाओं को संस्कृत से भिन्न न मानकर संस्कृत का भेद-मात्र मानना अधिक युक्तिसंगत होगा।

भाषातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि कोई भी भाषा जब-तक व्याकरण के नियम से निगडित नहीं होती, तबतक वह जनभाषा बनी रहती है। और, जब भाषा व्याकरण से तथा साहित्यिक शास्त्रानुशासन से बाँध दी जाती है, तब वह जनता से दूर जा पड़ती है। यही दशा संस्कृत और क्रमशः प्राकृत और पालि की रही। जो प्राकृत एक युग में अपनी सरलता के कारण जन-जन की भाषा थी, वही व्याकरण-नियम की मर्यादा से प्रौढ़त्व प्राप्त करने के बाद अव्यावहारिक बन गई।

प्राकृत-काल का आरम्भ बिहार के विमल विभूति भगवान् महावीर के समय से प्रारम्भ होता है। सच पूछिए, तो प्राकृत का उत्पत्ति-स्थल बिहार का मगध-क्षेत्र है। इसीलिए, इनका नाम 'अर्द्धमागधी' भी है। यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि प्राकृत-साहित्य की प्रधानतः दो मुख्य धाराएँ हैं : बौद्ध और जैन। दोनों का उद्गम एक ही काल में और एक ही स्थल में होते हुए भी विकास-धारा में पार्थक्य है।

विपुलता की दृष्टि से पालि-साहित्य को प्राथमिकता प्राप्त है। बौद्ध-परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्ध के उपदेशों की तीन आवृत्तियाँ, उनके निर्वाण के बाद २३६ साल तक हुईं। ये तीनों आवृत्तियाँ राजगृह, वैशाली और पाटलिपुत्र की परिषदों में सम्पन्न हुईं। इन आवृत्तियों की ऐतिहासिकता विवादास्पद होते हुए भी इनसे इतनी बात तो स्पष्ट है कि बुद्ध के उपदेशों को उनके अनुयायियों ने दो-तीन शतियों में संकलित किया। और, इससे हम यह भी मानें कि हमारे बिहार में प्राचीनतम प्राकृत-साहित्य के भाषा-स्वरूप के अध्ययन के लिए ई० पू० पाँचवीं शती से ही महत्त्व की सामग्री विद्यमान है।

बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि और उसके साहित्य के विकास में मगध का ऐतिहासिक सहयोग अब तो चिरन्तन बन गया है। पालि-भाषा के सम्बन्ध में अन्वेषणात्मक दृष्टि से विचार करने पर अनेक शंकाएँ उपस्थित हो सकती हैं; किन्तु बौद्ध-परम्परा के अनुसार यह मान्य है कि भगवान् बुद्ध के उपदेश भिन्न-भिन्न विहारों, मठों तथा भिक्षुओं की स्मृति में संचित थे। दूसरी आवृत्ति के समय सुदूर प्रदेशों से भिक्षु आये थे। वे भिक्षु भी भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासी थे। उनकी भाषाएँ भिन्न थीं। उत्तर

और पश्चिम की बोलियाँ तो पूर्व से ठीक-ठीक भिन्न थीं। विनयपटिक का जो संकलन किया गया, उसमें विभिन्न भाषा-भाषी भिक्षुओं का सहयोग था, फलतः उसमें भाषा-परिवर्त्तन निस्संदेह हुआ होगा। किन्तु, भगवान् बुद्ध के मूल उपदेश थे कोसल के राजकुमार और मगध के भिक्षु की भाषा, यानी शिष्ट मागधी में। इसलिए, शोध-विद्वानों ने पालि को 'मिश्रभाषा' (संस्कृति की भाषा) कहा है। विवादकारों का मत है कि संस्कृति की भाषा के मूल में भी हमेशा किसी-न-किसी प्रदेश की बोली होती है, इसलिए पालि के तल में भी किसी प्रादेशिक बोली का प्रभाव अवश्य है।

जो हो, वस्तुतः प्राचीनतम बौद्ध-साहित्य भी बुद्ध-परिनिर्वाण के लगभग चार शतियों के बाद ही लिपिबद्ध हुआ। इससे सहज अनुमेय है कि पालि-साहित्य पूर्व और पश्चिम की भाषाओं के मिश्रण के बाद धार्मिक शैली में लिखा गया है, अतएव उसमें देश और काल की स्पष्ट भेद-रेखाओं को खोज लेना टेढ़ी खीर है।

प्रत्येक प्रान्त में नागरिक और ग्रामीण दो भाषाएँ हुआ करती हैं। जब कोई नागरिक दूसरे प्रान्त में जाकर वहाँ की भाषा बोलता है, तब वह उस प्रान्त की प्रचलित शिष्ट भाषा का ही व्यवहार करता है; क्योंकि वह वहाँ की ग्रामीण भाषा या बोली से अपरिचित रहता है। तो, दूसरी आवृत्ति के समय जो भिक्षु पश्चिम से आये थे, उनकी भाषा का प्रभाव बुद्ध के मूल उपदेश की भाषा शिष्ट मागधी पर अवश्य पड़ा होगा। और, उसके बाद ही साहित्य लिपिबद्ध भी किया गया। यद्यपि अधिकांश बौद्ध-साहित्य सिंहलद्वीप (सीलोन) में लिखा गया, तथापि भाब्रु शिला-लेख के आधार पर यह कहा जाता है कि बौद्ध-साहित्य का थोड़ा-बहुत अंश अशोक के समय (२६८ ई० पू०) में ही लिखा गया। सिंहलद्वीप में भी जो बौद्ध-साहित्य लिखा गया, वह भी बिहार के ही धर्मदूत सम्राट् अशोक के पुत्र राजकुमार महेन्द्र के तत्त्वावधान में।

इस प्रकार, ऊपर की चर्चा से यह स्पष्ट है कि बौद्ध-साहित्य के विकास में बिहार के मगध-क्षेत्र की देन ऐतिहासिक, भाषा-वैज्ञानिक और साहित्यिक महत्त्व की है।

प्राकृत-साहित्य की जैनधारा का दूसरा अंग है—जैन आगम साहित्य। भगवान् महावीर का जन्म बिहार की वैशाली के उपनगर कुण्डग्राम में हुआ और उनका विहार-क्षेत्र बना मगध। जैन-परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर ने अपना उपदेश अपने पट्टशिष्यों को समझाया और उनके पट्टशिष्यों में प्रमुख गौतम गणधर ने उन उपदेशों का संकलन किया। भगवान् महावीर का उपदेश मगध की प्रचलित भाषा में था। बुद्ध भगवान भी मगध में घूमे थे, किन्तु वे परदेशी थे। उनका जन्म कोसल में हुआ और शिक्षा भी कोसल में ही पाई थी। किन्तु महावीर मगध—उत्तर मगध—के निवासी थे। इसलिए भगवान् महावीर की भाषा अर्द्धमागधी (प्राकृत) पालि-जैसी अधिक मिश्रित नहीं है।

बौद्ध-परम्परा की भाँति जैन-परम्परा में भी तीन वाचनाएँ (आवृत्तियाँ) मिलती हैं। किन्तु, विलक्षण समता यह है कि बौद्ध वाचनाओं की भाँति जैन वाचनाओं की ऐतिहासिकता भी विवादास्पद है। गणधरों के द्वारा संगृहीत महावीर-वाणी का मूलरूप हमें तृतीय वाचना के बाद ही मिलता है। प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के १६० वर्षों के बाद पाटलिपुत्र में हुई। जैन-परम्परा बताती है कि वीर-निर्वाण के १५० वर्षों के बाद मगध-पाटलिपुत्र में १२ वर्षों का भयानक अकाल पड़ा और भद्रबाहु प्रभृति जैन श्रमणों को आत्मरक्षा के लिए यहाँ से अतिदूर दक्षिण भारत में कर्णाटक की ओर चला जाना पड़ा। अकाल के बाद जैन श्रमण पुनः वापस आ गये। कुछ तो वहीं रह गये। मगध में वापस आने के बाद श्रमणों को अनुभव हुआ कि इस प्रकार के आकस्मिक आघातों से स्मृति-संचित उपदेश छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। तदनुसार, ई० पू० चौथी शती में इसी पाटलिपुत्र में ही जैन-श्रमण-संघ की पहली परिषद् में आगम-साहित्य व्यवस्थित किया गया। इस परिषद् के बाद लगभग आठ सौ साल तक आगम-साहित्य का किसी प्रकार का सम्पादन नहीं हुआ। ईसा की चौथी शती में जैन-श्रमण-संघ की दूसरी परिषद् मथुरा में हुई। फिर, दो सौ वर्षों के बाद देवर्धिगणि की प्रमुखता में, ईसा की छठी शती में तीसरी और अन्तिम परिषद् हुई। इस परिषद् में अनेक प्रतियों को मिलाकर आधारभूत पाठ-निर्णय का प्रयत्न किया गया।

फिर भी जैनागम-साहित्य का बहुत-सा अंश विलुप्त

हो गया। श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के बारह सूत्रों (अंशों) में दृष्टिवादसूत्र (दृष्टिवादांग) की अद्यावधि अनुपलब्धि इसका उदाहरण है। जैनागम-साहित्य के प्राचीनतम स्तरों में, भाषा-विवेचन की दृष्टि से देखने पर, मगध की भाषा का प्रभाव प्रतीत होता है, और वह भी स्पष्टता से। इसका कारण यह हो सकता है कि जैनधर्म की भाषा का प्रसार पालि भाषा की तरह अपरिमित नहीं था। बौद्धों के संघों और विहारों के समान जैनों के चैत्य असंख्यात नहीं थे। साथ ही, जैन परम्परा-साहित्य की सुरक्षा के कार्य में जागरूक होते हुए भी दकियानूस और पूर्वाग्रही थे। इसलिए, सीमित क्षेत्रीयता के कारण अर्द्ध-मागधी साहित्य अत्यन्त मिश्रित नहीं बन सका। अतः यह, सामान्य दृष्टि से, पालि की अपेक्षा अधिक आधारभूत है।

इस प्रकार, ऊपर के विवेचन के आधार पर हम यह निःसंकोच कहें कि मूल प्राकृत-साहित्य के विश्लेषण और आलोचन में बिहार के मगध को पार्यन्तिक महत्ता प्राप्त है।

अनुमान है कि भगवान् बुद्ध और महावीर प्रायः एक ही काल में बिहार में ही धर्मोपदेश करते थे, इसलिए इन दोनों की भाषा भी एक होगी। कहा जाता है कि भगवान् बुद्ध की धर्मोपदेश-भाषा पालि, अर्थात् मागधी और भगवान् महावीर की धर्म-प्रवचन-भाषा प्राकृत, अर्थात् अर्द्ध-मागधी थी। ये दोनों भाषाएँ प्राचीन मगध के उच्चकुल की भाषाएँ थीं। यद्यपि आज बुद्ध और महावीर के उपदेश उनकी ही भाषा में मिलना सम्भव नहीं; किन्तु यथाप्राप्य बौद्धों की पालि (मागधी) और जैनों की प्राकृत (अर्द्ध-मागधी) मूल उपदेश की ही संवर्द्धित-परिवर्द्धित आवृत्तियाँ हो सकती हैं।

जो भी हो, अधुना, समग्र आर्य भारतीय भाषा-प्रदेश में पालि-प्राकृत का जो उत्तरकालीन विविध विकास परिलक्षित होता है, उसका मूल उद्गम केन्द्र बनने का श्रेयोभागी एकमात्र बिहार का मगध-क्षेत्र ही है।

★

बिहार की नई साहित्योपलब्धियाँ

★

श्री मधुकर सिंह

इस संदर्भ में निवेदित दृष्टिकोण और पिछले दो दशकों में बिहार की क्रियात्मक, प्रतिक्रियात्मक उपलब्धियाँ मेरी विवेच्य-वस्तु न होकर मात्र परिचयात्मक संकेत भर होंगी। फिर भी, अपने आप में अज्ञेयी अहंकामना का सर्वथा ह्रास और भारती-लक्ष्मीकान्त द्वारा व्यक्त युग-बोध के बिखराव को किसी भी तरह स्वीकार करने के हठ का अभाव ही पाता हूँ; अन्यथा रणधीर सिनहा के साहित्य-बोध के धराधल पर ही समस्त विहार'को देख सकता था। मेरी चेष्टा यहाँ नवीन प्रतिभाओं को कई एक स्थापत्य-धारणाओं, मूल्यों एवं व्यक्तियों के संदर्भ में देखना भर ही है। मेरा आधार कोई भी साहित्यिक व्यक्ति नहीं; बल्कि उनके कृतित्व और आधुनिक संकलन एवं पत्र-पत्रिकायें ही हैं। निबंध, कहानी, उपन्यास, कविता आदि विधा सम्बन्धी सृजनात्मक कृतियों को कायिक लघुता प्रदान करते हुए यह कतई संभव नहीं कि समकालीनता के साथ पूर्ण ईमानदारी का निर्वाह भी किया जाय। साहित्य-विधा की सहस्र मत्स्य-कन्यायें आज निरन्तर विज्ञापन-सुन्दरियों का कार्यभार अपने एक-मात्र कंधे पर ढोये चल रही हैं। इस बहती गंगा में विहार ने भी कम गोते नहीं लगाये हैं। एक ही व्यक्ति के साथ कई रूप भी जुड़े हुए हैं; कई प्रवृत्तियाँ पनपी भी हैं, मिटी भी हैं। प्रेमचन्द और नागार्जुन के सुलझे और प्रगति करते हुए काल ने हमें कम नहीं झिंझोड़ा है, हमारी संवेदनाओं को नये मूल्यों के आवेष्टन में कम नहीं बाँधा है। 'कुमार-सम्भव' और 'लोलिता' की अनेकों मान्यताएँ युग-फ्रायड की कपिशा खोदकर आज भी बड़े मार्के के साथ जी रही हैं।

कविता

अचेत और म्रियमाण छायावाद को पुनर्जीवन के आशीष देनेवालों में विहार भी पीछे नहीं है। केदारनाथ मिश्र 'प्रभात', जानकी वल्लभ शास्त्री, हंसकुमार तिवारी, आरसी प्रसाद सिंह, रामगोपाल शर्मा 'रुद्र'. रामचन्द्र भारद्वाज, रामावतार अरुण, [illegible] अवधेन्द्रदेव नारायण, हरेन्द्रदेव नारायण, रंजन सूरिदेव, प्रकाशवती नारायण, राजेन्द्र प्रसाद सिंह, केदारनाथ मिश्र 'सोम', केदारनाथ कलाधर, सेवक, श्यामनन्दन किशोर, आलोक, गोपाल जी 'स्वर्णकिरण', रमेशचन्द्र झा, दिनेश भ्रमर, प्रो० विहारीलाल मिश्र, रामदेव झा, विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त, मोहन मिश्र 'मधुप', उमाकान्त मिश्र, देवप्रकाश गुप्त, सर्वदेव तिवारी 'राकेश', नर्मदेश्वर सहाय, सुमेश, बालमुकुन्द राही, जितेन्द्र कुमार, चन्द्रेश्वर नीरव, सत्यदेव नारायण अष्ठाना, विक्रमादित्य मिश्र, गुलाब, चन्द्रशेखर झा 'इन्दु', रामचन्द्र किशोर, राजमणि राय 'मणि', सियावर प्रसाद 'अधूरा' आदि इसी परम्परा से आते हैं। इसकी पुष्टि 'ऋतम्भरा' के माध्यम से और भी की जा सकती है। कहा जा सकता है कि ये लोग अभी तक प्रसाद, निराला, पन्त और महादेवी के दायरे से बिखर कर भी उनके स्वाद [illegible] निर्माण की दिशा में क्रियाशील हैं। इनकी समृद्ध चेष्टा इस बात को भी प्रमाणित करती हैं कि छायावादी प्रवृत्तियों के उन्नायकों की स्थापना को कहने की [illegible] सर्वथा नवीन प्रणाली, पृथक अभिव्यक्तियाँ तथा मुक्त विधायें भी दो-चार के माध्यम से आई हैं, जिनमें योगे[illegible] चौधरी, रामचन्द्र भारद्वाज और रामावतार अरुण की ललक बड़ी प्यारी लगती है। उपर्युक्त नामों में कुछ ऐसे भी कृतिकार हैं जो पतवार को जी-जान से पकड़ कर बैठे हैं और धुरीहीनता के परिणाम-स्वरूप बवंडर के हिचकोले में उड़ रहे हैं। यहाँ व्यवधान न माना जाय तो यह भी कह देना उचित ही होगा कि कुछ लोग समय की ठोकर से आहत होकर भी पुनर्जीवन के दिवा-स्वप्न पालते हैं, किन्तु वे लोग भी हैं जो बवंडर में नाचते हुए भी किसी तिनके को पकड़ लेने की चेतना नहीं खोते और अपेक्षाकृत पूर्ववर्त्ती लक्ष्मणी घेरे से निकलना भी [illegible] चाह रहे हैं।

इनसे तटस्थ राष्ट्रीय आन्दोलन और चेतना के गायकों का एक दल प्रभात और दिनकर के स्वरों में उभरा, [illegible] परम्परा के स्वस्थ कवियों में रामदयाल पाण्डेय, एम०

एम० कान्त, लालधुआँ, कन्हैया, काशीनाथ पाण्डेय, चितरंजन, वाल्मीकि प्रसाद विकट, रामावतार अरुण, हरिवंश, ओम्प्रकाश आर्य, विष्णु किशोर झा 'बेचन' आदि आते हैं। किन्तु लालधुआँ और कन्हैया के स्वरों में युगीन राष्ट्रीयता के अद्भुत स्वर हैं जिनका विकास व्यंग्य वाणी के तारों पर होता गया है और इनसे ऐसा आभास मिलता है जैसे 'कुकुरमुत्ता' की धरती बिहार को भी मिली है।

इसी बीच विश्व के रंगमंच पर राष्ट्रीय आन्दोलन और क्रान्तियाँ भी फूटी हैं। उनकी हलचल मात्र से साहित्यिक एवं सांस्कृतिक आँचल के पल्ले कम नहीं काँपे हैं। साहित्य के माध्यम से अन्ताराष्ट्रीयता एवं सांस्कृतिक बन्धुत्व के लिए जो आन्दोलन छिड़े, आर्थिक मुक्ति एवं अराजक प्रवृत्तियों की जो चलन लगी, उसके परिवेश में नागार्जुन एक सर्वथा मौलिक नाम एवं युग-लीक के गायकों में आते हैं। भारतीय काव्य-साहित्य को निराला, माखनलाल चतुर्वेदी और नागार्जुन से एक नवीन चेतना और व्यापक भाव-भूमि मिली है। इसी के इर्द-गिर्द साहित्य की अनेक चेष्टायें, जुगुप्स-प्रतिक्रियायें और अन्तर्भावों की असंख्य वृत्तिकायें अपने कूल-कगारों से बाहर आई हैं। द्वितीय महायुद्ध-काल के बाद ही पाश्चात्य-साहित्य का अपना प्रभाव भारतीय परम्परा में मिलने लगा। नकेनवादियों (नलिनविलोचन शर्मा, केसरी कुमार, नरेश) के प्रपद्य की भूख इसी स्वच्छंदता की देन है, जिसकी स्थापना 'तार-सप्तक' से पृथक और मौलिक है। इसका प्रभाव बिहार पर ही नहीं, बल्कि समस्त भारतीय चेतना पर पड़ा है। शिवचन्द्र शर्मा, सेवक, नर्मदेश्वर प्रसाद आदि इसी कड़ी के कवि हैं। नलिनविलोचन शर्मा का 'बिब्बो का बिब्बोक' अन्तधाराओं का शुद्ध प्रायोगिक संकलन और गुहा-मानव की स्वच्छंद प्रवृत्ति की सिद्धि मात्र है।

नई कविता सर्वथा नवीन काव्य-बोध और उसकी स्थापक मान्यताओं पर अकविता और कविता के असंगत संकेतों के उत्तर में एक निर्णीत संकल्प-शक्ति और अर्थपूर्ण यथार्थ का प्रतिबिंब है। काव्य-सृजन में विधात्मक क्षमता और गुणात्मक प्रतिभा का जो प्रभाव-सम्पन्न संस्कार आया है, उसको स्वायत्त करने की दिशा में नागार्जुन, रामेश्वर सिंह काश्यप, रामचन्द्र भारद्वाज, कुमार विमल, प्रभाशंकर मिश्र, सिद्धनाथ कुमार, राजेन्द्र किशोर, रामनरेश पाठक, श्रीराम तिवारी, सीतेन्द्र नारायण, विजय मोहन सिंह, शम्भुशरण, मधुकर गंगाधर, सत्यदेव शान्तिप्रिय, श्यामसुन्दर घोष, सुरेन्द्र चौधरी, सूर्यदेव शास्त्री, जगदीश नलिन, शान्ता सिनहा, अरुण भारती, सुरेन्द्राचार्य, ऋषिकुमार, बालकृष्ण उपाध्याय, रवीन्द्र किशोर, खगेन्द्र प्रसाद ठाकुर, चन्द्रशेखर विमल, प्रभाकर मिश्र, जयघोष आदि प्रतिभा के विभिन्न उद्धरण हैं।

काव्य की वर्त्तमान विधा में आधृत—अर्थ की लयता, वृत्ति-उन्मेष, मनःघटित दृश्य-व्यंजना, प्रकृत संवेदन चित्र, सत्य की प्रत्यक्ष, कल्पित और अध्यवसाय-सम्मत गति, जागरूक मानव-संदर्भ, स्वच्छंद-दृष्टि, विचार और बिम्ब की विशेषित इकाई, यथार्थ की व्यंग्यात्मक उक्ति और अनुभूति के बेहद घरेलूपन के जो स्वीकृत समादर हिन्दी काव्य-जगत को मिले हैं, सृजन की जो संभावनाएँ व्यक्त हुई हैं, उन्हें रामचन्द्र भारद्वाज, श्रीराम तिवारी, प्रभाकर मिश्र, सत्यदेव शांतिप्रिय आदि अपने अर्थ-सौन्दर्य और भाव-मूल्यों के माध्यम से निरन्तर व्यक्त करते जा रहे हैं।

प्रेमचन्दोत्तर कथा और उपन्यास

प्रेमचन्दोत्तर प्रवृत्ति के कथा-शिल्पियों में डॉ० दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, नलिनविलोचन शर्मा, राधाकृष्ण, नरेश, शिवचन्द्र शर्मा, बटुकदेव मिश्र, नरेन्द्र नारायण लाल, प्रफुल्लचन्द्र ओझा मुक्त, रामेश्वरनाथ तिवारी, राधाकृष्ण प्रसाद, नरेन्द्र प्रसाद आदि के नाम सांख्यिक दृष्टि से नहीं; बल्कि प्रभावशील कथा-कथकों की दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं। किन्तु, ये प्रेमचन्द से बिल्कुल बिलग और उनकी सामाजिकता से बिल्कुल तटस्थ विभिन्न मानवीय प्रवृत्तियों के चितेरे रहे हैं। कहानीकारों की एक दूसरी कतार भी है जिसमें चक्रधर, भालचन्द्र ओझा, वाचाल बाँकीपुरी, आग्नेय, अशोक प्रियदर्शी, परमानन्द दोषी, कामता प्रसाद सिंह 'काम', अलबर्ट कृष्ण अली, चन्द्रभूषण तिवारी, सुशील कुमार, श्रवणकुमार गोस्वामी, अखिल,

योगीराज, शत्रुघ्न राजीपुरी, वीरेन्द्रकुमार सिंह, लक्ष्मीकान्त, सुबोध कुमार, सत्यदेव सिंह 'राकेश' आदि आते हैं।

इसी संदर्भ में एक बात और भी हुई है। प्रेमचन्द की धरती से जब नागार्जुन ने अपना विश्वास जोड़ा तो कथा-साहित्य में एक नवीन मोड़ का प्रादुर्भाव हुआ। शिल्प-विधान और विचारों की प्रशस्त भूमिका हमारे सामने आई, जिस पर मधुकर गंगाधर, राजकमल चौधरी, फणीश्वर नाथ रेणु, हिमांशु श्रीवास्तव, योगेन्द्र चौधरी, और सत्यदेव शान्तिप्रिय कथा के साथ नवीन संवेदनाएँ लेकर उभरे। साथ ही रामेश्वर नाथ तिवारी, वृन्दावन बिहारी सहाय, सुबोध कुमार, प्रतिभा लाल, गोविन्द झा, सरस्वती झा आदि अबाध गति से किन्तु मौलिक और नवीन आयामों को समेटते हुए कथा-साहित्य के भंडार को भरते जा रहे हैं। इनकी कहानियाँ प्रान्तीय स्तर से ऊपर उठकर सम्पूर्ण भारतीय पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से हमारे समाने आने लग गई हैं। 'कथा-कहानी', 'सनीचर', 'कहानी', 'ज्योत्स्ना', 'कल्पना', 'ज्ञानोदय' आदि पत्रिकाओं के माध्यम से अन्य कई एक प्रतिभाएँ भी हमारे सामने आ रही हैं।

शब्द-चित्रों की दृष्टि से बेनीपुरी-शैली, यथार्थता एवं संवेदनशील अभिव्यक्ति के लिए समस्त हिन्दी-जगत में बेजोड़ है। 'माटी की मूरतें' की टक्कर की शायद हिन्दी को अभी तक कोई पुस्तक नहीं मिली है।

आज की सर्वश्रेष्ठ कहानियों में 'परिन्दे' (निर्मल वर्मा) 'माई' (मार्कण्डेय), 'तीसरी कसम अर्थात मारे गये गुलफाम' (रेणु), 'ढिबरी', 'कागभाखा', 'हिरना की आँखें' (मधुकर गंगाधर), 'राजा निरबंसिया', 'नीली झील' (कमलेश्वर), 'मवाली का बेटा' (मोहन राकेश), 'दर्द की बिक्री', 'बनजारों की रानी' (सत्यदेव शान्तिप्रिय) आदि आती हैं।

उपन्यास

प्रेमचन्द के बाद वाला काल 'बलचनमा' का काल रहा है। यह तथ्य बिल्कुल स्वीकार्य है कि नागार्जुन के 'बलचनमा' ने समस्त देश के लिये हलचल, सोचने-समझने की नई दृष्टि और कथानक की व्यापक धरती दी है, जिस पर फणीश्वर नाथ रेणु ने कथा-प्रभावों को विकेन्द्रित करते हुए निखालिस 'आंचलिकता' के सिन्दूर में भरमाने की चेष्टा से 'मैला आँचल' और 'परती : परिकथा' की रचना की है। हिमांशु श्रीवास्तव का 'लोहे के पंख' भी इसी कड़ी का उपन्यास है, किन्तु एक ओर जहाँ 'मैला आँचल' के पात्र विशुद्ध ग्रामीण-संस्कारों में मटमैली आधुनिकता के रेकार्ड चेंजर की वजह से कोई दृष्टि स्थापित नहीं कर पाये हैं, वहाँ 'लोहे के पंख' के नायक के पास कई संश्लिष्ट दृष्टि भी है।

इस तरह कहा जा सकता है कि 'बलचनमा', 'परती : परिकथा' और 'लोहे के पंख' ने आधुनिक हिन्दी साहित्य के लिये प्रेमचन्द की उर्वर धरती और जैनेन्द्र की कलात्मक प्रतिभा दी है। इनके पूर्व भी बिहार ने हिन्दी को कम उपन्यास नहीं दिये हैं। राधिकारमण प्रसाद सिंह और अनूपलाल मंडल के अतिरिक्त राधाकृष्ण प्रसाद, विष्णु किशोर झा 'बेचन', द्वारका प्रसाद, विन्ध्याचल प्रसाद गुप्त, श्याममनन्दन सेवक, योगेन्द्र प्रसाद सिन्हा, उदयराज सिंह, प्यारेलाल प्रणय, मोहिनीबाला, बनारसी प्रसाद भोजपुरी, श्याम बिहारी विरागी आदि ने औपन्यासिक परिभाषा में चेतन-संचेतन और मानवीय वृत्त-अन्तर्वृत्तों की विभिन्न कहानियाँ गढ़ी हैं, जिन्हें यही कहकर संतोष नहीं कर लिया जा सकता कि ये मात्र लकीरें खींचते हैं; क्योंकि राधाकृष्ण प्रसाद के 'टूटती कड़ियाँ' की अपनी पृथक किन्तु मौलिक स्थापना है। शिवचन्द्र शर्मा का 'नया आदमी' अपनी विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत निर्भीकता के लिये बेजोड़ उपन्यास है। सचाई तो यह है कि इन लोगों ने संवेदना के साथ-साथ कथा को काफ़ी समर्थ बनाया है।

किन्तु इन दिनों विभिन्न पत्रिकाओं के माध्यम से धारावाहिक रूप में आनेवाले उपन्यास 'नदी बहती थी' (राजकमल चौधरी), 'बरगद की छाँव' (सत्यदेव शान्तिप्रिय) और 'वन के मन में' (योगेन्द्र प्रसाद सिनहा) के अब तक के अंशों के पढ़ने के बाद से लगता है, जैसे वे अपने आप में स्वयं वृत्ताकार हों। उनमें नवीन संभाव्य स्थितियों को स्पष्ट करने और युगीन-धारा को पचा जाने की अजेय शक्ति छिपी है। 'बरगद की छाँव' और 'वन

के मन में' अभी 'आंचलिकता' के दुष्परिणामों से बिल्कुल बचते जा रहे हैं। 'बरगद की छाँव' टूटती सामन्त-धारा और उसकी बिखरी परम्परा के विरुद्ध सर्वहारा जीवन की संघर्षशील विजयश्री का सुखद अनावरण है। फिर भी यह तो स्वीकार करना ही होगा कि 'बलचनमा' और 'परती : परिकथा' के जोड़ का इधर कोई भी स्वस्थ उपन्यास देखने को नहीं मिला है।

नाटक

नाटक एवं एकांकी अपेक्षाकृत बहुत ही कम लिखे गये हैं, तथापि लक्ष्मीनारायण श्रीवास्तव, सुरेन्द्र उपाध्याय, रामवृक्ष बेनीपुरी, नरेन्द्रनारायण लाल, वीरेन्द्र नारायण, रामेश्वर सिंह काश्यप, दिनेश प्रसाद सिंह, चतुर्भुज, चक्रधर आदि ने हिन्दी को बहुत कुछ दिया हैं। रामेश्वर सिंह काश्यप और वीरेन्द्र नारायण ने हिन्दी रंगमंच की दृष्टियों को इतना व्यापक प्रसार दिया है, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनके साथ नाटकों की समस्त संभावनाएँ अति नवीन और यथार्थ की भावभूमि पर अवतरित हुई हैं। दिनेश प्रसाद सिंह के 'आदमी के रूप' और 'एक प्रश्न' इसी कड़ी के नाटक हैं जिनका सफल अभिनय पिछले वर्षों पाटलिपुत्र के विभिन्न रंगमंचों द्वारा प्रस्तुत भी किया जा चुका है। श्री नरेन्द्र नारायण लाल का 'कंगालों की टोली', 'अमर-साधना', 'दिल के तूफान' आदि उल्लेखनीय हैं।

नीति-नाट्य एवं रेडियो-रूपक के लिए सिद्धनाथ कुमार एवं जानकीवल्लभ शास्त्री एकमात्र प्रतिनिधि हैं। अनेक लोग रेडियो-रूपक लिखते जा रहे हैं जिनका प्रसारण आकाशवाणी पटना केन्द्र से बराबर होता रहा है। गीतिनाट्य में शास्त्रीजी की 'पाषाणी' अद्भुत है।

आलोचना

लक्ष्मीनारायण सुधांशु का नाम मौलिक आलोचकों और शास्त्रीय-पद्धति के समर्थों में शीर्षस्थ है। शैली और पाश्चात्य-पद्धति के मौलिक आलोचकों में नलिनविलोचन शर्मा समस्त हिन्दी-संसार के लिए मूर्द्धन्य नाम हैं, जिनके साथ डॉ॰ रामखेलावन पाण्डेय, स्व॰ सिद्धिनाथ तिवारी, डॉ॰ शिवनन्दन प्रसाद, शिवचन्द्र शर्मा, जगदीश पाण्डेय, केसरी कुमार, जानकीवल्लभ शास्त्री, कुमार विमल, नेमिचन्द्र शास्त्री, रामपूजन तिवारी आदि विशिष्ट उल्लेख्य हैं। इनके अतिरिक्त रामेश्वरनाथ तिवारी, विजयमोहन सिंह, चन्द्रभूषण तिवारी, दशरथ तिवारी, कामेश्वर शर्मा, सुरेन्द्र चौधरी, मुरली मनोहर प्रसाद सिंह, कपिलदेव सिंह, कृष्णनन्दन पीयूष, सिद्धनाथ कुमार, दिनेश प्रसाद सिंह, श्रीराम तिवारी, चन्द्रभूषण तिवारी, शम्भू शरण, विश्वनाथ सिंह, वैद्यनाथ प्रसाद, विजय मोहन सिंह, नागेश्वरलाल आदि गतिशील दृष्टिकोणों को अत्यन्त ही विश्वास के साथ रखते हुए अपने प्रतिभा-संस्कार छोड़ते जा रहे हैं।

वैयक्तिक निबन्धकारों में डा॰ दिवाकर प्रसाद विद्यार्थी, कामता सिंह 'काम', नरेन्द्रनारायण लाल और रामेश्वरनाथ तिवारी के नाम आते हैं। इसी तरह स्वस्थ दृष्टि रखनेवाले अन्य विधाकारों में प्रो॰ जगन्नाथ प्रसाद मिश्र, प्रो॰ बिहारीलाल मिश्र, नृपेन्द्रनाथ गुप्त, उमाशंकर, हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय', भुवनेश्वर द्विवेदी, ब्रजशंकर वर्मा, शिवेन्द्र नारायण, परमानन्द शास्त्री, युगल किशोर पाठक, जगदीश नारायण चौबे, विजय किशोर आदि अबाध गति से लिखते जा रहे हैं। पिछले दो दशकों की ये उपलब्धियाँ हिन्दी-जगत का 'माइल स्टोन' हैं, इसमें तनिक अत्युक्ति नहीं।

★

जेलों में मुझे पुस्तकाध्यक्ष को छोड़कर प्रायः सभी पेशों, उद्योगों तथा कामों में लगे हुए ऐसे व्यक्तियों से मिलने का मौका मिला जो किसी-न-किसी अपराध में जेल की सजा काट रहे हैं। जेलों के पुराने रिकार्ड देखने से भी मुझे उनमें किसी 'पुस्तकाध्यक्ष' नामधारी जीव के दर्शन नहीं हुए। क्या पुस्तकाध्यक्ष का पेशा कोई ऐसा पेशा है कि व्यक्ति इस पेशे में आने के बाद दीन-दुनिया, पाप-पुण्य तक की बात भूल जाता है, या यह पेशा मनुष्य में वह मानसिक सन्तोष जागृत करता है कि उसे कभी अपराध की प्रेरणा ही नहीं मिलती? इसका उत्तर शायद कोई पुस्तकाध्यक्ष ही दे।

—श्री वाक्स एफ॰ 'टच देम टू लिप' नामक अपनी पुस्तक की भूमिका में।

गत मास का साहित्य : समीक्षण एवं आकलन

★

श्री जयप्रकाश शर्मा

[सूचना-सामग्री भेजने का पता : एच १६, कीर्ति नगर, नई दिल्ली-१५]

जब इस स्तंभ की पंक्तियाँ लिखी जा रही थीं, पूरे विश्व में रवीन्द्र शताब्दी-समारोह की धूम है, और पूरे एक साल तक यह धूम रहेगी। पर हिन्दी के प्रकाशक और पुस्तक-विक्रेता तो बहुत दिन पूर्व ही रवीन्द्र के नाम पर अपनी जेब भर चुके हैं। रवीन्द्र की पुस्तकों के अनुवाद, एक-से-एक भ्रष्ट, शहरों की पटरियों पर देखे जा सकते हैं। जिनमें से कई पुस्तकों पर तो चित्र भी रवीन्द्र के बजाय बाल्मीकि या अन्य किसी व्यक्ति के होते हैं। फिर अनुवाद की तो कौन कहे। अनुवाद का अनुवाद करके प्रेस में देने की परम्परा प्रकाशकों का ऐसा स्पुतनिक है जो न केवल अनुवाद के पारिश्रमिक की बचत करता है अपितु स्वयं, या अपने भाई-बहिन, पत्नी या नवजात शिशु को सम्पादक बना डालता है। अब जब हम ऐसी शताब्दियों का आयोजन करते हैं, राष्ट्रीय सरकार बढ़ावा देती है तो ऐसे अनुवादकों और उनके प्रकाशकों को याद कराना न भूलें, जिन्होंने रवीन्द्र को सचित्र कोकशास्त्र के खीमे में लाकर खड़ा कर दिया है।

पर समस्या का अन्त रवीन्द्र पर नहीं होता। शरत्, सोलह साल बाद जिनकी शताब्दी भी मनाई जायेगी, पटरियों पर दिन-दहाड़े नीलाम होता है। रुपये की किताब चार आने में। और, इसका एक ही हल है कि ऐसी समस्त पुस्तकों पर रोक लगाकर पहले उनके अनुवादकों को और प्रकाशकों को ढूँढा जाय और फिर जाँच करके एक-एक को पुनः समझा जाय।

दूसरा तरीका प्रतिनिधि प्रकाशक अपना समझते हैं। वह उन्हें एक जगह संकलित कर देना है। इस तरीके का प्रारूप शुरू हुआ है और हंसकुमार तिवारी के अनुवाद में प्रकाशित शरत्-साहित्य का प्रथम खंड इसकी पूर्ति करता है। पर मेरे ख्याल से दस रुपये खर्च करने वाला पाठक केवल कृति ही नहीं, बल्कि कृतिकार, उनकी रचना-विवेचना, और अन्य बातों के लिए भी उत्सुक होगा; जिनका दूसरे खंड में समावेश हो ही जाना चाहिए। यूँ, एक नया तरीका है, खासतौर से हिन्दी में, जो शरत् बाबू को सुरक्षित रख सकता है। पुस्तक रूपकमल प्रकाशन, दिल्ली से प्रकाशित हुई है।

उपन्यास

अगर इस मास के प्रकाशनों का लेखा-जोखा करें तो सबसे पहले नजर मोहन राकेश के 'अन्धेरे बन्द कमरे' पर पड़ती है जो काफी प्रतीक्षा के बाद आलोक पा सका है। मोहन राकेश का यह पहला उपन्यास साधारण नहीं है, यह तो स्पष्ट है ही। और फिर कथा की पकड़ में शैथिल्य न होने के कारण शैली में जो तीखापन उत्तरार्द्ध में दीख पड़ता है, वह सहज और स्वाभाविक होने के कारण ऐसी पराकाष्ठा पर पहुँच गया है कि डर लगता है कि कहीं राकेश जी अगले उपन्यास में इस तीखेपन से वंचित न रह जायें। यूँ उनकी ख्याति एक नाटककार के रूप में है; पर मेरी दृष्टि में वे पहले कथाकार हैं, और बाद में कुछ और। 'जानवर और जानवर' के बाद यह 'अन्धेरे बन्द कमरे' एक नया कदम होना चाहिए, आखिरी नहीं।

दूसरा उपन्यास है देवेन्द्र सत्यार्थी का 'कथा कहो उर्वशी'। एक मूर्तिकार की तीन पीढ़ी की कथा। एकदम देवेन्द्र सत्यार्थी के अन्य उपन्यासों की तरह सजा, सँवरा और आकर्षक। पर मेरा ख्याल यह है कि अगर इसे कुछ संक्षिप्त कर दिया जाता तो इसमें और भी आकर्षण हो जाता। पर यह बात सत्यार्थीजी के एक ही उपन्यास पर नहीं, सभी उपन्यासों पर लागू होती है।

दूसरी ओर यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' का 'बड़ा आदमी' खत्म करके कुछ ऐसा महसूस होता है कि अब चन्द्र ने पाठकों को चरम सीमा में घेर-घार कर परेशान करने की आदत को अपना लिया है और अगर 'बड़ा आदमी' कलेवर में कुछ और बड़ा होता तो ज्यादा अच्छा हो पाता।

'सुहाग दीप' दयाशंकर मिश्र की कला-स्निग्धता और सज्जा की उस परम्परा को आगे बढ़ाता है जो 'मरीचिका' के जन्म से शुरू हुई थी। कथाकार शरत् ने एक बार कहा था कि कथाकार फोटोग्राफी ही नहीं करता; बल्कि इस एंगलस से फोटोग्राफी करता है कि जिससे लोग, खास तौर से शोषित और दुखी लोग, जिनमें हिन्दुस्तान की नारी भी एक है; जीने के तरीके ढूँढ लें। संभवतः यही बात मिश्रजी के मस्तिष्क में रही है और उसी को उतारने में वे समर्थ भी रहे हैं।

'सुहागन' हरीमल चाँद के प्रारम्भिक प्रयासों का प्रतिफल है, जिसपर फिल्म का प्रभाव बुरी तरह से प्रतिबिम्बित होता है। यूँ 'चाँद' में प्रतिभा है, प्रयास सराहनीय भी है, और यह तो आशा करनी ही चाहिये कि वे भविष्य में और वेग से इससे अच्छा लिखेंगे।

अगले अंक में 'नदी फिर बह चली' (हिमांशु कृत) और चतुरसेन कृत 'मोती' की चर्चा का समावेश भी होगा। ओम्प्रकाश कृत 'एक रात' की भी चर्चा होगी।

पाकेट बुक्स

गत मास कुल मिलाकर पाकेट बुक्स में बारह उपन्यास आये, जिनमें सात अशोक पाकेट बुक्स से, तीन हिन्द पाकेट बुक्स से और दो सुमन पाकेट बुक्स से प्रकाशित हुए। पर, इन सब में महत्त्वपूर्ण है रांगेय राघव का उपन्यास 'आग की प्यास'। 'आग की प्यास' में कथा नहीं, शिल्प है, जिस तरह इन्द्रधनुष में आकार नहीं, सिर्फ रंग होते हैं। यह लघु उपन्यास, जो किसी भी विदेशी उपन्यास से टक्कर ले सकता है, नये कलाकार का मार्ग-दर्शन करने का सामर्थ्य रख सकता है। यूँ अब्बास कृत 'प्यार की पुकार', प्रेमेन्द्र मित्र का 'अधिकार' तथा ओम्प्रकाश शर्मा का 'सुहाग की साँझ' विशिष्ट परम्परा के द्योतक हैं। शेष अन्य उपन्यासों में द्वारका प्रसाद का 'चोट' और 'हत्या' गुलशन नंदा का 'गुनाह के फूल' दोनों एक नये मोड़ की ओर संकेत करते हैं। द्वारका प्रसाद और गुलशन नन्दा दोनों ही काम-मनोवैज्ञानिक हैं तथा औरत का दूसरा नाम (बेवफा) लिखने के लिए बदनाम या नामवर हो रहे हैं। पर, इन दोनों उपन्यासों में कहीं भी सैक्स-उत्तेजना या अश्लीलता नहीं है।

नयी पत्रिकायें एवं विशेषांक

स्त्रियोपयोगी पत्रों की पाँत में 'अनुजा' बम्बई से जिस तेजी से बढ़ रही है, उससे अनुमान लगाया जा सकता है कि नारी-उपयोगी साहित्य का कितना अभाव है और उसकी पूर्त्ति की समस्या कितनी विकट है।

'नई कहानियाँ' ने अपनी वर्ष-गाँठ पर जो विशेषांक निकाला उसमें कुछ कहानियाँ, जैसे निर्गुण कृत "टूटा-फूटा', राजेन्द्र यादव की 'नाले पर फ्लेट' आदि अविस्मरणीय कहानियाँ हैं। पर, कहानियों पर समुचित लेखन होने की कमी खटकती है।

एक नया कहानी मासिक आगरे से इस पाँत में आ मिला है। 'नीहारिका' कादम्बनी जैसी सफाई तो नहीं ला पाया है, पर जो इसमें बड़ी बात है, अर्थात् मैटर, उसमें यह खम्भ ठोंक सकता है।

बाल-साहित्य और बाल-पत्रिकायें

बाल-साहित्य लिखते और छापते वक्त दुर्भाग्यवश लेखक और प्रकाशक दोनों ही यह भूल जाते हैं कि बाल-साहित्य के अन्तर्गत जो साहित्य निकलेगा वह बाल-साहित्य होते हुए भी, बच्चों की समस्या-पूर्त्ति करते हुए भी, एक वर्ग में एक-सा सम्मानित हो। यही कारण है, आज बाल-साहित्य में रोचकता, कौतूहलता और साँस-रोक सस्पैन्स का अभाव-सा है। जब बाल-पत्रों पर ध्यान जाता है तो और भी अजीब लगता है। 'पराग' छपाई-सफाई में इतना साफ होता है कि उसको मैटर की तरफ ध्यान देने की जरूरत नहीं होती। 'चंदा मामा' की बेताल-पचीसी और हूर-ए-परिस्तान जैसी कहानियों में मौलिकता का, और खास तौर से सामयिकता का सबसे ज्यादा अभाव रहता है। फिर उनका एक विशेष वर्ग पाठकवर्ग के अन्तर्गत आता है; जिसे बालवर्ग नहीं कहा जा सकता। सामयिकता के लिए जो पत्र सामने आते हैं उनमें 'मनमोहन' और 'राजा भैया' का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है। यूँ तो 'बाल भारती' जैसा सरकारी पत्र भी मौजूद है—पर सवाल तो यह है कि बच्चों के लिए क्या ये पत्र पर्याप्त हैं और या इनमें से कोई भी पत्र इस भावना-पूर्ति में समर्थ है। दरअसल इन सब पत्रिकाओं में केवल एक दोष है और वह है सम्पादक की कुर्सी। जबतक बाल-विशेषज्ञ ही इस कुर्सी पर नहीं आयेगा; यह समस्या रहेगी ही।

पर बाल-साहित्य-पुस्तकों में तो इससे भी अधिक धाँधली है। पुरानी कहानी को नया कर छाप देना तो मामूली बात है। फिर भी अच्छी किताबें बाजार में आती ही हैं।

आत्माराम एंड संस द्वारा उपहार सीरिज में आई पहली किताब अच्छी छपाई-सफाई के कारण और खास तौर से उसमें आये चित्रों के कारण बालकों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी; पर मेरा ख्याल है, अगर इसमें कथा-कहानी को न लेकर ज्ञान-विज्ञान जैसी उपयोगी वस्तुओं को ही लिया जाता तो इस शृंखला का मूल्य और अधिक होता। कथा-कहानी के अंतर्गत हंस द्वारा प्रकाशित 'घन-चक्कर', 'कलन्दरों की आत्मकथा' तथा 'साहसी शेखू' की चर्चा की जा सकती है। साहसी शेखू इन सबों में अधिक महत्त्वपूर्ण है। दयाशंकर मिश्र ने यूँ भी सारी जिन्दगी दद्दा बनकर बच्चों के बीच जिन्दगी काटी है, उनके साथ हँसे और खेले हैं। इस स्थिति में शेखू की उपयोगिता और किताबों से अलग-सी है।

गत मास का पठनीय साहित्य

(*केवल पत्रिकाओं से उद्धृत*)

अदिति सह भारत माता, नई दिल्ली (फरवरी)

अरविन्द के पत्र—अरविन्द

साहित्य सन्देश, आगरा (मई)

प्रा० हस्तलिखित पोथियों का विवरण, भाग तीन के कतिपय संशोधन—श्री अगरचन्द नाहटा।

आरोग्य, गोरखपुर (अप्रैल)

गोमुख की रोमांचकारी यात्रा—यशपाल जैन

दक्षिण भारती, हैदराबाद (अप्रैल)

मणिप्रवालम् : एक अध्ययन—गिरी

काटूरि बैंकटेश राव—राधाकृष्ण मूर्त्ति राव (समीक्षा)

नई धारा, पटना (मई)

खंडहर के पास एक रात—प्रयाग नारायण शुक्ल

दक्षिण भारत, मद्रास (मार्च-अप्रैल)

कलित्तौंटे—श्री प० जयरामन

प्रकाशन समाचार, दिल्ली

पटना प्रकाशक अधिवेशन की रिपोर्ट

समाज कल्याण, दिल्ली (मई)

रवीन्द्र साहित्य में समाज सुधार के स्वर—मन्मथनाथ गुप्त

योजना, दिल्ली (मई)

तरक्की की पहली सीढ़ी—श्रीमती हीरादेवी चतुर्वेदी

विश्वज्योति, होशियारपुर (मई)

पृथ्वी की आयु—प्रो० सुन्दरलाल गुप्त

भारत सेवक, नई दिल्ली (मई)

युग कवि—श्री अरविन्द विद्यालंकार

सड़ा हुआ कमल—श्री बच्चन

पहियों की लकीरें—श्री अनन्त कुमार पाषाण

ये रेखायें, ये दायरे—श्री विष्णु प्रभाकर

मुक्ता, दिल्ली (जून)

राष्ट्रीय स्वयंसेवक—महेन्द्र कुलश्रेष्ठ

★

छठा वार्षिक सम्मेलन, पटना : १७ अप्रैल, १९६१ : स्वीकृत प्रस्ताव

★

१. नेट-बुक समझौता

अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र बेरी द्वारा प्रस्तुत अधिवेशन का मुख्य प्रस्ताव जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ—

"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह छठा अधिवेशन संघ द्वारा प्रचारित बिक्री के नियमों और व्यवस्था में आज की व्यापक ढिलाई के लिए जिसकी ओर कार्य-समिति ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा अधिवेशन का ध्यान आकृष्ट किया है, खेद प्रकट करता है और इसकी अविलम्ब रोक-थाम के लिए हिन्दी के प्रकाशकों और विक्रेताओं से अपील करता है। संघ का यह विश्वास और निर्णय भी है कि पुस्तकों की बिक्री में समुचित व्यवस्था के लिए ऐसे विक्रेताओं का पंजीबंधन हटा दिया जाय, जोकि वास्तव में पुस्तक-विक्रेता नहीं हैं। जो प्रकाशक अभी तक संघ से संबद्ध नहीं हुए हैं और बिक्री-संबंधी व्यवस्था में बँधने को तैयार नहीं हैं उन्हें संघ से संबद्ध करने के प्रयत्न किए जायँ और संघ से असम्बद्ध प्रकाशकों से संघ के सदस्य और पंजीबद्ध पुस्तक-विक्रेता व्यापार-व्यवहार न रखें, तथा जो प्रकाशक और विक्रेता नियमों का उल्लंघन करें, उनके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्रवाही की जाय। यह अधिवेशन कार्यसमिति को इस प्रस्ताव के कार्यान्वयन का आदेश देता है।

इसके साथ ही अबतक जिन संस्थाओं के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही हुई है, संघ नियमों के पालन की आशा करता है। उनके पुनः सदस्य बनने के आवेदन पर संघ की कार्यसमिति सहर्ष विचार करेगी।"

२. टेण्डर-प्रथा—अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह छठा अधिवेशन भारत की केन्द्रीय और प्रादेशिक सरकारों से साग्रह अनुरोध करता है कि शासन के शिक्षा, पंचायत, पुस्तकालय आदि विभिन्न विभागों द्वारा खरीद की जानेवाली पुस्तकों के लिए टेण्डर-प्रथा समाप्त कर दी जाय। व्यवसाय और समाज के सम्मिलित हितों को ध्यान में रखते हुए संघ ने बिक्री-संबंधी जो नियम प्रचारित किए हैं, ये विभाग उनके अनुसार पुस्तकों की खरीद और आदेश जारी करें और अपने अधीन अन्य उप-विभागों को भी इसकी सूचना दें।

"इस अधिवेशन का यह अनुरोध भी है कि हिन्दी पुस्तकों की थोक और खुदरा खरीद संघ द्वारा नियत कमीशन तथा सुविधाओं पर संघ से पंजीबद्ध स्थानीय पुस्तक-विक्रेताओं से की जाय। स्थानीय विक्रेताओं से पूर्ति न हो सकने की स्थिति में ही आर्डर बाहर के विक्रेताओं अथवा प्रकाशकों को भेजे जाया करें।

३. विधान-संशोधन—"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह छठा अधिवेशन निश्चय करता है कि विधान की सम्बन्धित धाराओं का संशोधन करते हुए संघ के प्रकाशक-सदस्यों की वार्षिक सदस्यता का शुल्क रु० ५०·०० से घटाकर रु० २०·०० कर दिया जाय तथा प्रवेश-शुल्क को रु० २५·०० से घटाकर रु० १०·०० कर दिया जाय।"

४. संघ के मुख-पत्र का प्रकाशन—"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन निश्चय करता है कि संघ के मुख-पत्र को प्रकाशित करने के इसके पहले के प्रस्ताव को कार्यान्वित किया जाय। अब यह पत्र, जिसका नाम "हिन्दी प्रकाशक" है, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन के सम्पादकत्व में कलकत्ता से प्रकाशित किया जाय।"

५. पाठ्यक्रमों के लिए पुस्तकों की माँग—"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन पाठ्यक्रमों को नियत करनेवाले एवं पुस्तकों को खरीदने अथवा खरीद के लिए स्वीकृत करनेवाले केन्द्रीय अथवा प्रादेशिक अधिकारियों से अनुरोध करता है कि वे पुस्तकों की इस दृष्टि से आवश्यक कम से कम प्रतियों की माँग किया करें। संघ का विचार है कि इन अधिकारियों को प्रकाशकों से प्राप्त प्रतियों को अपने सदस्यों और समितियों में घुमा-फिरा लेना चाहिए, न कि प्रत्येक सदस्य के लिए अलग-अलग प्रति लेनी चाहिए, जिससे प्रकाशकों पर अत्यधिक बोझ पड़ता है।"

संघ के अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र बेरी द्वारा प्रस्तुत निम्न प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ।—

६. राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह—"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन संघ द्वारा आयोजित विगत वर्ष के राष्ट्रीय पुस्तक समारोह की पद्धति को देश में शिक्षा तथा साहित्य के प्रचार के लिए परमोपयोगी समझता है। अधिवेशन का मत है कि आगामी वर्ष इस समारोह को और भी अधिक धूमधाम से व्यापक रूप में सारे देश में मनाने का आयोजन किया जाय और इस संबंध में देश की विभिन्न प्रकाशन-संस्थाओं, साहित्यकारों, पत्रकारों, सांस्कृतिक संस्थाओं, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों आदि का सहयोग प्राप्त करने का उद्योग किया जाय। अधिवेशन इस सम्बन्ध में श्री रामलालजी पुरी, श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, श्री ए० के० बोस, श्री वाचस्पति पाठक, श्री मार्तण्ड जी उपाध्याय, श्री ओंप्रकाश, पं० जयनाथ मिश्र, श्री तेजनारायण टण्डन तथा श्री गोकुलदास धूत की एक उपसमिति नियुक्त करता है जो राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का आयोजन करे। श्री रामलालजी पुरी इस समिति के अध्यक्ष होंगे और श्री ए० के० बोस मंत्री।

७. निर्यात-व्यवस्था—"अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन भारत सरकार के वाणिज्य मंत्रालय से अनुरोध करता है कि वह देश से बाहर पुस्तकों के निर्यात को और विदेशी मुद्रा अर्जित करने को प्रोत्साहन देने की योजना में केवल धार्मिक ही नहीं, सभी प्रकार की पुस्तकों के निर्यात का लेखा स्वीकार किया करे।"

पदाधिकारियों का चुनाव

पटना अधिवेशन के निर्देशानुसार (जिसमें संघ के अध्यक्ष को अधिकार दिया गया था कि वह अपनी कार्यकारिणी स्वयं घोषित करें) अध्यक्ष ने निम्न व्यक्तियों को आगामी वर्ष १९६१—६२ के लिए पदाधिकारी और सदस्य घोषित किया है—

अध्यक्ष : श्री कृष्णचन्द्र बेरी : हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

उपाध्यक्ष :—श्री वाचस्पति पाठक : भारती भण्डार, इलाहाबाद; श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन : भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी; श्री देवनारायण द्विवेदी : ज्ञानमण्डल लि०, वाराणसी; श्री ओंप्रकाश : राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली; श्री मदनमोहन पाण्डेय : ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना।

प्रधान मंत्री : श्री रामलालजी पुरी : आत्माराम एंड संस, दिल्ली।

संयुक्त मंत्री : श्री पुरुषोत्तम मोदी : विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर; श्री जयनाथ मिश्र : अजन्ता प्रेस लि०, पटना; श्री कन्हैयालाल मलिक : इण्डियन पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली।

कोषाध्यक्ष : श्री श्यामलालजी : एस० चाँद एण्ड कं०, दिल्ली।

कार्यकारिणी के सदस्य : श्री दीनानाथ मलहोत्रा : राजपाल एण्ड संस, दिल्ली; श्री योगेन्द्र दत्त : भारतीय साहित्य सदन, दिल्ली; श्री बलराज सहगल : नारायण दत्त सहगल एण्ड संस, दिल्ली; श्री रामसकल सिंह : अशोक पुस्तक मंदिर, कलकत्ता; श्री कृष्णगोपाल केडिया : हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता; श्री गोकुलदास धूत : नवयुग साहित्य सदन, इन्दौर; श्री राजकिशोर अग्रवाल : विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा; श्री रामदत्त थानवी : किताब घर, जोधपुर : श्री मैथिलीशरण सिंह : पुस्तक भण्डार, पटना; श्री कैलाशनाथ भार्गव : नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी; श्री उमाशंकर दीक्षित : राष्ट्रीय प्रकाशन मंदिर, लखनऊ; श्री यशोधर मोदी : हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बंबई।

पंजीबद्ध पुस्तक-विक्रेताओं के प्रतिनिधि

श्री रामतीर्थ भाटिया : राजधानी प्रकाशन, दिल्ली; श्री चम्पालाल रांका : किताब महल, जयपुर; श्री पद्मनाभन : दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा : मद्रास; श्री हरिहरनाथ अग्रवाल : रामप्रसाद एण्ड संस, आगरा; श्री तेजनारायण टण्डन : हिन्दी साहित्य भण्डार, लखनऊ; श्री बलदेव दास अग्रवाल : बम्बई बुक डिपो, कलकत्ता; श्री सौभाग्यमल जैन : सुषमा साहित्य मंदिर, जबलपुर; श्री बजरंगबली गुप्त, साहित्य सेवक कार्यालय, वाराणसी।

कार्यसमिति के दो रिक्त स्थानों की घोषणा बाद में की जायगी।

बिहार पुस्तक-व्यवसायी संघ के स्वीकृत प्रस्ताव

★

संघ के १५-१६ अप्रिल, १९६१ के वार्षिक अधिवेशन में निम्नलिखित प्रस्ताव स्वीकृत हुए हैं

१. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ की यह आम सभा भारत-सरकार के शिक्षा-मंत्रणालय से अनुरोध करती है कि उनके द्वारा नियोजित प्रकाशन-योजना में बिहार के प्रकाशकों को भी आनुपातिक अंश अवश्य दिया जाय।

२. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग से अनुरोध करता है कि वह राज्य के प्राथमिक विद्यालयों के लिए जिला-शिक्षा-अधीक्षकों के द्वारा पुस्तकों की की जाने वाली खरीद के नियम और प्रणाली की जाँच के लिए एक कमीशन नियुक्त करे, जिसमें बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का भी प्रतिनिधित्व हो।

३. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ के पास अखिल भारतीय-हिन्दी-प्रकाशक-संघ के कमीशन-नियमन के संबंध में उनके ही सदस्यों द्वारा उल्लंघन की शिकायतें आती रहती हैं। अतः यह संघ इस कार्य को अत्यन्त निन्दनीय मानता है तथा प्रकाशक-संघ से अनुरोध करता है कि वह अपने सदस्यों द्वारा अपने नियमों का उल्लंघन रोके।

४. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग से अनुरोध करता है कि पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण को तोड़ देने के अपने निर्णय को शीघ्रातिशीघ्र कार्यान्वित करे।

५. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ अपने प्रकाशक बन्धुओं से आग्रह करता है कि वे सहायक पुस्तकें, हैंड बुक्स आदि का मूल्य यथायोग्य कम करें।

६. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग से अनुरोध करता है कि ग्रन्थ-सूची एवं बाल-सूची के चयन और स्वीकृति में पुस्तकों के मूल्य और उपयोगिता पर ध्यान दे। ग्रंथ-सूची-निर्माण में संघ-मनोनीत व्यक्ति भी रखा जाय।

७. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ का मौजूदा विधान इसकी प्रारम्भिक अवस्था में बना था, अतः उसका बहुत अंशों में सीमित होना स्वाभाविक है। किन्तु, राज्य के अन्दर संघ के विकास को देखकर, आवश्यक प्रतीत होता है कि संघ के विधान में संशोधन किया जाय; विधान को और विकसित और प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाया जाय। इसलिए यह आवश्यक है कि इस काम के लिए एक उपसमिति गठित की जाय, जो उपर्युक्त काम को, सम्मेलन में बहस की रोशनी में तैयार करे और उसे प्रतिनिधि-सभा द्वारा स्वीकृत करा कर अमल में लाया जाय।

८. यह देखने में आता है कि संघ-सदस्य स्कूलों, कालेजों तथा होस्टलों में जाकर तथा कमीशन देकर विद्यार्थियों के हाथ पुस्तकें बेच आते हैं। संघ इस प्रकार के व्यावसायिक व्यवहार को सिद्धान्त के प्रतिकूल मानता है तथा इसकी निन्दा करता है।

९. बिहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ बिहार-सरकार के वित्त-विभाग, शिक्षा-विभाग एवं विश्वविद्यालयों से अनुरोध करता है कि टेक्स्ट-बुक-कमिटी तथा विश्वविद्यालयों द्वारा प्रकाशित पुस्तकों पर वर्त्तमान में दिया जाने वाला कमीशन अपर्याप्त है, अतः उसे संघ-सदस्यों के लिए बढ़ाकर कम-से-कम २० प्रतिशत कर दे और प्रत्येक जिले में, आदेश देने पर, रेलवे भाड़ा चुकती कर भेजे।

कितनी खतरनाक हालत है जो अपनी भाषाओं को प्रतिक्रियावादी और अंग्रेजी को प्रगतिवादी समझा जाता है। आपको यह जानकर ताज्जुब होगा कि महात्मा गाँधी के बाद मैं पहला आदमी हूँ जो तमिलनाड में लगातार २५ सभाओं में हिन्दी में बोला। क्यों मुझसे लोगों ने सुना? मैं जानता हूँ कि मुझे लोगों ने इसलिए सुना; क्योंकि मैं हिन्दी और तमिल को बराबरी देना चाहता हूँ, मैं आपसे फिर कहता हूँ कि हिन्दी की हिमायत वही कर सकता है; जो उसकी बराबरी में अंग्रेजी को न लाये बल्कि हिन्दुस्तान की दूसरी भाषाओं को और जो हिन्दी को अन्य भारतीय भाषाओं के साथ राष्ट्र की उन्नति का साधन और अंगरेजी को गुलामी का साधन समझे।

—डॉ० लोहिया

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ
छठा अधिवेशन, पटना : एक विवरण

★

उक्त अधिवेशन १६ अप्रेल ६१ के दिन ४ बजे पटने में संघ के भू० पू० सभापति श्री रामलाल पुरी की अध्यक्षता में प्रारंभ हुआ, जिसमें देश के लगभग ५० प्रतिनिधि और ३०० पंजीवद्ध सदस्यों ने भाग लिया।

१७ अप्रेल के प्रातःकाल ६ बजे विहार के राज्यपाल महामहिम डॉ० जाकिर हुसेन ने अखिल भारतीय हिन्दी पुस्तक-प्रदर्शनी का निरीक्षण किया। तत्पश्चात् ६॥ बजे अधिवेशन का कार्यारम्भ हुआ और विदायी अध्यक्ष श्री रामलाल पुरी ने नये अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र बेरी को कार्यभार सौंपा। बेरीजी ने राज्यपाल से उद्घाटन-भाषण का अनुरोध किया।

महामहिम डॉ० जाकिर हुसेन का भाषण

डॉ० जाकिर हुसेन, राज्यपाल, विहार ने अपने उद्घाटन-भाषण में कहा कि प्रकाशकों को अलग-अलग पाठकों की रुचि और आवश्यकता को समझते हुए अपने प्रकाशन करने चाहिएँ। कम कीमत पर अच्छी पुस्तकें पाठकों को उपलब्ध हो सकें, इस पर भी प्रमुख ध्यान जाना चाहिए। शिक्षितों की संख्या तो तेजी से बढ़ रही है, किन्तु पुस्तक पढ़ने की रुचि कितनी और क्या बढ़ रही है—हमें इसका पता नहीं चल पा रहा है। प्रकाशकों को यह जानना चाहिए ताकि वे सबों की आवश्यकता की पूर्त्ति कर सकें। अर्थात्, जो ज्ञान-पिपासा पूर्ण करना चाहें और जो केवल मनोरंजन चाहें—दोनों के ही लिए उत्तरोत्तर उन्नत पुस्तकें उपलब्ध हों। हिन्दी शिक्षा का माध्यम होती जा रही है, इससे कोई यह न समझ बैठे कि यह हिन्दी की जीत हो गई। हिन्दी के प्रकाशकों को यह बात हमेशा ध्यान में रखनी होगी कि हिन्दी में शिक्षा होने से कहीं विद्यार्थी यह न समझने लगें कि उन्हें दूसरी भाषाओं के माध्यम के मुकावले घाटे में रहना पड़ रहा है। अँगरेजी में जो चीजें उपलब्ध हैं, उससे अधिक नहीं तो कम-से-कम उतनी ही चीजें हिन्दी में उपलब्ध हो सकें—इसकी व्यवस्था तो हिन्दी के प्रकाशकों को सबसे पहले करनी चाहिए। अपनी शिक्षा समाप्त कर जो लोग सांसारिक जीवन में प्रवेश करते हैं, उनके फुर्सत के लायक पुस्तकें भी हमारे यहाँ काफी होनी चाहिएँ। ११ वर्ष तक बालक-बालिकाओं की शिक्षा निःशुल्क होने जा रही है, लेकिन ११ वर्ष बाद उनमें से बहुतेरे अपनी शिक्षा वहीं समाप्त कर देंगे—ऐसी निश्चित आशंका है। उनमें तबतक पठन-रुचि का आविष्करण नहीं ही हो सकता है। अतः ११ वर्ष तक की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा काफी नहीं है। इसे बढ़ा कर १४ वर्ष तक किया जाना चाहिए।

महामहिम डॉ० हुमायूँ कबीर का भाषण

अधिवेशन में विशेष रूप से उपस्थित केन्द्रीय संस्कृति तथा गवेषणा मंत्री श्री हुमायूँ कबीर ने अपने भाषण में कहा कि हिन्दी साहित्य के भंडार को प्रवृद्ध करने के लिए अनुवाद-साहित्य की प्रवृद्धि नितान्त वांछनीय है। भारत में प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेवाली पुस्तकों की संख्या बहुत कम है। दुनिया के कुल प्रकाशन का ५१ प्रतिशत अँगरेजी में होता है। उसके बाद क्रमशः जर्मन, फ्रेंच तथा रूसी का नम्बर है। अपने देश में १४ भारतीय भाषाओं में प्रतिवर्ष मुश्किल से ५००-६०० के बीच पुस्तकें निकलती हैं। पाठ्य-पुस्तकों की बुनियाद में काम देने वाले विज्ञान, इतिहास, समाजशास्त्र और मनोविज्ञान आदि की पुस्तकों की हिन्दी में बहुत बड़ी आवश्यकता है। भारत सरकार भी हर भाषा में ऐसे विषयों पर तीसरी योजना के बीच कम-से-कम दो-दो पुस्तकें प्रकाशित करना चाहती है।

इस सम्मेलन का आयोजन विहार पुस्तक-व्यवसायी-संघ की ओर से किया गया था। १६ अप्रेल की रात के भोजन की व्यवस्था राजकमल प्रकाशन की ओर से डायरेक्टर इंचार्ज श्री ओंप्रकाशजी ने अपने निवास-स्थान पर की। १७ अप्रेल के मध्याह्न-भोजन की व्यवस्था ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना की ओर से अपने कार्यालय में की गई थी। १७ अप्रेल की सन्ध्या की चाय-पार्टी की व्यवस्था

(शेष पृष्ठ ३२ के नीचे)
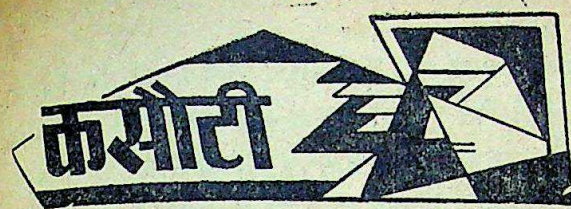
सुमित्रानन्दन पन्त

संपादक—बच्चन
प्रकाशक—राजपाल एण्ड संज, दिल्ली-६
मूल्य—दो रुपये

प्रस्तुत 'आज के लोकप्रिय हिन्दी कवि' माला के अन्तर्गत सम्पादित पन्त की जीवनी और चुनी हुई कविताओं का संकलन है। काव्य में वीप्सा एक गुण है, तो शब्द-जंजालों की झनझनाहट उतना ही दुर्गुण। हो सकता हो कि प्रारंभ में यह झनझनाहट नई बात होने के नाते कुछ आकर्षित करती हो, मगर उत्तरोत्तर पाठक इससे बड़ा दुखी ही होता है। पंतजी वैसे ही दुखप्रद हैं। 'निर्झरी' का 'कल कल टल मल···कल-कल छल-छल···झर मर···रण मण···झलमल' पहली ही आठ पंक्तियों में, 'गीत' की २-३-६-७-१०-११ पंक्तियाँ आदि ऐसी ही दुखप्रद चीजें हैं। यह तो कुछ पुरानी बीमारी है। इधर नये के नाम पर 'कला और बूढ़ा चाँद' कैसा बुड्मसियाया है, वह भी देखा जाय। 'हाय रे, गोरी की नाभि-से भँवर' के 'हाय रे!' में क्या भद्द है? "छाया छाँव बनी पछाड़ खा, कुत्ता लैंडी बना हाड़ खा, चूहा शेर बना पहाड़ खा" क्या बेतुकी बहक है? अगर 'उन्नयन' की उठान अच्छी है कि "रहस अचेतन तम की साँपों की वेणी को धीरे छूओ, सुलझाओ, खोलो, मन" तो अन्त, "उजियाले हो सकें बिलों में सोनेवाले" जैसे सपाट शब्दों और "तम प्रकाश केवल दो गतियाँ" जैसी आरोपित भजनोपदेशकता का, बुरा। शायद बच्चन कविता से अधिक उपदेश पिलाने के अर्थ में ही वैसे अधिकतरों का यह संकलन कर गये हैं। यों, अच्छाई के लिए, 'प्रिय पशु मुखरित' और 'कोमल-चंचल···चल-चल-निर्मल' जैसी वाहियात पंक्तियों को निकाल कर 'पुष्प-प्रसू', अन्तिम दो टुकड़ों को निकालकर "नौका-विहार", और "मर्म कथा", "ग्राम युवति" आदि कुछेक का ही संकलन होता तो बहुत सुपाठ्य-सुपाच्य रहता।

द्रौपदी (खंड काव्य)

कवि—नरेन्द्र शर्मा
प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली
मूल्य—२·५०, पृष्ठ—४४ (पाठ्य)

चौआलिस पृष्ठों में द्यूत-क्रीड़ा से लेकर अन्त तक महाभारत अँटाया गया है। एक झलक है। स्वभावतः, कवि के कुछ विशेषण-शब्दों, जैसे 'जीवनीशक्ति', 'मूर्त्तिमती देवेच्छा', और अन्त के विशेषण-ही-विशेषण वाले सोलहों पदों के सिवा द्रौपदी अधिक नहीं है। भारवि ने किरातार्जुनीयम् में द्रौपदी को जितना उठाया है, श्रद्धा से अधिक वह राजनय की महत्ता ही काव्य में नाटकीयता ला सकी। कवि शर्मा को एक वार उसे समझने की कृपा करनी चाहिए, अन्यथा स्वभाव-सिद्धि के बजाय श्लाघा और "कुरुक्षेत्र ढह गया आह से स्वर्ण-द्वारिका डूबी", और वनवास के बहाने "देखने निकले युधिष्ठिर अखिल भारत देश को, देखता था देश भावी राष्ट्रपति के वेश को" और "जो किसी का नहीं, जिसके दास सब, वह अर्थ है", और द्यूत-क्रीड़ा में "गृह-उपगृह गोट, पासों पर अदेखे लेख; कहाँ देना-पावना! कुछ बिन्दु हैं कुछ रेख" जैसे अरोपित वक्तव्य या सपाट उपदेश, या धृतराष्ट्र ने "व्यर्थ खाई आत्मज की हा हा", "सुन पड़ा पांचाली का गर्जन" जैसी रद्द हो ही जायगी।

—'लालघुआँ'

(१) सीताराम (२) राधारानी +इन्दिरा

मूल लेखक—स्व० बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय
सम्पादक—गोविन्द सिंह
प्रकाशक—हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१
मूल्य—प्रत्येक का एक रुपया पचास नये पैसे

प्रस्तुत महान् उपन्यासकार स्व० बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के तीन उपन्यासों का हिन्दी बाल-संस्करण, मूले बंगला से अनूदित है।

प्रथम उपन्यास 'सीताराम' की पृष्ठभूमि ऐतिहासिक है और दूसरे में 'राधारानी' और 'इन्दिरा' दो लघु उपन्यासों को एक ही पुस्तक में संकलित किया गया है।

बंकिम बाबू के उपन्यासों के बारे में कुछ विशेष कहना नहीं। इनमें अपने ढंग का रस मिलता है। फिर

संपादक महोदय का यह प्रयास कि "उच्च कोटि के साहित्य के प्रति, हमारे बच्चों में अभी से रुचि उत्पन्न हो" स्तुत्य ही कहा जायगा। पर उनका यह भय कि "किसी साहित्यिक कृति को बच्चों के अनुरूप बनाना एक दुष्कर कार्य है" पुस्तकों को पढ़ने के पश्चात् उचित प्रतीत होता है, क्योंकि बच्चों की पुस्तकें प्रकाशित करने में जिस सावधानी की आवश्यकता होती है—वह इनमें नहीं बरती गयी है और वे भद्दी भूलें जो इनमें जाने या अनजाने यथेष्ट मात्रा में वर्त्तमान हैं, बाल पाठकों की नींव को कमजोर बनाने में ही सहायक होंगी।

—विश्वनाथ पाण्डेय

दूब जनम आयी

लेखक—शिवसागर मिश्र
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली
मूल्य—चार रुपये : पृष्ठ-सं०—२११

'दूब जनम आयी' श्री शिवसागर मिश्र का नवीनतम उपन्यास है। इस उपन्यास का नायक जग्गू (जगनारायण) एक ऐसा व्यक्ति है जो साधारण होते हुए भी असाधारण है, प्रेमी होते हुए भी संन्यासी है, चाकर होते भी स्वाभिमानी है और दुनिया में रहते हुए भी इस दुनिया से बाहर का आदमी लगता है। यह उपन्यास एक व्यक्ति की ही नहीं, स्वतंत्रता के बाद के भारतीय ग्राम्य-परिवर्त्तन, प्रत्यावर्त्तन और सामाजिक घात-प्रतिघात की कहानी है। लेखक ने रोग को हमारे सामने ला रखा है, पर चूँकि लेखक एक डाक्टर नहीं, अतः वह समाज से यह उम्मीद करता है कि समाज इस रोग को जड़ से उखाड़ फेंकेगा।

लेखक की बड़ी पैनी दृष्टि है और उसने भारतीय ग्राम्य जीवन का वह दारुण चित्र प्रस्तुत किया है, जो यथार्थ होते हुए भी अनूठा और अज्ञात है। इस समस्या को सुलझाना अत्यावश्यक है, क्योंकि देश की समृद्धि, प्रगति और विकास ग्रामों पर ही निर्भर है।

उपन्यास के पात्र साधारण, सजीव और दिलचस्प हैं। घटनायें सहज हैं और भाषा प्रवाहमय है।

पगडंडी

लेखक—रवीन्द्रनाथ ठाकुर
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली
मूल्य— तीन रुपये : पृष्ठ-सं०—१५५

'पगडंडी' कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'लिपिका' का हिन्दी अनुवाद है। इसमें महान् लेखक की अद्भुत कला एवं विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। इस पुस्तक को कहानी, उपन्यास, कविता-संग्रह, गद्य-गीत, व्यक्तिगत निबंध सभी कुछ कहा जा सकता है, क्योंकि सभी कुछ इसमें वर्त्तमान है। पढ़ते-पढ़ते पाठक चिन्तन के ऐसे सूक्ष्म धरातल पर जा उतरता है, जहाँ जीवन के रहस्यों का मूक संकेत झलक जाता है। मन में एक विलक्षण प्रभाव का सृजन होने लगता है।

कविवर की विशेषता यह है कि उनका गद्य भी गीत-सा छलकता चलता है। 'पगडंडी' में लेखक का कवि, जीवनद्रष्टा, कलाकार मुखर हो उठा है।

रूपान्तरकार ने इसमें मूल बंगला का लयात्मक प्रभाव अक्षुण्ण बनाये रखने की अपने भरसक काफी कोशिश की है और वह कुछ अंशों में सफल भी रहा है। हाँ, वह अशुद्धियों एवं भूलों से वंचित नहीं रह पाया है।

छपाई साफ एवं प्रच्छदपट आकर्षक है।

—विचारकेतु

★

(पृष्ठ ३० का शेष)

पारिजात प्रकाशन पटना की ओर से श्री कामता सिंह 'काम' एम० एल० ए० ने प्रिंस होटल में की, एवं रात्रि-भोजन की व्यवस्था अजन्ता प्रेस प्रा० लि० की ओर से उनके कार्यालय में की गई।

१७ अप्रेल की रात्रि ८ बजे से ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना के प्रांगण में श्री केदारनाथ मिश्र 'प्रभात' की अध्यक्षता में अधिवेशन के अभिनन्दन-स्वरूप कविगोष्ठी का आयोजन हुआ, जिसमें बिहार के प्रमुखतम कवियों ने उत्साहपूर्वक भाग लिया।

★

—उत्तर प्रदेश राज्य सरकार के विकास आयुक्त द्वारा की गयी एक प्रेस विज्ञप्ति में कहा गया है कि चालू वर्ष में विभिन्न विकास खंडों के पुस्तकालयों के लिए पुस्तकें स्वीकृत करने की अन्तिम तिथि ३० जून, १९६१ नियत की गयी है। प्रकाशकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं से इस तिथि के बाद प्राप्त पुस्तकों पर विचार नहीं किया जायगा। विज्ञप्ति में कहा गया है कि ऐसी पुस्तकों को वरीयता दी जायगी जो नव-साक्षरों के लिए उपयोगी होंगी और ग्राम-जीवन से संबंधित विषयों, जैसे कृषि, सहकारिता, पशु-पालन, जन-स्वास्थ्य तथा समाज-शिक्षा पर लिखी गयी होंगी। इच्छुक पुस्तक-विक्रेताओं तथा प्रकाशकों को चाहिये कि ऐसी प्रत्येक पुस्तक की एक प्रति सहायक विकास आयुक्त (समाज शिक्षा) कार्यक्रम (१) अनुभाग, रायल होटल बिल्डिंग, लखनऊ के पास विचारार्थ भेज दें और पुस्तकों पर कमीशन अथवा छूट की अधिकतम दर भी सूचित कर दें।

—केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय भारत सरकार की ओर से भारतीय साहित्य और भाषाओं से संबंधित समस्याओं और गवेषणाओं का प्रतिनिधि त्रैमासिक "भाषा" का प्रकाशन जुलाई १९६१ से किया जा रहा है। प्रकाशनार्थ सामग्री भेजने का पता है: केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, १५/१६ फैज बाजार, दरियागंज, दिल्ली। इसमें प्रमुख स्तंभ होंगे: हिन्दी भाषा की समस्याएँ, हिन्दी भाषा और व्याकरण, भारतीय भाषाविद्: जीवन और कृतित्व, शब्द-चर्चा, लिप्यन्तर, अनुवाद, संपादक के नाम पत्र, पुस्तक-परिचय, केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय के कार्यों का विवरण, हिन्दी पाठ इत्यादि।

—जैन साहित्य सदन के अध्यक्ष पं० परमानन्द ने दिल्ली में आयोजित एक गोष्ठी में ३ मार्च १९६१ को बतलाया कि जैन साहित्य का आविर्भाव हिन्दी में १३वीं शताब्दी से हुआ है तथा अब तक दो हजार से अधिक जैन हिन्दी-ग्रंथों की रचना हुई है।

—दिल्ली में देवनागरी के माध्यम से तमिल, तेलुगु, कन्नड़ और मलयालम भाषाएँ सिखाने के लिए २८ अप्रैल ६१ को दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा (मदरास) द्वारा अपनी शाखा खोली गयी है।

—सोवियत विज्ञान अकादमी के एशियाई जनगण संस्थान ने प्रो० यूरी रोरिक लिखित "तिब्बत की लिखित साहित्यिक भाषा का इतिहास" प्रकाशित किया है।

—सुप्रसिद्ध मराठी कृति 'ज्ञानेश्वरी' का अब फ्रेंच भाषा में भी अनुवाद हो गया है।

—आयुर्वेद की प्रसिद्ध पुस्तक 'चरक संहिता' का हाल में ही सिंहली भाषा में अनुवाद प्रकाशित हुआ है। कोलम्बो में 'सुश्रुत संहिता' का भी सिंहली अनुवाद हो रहा है।

—बुनियादी और सांस्कृतिक साहित्य तैयार करने की तीसरी प्रतियोगिता में नवसाक्षरों और सामुदायिक विकास खण्डों के लिए पुस्तकें भेजने की आखिरी तिथि १५ सितम्बर १९६१ तक बढ़ा दी गयी है। पहले पुस्तकें भेजने की अन्तिम तारीख ३० जून, १९६१ रखी गयी थी।

सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों को एक-एक हजार रुपये के २५ पुरस्कार देने का निश्चय किया गया है। पुस्तकें इन विषयों पर लिखी होनी चाहिएँ—भारत के समाज-सुधारक, भारत के त्योहार, लोक-कथाएँ, भारतीय स्वाधीनता आन्दोलन के नेता, हमारे पड़ोसी, भारत के धर्म, तारे और नक्षत्र, भारत के महान वैज्ञानिक, देश के महान् लेखक, बच्चों के खेल, भारत की सांस्कृतिक परम्परा, भारतीय इतिहास के वीर नायक, देश के तीर्थ, हमारे आदिवासी, हमारा राष्ट्रगान, सामान्य रोगों की रोक-थाम, देश की दस्तकारियाँ, देश की नदियाँ, हमारे झंडे की कहानी, देश के प्रमुख नगर और भारत के लोकनृत्य।

उक्त विषयों की पुस्तकें या पांडुलिपियाँ किसी भी भारतीय भाषा में भेजी जा सकती हैं।

★

हमें यह कहना है

अ० भा० हिन्दी प्रकाशक संघ :
कुछ रचनात्मक बातें

पटने में अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का छठा अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में प्रस्तावों पर काफी बहस हुई और काफी लोग बोले। इससे सभा का वातावरण प्रतीत हुआ। मगर हमें आश्चर्य है कि संघ के विधान पर, सिवा सदस्य-शुल्क में रियायत के, कहीं किसी ने संशोधन-परिवर्धन का प्रस्ताव नहीं रखा। इसका दो अर्थ हो सकता है। पहला तो यह कि संघ के मौजूदा विधान से सभी प्रतिनिधि एकदम सहमत हैं, और दूसरा यह कि प्रतिनिधि न तो विधान को पढ़कर समझे हुए हैं और न समझने की इच्छा रखते हैं। हम इस प्रश्न को इस कारण उठा रहे हैं कि हमारे ही पत्र में कई प्रश्न पिछले अंकों में विभिन्न लेखकों ने संघ के विधान को लेकर प्रस्तुत किए थे। जैसे—विधान के अनुसार कार्यसमिति के एक-क्षेत्रीय बहुमत का हो जाने की गुंजाइश, पुस्तक-विक्रेताओं और प्रकाशकों का कोई अलग-अलग स्पष्टीकरण न होना, व्यावसायिक रीति-नीति— जैसे कमीशन-अनुबंध और तदनुसारी अनुशासन— का अधिकार कार्यसमिति के हाथ जाता है पर अनुशासन पर अपील करने का कोई स्तर नहीं होना, नीचे की समितियों से उत्तरोत्तर प्रतिनिधित्व का कोई संयम नहीं होना— आदि-आदि।

कलकत्ता और इस पटना-अधिवेशन तथा इसके पूर्व की कार्यवाहियों को देखते हुए हमें यह तो प्रतीत हुआ कि मुख्यतः सरकार और साधारणतः जन-संस्थाओं की टेन्डर और कमीशन की माँग के विरुद्ध यह संगठन अत्यन्त सचेष्ट है। यह सचेष्टता होनी भी चाहिए। किन्तु हमारा प्रश्न, इस अधिवेशन के उद्‌घाटनकर्त्ता महामहिम राज्यपाल बिहार डॉ० जाकिर हुसेन के वक्तव्य के समर्थन में, यह है कि निम्न-से-निम्न आर्थिक स्तर के अपने देशीय पाठकों के हाथ में उनकी इच्छित पुस्तकें पहुँचाने के लिए सस्ते संस्करण जारी करने के हित में संघ क्या सोचता है? यह सत्य है कि टेन्डर और कमीशन की प्रथा के खत्म होने पर यदि ईमानदारी रखी जाय तो उत्पादन काफी सस्ता हो सकता है। मगर ईमानदारी का प्रश्न बहुत ही गोल बात है, जिसकी परिभाषा और प्रणाली की निश्चिति होनी ही चाहिए। वर्ना टेन्डर और कमीशन की प्रथा की समाप्ति को अपने मुनाफा-मार्जिन बढ़ा लेने के लाभ में लोग परिवर्तित कर सकते हैं। इसलिए संघ को अभी से यह तय कर देना चाहिए कि छपाई-बँधाई की क्या दर, किस-किस तरह की चीजों पर होगी और तब कमीशन बाद देकर कम-से-कम और अधिक-से-अधिक क्या मुनाफा-मार्जिन रखा जायगा। यह निश्चय है कि यह मुनाफा-मार्जिन इतना ही होना चाहिए जितने से कि अपने यहाँ के साधारण आर्थिक स्तर के व्यक्ति को ग्राहक बनने में कोई अड़चन न हो। बिहार के मुद्रक-परिषद् ने छपाई के विभिन्न किस्मों की दरें बाँधी हैं। हम यद्यपि ग्राहक की स्थिति और मुनाफा-मार्जिन और माल के मूल्य के नाते उसे कुछ अधिक समझते हैं, फिर भी वह उचित प्रयास की ओर स्पष्टीकरण तो है ही। यदि हिन्दी प्रकाशक-संघ भी ऐसे ही दर बाँध सके तो निश्चित मुनाफा-मार्जिन होने के कारण कोई भी व्यवसायी छुपे तौर पर अतिरिक्त कमीशन जारी कर खपत में मनमाना नहीं कर सकेगा—संघ को यह अलग से सदस्यों के कमीशन-नियमन में अनुशासित होने का लाभ होगा। विदेशी व्यवसाय के मुकाबले ठहरने, अपने ग्राहकों की आर्थिक स्थिति का लिहाज कर उत्साहित करने और अपने व्यवसाय की नैतिकता को स्पष्ट रखने का यही तरीका है, जिसपर संघ को गम्भीरतापूर्वक निर्णय लेना चाहिए।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
,, आधा पृष्ठ	:	२०·००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

आपके पुस्तकालय के लिए कुछ बालोपयोगी अनमोल पुस्तकें

[विहार सरकार के शिक्षा-विभाग द्वारा प्रकाशित बाल-ग्रंथ-सूची में विशिष्ट रूप से स्वीकृत]

माध्यमिक (मिडल) विद्यालयों के लिए

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक	लेखक	मूल्य
१२	३०	मुर्दों के देश में	ललित मोहन	१·२५ (४)

प्राथमिक (प्राइमरी) विद्यालयों के लिए

पृष्ठ सं०	क्रम सं०	पुस्तक	लेखक	मूल्य
७५	२०६	अनोखी कहानियाँ	ललित मोहन	·६२ (४)
७७	२४२	चरवाहा और परी	श्रीवास्तव, हिमांशु	·६२ (४)
७८	२४६	दिलचस्प कहानियाँ	देवी, कृष्णा	·४० (४)

★

बच्चों को खेल-ही-खेल में अक्षराभ्यास करा देनेवाली अद्वितीय पोथी

नूतन वर्ण विन्यास

मूल्य : : ३७ नए पैसे

एजुकेशनल पब्लिशर्स, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४ मूल्य : प्रत्येक अंक

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत
हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

[व]र्ष ७ : अंक ११
[ज]ुलाई, १९६१

लेखकीय एवं आलोचकीय दायित्व : एक दृष्टि *

★

श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

श्री रणधीर सिन्हा के "बिहार के साहित्यकार : छायावादोत्तरकालीन" तथा मधुकर सिंह के "बिहार की नई साहित्योपलब्धियाँ"* शीर्षक आलोचनामूलक परिचयात्मक लेखों को पढ़ने के उपरान्त, लेखक-आलोचक के दायित्व के सम्बन्ध में दो शब्द कहना अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। आलोचक की दृष्टि से जब लेखक किसी घटना, परम्परा, प्रवृत्ति, कृति अथवा व्यक्ति को देखता और अपनी प्रतिक्रिया को, शब्दों एवं विशेषणों के व्यामोह तथा व्यक्तिगत पक्षपात के कारण, अभिव्यक्त्यात्मक अतिरंजना प्रदान करता है, तो उसके प्रति अनेक प्रकार की शंकाएँ होनी स्वाभाविक हैं। लेखक और आलोचक अपनी सीमाओं की परवाह न कर, अपनी सफाई पेश करने के क्रम में, उपहास के पात्र भी बन जा सकते हैं। लेखकों के परिचय अथवा नाम उपस्थित करने में समकालीनता के साथ पूरी ईमानदारी तभी बरती जा सकती है जबकि लेखक, आलोचक की शोधात्मक दृष्टि से सम्पन्न हो तथा कृतिकारों के व्यक्तित्व पर ध्यान नहीं देकर, उनकी कृतियों एवं रचनाओं को अपने दृष्टि-पथ में रखे। यह कितना कठिन कार्य है, इसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। राग-द्वेष के कारण लेखक और आलोचक गुलेरी प्रतिभाओं अथवा गौलेरीय हस्ताक्षरों को अधिक महत्त्व दे बैठें तो क्या आश्चर्य ! सम्भावनाओं की बात दूसरी है। साहित्य के क्षेत्र में भविष्यवाणी का कोई स्थान नहीं। यदि सम्भावनाओं एवं उगते सितारों के भविष्य के ऊपर अपना ध्यान केन्द्रित करें तो शायद ही किसी स्थान का कोई कोना होगा जहाँ कोई प्रतिभा नहीं मिले। साहित्य-क्षेत्र में साधना का महत्त्व होता है, प्रचार राजनीति का अनुचर है। साहित्य-क्षेत्र में लेखक और आलोचक जब प्रचार को अपना अस्त्र बना लेते हैं तो वह साहित्य का तो अशुभ करते ही हैं, अनेक लेखकों एवं बन्धुओं के साथ दुश्मनी भी मोल लेते हैं। अपने को विनम्र रूप में रखना, अपनी महत् साधना को लघु बतलाना तथा दूसरों की साधना में विश्वास करना एवं उनकी उपलब्धियों, स्थापनाओं को स्वीकृति-समादर प्रदान करना—ये मानवीय गुण लेखकों एवं आलोचकों के लिए कम स्पृहणीय नहीं। आंचलिक स्तर अथवा जिले के धरातल पर काम करने वाली उगती प्रतिभाओं को विशेष महत्त्व प्रदान करना, लेखक और आलोचक को जहाँ एक ओर मैत्री-यश का पुण्य-लाभ कराता है, वहाँ दूसरी ओर साहित्य के अनुसन्धायकों के लिए एक कठिन समस्या भी उपस्थित करता है। इस तथ्य को मित्र-लेखक और आलोचक क्या, एक भुक्तभोगी अनुसन्धायक ही जान सकता है। आज साहित्य के क्षेत्र में ऐसे अनेक नाम दिखाई पड़ते हैं जिनके सम्बन्ध में अनेक भ्रमात्मक बातें उलझन खड़ा करती हैं। कदाचित् ये बातें उन मित्र-लेखकों अथवा सहज यशोलिप्सु आलोचकों द्वारा लिखी गयी होंगी, जिन्हें इतिहास ने शरण देकर अपनी उदारता का परिचय दिया। अपरिचित हस्ताक्षरों को परिचितों की पंगत में ऊपर स्थान प्रदान करना—लेखक-आलोचक की सन्तुलित दृष्टि का, कदापि, परिचय नहीं देता। परिचयात्मक नाम उपस्थित करने में तो लेखक-आलोचक को और भी सावधान रहने की जरूरत पड़ती है। नये मूल्यों, नयी उपलब्धियों, नवीन स्थापत्य-धारणाओं पर विचार करते हुए इनकी पृष्ठभूमि को कैसे उपेक्षित किया जा सकता है ? जिन्होंने साहित्य की पर्याप्त सेवा की है, उनकी उपेक्षा कर, ऐसे अज्ञात हस्ताक्षरों को, जिन्होंने साहित्य की अभी कुछ भी सेवा नहीं की, ज्ञातों से ऊँचा स्थान देना अपने आप में एक समस्या है। अपनी सीमित जानकारी की दुहाई देकर किसी का गला काटना—यह सन्तुलित लेखक, विचारक अथवा आलोचक का काम नहीं और न अनावश्यक जोर देकर किसी परिचित को गलत ढंग से उपस्थित करना ही लेखक-आलोचक की सजगता का द्योतक है। कुत्सित स्वार्थ के लिए, लेखक की बहुमुखी प्रतिभा के किसी एक छोर को गलत ढंग से उपस्थित करना—यह लेखक और

आलोचक की ज्ञान-गरिमा का ही बोध उपस्थित करता है! साहित्य की व्यापक विधाओं, यथा कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि की गुणात्मक एवं रूपात्मक क्षमताओं को सीमित स्थान में समेटना मुश्किल है, पर यह तो मुश्किल नहीं है कि अनेक कृतियों एवं रचनाओं के लेखकों को कम-से-कम ध्यान में रखें। यदि लेखक अथवा आलोचक परिचयात्मक लेख प्रस्तुत करता है, तो उससे यह आशा कैसे की जा सकती है कि अनेक सर्व-परिचित अथवा सर्वश्रुत प्रतिभाओं को वह वृष्टि-छाया (rain-shadow) में डाल दे।

लेखक एवं आलोचक के दायित्व पर विचार करते हुए विख्यात आलोचक आई० ए० रिचार्ड्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "साहित्यिक समालोचना के सिद्धान्त" (Principles of Literary Criticism) में तीन बातों का उल्लेख किया है, वे इस प्रकार हैं :

He (the writer and critic) must be an adept at experiencing without accenticities, the state of mind relevent to the work of art he is judging.

Secondly, he must be able to distinguish, experiences from one another as regards their less superficial features.

Thirdly he must be a sound judge of values.

अर्थात् लेखक और आलोचक का ध्यान राग-द्वेष से पृथक्, कृति पर केन्द्रित रहना चाहिए, जिसके बारे में वह कुछ कह रहा हो अथवा कहता हो; बाहरी चाकचिक्य में न पड़कर उसमें वैचारिक क्षमता होनी चाहिए; साथ ही उसे मूल्यों का पर्याप्त बोध होना चाहिए।

नये लेखक और आलोचक यदि आई० ए० रिचार्ड्स की इन बातों का मनन करें तो यह समझते उन्हें देर नहीं लगेगी कि लेखक और आलोचक का काम तलवार की धार पर चलने से कम कठिन नहीं है।

जीवित लेखकों अथवा कृतिकारों के सम्बन्ध में कुछ कहना तो क्या, नाम भी उपस्थित करना बहुत दायित्व का काम है। हमारे आचार्यों ने तो "जीवितकवेराशयो न वर्णनीयः" कहकर, एक प्रकार से इसे मना ही किया है। हम यदि उन आचार्यों पर ध्यान न देकर, अपनी बोधात्मक क्षमता पर विश्वास कर, जीवित लेखकों अथवा कृतिकारों का उल्लेख करें तो उनकी उपलब्धियों पर ही विशेष ध्यान रखें न कि उनकी मित्रता एवं अपने भावी स्वार्थ की चिन्ता पर। साहित्य-क्षेत्र में संकीर्णता, हठवादिता, अहम्मन्यता एवं गुटवादिता से बचने की चेष्टा सर्वत्र श्रेयस्कर है।

आज के लेखक और आलोचक शोधात्मक शैली से घृणा करते हैं और परिचयात्मक शैली के व्याज से, प्रायः कुछ अपने आलोचकीय अथवा समीक्षकीय विचारों का प्रकाशन करते हैं। फलतः, उनकी शैली न तो शोधात्मक हो पाती है, न परिचयात्मक; बल्कि प्रदर्शनात्मक होकर रह जाती है। प्रदर्शन की भावना की मूल प्रेरणा प्रायः आंचलिक गुटों अथवा जिलास्तरीय संकीर्ण संस्थाओं के कारण मिलती है। कुछ लोगों के विचार इसके प्रतिकूल हो सकते हैं और वे कहते हैं 'दिशाबोध उपस्थित करने एवं अपनी कुछ मित्र-प्रतिभाओं को खराद पर चढ़ाने के लिए गुटवादिता आवश्यक है' पर इससे सबसे बड़ा खतरा यह रहता है कि दूसरे स्थान की प्रतिभाओं को या तो तिरस्कार मिलता है अथवा गलत प्रतिनिधित्व होता है। इससे साहित्य का पुनीत क्षेत्र कलुषित होता है। किसी अंचल-विशेष, जिला अथवा प्रान्त-विशेष की साहित्यिक उपलब्धियों पर, सामान्य रूप से विचार उपस्थित करना जितना ही खतरे से खाली है, साहित्यिक उपलब्धियों की प्रामाणिक नवीन प्रतिभाओं का नाम उपस्थित करना उतना ही खतरों से भरा-पूरा। इससे तो अच्छा है, नवीन प्रतिभाओं के नाम पर उनकी प्रकाशित-अप्रकाशित कृतियों एवं रचनाओं की तालिका उपस्थित कर दी जाए। नवीन प्रतिभाओं की विज्ञापनबाजी के तौर पर, उनका गलत प्रतिनिधित्व नहीं किया जाए।

अपने कथन के स्पष्टीकरण के लिए, अन्त में, मैं कुछेक पंक्तियाँ विनम्रता-पूर्वक निवेदन करना चाहूँगा। मधुकर सिंह ने अपने लेख में रणधीर सिन्हा के साहित्य-बोध का धरातल कदाचित् सीमित माना है। यह अनेक दृष्टियों से उचित नहीं प्रतीत होता, जबकि रणधीर सिन्हा

के लेख में अनेक नामों के छूटने के बाद भी एक मर्यादा कायम रही है। मधुकर सिंह ने साहित्य की अभी जो कुछ थोड़ी-सी सेवा की है, इससे नये कथाकारों में वे गिने जाने योग्य हैं; अतएव रणधीर सिनहा को मधुकर सिंह और बिहार की अन्य प्रतिभाओं के रूप में प्रो० जगदीश पाण्डेय, नेमिचन्द्र शास्त्री, बनारसी प्रसाद भोजपुरी, मनमोहिनी कान्त सिनहा 'कान्त' जैसे नामों का उल्लेख करना चाहिए था। प्रो० रामेश्वरनाथ तिवारी केवल उल्लेख के ही योग्य नहीं, चर्चायोग्य भी हैं। प्रो० जितराम पाठक और प्रो० नागेश्वर लाल भी उल्लेख्य हैं। वास्तव में, मधुकर सिंह ने भावुकतावश या पता नहीं क्यों, रणधीर सिनहा की साहित्यिक सेवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखा है, जबकि रणधीर सिनहा एक परिचित और प्रतिभाशाली हस्ताक्षर हैं। मेरा अनुमान है, बिहार की दस नई प्रतिभाओं में रणधीर सिनहा की गिनती होनी चाहिए—कृतियों एवं रचनाओं के प्रकाशन की दृष्टि से भी, सेवाओं की दृष्टि से भी। उन्हें थोड़ा-सा और संयमित होकर, बिहार की प्रतिभाओं के बारे में सोचना चाहिए था, कदाचित् शीघ्रता के कारण कुछ नाम अनायास स्मृति-पट से उतर गये। काश, वे मैत्री-यश को अधिक महत्त्व नहीं देते! यह खुशी की बात है, उन्होंने ब्रजकिशोर नारायण का नामोल्लेख करना गौरव समझा। मधुकर सिंह ने तो उनकी ऐसी उपेक्षा कर दी है कि लगता है जैसे उन्होंने इनका नाम जान-बूझकर छोड़ दिया हो। ब्रजकिशोर नारायण एक सर्वतोमुखी प्रतिभा के व्यक्ति हैं और उपन्यास-साहित्य, व्यंग्य-साहित्य, यात्रा-साहित्य में तो उनके टक्कर का दूसरा हस्ताक्षर बिहार में दिखाई ही नहीं पड़ता। विश्वनाथ प्रसाद 'शैदा' ने तो इनकी तुलना में बहुत ही कम लिखा है। प्रो० हरिमोहन झा विशुद्ध हास्य-लेखक की दृष्टि से शीर्षस्थ हैं। डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' के टक्कर की रोचक निबन्ध-लिखनेवाली बिहार में कोई दूसरी प्रतिभा दिखाई नहीं देती। मधुकर सिंह की दृष्टि से यह नाम कैसे छूट गया, नहीं मालूम। प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा जहाँ विख्यात आलोचक, कथाकार और निबन्धकार हैं वहाँ एक श्रेष्ठ नाटककार भी हैं। नाटक के क्षेत्र में उनकी उपलब्धि नगण्य नहीं।

रूपक भी लिखे हैं। प्रो० आनन्द नारायण शर्मा ने नयी प्रतिभाओं के बीच एक स्थान बना लिया है, रचनाओं के प्रकाशन की दृष्टि से ही नहीं, अपनी नई सूझ-बूझ और अछूते विषयों को छूने की दृष्टि से भी। प्रो० विद्यानाथ मिश्र साहित्यिक सेवाओं की दृष्टि से अनुपेक्षणीय हैं। प्रो० दीनानाथ शरण अपनी नई सूझ-बूझ के कारण आलोचना-जगत् में उल्लेखनीय हैं। मुंगेर की आंचलिक प्रतिभाओं में रौबिन शॉ 'पुष्प' और सूर्यनारायण 'सिद्धार्थ' हिन्दी साहित्य-जगत् के लिए अपरिचित और उपेक्षणीय नहीं। डॉ० हरिनन्दन पाण्डेय और सुरेन्द्र प्रसाद 'जमुआर' की सेवाओं से सारा पत्र-जगत् परिचित है।

---

१ स्वागत समिति, अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ, छठा अधिवेशन, पटना द्वारा प्रकाशित 'स्मृति-उपायन' का एक लेख।

* ज्ञानपीठ, पटना की पत्रिका 'पुस्तक जगत' के जून ६१ अंक में प्रकाशित "बिहार के साहित्यकार : छायावादोत्तर-कालीन" शीर्षक लेख की प्रतिक्रियास्वरूप यह लेख है।

पाठक के प्रश्न : बहिरंग और वस्तु

★

श्री सुकोमल चौधरी

किसी प्रश्न का सही उत्तर पाने के लिए प्रश्न को भी सही तौर पर उपस्थित करना पड़ता है ; क्योंकि हर-किसी प्रश्न का उत्तर देने की योग्यता नहीं हुआ करती, और बे-ठीक प्रश्नों का उत्तर भी बे-ठीक हुआ करता है। गत २१ अगस्त के 'साहित्य-जगत' में ज्योतिर्मय वसु राय के द्वारा पैदा किए हुए प्रश्न को लेकर भी एक ऐसी ही अड़चन है। फर्म पहले होता है या कन्टेन्ट, भाववस्तु बड़ी होती है या बहिरंग—इस प्रश्न को इस रूप में उपस्थित करना ही उनकी बड़ी भूल हुई है। फर्म और कन्टेन्ट का मिलन ही शिल्प होता है। विज्ञान की समर्थता के नाते परमाणुओं तक को वियुक्त करना संभव होने के बावजूद, फर्म एवं कन्टेन्ट को विच्छिन्न करना आज तक असम्भव ही है। जिस प्रकार भाषा के बिना भावना संभव नहीं होती उसी प्रकार भाव के बिना भाषा भी असंभव ही हुआ करती है।

भाव को स्पष्ट करने में ही भाषा की सार्थकता है। कन्टेन्ट को रूप देने के लिए ही फर्म है। कन्टेन्ट को धारण करके ही फर्म का लक्षण-शरीर बनता है। जिस फर्म में जिस कन्टेन्ट को सबसे अच्छी तरह प्रकाशित किया जाता है, उस कन्टेन्ट के विषय में वही फर्म सबसे सुचारु कहा जाता है। उपन्यासों की गठन-रीति की प्रचलित धारणाओं के साथ तालसताय के 'वार एंड पीस' के स्थापत्य-कौशल की तुलना करने पर, मेल से अधिक बे-मेल ही नजरों में पड़ेगा। अनेक एकचक्षु समालोचकों ने, इसी कारण, 'वार एंड पीस' को गठन-शिल्प के नाते शिथिल कहकर तिरस्कृत किया है। यह सच भी है, क्योंकि नितान्त कथा के नाते विचार करने पर 'वार एंड पीस' में ऐसी बहुतेरी चीजें हैं, जिन्हें फालतू समझा जा सकता है। किन्तु इन सब तथाकथित अप्रयोजनीय वस्तुओं को बाद देने पर 'वार एंड पीस' फिर 'वार एंड पीस' नहीं रहता। केवल एक निठल्ली कहानी तालसताय नहीं कहना चाहते थे, वे चाहते थे एक मानव-जीवन का महाकाव्य कहना। इसी प्रयोजन के नाते ही, उन्हें प्रचलित फर्म की शृंखला तोड़नी पड़ी थी। और, जिस कारण और जिसके [illegible] वे भाववस्तु को सार्थकता के बतौर प्रकाशित कर सके थे, उसी फर्म के विचार के नाते ही, 'वार एंड पीस' उनकी सार्थक कृति होती है।

हाँ, यह सही है कि फर्म एवं कन्टेन्ट का पार्वती-परमेश्वर जैसा मिलन सुलभ नहीं हुआ करता। भाववस्तु अपेक्षाकृत दुर्बल है, किन्तु प्रकाश-भंगी में उत्तेजन है; अथवा भाववस्तु महत् है, किन्तु प्रकाश-भंगी दुर्बल है—ऐसी स्थिति हमेशा देखी जाती है। ज्योतिर्मय बाबू का प्रश्न यदि यह हो कि इन दो प्रकार के अतिनिहित शिल्पों में कौन श्रेय या श्रेयष्य है, तो वैसा होने पर, मैं कहूँगा कि नन्दन-तत्त्व के नाते दोनों में से कोई भी शिल्प उत्तीर्णता का नम्बर पाने का पूरा अधिकारी नहीं है।

फर्म एवं कन्टेन्ट का अन्य-निरपेक्ष अस्तित्व असंभव होने पर भी तुलना-मूलक विचार में कन्टेन्ट का गुरुत्व ही यत्किंचित् अधिक और संज्ञानुसारी ही होता है। समालोचकों का कहना है कि फर्म के नाते 'मादाम वावेरी' अनुपम है। किन्तु, फिर भी 'मादाम वावेरी' का स्थान 'वार एंड पीस' के बहुत बाद ही दिया जा सकता है। क्योंकि 'वार एंड पीस' में जीवन-जिज्ञासा की जो गहराई और विस्तार है। 'मादाम वावेरी' में वह नहीं है। इसी नाते भाववस्तु की अपेक्षा गुरुत्व अस्वीकार्य होता है। कहानी बुनने में निपुण होने पर भी माम ओछे लेखक हैं, क्योंकि वे जीवन-बोध के विषय में उतने ही दीन हैं।

ज्योतिर्मय बाबू ने प्रश्न पैदा किया है कि भाववस्तु का, निरपेक्षभाव से, केवल लिपि-कुशलता के नाते ही किसी साहित्यकर्म में क्यों नहीं विचार होगा ? क्यों नहीं होगा ! सामयिक विचार के अनुसार साहित्यकर्म की यह दिशा तो हर समय प्राधान्य पा रही है। किन्तु साहित्य-क्षेत्र में भी एक प्रकार का प्राकृतिक निर्वाचन हुआ करता है। उस निर्वाचन के द्वारा देखा जाता है कि भाषा के नैपुण्य या बहिरंग के चाकचिक्य में ही जिस साहित्यकर्म का एकमात्र संबल निहित होता है, वह कालप्रभाव में पड़कर निश्चय ही निष्प्रभ हो जाता है और पश्चात् उत्तरोत्तर विस्मृति के तले में अन्तर्हित भी। मारसूमी के विचित्र वर्णा-

समारोह की हम क्यों नहीं तारीफ करते हैं? तब भी रूपहीना जूही ही हमारे मन को हरा-भरा रखती है।

ज्योतिर्मय बाबू ने अपने वक्तव्य के समर्थन में चित्रकला और संगीत के उदाहरण दिये हैं। संगीत और चित्रकला की भाषा अलग होती है, व्याकरण अलग होता है। इस बात को न समझकर साहित्य-विचार में इसका उदाहरण रखने पर भ्रान्ति होने की ही अधिक संभावना होती है। खैर, जो हो, बुची खेलने के नियम से ब्रिज खेलने के नियम को नहीं नापना चाहिए।

मैं चित्रकला की नजीर को लेकर इतनी विवेचना नहीं करता, यदि इस नजीर से यह प्रकट नहीं होता कि विषयवस्तु का गौरव मानने में ज्योतिर्मय बाबू जो मानते हैं, उसी में ही झंझट है। ईश्वर की आराधना या सदुपदेश देने के नाते ही कोई शिल्पकर्म की विषयवस्तु महत् नहीं कही जा सकती। मोपासाँ के 'वाल आफ फैट' की नायिका वारवनिता है, गोर्की की 'चेलकाश' कहानी का नायक चोर है, किन्तु केवल इसी कारण ही ये दोनों कहानी विषयवस्तु में दीन हैं—यह बात कोई नहीं कह सकेगा। घाट मठ के साहित्य में साधारणतः 'धर्म की जय' दिखाई देता है। किन्तु, इस नाते ही वह साहित्य-विषय-गौरव में सम्पन्न है—ऐसी बात केवल कोई उन्मत्त ही कह सकता है। शिल्प और साहित्य में कोई भी विषयवस्तु अग्राह्य नहीं हुआ करती। जिस किसी विषयवस्तु को लेकर जीवन की गहराई में गोता लगाकर शक्तिमान शिल्पी मणि-मुक्ता को लाया ही करते हैं। साहित्य में विषयवस्तु का गौरव जीवन-बोध की गहराई में ही है।

'दि लास्ट सपर' या 'मैडोना' के चित्र ल्युनार्दो द विंचि और रफेल के अलावा और बहुतेरों ने भी आँके हैं। किन्तु, उन बहुतेरों में से किसी ने भी वह स्थायी महत्त्व नहीं पाया। चित्र वास्तविकता की अविकल प्रतिलिपि नहीं हुआ करते। रंग और रेखा की भाषा में वास्तविकता को रूपान्तरित कर शिल्पी कुछ अपनी बात कहना चाहता है। वह जो कहता है, वही होती है चित्र की विषयवस्तु। ज्योतिर्मय बाबू ने गोथे के 'दि पोस्टमैन' और 'पोटेटो ईटर्स' चित्र का उल्लेख किया है। मैं एक भास्कर्य का दृष्टान्त देना चाहता हूँ। वह है राँदार की वृद्धा वारवनिता वाली मूर्त्ति। इस आपातदृष्टि में कुत्सित लग जाने वाली मूर्ति के बीच मानवात्मा की गहरी आर्त्तता व्यंजित हुई है, और इसलिए मूर्त्ति का विषय-गौरव दीन नहीं कहा जा सकता। स्टिल लाइफ में भी शिल्पी के जीवन-बोध का परिचय मिला करता है। इसी जीवन-बोध के आधार पर ही शिल्प की समीक्षा होती है। एक पंछी, एक फूल, या नारी के चेहरे के बीच भी शिल्पी की यह जीवन-दृष्टि अनुस्यूत होती है। वैसा न होने पर वह चित्र-शिल्प-पदवाच्य नहीं है।

संगीत के विषय में भी यही एक बात कही जा सकती है। संगीत की भाषा है सुर, हारमोनी (स्वरों का मेल), डिसकार्ड (स्वरों का विरोध), किन्तु प्रसंग नहीं। मार्ग-संगीत या यूरोपीय संगीत में प्रसंग की भूमिका यत्किंचित् ही होती है। प्रसंग नहीं ही रहे, किन्तु सुरों की मूर्च्छना के बीच ही जीवन का आनन्द या वेदना मूर्त्त ही उठती है। यही है संगीत की विषयवस्तु। इस आनन्द और वेदना की गभीरता में ही संगीत की विषयवस्तु का महत्त्व है। हल्के उन्मत्त स्वरों का 'टूँ-टाँ' समकाल का चित्त विजित कर सकता है, किन्तु महाकाल तो कठोर विचारक है।

नागरी लिपि में संयुक्त वर्णों का स्वरूप

★

श्री कृष्ण विकल

संयुक्त वर्णों का अस्तित्व

'संयुक्त वर्ण' से अभिप्राय है मिले हुए व्यंजन, अर्थात् पहला हल् व्यंजन और दूसरा स्वरपूर्ण व्यंजन, अथवा पहले एक से अधिक हल् व्यंजन और फिर एक स्वरपूर्ण व्यंजन। इसका आशय यह हुआ कि जहाँ हल् व्यंजन शब्दों के अंत में न आकर उनके पूर्व या मध्य में आते हैं, वहाँ वे अपने परवर्ती सस्वर व्यंजन के साथ मिलकर संयुक्त वर्ण कहलाते हैं। हल् व्यंजन स्वतन्त्र रूप से उच्चारित नहीं हो सकते और जब वे शब्द के अंत में न आकर, पूर्व या मध्य में आते हैं तो उन्हें किसी सस्वर व्यंजन का आश्रय लेना पड़ता है। फलतः वे आश्रयी अपने आश्रय के साथ मिलकर 'संयुक्त वर्ण' नाम से अभिहित होते हैं।

अब हम यों कह सकते हैं कि हल् व्यंजन की आवश्यकता के परिणाम-स्वरूप ही संयुक्त वर्ण अस्तित्व में आए हैं। अतः हमें नागरी लिपि में हल् व्यंजनों का स्वरूप समझने के लिए उनके हल् रूप तथा शब्द में उनकी लेखन-विधि के बारे में सम्यक् विधि से विचार करना होगा।

आकार की दृष्टि से व्यंजनों के प्रकार

नागरी में आकार की दृष्टि से व्यंजन दो प्रकार के होते हैं--(१) पाईवाले, और (२) बिना पाईवाले।

(१) पाईवाले व्यंजन-जिस व्यंजन में खड़ी सीधी रेखा अर्थात् 'आ' की मात्रा जैसी रेखा (ा) हो, उसे पाईवाला व्यंजन समझिए। जैसे—क, ख, ग, फ, य आदि।

पाईवाले व्यंजन भी दो प्रकार के होते हैं--(अ) वे व्यंजन जिनमें खड़ी रेखा अंत में हो, जैसे-ख, ग आदि। (आ) दूसरे प्रकार के वे व्यंजन जिनमें पाई की खड़ी रेखा के पश्चात् भी व्यंजन का कुछ आकार हो, इन्हें द्विमुखी व्यंजन भी कहते हैं, जैसे—क, झ, फ।

(२) बिना पाईवाले व्यंजन—जिस व्यंजन में कहीं भी खड़ी रेखा का आकार देखने में न आए, उसे बिना पाईवाला व्यंजन कहते हैं, जैसे ङ, ट, द, र आदि।

नीचे पाईवाले और बिना पाईवाले व्यंजनों की सूची दी जाती है—

प्रथम कोटि के व्यंजन		द्वितीय कोटि के व्यंजन
(अ)	(आ)	
ख, ग, घ, च, ज, झ, ञ	क	ङ, छ,
ण[1] (ण), त, थ, द, ध, न	झ[2]	ट, ठ, ड, ढ, द
प ब भ म,	फ	र, ह,
य, ल, व, श, ष, स		

हल् व्यंजनों को शब्दों में लिखने की विधि : नये सुधार

उपर्युक्त तालिका में प्रदर्शित प्रथम कोटि के पाईवाले एकमुखी व्यंजनों को हल् करते समय उनकी पाइयाँ काट दी जाती हैं।[3]

ख् = ख्‍—ख्याति	प् = प्‍—प्यास
ग् = ग्‍—योग्य	ब् = ब्‍—अब्ज
घ् = घ्‍—अर्घ्य	भ् = भ्‍—सभ्य
च् = च्‍—अच्छा	म् = म्‍—अम्बर
ज् = ज्‍—ज्वाला	य् = य्‍—न्याय्य
ञ् = ञ्‍—अञ्जन	ल् = ल्‍—अल्प
ण् = ण्‍—कण्ठ	व् = व्‍—व्यय
त् = त्‍—पत्थर	श् = श्‍—अवश्य
थ् = थ्‍—मिथ्या	स् = स्‍—स्थान
ध् = ध्‍—मध्य	ष = ष्‍—विष्णु
न् = न्‍—बन्दर	

१-२. 'ण' और 'झ' के ये रूप लिपि में से निकाल दिये गये हैं।

३. पाईवाले हल् व्यंजन जब शब्द में, अंत में लिखे जाते हैं, तब हल् व्यंजनों की पाइयाँ नहीं काटी जातीं। प्रत्युत वर्ण में हल् चिह्न (्) लगा दिया जाता है। जैसे-'सम्यक्', 'अर्थात्' आदि।

किंतु पाईवाले कुछ व्यंजन ऐसे हैं जिनको आजतक विकल्प से ऊपर-नीचे भी लिखा जाता रहा है, जैसे :—

पहला रूप दूसरा रूप	पहला रूप दूसरा रूप
क्क = क्क—चक्की	ल्ल = ल्ल—पल्ला
च्च = च्च—कच्चा	श्ल = श्ल—विश्लेषण
न्न = न्न—अन्न	ञ्च = ञ्च—अञ्चल

किंतु मुद्रण एवं टंकण की सुविधा को दृष्टि में रखते हुए शिक्षा-मंत्रालय भारत सरकार ने उक्त तालिकावाले व्यंजनों को ऊपर-नीचे न लिखने का ही निश्चय किया है। इसी प्रकार द्वितीय कोटि के व्यंजनों का हल् रूप प्रयोग करने का यह विधान था कि संयुक्ताक्षर में जब बिना पाईवाले व्यंजन को हल् लिखना होता था तो उस व्यंजन को ऊपर रखा जाता था और आगेवाला पूर्ण व्यंजन नीचे। जैसे :—

ङ्—ङ्क—अङ्क	द्—द्व—विद्वान
ड्—ड्र—ड्रामा	र्—र्ग—वर्ग
द्—द्र	ह्—ह्व—जिह्वा
ठ्—ठ्	

अब शिक्षा-मंत्रालय ने (प्रेस की) सुविधा की दृष्टि से ऊपर-नीचे के विधान का निषेध करते हुए 'ङ्', 'छ्', 'ट्', 'ठ्', 'ड्', 'ढ्', 'द्' और 'ह्' के संयुक्ताक्षर-प्रयोगों में हल् चिह्न देना निश्चित किया है। जैसे—अङ्क, उच्छ्वास, खट्वा, बुड्ढा, विद्वान, वाह्य आदि।

किंतु बिना पाईवाले व्यंजन 'र' के हल्-प्रयोगों में आश्रयी 'र' को अपने आगे पड़नेवाले आश्रय-वर्ण से पूर्व न लिख कर ऊपर-नीचे लिखने का विधान ही स्वीकार किया गया है, जोकि, वर्त्तमान स्थिति में व्यावहारिक दृष्टि से न्यायोचित ही है।

पूर्ववर्ती हल् व्यंजन के लिए 'र' एक समस्या : सामयिक हल

यहाँ तक तो ठीक है, किन्तु सस्वर 'र' जहाँ अपने

पूर्ववर्ती हल्-व्यंजन के साथ मिलकर आता है, वहाँ वह लगभग अपने आकार को ही खो बैठता है। जैसे :—

क्र, ग्र, घ्र, ज्र, त्र, थ्र, ध्र, प्र, फ्र, ब्र, भ्र, म्र, व्र, श्र, स्र, ह्र, छ्र, ट्र, ड्र आदि।

इन संयुक्त वर्णों को देखकर प्रायः जनसाधारण यह समझ बैठता है कि इनमें दिखाई देने वाले क्, ग्, घ् एवं छ, ट् आदि वर्ण सस्वर हैं और 'र' हल् है। वस्तुतः इन सब संयुक्ताक्षरों में 'र' सस्वर है। 'र' के बदले हुए ये आकार लिपि में एक बहुत बड़ी भ्रान्ति फैलाने के उत्तरदायी हैं। और साथ ही, देखिए, 'र' के इस स्वरूप को यथापूर्व निभाने में मुद्रण की कितनी बड़ी कठिनाई जैसी-की-तैसी रह जायगी। ऐसी स्थिति में सस्वर 'र' के साथ आनेवाले सभी व्यंजनों को पृथक्-पृथक् ढालना पड़ता है। फलतः उक्त संयुक्ताक्षरों से कम्पोजिटरों के केस भर जाते हैं और वे क्षिप्र गति से काम नहीं कर सकते। रोमन

लिपि के केसों में अपेक्षाकृत बहुत कम खाने होते हैं। यही कारण है कि अंग्रेजी में कम्पोजिंग आशुगति से होता है।

'क्र', 'प्र', 'व्र' आदि रूपों में प्रेसवालों को एक बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। जब उनके पास ये संयुक्ताक्षर समाप्त हो जाते हैं, तो वे 'टर्न-अप' लगा कर टाइप-फाउंडरी का मुँह ताकते रहते हैं। फलतः एक छोटी-सी बात से उनकी गाड़ी रुक जाती है।

हमें हिन्दी को अधिक व्यावहारिक बनाना है, तो इसका कोई संगत हल ढूँढना होगा। अधिक नहीं तो कम-से-कम 'ऋ' की मात्रा (ृ) की तरह, पूर्ववर्ती हल् व्यंजन के आश्रयदाता 'र' का भी स्वतन्त्र चिह्न निश्चित किया जा सके, तो अधिक व्यावहारिक होगा। एक सुझाव यह है कि 'र' का बदला रूप लगभग पहले जैसा रखा जाए। केवल उसके आड़ेपन को थोड़ा कम करके व्यंजनों में पृथक् लगाया जाए, जैसे--'क्रम'। दूसरी तरह से ऐसे समझ लीजिए कि हल्-संकेत को उलटी दिशा दे दिया जाए—'क्रम'।

ऐसा करने पर केवल उकार या ऊकार वाले शब्दों में कठिनाई पड़ेगी। उसके लिए पूर्वाक्षर में मिलने वाले 'र' के रूप के साथ ह्रस्व-दीर्घ उकार की मात्रा के रूप बनाए रखे जा सकते हैं, जिससे 'ब्रुश', 'प्रूफरीडर' आदि शब्द लिखने में कोई कठिनाई नहीं होगी।

★

रूसी तंत्र : एक राजनीति-समीक्षक पुस्तक

★

श्री सौदागर

सभी देशों में सभी राजनीतिकों का भविष्य कमोवेश अनिश्चित हुआ करता है। किन्तु सोवियत नेताओं का केवल भविष्य ही अनिश्चित नहीं होता बल्कि अतीत भी अनिश्चित हो जाया करता है। इसका कारण है कि सोवियत यूनियन का अतीत लगातार बनता रहता है, और वहाँ अतीत वर्त्तमान से निरपेक्ष नहीं, बल्कि सापेक्ष होता है; अर्थात् वर्त्तमान ही अतीत का नियामक होता है। वहाँ के क्षमतासीन अपने शैशव में ही अपने असाधारणत्व का परिचय देते हैं; भले ही बचपन में इस असाधारणत्व का व्यतिक्रम हो किन्तु जीवनी में तो वह व्यतिक्रम होता ही नहीं। इसके बाद, उसी क्षमताशाली नेता की पदच्युति होने पर, उसका अतीत भी उल्लेख के अयोग्य हो उठता है। अर्थात् सोवियत जीवनीकार और इतिहास-लेखक अतीत को अपरिवर्त्तनीय नहीं माना करते हैं, अतीत को वे वर्त्तमान की इच्छा पर गढ़ते हैं। लेखक के नाते वे पश्चाद्गति पर विश्वास करने वाले होते हैं; उनकी यात्रा वर्त्तमान से अतीत की ओर होती है, अतीत से वर्त्तमान की ओर नहीं। उनके नजरिए से अतीत वर्त्तमान का अनुगामी होता है; और इसी शर्त्त पर उन्हें सोवियत यूनियन के इतिहासकार या जीवनी-लेखक का पद प्राप्त होता है।

सोवियत की सरकारी पुस्तकें या नत्थियाँ पढ़ने पर, अतीत को वर्त्तमान की गर्दा-मिट्टी से भरने की इस चेष्टा के अनेकानेक प्रमाण मिलेंगे। स्तालिन-युग में रूस, विप्लव एवं कम्यूनिस्ट पार्टी के इतिहास के मामले में, किस प्रकार सरकारी प्रचारणों के द्वारा विकृत हुआ, वह किसी के लिए अनजाना नहीं है। क्रुश्चेव के युग में भी इस अवस्था में कोई परिवर्त्तन नहीं हुआ। हंगेरियन लेखक जार्ज पालोचिहरबाथ ने अपनी हाल की पुस्तक 'क्रुश्चेव : दि रोड टू पावर' में इस विषय के कई उदाहरण दिए हैं। बुलगेनिन-क्रुश्चेव की भारत-यात्रा के कुछ पहले सोवियत यूनियन की कई सौ पुस्तकें नष्ट कर दी गईं थीं और सोवियत एनसाइक्लोपीडिया के कई-एक वाल्यूम नए सिरे से लिखाए गए थे, क्योंकि इन ग्रंथों में प्रकाशित विचारों में भारत के विषय में उस नीति का विरोध था, जिसे कि तब सोवियत सरकार अपनाने जा रही थी। इसी प्रकार मेलनकोव की पदच्युति के बाद सोवियत एनसाइक्लोपीडिया के एक वाल्यूम को समाप्त कर नए सिरे से लिखने की जरूरत पड़ी—उसका कारण था, मेलनकोव को ओछा व्यक्ति सिद्ध करना और उसकी जीवन-विषयक चर्चा को १०८ लाइन से घटाकर ५० लाइनों के संक्षेप में ला रखना। इस ग्रंथ के पिछले संस्करण में मेलनकोव के विषय में पहले यह कहा गया था कि उसके बाप सरकारी कर्मचारी थे, किन्तु इस संस्करण में कहा गया कि उसके बाप सामान्य कर्मचारी (पेटी आफिसियल) थे। बेरिया के पतन के बाद भी एनसाइक्लोपीडिया के एक खंड का नया संस्करण करना पड़ा था और उसमें बेरिया की जगह बेरिंग जाति की तिमि मछली का चित्र दिया गया। सोवियत एनसाइक्लोपीडिया का जो अंतिम संस्करण निकल आया है, उसमें बुलगानिन के प्रधानमंत्रित्व की कोई चर्चा नहीं है और ऐसा लगता है कि बाद के संस्करण और संबंधित खंड में मेलनकोव की चर्चा भी गायब कर दी जायगी। इस अनुमान के सच होने पर, सोवियत संस्करण के एन-साइक्लोपीडिया के अनुसार, क्रुश्चेव विप्लवोत्तर रसिया के तीसरे प्रधानमंत्री सिद्ध हो जायेंगे।

इसी कारण से, दूसरे देशों की तुलना में, सोवियत के संबंध में तथ्यों का अनुसंधान करना कठिनतर कार्य है। सृष्ट सत्य के झाड़-झंखाड़ को टाल कर तथ्य तक पहुँचना किसी के लिए संभव होगा कि नहीं, यह संदेह का विषय है। पालोचिहरबाथ की क्रुश्चेव-जीवनी पढ़ने के समय भी इस बात को मन में रखना चाहिए। इस बात को लेखक ने भी खुद स्वीकार किया है। पुस्तक के प्रारंभ में ही उसने कहा है कि क्रुश्चेव का अतीत आज भी अगठित ही है। अर्थात्, सोवियत राजनीति में उसके प्रभाव की वृद्धि के साथ-ही-साथ उसका अतीत भी उसी तेजी से परिवर्तित होता जा रहा है और वह जितने दिन बचा रहेगा उतने दिन तक यह परिवर्त्तन भी अव्याहत

रहेगा। अतएव, किसी एक विशेष पुस्तक या विशेष समय की नत्थी को पढ़ने से ही क्रुश्चेव की जीवनी के विषय में जान सकना यथेष्ट नहीं है; एकमात्र तुलनात्मक विचार से ही तथ्य का अनुमान संभव हो सकेगा। पालोचिहरबाथ रूसी भाषा का पंडित है; सोवियत यूनियन के विगत पचास वर्षों में, अर्थात् क्रुश्चेव के पार्टी-जीवन से लेकर आज तक प्रकाशित सरकारी नत्थियों को मथकर उसने क्रुश्चेव की जीवनी लिखी है। उसके सिद्धान्त के संबंध में कुछ वितर्क किया जा सकता है, किन्तु उसके सूत्र तो तर्कातीत हैं ही।

सोवियत यूनियन की कम्युनिस्ट पार्टी के सचिव-पद को पाने तक क्रुश्चेव के विषय में पालोचिहरबाथ ने जो लिखा है, उसमें कोई विशेष बात नहीं है। अपने को आविष्कृत करने वाले कागनोविच के क्रम में वह स्तालिन का आस्थाभाजन होता है। यह सच है कि स्तालिन किसी का भी अधिक दिन तक विश्वास नहीं करता था और यह अविश्वास वाला दुर्भाग्य क्रुश्चेव के जीवन में भी एक बार घनीभूत हो पड़ा था। यदि स्तालिन और कुछ दिन जीवित रहता तो क्रुश्चेव और अन्यान्य सोवियत नेताओं का ही जीवन विपन्न हो जाता—इसमें तनिक संदेह नहीं है। यूक्रेनी कम्युनिस्ट पार्टी से क्रुश्चेव के भक्तों का अपसारण आरंभ हो चुका था और सभी का यह अन्दाजा था कि उस बार क्रुश्चेव के अपसारण का नंबर है।

इस तथ्य का बहुतेरा हिस्सा क्रुश्चेव ने स्वयं सोवियत कम्युनिस्ट पार्टी की बीसवीं कांग्रेस के गुप्त अधिवेशन में अपने विख्यात भाषण में व्यक्त किया है। उस भाषण के फलस्वरूप एक धारणा उत्पन्न हुई है कि क्रुश्चेव स्तालिन-नीति का विरोधी है और उसके शासन-तंत्र में रूस में स्टेट टेररिज्म की पुनः प्रतिष्ठा की आशंका नहीं होने वाली है। किन्तु पालोचिहरबाथ इससे अलग ही धारणा रखता है। उसका कहना है कि वह वक्तृता क्रुश्चेव की नहीं है। उसका कहना है कि वह वक्तृता लेनिन की लिखी हुई है। सोवियत की सरकारी नत्थियों में से इसे उद्धृत किया गया है, क्योंकि बिना किसी पूर्व-प्रस्तुति के किसी के लिए ऐसी वक्तृता देना संभव नहीं है। किन्तु, उक्त वक्तृता के विषय में प्रचार तो यह है कि क्रुश्चेव ने बिना किसी प्रस्तुति के ही वह वक्तृता दी थी। उसकी दूसरी युक्ति है कि उक्त वक्तृता की भाषा एकदम क्रुश्चेव की भाषा नहीं है; कई एक अंश के सिवा उस वक्तृता की भाषा अत्यन्त मार्जित है। पालोचिहरबाथ यह भी सोचता है कि यह वक्तृता वगैरह मैलनकोव-मिकोयान के आदेशक्रम से तैयार की गई एवं इसकी भाषा भी उन्हीं की है। सोवियत यूनियन में स्तालिनिज्म-विरोधी दल के नेता के नाते ये दोनों ही क्रुश्चेव के अनजाने ही इस वक्तृता को तैयार कर चुके थे और वे तय कर चुके थे कि यदि क्रुश्चेव इसके लिए तैयार नहीं हुआ तो वे इस वक्तृता को कम्युनिस्ट पार्टी के उक्त काँग्रेस में स्वयं वितरित करेंगे। क्रुश्चेव पहले खुद उस वक्तृता को पढ़ने के लिए राजी नहीं हुआ, किन्तु बाद में काँग्रेस में स्तालिन-विरोधी लोगों की तादाद को अधिक समझ कर, अपने को पार्टी-नेतृत्व में स्थित रखने के लिए वह मेलनकोव-मिकोयान के प्रस्ताव पर राजी हुआ। उसकी शर्त थी कि कई जगह वह वक्तृता में हेरफेर करेगा। इसी परिवर्त्तन के फलस्वरूप वक्तृता के कई अंशों में क्रुश्चेव की भाषा झलक दे जाती है।

क्रुश्चेव की इस शर्त्त का एक कारण है। पहला कारण तो यह है कि वह खुद को बचा लेना चाहता था, और दूसरा कारण यह है कि वह अपने प्रधान प्रतिद्वन्द्वी मेलनकोव को स्तालिन का दाहिना हाथ कह कर प्रचारित करना चाहता था। लेकिन, अन्त में किस कारण से उसने मिकोयान-मेलनकोव का मार्ग पकड़ा और किस कारण से मिकोयान ने क्रुश्चेव की शर्त्त मान ली, उसके संबंध में पालोचिहरबाथ मौन है। मेलनकोव के साथ क्रुश्चेव का यह विरोध अब भी शान्त नहीं हुआ है। असल में यह विरोध है पार्टी और सरकार में, नीतिघोषकों और विशेषज्ञों में। मेलनकोव और क्रुश्चेव के द्वन्द्व में क्रुश्चेव का जयलाभ करना, सोवियत यूनियन में पार्टी-प्राधान्य का पुनः सूचक है। क्रुश्चेव के इस विजय के लिए जेनरल जुकोव, अर्थात् रेड आर्मी ही अत्यधिक दायी है। किन्तु, जेनरल जुकोव भी विशेषज्ञ के पर्याय में ही आता है। इसीलिए बाद वाले अध्याय में क्रुश्चेव ने उसे अपसारित कर ही दिया। मिकोयान को भी शायद इस बीच विदा की हवा खानी पड़ती; किन्तु उस कांड में

विघ्नस्वरूप उपस्थित हो गए हैं क्रुश्चेव के अनुगत पार्टी के सदस्य ही। एक बार स्वाधीनता के स्वाद को पाने के बाद ये सदस्य और किसी को निरंकुश नेतृत्व-भोग करने का अधिकार देने को तैयार नहीं हैं। क्रुश्चेव यदि निरंकुश अधिकार पाने की वैसी चेष्टा करे, तो दुबारा स्तालिनी शासन कायम होने के भय के नाते, पार्टी के सदस्यगण ही उसकी जगह मेलनकोव को प्रतिष्ठित करेंगे। इसीलिए क्रुश्चेव मेलनकोव को पदच्युत करने पर भी उसकी उदारनीति का पूरे तौर पर वर्जन नहीं कर सका है। पालोचिहरवाथ के विचार में क्रुश्चेव में दूसरा स्तालिन बनने की इच्छा तो है, किन्तु उसकी वह इच्छा पूरी होगी कि नहीं—यह एकमात्र भविष्य ही बता सकता है।

Khrushchev : The Road To Power —By George Paloezi-Harvath; Sacker & Warburg, London; Pp 304; 30s.

★

इस अपरिचित विवरण को, जो वन-पशुओं के समान वश में न आता था, मैंने ऐसा वश में कर लिया कि अब वाणियाँ मेरे विवरण का अनुकरण करेंगी।

—इब्ने खलदून (१३३२-१४०६ ई०) अरब-इतिहासकार और काल-मीमांसक

जड़ द्वारा चेतन को व्यक्त करना या अमूर्त्त द्वारा मूर्त्त को व्यक्त करना ही सौन्दर्य-शास्त्र का मूलमन्त्र है।

—हेगेल

गौरव ग्रन्थ

१. अमरुशतकम्—महाकवि अमरु

सम्पादक—श्री कृष्णदास
अनुवादक—श्री कमलेशदत्त त्रिपाठी

अमरुकृत सम्पूर्ण शृंगार-परक मुक्तकों का अभिनव संग्रह, ललित काव्यानुवाद, टीका एवं विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ। सर्वथा नवीन, मनोहारी, सचित्र, आकर्षक, अनुपम भेंट !

मूल्य : १० रुपये

२. मेघदूत—महाकवि कालिदास

अनुवादक—श्री नागार्जुन

कालिदास की अमर रचना मेघदूत का सानुवाद, नयनाभिराम, सचित्र परिवर्द्धित संस्करण। सौ पृष्ठों की पाण्डित्यपूर्ण भूमिका के साथ।

मूल्य : ७·५० नए पैसे

३. कुट्टनीमतम्—दामोदर गुप्त

अनुवादक—श्री जगन्नाथ पाठक

दामोदर गुप्त कृत 'एक वेश्या को वृद्धा कुटनी की राय।' इस शृंगारिक सन्दर्भ में कामशास्त्र, संगीत, नृत्य और अभिनय कला पर रोचक प्रबन्ध, काव्य ! मनोवैज्ञानिक सत्यों का अनुपम उद्घाटन।

मूल्य : ७·५० नए पैसे

न प्र..., इलाहाबाद—३

ई १९६.. प्रकाशित होनेवाली

पुस्तक...लिका

इस्लाम के सूफ़ी साधक

निकलसन कृत

'मिस्टिक्स आफ़ इस्लाम' का अविकल अनुवाद

अनुवादक—श्री नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

मूल्य : ४ रुपये

४. मधुमालती—मंझनकृत (राजसंस्करण)

सम्पादक—डॉ० माता प्रसाद गुप्त

सम्पूर्ण पाठान्तर, संशोधित मूल, विद्वत्तापूर्ण टीका और पाण्डित्यपूर्ण भूमिका के साथ। मूल्य : १५ रुपये

५. मधुमालती (सामान्य संस्करण)

सम्पादक—डॉ० माता प्रसाद गुप्त

संशोधित पाठ एवं सुललित टीका तथा सारगर्भित भूमिका के साथ।

मूल्य : १२ रुपये

६. मध्ययुगीन प्रेमाख्यान

रचयिता—डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय

मूलस्रोतों और सम्पूर्ण प्राप्त सामग्री के आधार पर रचित अनुशीलनपूर्ण, अनिवार्य शोध-ग्रंथ। मूल्य : १० रुपये

७. ज़िक्रे 'मीर'—महाकवि मीर की आत्मकथा

सम्पादक—श्री कृष्णदास

अनुवादक—श्री अजमल अजमली

महाकवि 'मीर' की आपबीती, उन्हीं की शोख, सरल, बोलती शैली में।

मूल्य : ४ रुपये

८. क़िस्सा चहार दर्वेश—मीर अम्मन

सम्पादक—डॉ० सैयद एजाज़ हुसैन

'दशकुमारचरित' की परम्परा में चार दर्वेश राजकुमारों की लोमहर्ष कथा।

मूल्य : ५ रुपये

उपन्यासमाला

१. तरहदार लौंडी

मूल्य : ५ रुपये

लेखक—मुंशी सज्जाद हुसैन

रूपान्तरकार—श्री शमीम हनफ़ी

२. जीने के लिये

मूल्य : ३·५० नए पैसे

लेखक—एमिल ज़ोला

'जेस्ट फार लाइफ़' का हिन्दी रूपान्तर।

३. पिशाच की प्यास

मूल्य : ५ रुपये

लेखक—ब्रैम स्टोकर

'ड्राकुला' का हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—श्री परमानन्द गौड़

४. बारहवीं रात

मूल्य : २ रुपये

शेक्सपियर कृत 'ट्वेल्थ नाइट' नाटक का रूपान्तर।

रूपान्तरकार—श्री कुलदीप कपूर

५. लिज़ा

मूल्य : २·५० नए पैसे

तुर्गनेव की अमर रचना का हिन्दी अनुवाद।

अनुवादक—श्री नेमिचन्द्र जैन

६. यामा—एक वेश्यालय

मूल्य : ३ रुपये

लेखक—कुप्रिन

रूपान्तरकार—श्री शिवप्रताप मिश्र

लो...ती

...इलाहाबाद-१

हुज़्ने अख़्तर

वाजिद अली शाह की आत्मकथा

मूल्य : २·५० न० पै०

तरु दत्त की जीवनी और रचना

★

श्री क्लारिस वादेर

[अगस्त, सन् १८७८, पेरिस]

१८७७ साल की २ फरवरी के दिन अपने प्रकाशक के मारफत कलकत्ते से जारी हुई एक चिट्ठी मुझे मिली। एक भारतीय तरुणी ने, मेरी 'La femme dans I' Inde antique' नामक पुस्तक का, "प्राचीन भारत की नारियाँ" नाम से अनुवाद करने की अनुमति चाही थी उस चिट्ठी में। उस पत्र के साथ एक पुस्तक थी, सुन्दर अंगरेजी कविता में अनूदित की हुई फ्रेंच कविता का संकलन : 'A Sheaf Gleaned in French Fields'। एक ही साथ मिली हुई इस चिट्ठी और पुस्तक की लेखिका की उम्र बहुत कच्ची थी, फिर भी उस बीच उसने इंगलैंड में और अपने देश में यथेष्ट ख्याति अर्जित कर ली थी। उसका नाम था तरु दत्त। कलकत्ते के एक ईसाई-परिवार की—माननीय मजिस्ट्रेट और मान्य विद्वान बाबू गोविनचन्द्र दत्त की—वह कन्या थी।

भारतवर्ष से आया हुआ यह पत्र ही तरु दत्त और मेरे बीच जान-पहचान का पहला सहारा हुआ। और वह संयोग भी नियति के विधानवश चट-पट छिन्न हो गया—इस प्रतिभाशालिनी की अकाल-मृत्यु के कारण। उसकी लिखी हुई वह और बादवाली चिट्ठियाँ (जिन्हें बाद में कलकत्ते से उसके पिता बाबू गोविनचन्द्र दत्त ने 'ए शीफ ग्लीन्ड इन फ्रेंच फील्ड्स' के परिवर्धित संस्करण के रूप में प्रकाशित किया), उसकी मृत्यु के बाद उसके पिता की मुझे लिखी गई शोकाच्छन्न चिट्ठियाँ और तरु दत्त की कविता-पुस्तक के नये संस्करण में संयोजित उसकी संक्षिप्त जीवनी से जो तथ्य मैंने पाये और उनकी सहायता से मेरे मन के चित्रपट पर एक सचमुच के असामान्य व्यक्तित्व की जो कई-एक रेखायें उभर आईं, उन्हीं कई-एक रेखाओं का पुनरुद्धार करना ही आज मेरा उद्देश्य है।

१८५६ साल के ४ मार्च के दिन कलकत्ते में तरु दत्त ने जन्म ग्रहण किया। १८६९ साल में वह परिवार समेत यूरोप आती है, जहाँ उसका [illegible] बीतता है। तब और उसकी बड़ी बहन अरु कई महीने फ्रांस के एक छात्रावास में रहती हैं। इसके बाद इंगलैंड जाकर कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी में 'महिलाओं के लिए निर्दिष्ट कोर्स' में वे उत्साहपूर्वक लगती हैं।

उसके बाद जब गोबिन बाबू सपरिवार कलकत्ता लौट आते हैं, तब वे तरु को प्राचीन भारतीय भाषा संस्कृत की दीक्षा देते हैं। अपनी बेटी के पाठ-सहचर के रूप में ही हम सर्वदा गोविन बाबू को पाते हैं। एक चमत्कारपूर्ण पारिवारिक चित्र में ही गोविन बाबू ने देखा कि अपने मानिकतला स्ट्रीट के पैतृक भवन में किस प्रकार घंटों-घंटों वे अपनी इस बेटी के साथ पढ़ने-लिखने में ही डूबे रहते हैं।

अपनी बेटी तरु के संबंध में गोबिन बाबू ने कहा है: "वह बहुत ही पढ़ सकती थी, और उतने ही झटपट पढ़ लेती थी; किन्तु पढ़ने के समय कोई भी दुर्बोध्य अंश समझे विना छोड़ सकना भी उसके लिए उतना ही असह्य था। अनेकानेक कोषों और अभिधानों को मथकर, शब्दों के अर्थों को निश्चयित कर, उसी समय उसे अपनी कॉपी में सप्रसंग लिख लेने पर ही उसे शान्ति मिलती थी। फलस्वरूप कठिन शब्दों या वाक्यों के अर्थ इतने सहजरूप में उसके में मन भर आया करते थे कि जब हम लोगों में शब्दों के अर्थ या तात्पर्य को लेकर कोई बखेड़ा खड़ा होता तो संस्कृत, फ्रेंच अथवा जर्मन के किसी भी प्रयोग या वाक्यांश के संबध में वही प्रत्येक दस बारों में कम-से-कम आठ बार विजयी हुआ करती थी। कई बार मुझमें ऐसी जिद आ जाया करती थी कि मैं कह उठता, 'अच्छा, बाजी बद ली जाय!' यह बाजी साधारणतया एक रुपये की बदी जाती थी। किन्तु, जब कोष-अभिधान आदि ग्रंथों को मथ कर अर्थ का सन्धान मिलता तो यह देखने में आता कि वही बाजी मार गई है। किन्तु, जब कभी वह हार जाया करती तो उसका चेहरा देखते ही बनता। सबसे पहले तो वह दिल खोलकर कुछ हँ

लेती और तब मुझ बूढ़े के गाल पर एक हलकी चपत लगाती तथा इसके साथ ही अपने प्रिय कवि बारेट ब्राउनिंग की कई पंक्तियाँ गाने लगती : "हाय प्रियतम ! उम्र में जो तुम बड़े हो, ज्ञान में जो तुम प्रवीण हो, और तुम, तुम जो हो पुरुष!'—और अन्य किसी प्रकार का परिहास भी कर बैठती।"

पाण्डित्य के आगे सर झुका देने के लिए तरु के पिता सदा प्रस्तुत थे, यहाँ तक कि अपनी कन्या के समक्ष भी उनके इस विनय में व्यतिक्रम नहीं होता था। इन सब बातों को उनसे बार-बार सुनकर मेरी आँखों में उनका सन्तान-गौरव से धन्य पितृरूप झलक-झलक उठता है।

तरु दत्त के पिता ने अपनी पुत्री को योरोपीय शिक्षा के साथ-साथ ही प्राचीन भारतीय भाषा में शिक्षित कर दिया था। यहीं हम देखते हैं कि भारत के ऊपर, ब्राह्मण और इसलाम धर्म के ऊपर ईसाई सभ्यता का प्रभाव कितना सुन्दर रहा। मोशियो गैरें साँ द तासी के विचार से: "भारतवर्ष में हिन्दू, मुसलमान और फारसी अपने खर्च से ही योरोपीय पद्धतियों वाले स्कूल खोलते हैं; केवल लड़कों के नहीं, बल्कि लड़कियों तक के। आज तक ऐसे ताज्जुब की बात और अधिक नहीं सुनी जा सकती।"

किन्तु तरु में इतिहास के प्रति कोई उतना आकर्षण नहीं था। एक दफा लार्ड एल० (लिटन ?) जब इन लोगों के कलकत्ते वाले घर में घूमते हुए पहुँचे, उस समय तरु के हाथ में एक उपन्यास देख कर, उसके हाथ से उसे लेकर, दोनों बहनों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा : "उपन्यास अधिक पढ़ना अच्छा नहीं है। इतिहास पढ़ना ही आवश्यक है।" तरु ने जवाब दिया, "लार्ड, उपन्यास ही हमें अधिक अच्छा लगता है।" "क्यों ?"—इस प्रश्न के उत्तर में सप्रतिभ भाव से हँसते हुए तरु ने उत्तर दिया कि : "क्योंकि उपन्यास हुआ सत्य, और इतिहास है कल्पित" ("Because novels are true, and histories are false")। इस प्रकार परिहास के बीच ही उसने व्यक्त कर दी एक सम्पूर्ण जाति की—काव्य-परायण हिन्दू जाति की—रुचि की दृष्टिभंगी, अर्थात् हम इतिहास नहीं चाहते, पुराण चाहते हैं।

प्राचीन संस्कृत कवियों के प्रति तरु में गहरी रुचि थी। मुझे लिखी गई अपनी एक फ्रेंच चिट्ठी में उसने कहा है : "मादमोयाजेल, आप नहीं जानते हैं कि मेरे स्वदेश, मेरे स्वदेशीयों के प्रति आपका अनुराग (उसकी साक्षी हैं आपकी पुस्तक, आपकी चिट्ठियाँ) किस तरह मुझे विचलित किये देता है। मैं दृप्तकंठ से कह सकती हूँ कि हमारे महाकाव्यों में जितने भी नारि-चरित्र हैं, प्रत्येक ही श्रद्धा के पात्र हैं, प्रत्येक ही हमारे हृदय की अमूल्य सम्पत्ति हैं। सीता से अधिक करुण, उससे अधिक प्रेममयी चरित्र हमें कोई और क्या दिखा सकेंगे ? मेरा तो विश्वास है कि नहीं। साँझ के समय जब हमारी माँ हमारे अंचल में प्रचलित गाने गाती है, तब हमारी दोनों आँखों में आँसू उमड़ आते हैं। दुबारा वनवास के समय सीता का विलाप, जब वह एकाकिनी वन-वन भटक रही रही थी दारुण निराशा और व्यथा में मुह्यमान होकर— वह दृश्य ऐसा हृदय-विदारक है कि आँखों से आँसू बहाए बिना उसे सुन सकना हमारे मन को किसी प्रकार सम्भव नहीं प्रतीत होता।" इस पत्र के साथ ही तरु ने संस्कृत की दो कविताओं का अंगरेजी अनुवाद भी मेरे पास भेजा था। लेखन के उस स्वल्प परिसर में मैंने जिस तेजस्विता का परिचय पाया था, वह मेरे लिए अविस्मरणीय ही है। वह अनुवाद था विष्णुपुराण की दो कहानी 'ध्रुव' और 'राजर्षि और मृग' का।

माँ के मुख से आजन्म प्राचीन कथायें सुनकर और पिता से संस्कृत की दीक्षा पाकर तरु दत्त के कंठ से भी क्या उसके अपने देश की ही वन्दना ध्वनित होगी ? भारत का दिगन्त-विस्तृत सौन्दर्य ही क्या उसकी विषय-वस्तु हो उठेगी—जहाँ गहन अरण्यों में अपनी गरिमा से विराजित अगण्य विटपियाँ हैं ? बीते जमाने के संस्कृत कवियों के समान वह भी क्या हरिणी की चंचल गति का ही अनुधावन करेगी, एकदृष्ट होकर ? और, विशाल वनानी के बीच फैले हुए न्यग्रोध के नीचे सुनती रहेगी क्या कोकिल की मधुर कूक ? नागिनी की हिंस्र टिटकार ? मृगेन्द्र का गर्जन ? बहुरंगी कमलों से शोभित सरोवर में

वह क्या केवल केलिमग्न मराल की ओर ही तकती रहेगी? वह क्या निदाघ के सूर्यताप से क्लिष्ट पर्वत-पर्वत पर तरंगिणी तटिनी की चंचल-चपल धारा का वर्णन करेगी, या उज्ज्वल नीलकान्त आलोक में स्नात चिरतुषारावृत हिमालय की हीरकच्छटा का?

नहीं। वाल्मीकि और व्यास की उल्लिखित दृश्यावलियों को अपने सामने रखकर भी यह भारतीय ईसाई तरुणी पलट कर खड़ी हो गई पाश्चात्य की ओर; जिधर प्राकृतिक आकर्षण बहुत कम है, किन्तु मनुष्य की बहार बहुत अधिक है। इसी से 'विदेशी तरुणी' के प्रति कवि शीलर की उक्ति को कुछ बदल कर उसने अपनी कविता-पुस्तक के अन्त में भी लिखा था। "जो फूल, जो फल मैं लाई हूँ; वे और एक देश के, और एक सूर्य-ज्योति के, और एक लास्यमयी प्रकृति के हृदय से चयन किये हुए हैं।"

Ich bringe, Blumen mit and friichte,
Gereift anf einer andern Flur,
In einen andern Sonnenlichte,
In einer gliicklichern Natur.

(शीलर की उक्ति में पहली पंक्ति थी : Sie brachte' Blumen…)

हमारे फ्रेंच कवियों के गीतों का अनुवाद करने में तरु बड़ा प्रेम पाती थी; किन्तु, इसके पहले ही कह चुका हूँ, यह भारतीय तरुणी हमारी पाश्चात्य सभ्यता में आकंठ मग्न थी, इसीलिए उसने इन गीतों का बंगला में अनुवाद न कर, अंगरेजी में किया। फलस्वरूप, मोशियो गैरेसाँ द तासी की स्वनामधन्य लेखनी के माध्यम से हमलोग भारतीय महिला कवियों की जो सूचना पाते हैं, उस तालिका में अपना योग न देकर तरु ने अपना आसन प्राप्त किया इंगलैंड के कवियों के बीच।

किन्तु, हमारे क्लासिकल कवियों की कविताओं का अनुवाद करना इस तरुणी कवयित्री का उद्देश्य नहीं था। सत्रहवीं शताब्दी के फ्रेंच कवियों की धारणा थी कि मननशीलता को भाव और आवेग से ऊँचे स्थान देना होगा। कविता के नाम पर वे समझते थे : एक टुकड़ा स्फटिक, जिसके साहाय्य से मनुष्य की चिन्तधारा स्वच्छन्द रूप में पढ़ी जा सके। यही कारण है कि इस शताब्दी के फ्रेंच लेखकगण इस तरुणी के चित्त का हरण नहीं कर सके। इसका कारण था कि जिस देश ने उसे जन्म दिया था, उस देश में कविता का अर्थ ही है : भाव, कल्पना, आवेग और अपने देश की प्रकृति के समान ही जो प्राचुर्यमंडित हो वह। तरु सचमुच जिनके प्रति आकृष्ट होती है, वे होते हैं उन्नीसवीं शताब्दी के कवि। उन्हीं के बीच वह खोज पाती है अपने देशवासियों का अन्वेष्टव्य : हृदय की प्रतिक्रिया का तीव्र नाटकीय प्रकाश, उपमा का यथेच्छ व्यवहार, वर्णों का विपुल समारोह। मोशियो विक्टर ह्यूगो के प्रति तरु का उच्छ्वास देखकर इसीलिये मुझे आश्चर्य नहीं होता। अपनी कविता-पुस्तक की प्रत्येक कविता के नीचे अपने दिये हुए मन्तव्य में इसीलिए वह उच्छ्वसित होकर कहती है : "एक पाद-टिप्पणी में, कई-एक छोटी पंक्तियों के आयत्त में विक्टर ह्यूगो के सम्बन्ध में मन्तव्य दे सकना सचमुच एक धृष्टता ही है। पृथिवी के सर्वश्रेष्ठ कवियों में उनका नाम अमर है। शेक्सपीयर, मिलटन, बायरन, गेटे, शीलर प्रभृति के साथ आस-पास ही उनका आसन कवियों के स्वर्ग में बहुत दिनों से प्रतिष्ठित है।"

यद्यपि तरु दत्त की सक्रिय कल्पनाशक्ति ने विक्टर ह्यूगो को लामार्तिन से बहुत ऊँचा रख छोड़ा था, फिर भी अपनी आध्यात्मिक सत्ता के चलते उसने स्वीकार कर लिया था कि 'मेदितासिय' और 'हारमनी' के कवि (लामार्तिन) का नैतिक महत्त्व है : "विचार में, कल्पना में, औज्ज्वल्य में, उच्च भाव में, स्टाइल में—कवित्व से जो समझा जाता है—एकमात्र पवित्रता को छोड़कर—सभी मामले में उसे विक्टर ह्यूगो के समक्ष सिर झुकाना पड़ेगा। पवित्रता में वह अनन्य है। उसका अन्तर स्वभावतः ही आध्यात्मिक है। साध्वी माँ की गोद में बैठकर जो शिक्षा उसने अपने शैशव में पाई थी, उसे उसने कभी नहीं भुलाया। इसीलिये, अपनी लेखनी की सप्रेम अर्चना में उसने अपनी माँ को हजार बार याद किया है।"

इसके बाद मोशियो लाप्राद के सम्बन्ध में तरु दत्त ने लिखा है : "लाप्राद और लामार्तिन वर्तमान फ्रांस के अन्यतम श्रेष्ठ कवि होते हैं। इनकी रचनावली गंभीर,

पवित्र और आध्यात्मिक है। ये दोनों ही अपनी गर्भधारिणी के निकट इस विषय में ऋणी हैं; क्योंकि दोनों की ही जननी भक्तिमयी, प्रखर बुद्धिमती और आत्मत्यागी थीं (woman of prayer, large-minded and self-denying)।"

लामार्तिन, विक्टर ह्यूगो और लाप्राद के साथ-साथ ही, तरु दत्त के अनुवादों में हम उसके मन्तव्य में प्रायः प्रत्येक पार्नासीय कवि का उल्लेख पाते हैं: बेराँजेर, लब्राँ, म्यूसे, विइँनी, श्रीमती जिरारद्याँ, स्याँत ब्यव्ह, ब्रिजो, पँसर, गोतिए, ओत्राँ, रबूल, बार्बिये, ओजिये, रातिस्बेन, लकँत्-द-लील, ग्रामँ, मनुयेल, कोपे, ल्यमोइन, प्रव्रूम्, सुलारी प्रभृति।

तरु दत्त केवल फ्रेंच से अनुवाद भर करके ही नहीं थकी। उसका उद्देश्य था, एक फ्रेंच लेखिका बनना। जो कई-एक पांडुलिपि वह छोड़ गई है, उसके बीच एक मूल फ्रेंच में लिखित उपन्यास पाया गया है: "श्रीमती आर्वेर की दैनन्दिनी"—जिसे हम आज प्रकाशित कर रहे हैं, और जिसके सम्बन्ध में कुछ आगे चलकर मैं कुछ कहूँगा।

तरु दत्त ने केवल हमारी भाषा और साहित्य को ही स्नेह नहीं दिया, बल्कि हमारी जन्मभूमि को भी उसने निविड़भाव से प्यार किया था। फ्रांस के भयंकर दुर्भाग्य के समय उसके इस प्रेम का परिचय हमने पाया है। तरु दत्त के पिता ने मेरे पास उसके हस्तलिखित कई पत्र और लेख भेजे हैं, जिनके बीच एशिया की यह पुत्री, जब उसकी उम्र पन्द्रह वर्ष भी नहीं होगी, हमारे देशवासियों के उस दुर्भाग्य की कहानी को करुण भाव और भाषा में अमरता प्रदान कर गई है, जिसे देखकर कोई यह नहीं कह सकेगा कि यह किसी फ्रेंच नारी के हृदय का कथ्य नहीं है। तरु तब लंदन में थी। उसके विदेश-भ्रमण की डायरी से—१८७१ की २६ और ३० जनवरी के दिन लिखा हुआ—कुछ यहाँ उतार कर रख दूँ:—

"२६ जनवरी, १८७१ लंदन। ६ सिडनी प्लेस, अनस्लो स्क्वायर। बहुत जमाना हुआ, डायरी लिखना छोड़ चुकी थी। अन्तिम वार जब इस डायरी को हाथ में लिया था, तब से अबतक कितने परिवर्त्तन हो गुजरे हैं फ्रांस में। हाय रे, फ्रांस में कितने ही तो परिवर्त्तन हो गये! कुछ दिनों के लिए पेरिस में जब गई थी, उसका क्या तो रूप देख आई थी! क्या घर, क्या रास्ता, क्या अपूर्व सैन्यवाहिनी! और, आज? सब धूलिसात् हो गया! जो सब नगरियों में रानी थी, आज उसका यह कैसा दैन्य? जब युद्ध ठना था, तब सर्वान्तःकरण से मैंने फ्रांस का ही पक्ष लिया था—उसके पराजय के प्रति निश्चित-मत होने के बावजूद। एक दिन साँझ के समय जब युद्ध पूरे वेग पर चल रहा था, जब फ्रांस उत्तरोत्तर पराजित होता जा रहा था, तब फ्रेंच-सम्राट् के सम्बन्ध में पिता क्या-कुछ माँ को कह रहे थे—वह कान में पड़ा। तीर की तरह नीचे उतर आई और सुना कि फ्रांस हार गया।......उसके बाद और कितने ही दुःसंवाद मिले: पेरिस का विप्लव, साम्राज्ञी और युवराज का इंगलैंड में पलायन, सम्राट का बन्दीरूप में विलहेल्म्स हो के निकट प्रेषण, पेरिस में जर्मन-बर्बरता, स्ट्रासबुर्ग में बमबारी! बमबारी से क्या दुर्दशा झेलनी पड़ी उन्हें! घर-मकान चूर हो गये। चारों ओर अग्नि-ताण्डव।......

हाय ! हजार-हजार लोगों ने अपने हृदय का रक्त अपने देश के लिए दिया ! तब भी उनके देश को शत्रु-ग्रास में जाना ही पड़ा ! ये क्या ऐसे ही पाप में मग्न हैं कि भगवान इन्हें नहीं चाहते—जिसके फलस्वरूप इनपर यह रोष है ? नहीं, इनके बीच ही वे हजार-हजार लोग थे, आज भी हैं, जिनका भगवान ही सम्बल है ! फ्रांस, हाय फ्रांस, यह तुम्हारा कैसा पतन ? इस निदारुण अधःपतन के बाद, इस दैन्य के अन्त में, क्या तुम उठकर भगवान की ओर खड़े नहीं होओगे उनके प्रति गहरी श्रद्धा का अर्घ्य लेकर ? मैं प्रार्थना करती हूँ, शान्ति आवे, यह रक्तक्षरण थम जाय।

३० जनवरी। सोमवार। जब हम कपड़े बदल रही थीं, जलपान का घंटा बजा। नीचे उतरने पर अपने इतालवी नौकर के मुँह से सुना, पेरिस के पतन का सम्वाद।......'टाइम्स' पत्रिका में पढ़ा, "कल जर्मन लोग किलों पर अधिकार कर लेंगे।" 'टेलिग्राम' में भी यही समाचार मिला। इस समय तक ऐसा लगता है कि उन्होंने किलों को घेर रखा है। प्रत्येक रेजिमेन्ट के अस्त्र-शस्त्र को वे लोग छीन लेंगे। फ्रांस, हाय फ्रांस ! मेरी छाती से आज खून रिस-रिस पड़ रहा है।"

एक भारतीय तरुणी के लिखे हुए इन कुछ पन्नों में मैं खोज पाया वह सुतीव्र व्यथा, वह दिल दहलाने वाली रुलायी, वह प्रायश्चित्त का मनोभाव, स्वदेश-प्रेम की वह स्वतःस्फूर्त्ति—जिसने एक दिन, ठीक उसी समय ही, मुझे बाध्य किया था एक अख्यात डायरी के पन्नों में आत्म-प्रकाशन करने के लिए। सचमुच, एशिया की इस तरुणी की छाती में जो हृत्पिण्ड था, वह हमारे यहाँ की जैसी ही किसी फ्रेंच रमणी का ही। सचमुच, हमारी दुर्गति के उन दिनों में, उस हृदय से हमारे जैसा ही नीरव रक्त झर-झर पड़ा था।

तरु की इस डायरी में ही हम उल्लेख पाते हैं उसकी बड़ी बहन अरु का। मनोवृत्ति और रुचि में वे दोनों बहन ही, अवकाश किस प्रकार पाया जाता है—इसे जानती थीं। तरु की प्रतिभा के पथ से अरु अपने को सर्वदा विच्छिन्न रखती थी, जिससे कि छोटी बहन के विकास में किसी प्रकार की असुविधा न हो। मेरी आँखों के सामने इन दोनों बहनों का एक चित्र उपस्थित हो उठता है, जिसमें इन दोनों जीवन का पार्थक्य स्पष्ट झलक जाता है। अरु सौम्य, शान्त, संयत बैठी हुई है; उसी के समीप, प्रेम और निविड़ता से जैसे अरु को आच्छन्न करती हुई खड़ी है तरु—प्राणोच्छल, अपूर्व केशदाम से मण्डित, कज्जल-नयनों में अग्नि का स्फुरण !

अरु की भी कामना थी कि वह भी फ्रेंच साहित्य की वेदी पर अपना अंजलि-तर्पण करेगी। उसकी अनूदित कविताओं के बीच "The young captive" ही अन्यतम है। इस प्रशस्ति-काव्य को उसने आश्चर्यजनक कृतित्व के साथ अनूदित किया था। उस अनुवाद की रचना-शैली कवि शेनिये की मूल फ्रेंच कविता तक को म्लान कर सकती है। कवि Coigny के समान वह भी, समझता हूँ कि, बोली थी :—

"यह केवल वसन्त मेरा, देख जाऊँगी नवान्न-उत्सव;

* * *

उद्यान-गरिमा-रूप में अपनी घटनाओं पर
आज केवल ढूँढ रही हूँ अरुणाभा वर्षण में,
अखंड दिवस मैं देख जाना चाहती हूँ।

* * *

इस जीवन-प्रभात में मैं मरना नहीं चाहती !"

१८७६ साल में तरु ने अपनी कविता-पुस्तक के पहले प्रकाशनावसर पर लिखा था, "यहाँ मैं यह बता दूँ कि जो A-स्वाक्षरित कवितायें हैं वे अनुवादिका की एकमात्र प्रिय ज्येष्ठ भगिनी अरु के अनुवाद हैं। केवल २० वर्ष की उम्र में १८७४ की २३ जुलाई के दिन उसने श्री यीशु के चरणतल पर चिर विश्राम लाभ किया।... वह यदि आज बची रहती, तो उसकी सहायता से इस पुस्तक को और भी समृद्धतर रूप में हाजिर किया जाता।......भाषा में या लेखनी के प्रकाशयोग्य जितनी बातें हैं उनमें, सबसे करुण हैं 'हो सकती' वाली बात।"

यह बात जब तरु ने लिखी, उसके पहले ही उस रोग के लक्षण उसमें दिखाई देने लगे थे, जिस रोग के कवल में उसकी इस बड़ी बहन को इहलोक त्याग करना पड़ा था। १८७७ साल में ही मुझे लिखे गये दूसरे पत्र में उसने लिखा था कि एक खास तरह की खाँसी उसे

हमेशा सता रही है। एक दिन उसने मुझे बताया था कि हो सकता है कि वह फिर एकबार पेरिस आवे; क्योंकि उसके पिता फ्रांस या इंगलैंड में उसकी चिकित्सा कराना चाहते हैं। अपनी दो सन्तानों को इसके पहले गँवा देने के बाद उसके पिता अपनी इस शेष सन्तान को व्यर्थ ही यम की दृष्टि से छुपा लेने की चेष्टा कर रहे थे। किन्तु, तरु का शरीर इस तरह टूट चुका था कि उन्हें उसे लेकर यूरोप आने के उक्त कार्यक्रम को स्थगित करना पड़ा। ३० जुलाई को तरु ने काँपते हाथों से मुझे लिखा : "माद्मोयाजेल, दुखप्रद बीमारी भोग रही थी। पिता और माँ की एकान्त प्रार्थना, लगता है कि, भगवान ने सुन ली। मैं धीरे-धीरे अच्छी हो रही हूँ। आशा करती हूँ कि जल्द ही मैं आपको एक लम्बी चिट्ठी में सारे समाचार दूँगी।"—हृदय के तमाम रोग ही अपने रोगी को अन्तिम समय ऐसी ही झूठी आशा बँधाया करते हैं।

मुझे वह फिर चिट्ठी नहीं लिख सकी। किन्तु, बहुत दिन पहले, एक विषादपूर्ण मुहूर्त्त में उसने जो मुझे एक फ्रेंच पंक्ति लिख भेजी थी, शायद वही पंक्ति वह अपने अन्तिम समय बार-बार दुहरा रही होगी।

'अनचीन्ही बहू, प्रियतमा, विदा, मुझे विदा दो !"

तरु को मैंने किसी दिन नहीं देखा, फिर भी उसे चाहता रहा हूँ। उसके प्रत्येक पत्रों में ही, उसके अन्तस् के सरल माधुर्य का, उसके स्पर्शकातर मन का, उसकी उदाशयता का परिचय मैं पाता था, जिसके फलस्वरूप, वह क्रमशः मेरी निकटतम आत्मीया के समान हो उठी थी और जिसके फलस्वरूप, यूरोपीय ईसाई सभ्यता में उसके ऊँचे उठ जाने पर भी, उसके स्वभाव में भारतीय नारी का मज्जागत धर्म मेरी आँखों में स्पष्ट हो उठता है। इसके अलावा, केवल बाइस वर्ष की उम्र में मैंने जिन भारतीय नारियों के आदर्श से अनुप्रेरित होकर पहली पुस्तक लिखी, उनकी ही एक वंशधरा की हृदयभरी चाह की, सात सागरों के पार का निवासी होकर भी, किस प्रकार उपेक्षा करूँ ?

तरु दत्त अच्छी हो रही है, यह जानकर उसे मैंने अपना अभिनन्दन जताया। उसके माध्यम से उसकी माँ और पिता को अभिनन्दन जताया। '...

की एक प्रतिमूर्त्ति मेरे घर में थी। उस मूर्त्ति के सामने रखे हुए एक गुलदस्ते से निकाल कर मैंने उसे एक फूल भी भेजा। फूल था 'एमारान्थ'। इसकी लाल पत्तियाँ कभी सूखती नहीं हैं। यह अमरता का प्रतीक है। हाय रे, तरु दत्त के नाम से यह उपहार जब भेजा उसके कई-एक दिन पहले ही वह इस लोक की माया को छिन्न कर चल चुकी थी। उसके माँ-बाप के हाथ में पड़ेगा मेरा अभिनन्दन-पत्र, उसकी ही आरोग्य-कामना को लेकर लिखित!......

"गत ३० अगस्त की शाम के समय वह हमें छोड़कर चली गई है, उस लोक की ओर, जिस लोक में विरह और व्यथा का नाम किसी ने नहीं सुना है।" उसके पिता ने मुझे लिख भेजा, "भगवान के प्रति उसका विश्वास असीम था; एक निरवच्छिन्न शान्ति उतर आई थी उसकी सत्ता में। एक दिन उसने डाक्टर को कहा था—"देखिये, शरीर की असह्य यंत्रणा ही मेरी आँखों में आँसू ले आती है; सिवा इसके, मेरा अन्तर आज अपरिसीम शान्ति में मग्न है। जानती हूँ, भगवान ही हमारा सहाय है।" वैसे शान्त स्वभाव की लड़की मैंने नहीं देखी, जैसी की यह मेरी अन्तिम सन्तान थी। मेरी पत्नी और मैं आज जीवन के मध्याह्न में उस सूने घर में बे-सहारा होकर पड़े हुए हैं, जिसका प्रत्येक कोना एक दिन हमारी प्राणाधिक तीनों सन्तानों के कलकंठ से मुखरित रहा था। नहीं, हमलोगों के भगवान हैं,—वे ही सबकी गति हैं, सभी दुःखों में वे ही सान्त्वना हैं। वह दिन आने ही वाला है, जिस दिन हम सभी फिर मिलेंगे, परमेश्वर के चरण-तल में चिरदिन के लिये।"

मुझे इस पत्र को लिखने के कुछ समय पहले ही उन्होंने अपनी पुत्री तरु की जीवनी का लेखन इन शब्दों के साथ समाप्त किया था: "क्यों ये तीनों तरुण जीवन अपने विराट् आशामय भविष्य की माया को छिन्न कर चले गये और मैं पंगुप्राय पड़ा रह गया अपने इस शोचनीय जीवन को बिताने के लिये? मेरे मन में होता है, यह सभी कुछ प्रस्तुति है—उन सबों के अनागत जीवन के लिये इस सब की एकान्त आवश्यकता थी। ऐसा दिन आयेगा, जब सारा गो[illegible] ही मेरी आँखों के आगे से साफ हो जायेगा। जय, परम पिता की जय! उसी की इच्छा पूरी हो!"

इस स्थिर विश्वास के बीच ही हम समझ सकते हैं कि तरु दत्त के जीवन में उसके पिता का प्रभाव कितना गहरा था और इसीलिये उनके प्रति हमारा सश्रद्ध चित्त स्वयं ही नत हो जाता है।

तरु दत्त की मृत्यु के कुछ समय बाद ही 'Calcutta Review' पत्रिका में उसके प्रिय कवि Garamont के अनूदित उसके आठ सॉनेट प्रकाशित हुए। अन्ततः वे सॉनेट ईश्वरीय करुणा के माहात्म्य के संबंध में रचित थे। तरु दत्त के जीवन की शेष बात जैसे इन कई सॉनेटों में प्रकट हो उठी थी। सबसे पहले सॉनेट के भाव पर इन सॉनेटों के नीचे मन्तव्य दिया गया था: भगवान की चाह, पृथिवी के इस स्फुट पुष्प को स्वर्ग के दिव्य परिवेश में पुष्पित हो उठने की सहायता करे!

तरु दत्त की अकाल-मृत्यु से साहित्य के क्षेत्र की जो क्षति हुई, उसी के सम्बन्ध में रचित श्रद्धांजलियाँ देश-विदेश की जिन पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं, उनमें से पूर्वोक्त पत्रिका भी एक है। Calcutta Review में लिखा गया: "तरु दत्त उच्चशिक्षिता अंगरेज रमणी के समान ही सुरुचिसम्पन्न सुदक्ष शैली में अंगरेजी लिख सकती थीं। उनकी अधिकांश कवितायें ही कोमल, अन्तर्मुखी, गंभीर धर्मभावापन्न, निष्कलुष, ऊर्ध्वायित कल्पना की ज्योति से समुज्ज्वल हैं—जिन्होंने वर्त्तमान शताब्दी के अंगरेजी कवियों के बीच उनका आसन सुरक्षित कर दिया है।"

भारत-प्रेमी ख्यातनामा फ्रेंच पंडित और पेरिस की एशियाटिक सोसायटी के सभापति मोसियो गैरेसाँ द तासी ने एक जनसभा में तरु के प्रति इन शब्दों में श्रद्धांजलि निवेदित किया: "गत ३० अगस्त के दिन मात्र बीस वर्ष की उम्र में तरु दत्त ने कलकत्ता में देहरक्षा की। वे थीं क्षणजन्मा प्रतिभा की अधिकारिणी। इस उम्र में केवल अपनी स्वदेशी भाषा—पवित्र संस्कृत भाषा—में ही उनकी व्युत्पत्ति नहीं थी, बल्कि शुद्ध रूप में वे अंगरेजी और फ्रेंच भी धाराप्रवाह बोल और लिख सकती थीं। इससे हम [illegible] नहीं होते; क्योंकि उनकी शिक्षा का क्षेत्र यूरोप

ही था। सबसे बड़ी बात तो यह है कि जिस उम्र में तरुण और तरुणियाँ छात्रावास के दायरे से ऊपर नहीं उठ सकती हैं, उसी उम्र में अपनी प्रतिभा से दीप्त और अम्लान लेखनी से निसृत अंगरेजी कविताओं का संकलन वे प्रकाशित करती हैं। इसके बाद के समय में वे "A Sheaf Gleaned in French Fields" नाम से एक पुस्तक प्रकाशित करती हैं, अपूर्व अंगरेजी कविताओं में अनूदित कई एक फ्रेंच कविताओं का संकलन।...... इन तरुणी ने अपने को जो शुद्ध भारतीय कहकर व्यक्त किया था मेरे आगे, वे होती हैं परम श्रद्धास्पद, परम पंडित, कलकत्ते के मजिस्ट्रेट बाबू गोबिनचन्द्र दत्त की अन्तिम सन्तान। गोबिन बाबू ने इसके पहले और एक गुणवती कन्या की हानि सही है, वह भी सिर्फ बीस वर्ष की उम्र में ही यक्ष्माक्रान्त होकर चल बसी थी।"

भारत के बड़े लाट लार्ड लिटन ही पहले-पहल आगे आते हैं शोकसन्तप्त गोबिन बाबू को अपनी सहानुभूति देने के लिये। इंगलैंड के साहित्य और राजनीति में वंशानुक्रम से जिनका नाम विख्यात चला आता है, उसी परिवार की सुयोग्य सन्तान और 'Clytemnestre' ग्रन्थ के लेखक, लार्ड लिटन अपने भी एक उच्च कोटि के कवि थे। वे ही इतनी बड़ी भारतीय प्रतिभा के प्रति श्रद्धांजलि निवेदन करने के योग्य व्यक्ति थे। इस प्रसंग में स्मरण रह सकता है कि विश्व-प्रसिद्ध 'Last days of Pompei' ग्रन्थ के लेखक उनके पिता, एवं ख्यातनामा लेखिका Lady Lytton Bulwer थीं लार्ड लिटन की जननी। जननी के प्रभाव ने उनके चरित्र पर ऐसा गहरा रेखापात किया था कि कभी भी नारी के बीच प्रतिभा का सन्धान पाने पर, सम्मानपूर्वक उस प्रतिभा को अपनी स्वीकृति जता देना लार्ड लिटन का वैशिष्ट्य था। भारत के लाट लार्ड लिटन को ही, इसलिए, अपनी पुत्री के इस अप्रकाशित फ्रेंच उपन्यास 'लेडी आर्वेर' का उत्सर्जन, गोबिन बाबू ने किया था। (तरु दत्त की जिन कई रचनावलियों का उल्लेख मैंने अबतक किया है, उनके अलावा भी उसकी अप्रकाशित पाण्डुलिपियों के बीच कुछ अंगरेजी मौलिक कवितायें मिली हैं और एक अंगरेजी उपन्यास के कुछ परिच्छेद।)

तरु दत्त की मृत्यु के बाद गोबिन बाबू अपनी सन्तानों के साथ परलोक में पुनर्मिलित होने की आशा में मन मार कर आप्राण चेष्टा करने लगे अपनी प्यारी पुत्री की रचनाओं का प्रकाशन और प्रचार करने में। तरु की जीवनी से सम्वलित 'A Sheaf Gleaned in French Fields' के नवीन संस्करण के प्रकाशन के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वे तरु के लिखे फ्रेंच उपन्यास को फ्रांस से ही प्रकाशित करेंगे। इसी सिलसिले में ही, मैंने 'श्रीमती आर्वेर की दैनन्दिनी' नामक उसके इस उपन्यास को फ्रांस से प्रकाशित करने का दायित्व लिया है।

तरु दत्त की पांडुलिपि हाथ में लेकर मैं आवेग से अधीर हो उठता हूँ। उसके लिखे हुए को उसके बूढ़े पिता ने जैसे-तैसे बैठ-बैठ कर कापी की और तब मेरे पास भेजा। "कापी करने जाते ही मेरा हाथ काँपता है, इसीलिए धीरे-धीरे कापी कर रहा हूँ"—गोबिन बाबू ने इस विराट कार्य में हाथ लगाते ही मुझे यह जताया था।

किन्तु उनके सुसम्बद्ध लेखन में कहीं तिनका बराबर भी काँप जाने का लक्षण मैंने नहीं पाया। इस कठोर किन्तु दायित्वपूर्ण कार्य को करने के समय एक नवीन प्रेरणा से वे उद्बुद्ध हो उठे थे—यह आसानी से समझा जा सकता है। उन्होंने मुझे लिखा था: "जितनी देर कापी करता हूँ, मन में होता है, जैसे मैं उसके ही साथ बातचीत कर रहा हूँ।"

परिवेश और प्रेरणा में 'श्रीमती आर्वेर की दैनन्दिनी' जितनी भी फ्रांसीसी क्यों न हो, जितने बार पढ़ता हूँ, मेरे मन में आ जाती है हमारे इस अपने देश के गुलदस्ते में सजाये फूल की बात: इस देश के हवा-पानी से वह जितना ही पोषित हुआ हो, फिर भी उसमें गन्ध रह जाता है एक सुदूर भिन्न देश की मिट्टी का। भारत का प्रभाव उसी प्रकार इस उपन्यास में रह गया है। मार्गरित् आर्वेर के प्रेमास्पद के नरहत्या करके अपने को समाज की दृष्टि में घृणित कर डालने पर भी, मार्गरित् का मनोभाव उसके प्रति अपरिवर्त्तित रह गया,—इस बात के बीच केवल बाइबिल की शिक्षा ही मूर्त्त नहीं होती, हिन्दू समाज की उसी पद्धति की बात भी याद आती है। पति अच्छा हो, बुरा हो, सच्चरित्र हो, दुश्चरित्र हो—फिर भी वह पत्नी के लिये देवता ही है। नायिका का स्वभाव-माधुर्य और नम्रता, प्रत्येक चरित्र की ऋजुता, कवित्वमय उपमा—सब कुछ हमें बार-बार भारतीय जीवन की बात ही मन में प्रतीत होते हैं। फिर भी अनेक भारतीय लेखकों के बीच श्लाध्य और सहजलभ्य जो नहीं है, उसे हम इस पुस्तक में पाते हैं: सूक्ष्मता और संयम। अंगरेजी जीवन का प्रभाव भी इसके बीच कुछ पाया जाता है: पारिवारिक वर्णना और घर की निविड़ आत्मीयता।

इस उपन्यास में हम काव्य से नाटक, नाटक से फिर काव्य में घूम-फिर कर लौट आते हैं। असाधारण है इसकी उद्भावना-शक्ति। भारतीय नारियों की तरह ही स्वाभाविक और उसपर फलप्रसू भाषा में मार्गरित् आर्वेर के प्रत्येक भाव परिवर्त्तन को तरु सहजरूप में ही व्यक्त कर देती है-एक ओर तारुण्य के निर्मल आनन्द से लेकर प्रेम का प्रचंड आवेग, दूसरी ओर साध्वी सती नवीन जननी का सांसारिक सुख से मृत्यु की दारुण वेदना तक। मार्गरित् की दैनन्दिनी के पहले कई एक पन्नों में हम पाते हैं एक पंचदशी नायिका को केन्द्र कर अनवच्छिन्न पारिवारिक स्नेहच्छाया; इसके बाद दुर्घटना के प्रचंड आवर्त्त में पूरी दीप्ति के साथ नारी की आत्मचेतना का जाग उठना; अव्यक्त व्यथा से पीड़ित होकर वह पलट कर खड़ी हो जाती है शैशव से परिचित क्रूश की ओर। फ्रांस की ग्राम-बाला की धर्मभीरुता को तरु दत्त ने सुन्दर रूप से अंकित किया है। मार्गरित् आर्वेर के चित्त में बचपन के कनवेन्ट की स्मृति का कितना मूल्य है, इसे जाना जा सकता है भगिनी वेरोनिक की मृत्यु पर उसके मानोभाव को देख कर; और उसके स्वर्ग में अवस्थान के प्रति उसके दृढ़ विश्वास के बीच। परिणय का मंगल-सूत्र भी इसीलिए देवमाता मेरी के चरण-तल में उत्सर्ग करके अपने आप को वह देवमाता के एकान्त आश्रय के उपयुक्त बना लेती है। पत्नी और माता के रूप में वह इसीलिये प्रेमावतारमयी जननी को नहीं भूलती।

बहुत बार मार्गरित् आर्वेर की कहानी पढ़ते-पढ़ते मन में आया है कि यह भी एक भारतीय तरुणी है, जो हमारी फ्रेंच ईसाई सभ्यता की आसक्तता में जैसे बड़ी हो उठी है। तरु दत्त के पत्राचारों को पढ़ने पर, उसका चरित्र जो रूप लेकर हमारी पकड़ में आया, उसी तरु दत्त के शब्द ही जैसे मार्गरित् के कंठ में हम ठहर-ठहर कर सुन पा रहे हैं। इस नायिका के बीच ही मैंने बार-बार खोज पाया है तरु दत्त की निरावरण कमनीय सत्ता को, उसके हृदय के स्पर्शकातर प्रेम को, भगवान के प्रति उसके अगाध विश्वास को। श्रीमती आर्वेर का पितृगृह ही जैसे तरु दत्त का वासगृह है। माता-पिता से परिवेष्टित मार्गरित् को देख कर मन में आता है—माँ-बाप के स्नेह-नीड़ में लालित तरु दत्त का चेहरा।

मृत्यु की जो भावना धीरे-धीरे मार्गरित् आर्वेर की दैनन्दिनी में घनीभूत हो उठी है—वह लक्ष्य करने योग्य है। षोडशी के मन में पहले जगा है विस्मय: मनुष्य क्योंकर अपने मरण की कामना कर सकता है? उद्दाम यौवन की समस्त प्राण-शक्ति का जोर लगाकर उसने प्रतिवाद जताया था इस मृत्यु के विरुद्ध: "हाय, बहन वेरोनिक! कितनी थी उसकी उम्र, मुश्किल से सवा छब्बीस साल पूरे किये थे

उसने ! मृत्यु ? इतने समीप ? परमपिता के स्नेह में, आनन्द-मुखर इस अपने घर को छोड़ जाना ! वहन वेरोनिक ने परम सुख के साथ इस मृत्यु का वरण कर लिया ! क्यों,—मैं इसे नहीं समझ सकती । जीवन क्या केवल तिक्तता की एक घूँट अभिज्ञता भर है ? माधुर्य क्या वहाँ नहीं है ? इस बीच व्यथा क्या चीज है, इसे मैं किसी दिन नहीं जान सकी । यह जगत् .....क्या सुन्दर !''

किन्तु, उसकी भूल टूटते देरी नहीं लगी । जीवन ने अपने स्वरूप को लेकर मार्गरित् के सामने अपने को प्रकाशित किया । मानसिक उद्वेग के बाद ही शारीरिक यंत्रणा ! तरु दत्त ने यथार्थ वास्तविक जीवन का रस देकर ही उसे व्यक्त किया है । लेखिका के अपने जीवन की छाया और अस्वास्थ्य की अन्तिम अभिज्ञता सम्पूर्ण मात्रा में उपन्यास के शेष अंश को आच्छन्न कर गई है मृत्यु-चिन्ता में । फिर भी, मृत्यु के साथ चिरन्तन का ध्यान ओतप्रोत-भाव में ग्रथित है । भगिनी वेरोनिक की अन्तिम शय्या पर जो अमरता का प्रकाश दिखाई दिया था, उस प्रकाश से ही आलोकित हो उठता है मार्गरित् का अंतिम मुहूर्त्त, और वह प्रकाश ही तरु दत्त को घेर कर भास्वर हो उठता है ।

मार्गरित् के बीच हम यदि तरु दत्त की भावधारा, चरित्र वैशिष्ट्य और अकाल-मृत्यु का सादृश्य पा जावें, तो वह सादृश्य इतने तक ही सीमाबद्ध है । तरु दत्त के जीवन में वह आँधी नहीं आई, जिस आँधी ने मार्गरित् की जीवन-कली को अकाल में ही वृन्त-च्युत किया । छोटी उम्र में ही तरु दत्त ने इस लोक का त्याग किया । दाम्पत्य और मातृत्व के प्रेम-रस से वह वंचित थी । केवल हृदय की प्रशस्तता के द्वारा ही कल्पना की सहायता से इस रस की उसने उपलब्धि की थी । उसकी माँ और बाप इस पृथ्वी पर रह गये—उसके साथ परलोक में मिलने के ईप्सित लग्न की अधीर प्रतीक्षा में । यद्यपि सर्वाधिक गभीरता से उसकी माँ और पिता के अन्तर में ही उसके जीवन की स्मृति अंकित है, किन्तु उसके साहित्य की ख्याति आज विश्वसाहित्य के इजलास तक पहुँच गई है । भारतवर्ष और इंगलैंड के बीच, इस यशस्विनी के गौरव को लेकर, इस बीच ही छीना-झपटी चल पड़ी है । मैं कह सकता हूँ कि फ्रांस भी चिरदिन इस तरुणी विदेशिनी का स्मरण करता रहेगा, जिसने फ्रांस के दीनतम मुहूर्त्त में फ्रांस की भाषा और हृदय के बंधन में आबद्ध होकर अपने-आपको फ्रांस के लोगों की अभिन्नात्मा समझा था ।

तरु दत्त के इस उपन्यास का प्रकाशन-काल : १८७६ ई० । प्रकाशन: Librarie Academique, Paris.

हमारे सद्य:प्रकाशित गौरव-ग्रंथ

•

श्री विष्णुकान्ता

शान्तला

कन्नड़ का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक उपन्यास-शिल्प

•

श्री लक्ष्मीनारायण सुधांशु-रचित

काव्य में अभिव्यंजनावाद

समालोचना-साहित्य में प्रकाश-स्तंभ

•

डॉ० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा-लिखित

विश्व-राजनीति-पर्यवेक्षण

विश्व-राजनीति पर विद्वान लेखक द्वारा लिखित निबंधों का संकलन

•

श्री द्वारका प्रसाद, एम० ए०-प्रणीत

मानव-मन

मनोविज्ञान पर विद्वान लेखक की मौलिक कृति

•

प्रो० श्री पद्मनारायण-लिखित

आधुनिक भाषा-विज्ञान

हमारे आगामी रस-साहित्य

जुलाई '६१ तक

•

महाकवि दण्डी-प्रणीत

दशकुमार-चरित

संस्कृत का सांस्कृतिक उपन्यास-शिल्प

अनुवादक : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

•

अनुभूत सत्य

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण प्रसाद

•

औरत और अरस्तू

अभिनेय ऐतिहासिक नाटक

लेखक : श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ'

•

फूल, सपने और वास्तव

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण

•

नए चरण : नई दिशा

सर्जनात्मक निबन्ध

लेखक : प्रो० सिद्धनाथ कुमार

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,

पटना—४

गत मास का साहित्य : आकलन एवं समीक्षा

★

श्री जय प्रकाश शर्मा

[स्तंभ अधिक उपयोगी हो, तदर्थ लेखकों, सम्पादकों एवं प्रकाशकों का सहयोग आमंत्रित है। सूचना-सामग्री आदि भेजने का पता है : एच०, १६—कीर्तिनगर, नई दिल्ली-१५]

साहित्य अकादमी ने अंग्रेजी में एक प्रकाशन किया है : भारतीय लेखकों का परिचय-ग्रंथ, जिसकी चर्चा पिछले पाँच सालों से है और अगर इसे भगीरथ का अंश-प्रयत्न भी कहा जाय तो कोई अत्युक्ति न होगी; क्योंकि इसमें जो कुछ संकलित है, वह अभी तक नहीं आया था। और, अब इसके साथ जुड़ना चाहिये एक परिशिष्ट, जो हर साल नहीं तो हर तीसरे साल जुड़े, ताकि यह ग्रन्थ पुराना न हो पाये।

पर, पुरानेपन के अलावा एक और भी ऐसी झील है, जहाँ आकर पानी भरना है। इसमें एक नहीं, कई साहित्यकारों की उपेक्षा की गई है। उपेक्षा क्यों हुई, यह इस बात से स्पष्ट है कि दिल्ली की प्रमुख लायब्रेरी से कुछ लेखकों की किताबें सर्वदा के लिए हटा ली गई हैं। कारण है कि पाठक अश्लीलता के जहर से बचें और उनके मस्तिष्क में, खास तौर से अल्पवयस्क पाठकों के मस्तिष्क में, सेक्स का जहर न भरा जाय।

इन बहिष्कृत लेखकों को यूँ भी अछूत समझा जाता है। प्यारेलाल आवारा, गोविंद सिंह आदि इन अछूत लेखकों में से हैं जो लगभग सत्तर-बहत्तर से डेढ़-सवा-सौ उपन्यासों के सर्जक हैं और यूँ उनका अपना मार्केट भी है। ऐसे एक नहीं, दर्जनों लेखक हैं, जिनकी उपेक्षा उक्त ग्रन्थ में की गई है। साहित्य अकादमी ने इस तरह की नीति अपनाकर जिस परम्परा का अनुसरण किया है, वह सर्जनता की राह को कतई इंगित नहीं करती। उपेक्षित लेखकों का साहित्य कैसा है—सवाल इस बात का नहीं। सवाल यह है कि अगर इनका साहित्य जहर है तो उसपर कानूनी रोक क्यों नहीं लगती, और अगर उसका असर कानूनी मान्यताओं को निभाते हुए भी जहर है, तो क्षमा करें, इससे भी अधिक जहर फैलाने वाले लेखक इस क्षेत्र में आते रहे हैं; जो सम्प्रदायवाद का जहर फैलाते हैं, और आराम से सेक्स की चाशनी में पगी मोटी-मोटी जिल्दों में पाठकों को मुसलमानों, ईसाइयों के प्रति उकसाते हुए उसी मार्ग में चलने का आग्रह करते हैं जहाँ सभ्यता के नाम पर जातिवाजी जीती रहे और देश की प्रगति को आग लगे। क्या ये उपेक्षा के योग्य नहीं हैं! नम्र निवेदन मात्र इतना ही है कि सिलेबस से किताबें हटा लेने से, उपेक्षा करने से बात नहीं बनेगी। बात बनेगी, सही और ढंग से सोच-विचार कर, सही ढंग से समस्या सुलझाने से; क्योंकि अगर कोई भी उपन्यासकार अल्पवयस्कों के मस्तिष्क से खिलवाड़ करता है तो उसका छोटा या बड़ा होना उसके अपराध को कम नहीं कर सकता।

गत मास के पिछले अंक में कुछ पुस्तकों की चर्चा छूट गई थी। अतः इस लेख को दोनों मास का संयुक्त लेख ही समझा जाय।

उपन्यास

आत्म-अनुभूति से लिखे जाने वाले उपन्यासों में 'गुनाहों की देवी' यादवेन्द्र शर्मा चन्द्र का ऐसा उपन्यास है, जिसे कुछ हद तक एलेक्जान्द्र ड्यूमा की परम्परा में समेट सकते हैं। उपन्यास लेखक ने स्वयं स्वीकार किया है: यह राजस्थान की एक ऐसी लड़की पर आधारित है, जिसे दुर्भाग्य खाता है, समाज खाता है और इन सब का कचूमर होकर वह वेश्या नहीं, वेश्याओं की कमाई पर जीवित रहने वाली एक ऐसी घिनौनी पुतली बन जाती है, जिसमें न दया है और न धर्म। उपन्यास की गठन-शैली, विशेषतः पूर्वार्ध में जबतक नायिका बीकानेर ही रहती है, स्पर्धनीय है। बीकानेर का जनजीवन सीमित अवस्था में भी काफी उभर आया है।

यादवेन्द्र की नायिका अगर गुनाहों की देवी है, तो परदेशीजी ने सपनों की जंजीरों में बँधी एक ऐसी आत्मा

का सृजन किया है जिसे आज की सभ्यता और उसकी चरम सीमा ग्रस गई। बम्बई का फिल्मी जीवन, जिसमें कला और पैसे के नाम पर बदकारी, भ्रष्टाचार और निकम्मापन भी कम नहीं है; जिसका आँखों देखा हाल सपनों की जंजीर में ऐश्वर्य और प्रतिष्ठा की प्यासी उपन्यास-नायिका के रूप में सँजो कर परदेशीजी ने ऐसे वातावरण का सृजन किया है, जिसे सरलता से भुलाया नहीं जा सकता।

ठीक ऐसा ही वातावरण विन्दु अग्रवाल ने एक ऐसी वृद्धा के आसपास एकत्रित किया है जिसे पूरा मोहल्ला बुआ कहता था। 'मोहल्ले की बुआ' वास्तव में दो पीढ़ियों के बीच, नये और पुराने के बीच एक ऐसी संघर्ष-गाथा है; जिसकी सत्यता में न शक है और न शुभ में संशय। हाँ, अगर उपन्यास कुछ और बड़ा होता तो निश्चय ही कहीं-कहीं जो डाक्यूमेंटरी प्रभाव खटकते हैं, वे मिट सकते थे।

अमरेश कृत 'हिना के हाथ' और रामकुमार भ्रमर का 'बेगम गुलाम' दोनों ऐतिहासिक उपन्यास हमें अतीत के उन खंडहरों में ले जाते हैं, जहाँ इन्सान ने अत्याचार को दफन किया था और प्यार को अपनी गाँठ में बाँध लिया था। जैसा कि अकसर हर अच्छे उपन्यास में होता है या होना चाहिये, 'हिना के हाथ' में ऐसे पात्र हैं, जिन्हें सरलता से नहीं भुलाया जा सकता।

पिछले मास क्योंकि हिन्दी उपन्यासों के पिता बाबू देवकीनन्दन खत्री की शताब्दी थी, अतः उनकी स्मृति में 'भूतनाथ की वापसी' तथा 'भूतनाथ लखनऊ में' ओम्प्रकाश शर्मा के दो उपन्यास प्रकाशित हुए; जिनसे भूतनाथ के तिलस्मी पाठकों का और तौर से मनोरंजन जरूर होगा।

इसी प्रकार डॉ० शिव प्रसाद सिंह का 'अन्तरिक्ष के मेहमान' उपन्यास होते हुए भी व्योम-यात्रा के लगभग सभी सत्य और जानकारियाँ प्रस्तुत करता है। उपन्यास के चित्र अपने में एक विशिष्टता हैं, ठीक उसी तरह जैसे पं० विनोदशंकर व्यास के 'अशान्त' तथा देवनारायण द्विवेदी के उपन्यासों का कथा-शिल्प, जो अब हिन्दी साहित्य के इतिहास की निधि हैं। और उनका [illegible] है।

कहानी-संग्रह

'द्वा सुपर्णा' जगदीश एम० ए० की लघु-कथाओं का संग्रह आचार-कथाओं के उन संग्रहों में गिना जायगा, जिनका जन्म सृष्टि जितना ही पुराना है। आचार-कथायें साहित्य का वह उपयोगी अंग हैं जो चरित्र का निर्माण तथा सत्य में आस्था का विकास करती हैं। टाल्स्टाय, टैगोर, जिब्रान सभी ने आचार-कथाओं को समुन्नत किया है। काश, हिन्दी के दिग्गज भी इस ओर कलम उठाते! यूँ भारतेन्दु-कालीन समय में कुछ अंशों में इस ओर प्रयत्न हुए थे।

इस मास के अन्य चर्चा-योग्य कहानी-संग्रहों में उग्र की श्रेष्ठ कहानियों का उल्लेख हो सकता है, जिनके विषय में कवि मैथलीशरण गुप्त ने कहा था कि धूल और अबीर दोनों ही उग्रजी के हाथ हैं; क्योंकि इसमें सब नहीं, केवल संकलित कहानियाँ हैं; इसलिए अबीर ही अबीर, खास तौर से भाषा का अबीर, प्रस्तुतिकरण की शैली का अबीर, जो उग्रजी की कुछ कहानियों में, विशेषतः 'खुदाराम' और 'दोजख की आग' में विशेष रूप से रंग लाया है। हिन्दी की नयी पीढ़ी के कलाकार अपने इस हमसफर अग्रज से बहुत कुछ सीख सकते हैं, यह तो स्पष्ट ही है।

तीसरा कहानी-संग्रह है 'स्वर्ग की दीवार'। चिरंजीलाल पाराशर की व्यंग्य-विनोद से भरी कहानियाँ अकसर पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। शील-सम्पन्न हास्य ही उनका प्रमुख विषय होता है। उन्हीं कहानियों का यह संग्रह हास्य कथा-साहित्य में योगकारक सिद्ध होगा—यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है।

'चुम्बकों का घर'—इस मास का चौथा महत्वपूर्ण कहानी संग्रह है; जिसमें पुलिस अफसर भगवतस्वरूप चतुर्वेदी ने अपराध-घटनाओं की सत्यता को लेकर पाँच कहानियों का सृजन किया है। केवल चुम्बकों के घर को छोड़कर शेष अन्य कहानियों में घटनास्थल तक दिये हुए हैं और शेष चारों कहानियाँ निश्चित रूप से पाठकों का मनोरंजन करने में नवीन आसमान के कुलाबे बाँधने वाले अपराध-कथानक। शिकार आदि पर भी इसी तरह का साहित्य आना हिन्दी के एक बहुत बड़े अंग की पूर्ति कर सकता है।

उपयोगी एवं विशिष्ट साहित्य

पाकेट बुक्स का सबसे अच्छा उपयोग हुआ है या हो सकता है तो वह उपयोगी साहित्य के प्रकाशन से हो सकता है और अबतक भिन्न विषयों पर भिन्न रूप से बहुत-सी पुस्तकें निकली हैं। गत मास प्रचारक पाकेट बुक्स से सुभाषित एवं जौक की शायरी तथा दशकुमार-चरित, राजकमल पाकेट बुक्स से घर-गिरस्ती, भारतीय पौराणिक कहानियाँ, किस्सा हातिमताई तथा अशोक पाकेट बुक्स से पाँच सौ रुबाइयाँ प्रकाशित हुई। अच्छा हो कि प्रकाशक इस विषय में ही अधिक ध्यान दें तथा खेल-कूद और बड़ों की जीवनियाँ, विशिष्ट संस्मरण आदि प्रकाशित करें। बाल-साहित्य के अन्तर्गत बालजीवनीमाला में आइजक न्यूटन की जीवनी प्रकाशित हुई है। छपाई-सफाई साफ-सुथरी के अलावा इसकी दूसरी विशेषता कही जा सकती है, बच्चों में जिज्ञासा का सृजन कर उनका समाधान प्रस्तुत करना। बच्चों के अन्तर में जो-जो जिज्ञासायें फूटती हैं; उनका समाधान ही इस प्रकार की पुस्तकों का एकमात्र उद्देश्य होता है। और, यह पुस्तिका उसी उद्देश्य की मंजिल की ओर जाने वाले कारवाँ का एक अंश है।

बाल-साहित्य की चर्चा करते हुए ही बनारस से निकलने वाले 'कुमार' पाक्षिक की चर्चा कम असंगत न होगी; जो लगभग छात्रों द्वारा ही लिखा जाता है।

गत मास का पत्रिका-साहित्य

साहित्य संदेश—आगरा
१. सम्पादकीय २. आचार्य हेमेन्द्र की साहित्यिक मान्यतायें (डॉ० देवेन्द्र)

वीणा—इन्दौर
कहावत की परिभाषा (कन्हैयालाल सहल)

नया जीवन, सहारनपुर
आलोचना से आरंभ मत करो (कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर)

सम्पदा—दिल्ली
१. भारत में एकाधिकार २. न्यायसंमत समाज-व्यवस्था

समाज कल्याण—नई दिल्ली
बाल-अपराध एक अन्ताराष्ट्रीय समस्या

भारत सेवक—दिल्ली
भारत की ऋषि-परम्परा—(देव)

राष्ट्रवाणी—पूना
रवीन्द्र अंक—(सभी लेख)

राष्ट्रभारती—वर्धा
सम्पादकीय

वीर संदेश—बहजोई
समस्त कहानियाँ

पुस्तकालय वाचनालय

पुस्तकालय का सर्वोदयवादी स्वरूप

★

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय एक सार्वजनिक संस्था है। इसका संगठन तांत्रिक आधार पर होता है। अतएव, इसके संचालक से लेकर उपयोग तक के सारे कार्य इसके संगठन एवं स्वरूप के अनुरूप ही होने चाहिए। सभी व्यक्तियों पर इसकी समान दृष्टि रहनी चाहिए और सभी व्यक्तियों की भी इस पर समान दृष्टि रहे। सभी व्यक्तियों की समान दृष्टि पुस्तकालय पर रहे; यह लोगों की रुचि, परिस्थिति, प्रवृत्ति आदि की विभिन्नता के कारण यदि संभव न भी हो, तो भी पुस्तकालय अपनी समदर्शिता से क्यों चूके? अपने कार्य के सर्वोदयी पक्ष को क्यों अंधकारपूर्ण रहने दे? उसे तो सर्वसाधारण की, बिना किसी भेदभाव के, निस्वार्थ-भाव से सेवा करनी है। समाज में लोगों का ऊँचा-नीचा स्थान रहा करता है रहा करे, शैक्षणिक योग्यता में भी लोग आगे-पीछे रहा करते हैं, रहा करें और धन-वैभव तथा महिमा-मर्यादा में भी लोगों में पारस्परिक अन्तर हुआ करता है—हुआ करे, पर पुस्तकालय को तो उस सूर्य के समान अपनी ज्योति विकीर्ण करनी है, जो बिना किसी भेदभाव के पृथ्वी के समस्त अंगों-अंशों पर अपना प्रकाश बिना किसी हिचकिचाहट और संकोच के नियमित रूप से फैलाता रहता है। सदानीरा गंगा भी अपना शीतल जल देने में कभी कोई कार्पण्य नहीं करती, जल लेने वाला चाहे जैसा भी हो। सघन वृक्ष भी अपनी छाया अपनी शरण में आने वाले समस्त प्राणियों को समभाव से दिया करते हैं। सूर्य, जलाशय, वृक्ष तथा इसी प्रकार के अन्यान्य प्राकृतिक उपादानों की भाँति पुस्तकालय को भी अपना स्वरूप ऐसा बनाना होगा, जिससे कि किसी व्यक्ति-विशेष को यह शिकायत करने का कुयोग न मिले कि उस पुस्तकालय से उस व्यक्ति को समुचित सहयोग न प्राप्त हो सका। पुस्तकालय के इसी स्वभाव के कारण, उसे सार्वजनिक पुस्तकालय कहा जाता है।

पुस्तकालय को भी युगधर्म को समझना-परखना और तदनुकूल अपने कार्य-कलापों के प्रवाह को प्रवहमान होने देना होगा। यह युग व्यक्ति-विशेष का युग नहीं, बल्कि व्यक्ति-व्यक्ति अर्थात् सभी का युग है। सर्वत्र सर्वोदय की भावना जोर पकड़ती जा रही है। हम अपने परिवार से लेकर विश्व के समस्त राष्ट्रों तक सर्वत्र यही देखते हैं कि व्यष्टि की प्रभुता बड़ी तेजी के साथ नष्ट होती जा रही है और समष्टि की प्रभुता जमती जा रही है। आज कोई भी व्यक्ति एक की अपेक्षा अनेक की ज्यादा कदर करना चाहता है। इन दिनों समूह और समुदाय को अत्यधिक महत्व दिया जाने लगा है। पुस्तकालय को भी इन्हीं प्रवृत्तियों के अनुकूल अपने स्वरूप को बनाना होगा।

आदर्श और सिद्धान्त के रूप में तो ये बातें बड़ी ही अच्छी और उपयुक्त प्रतीत होती हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप में जब इन्हें हम देखने की चेष्टा करते हैं, तो हमें वहाँ सर्वथा दूसरी ही तस्वीर दिखलाई पड़ती है। सर्वत्र पुस्तकालयों के द्वारा सीमित व्यक्तियों को फायदा पहुँचाया जा रहा है। सर्वत्र ही उनके संचालन में कुछ व्यक्ति-विशेष ही प्रवृत्त दीख पड़ते हैं। जहाँ उनके द्वार सबके लिए खुले रहने चाहिए, वहाँ कुछ के ही प्रवेश की वहाँ सुविधा है। ज्यादा लोगों पर निषेधाज्ञा जारी है।

निषेधाज्ञा और प्रतिबन्ध से मेरा तात्पर्य इस बात से नहीं है कि लोगों को पुस्तकालय में जाने नहीं

दिया जाता है अथवा वे वहाँ न जायँ। हाँ, इसके लिए दुश्चेष्टाएँ की जाती हैं। मेरा आशय है कि पुस्तकालयों का संचालन न तो उत्साहपूर्ण ढंग से किया जाता है और न वहाँ का वातावरण आकर्षक एवं आमंत्रणपूर्ण रहता है कि लोग स्वतः पुस्तकालय में खिंचकर चले जायँ। लोगों की शिक्षा, अर्थ तथा साधन सम्बन्धी असमर्थता भी उन्हें पुस्तकालयों में नहीं पहुँचने देती। हमारे देश में अधिकांश पुस्तकालय सशुल्क पुस्तकालय हैं, जहाँ सदस्यता-शुल्क, सुरक्षा-शुल्क आदि के नाम पर बिना पैसे दिए हुए उनसे सम्पर्क जोड़ा ही नहीं जा सकता। यह हुई अर्थ-सम्बन्धी असमर्थता। अब शिक्षा-सम्बन्धी असमर्थता को लीजिए। वैसे व्यक्ति जो पढ़े-लिखे नहीं हैं, अथवा बहुत कम पढ़े-लिखे हैं, उनके लिए पुस्तकालय में प्रायः नहीं के बराबर व्यवस्था होती है। इसी प्रकार, क्षेत्रीय दलबन्दी, गुटबन्दी, जातीयता, साम्प्रदायिकता, सामाजिक ऊँचाई-नीचाई, राजनीतिक मतभेद आदि से पुस्तकालयों को शायद ही कहीं बचाकर रखा जाता है। दुष्परिणाम होता है कि लोगों का एक बहुत बड़ा दल पुस्तकालय के उपयोग से सर्वथा वंचित रह जाता है।

अशिक्षा, रूढ़ियाँ, गलत-सलत परम्परा, अन्धविश्वास, दकियानूसी आदि बीमारियों से हम इस प्रकार ग्रसित हैं कि पुस्तकालय की उपयोगिता अनिवार्यता के कायल होना तो दूर की बात रही, उसे सोच भी नहीं सकते।

अन्यान्य संस्थाओं की भाँति पुस्तकालय के संचालन में हम अपना या अपने प्रियपात्रों एवं अपने दल के लोगों का विशिष्ट हाथ रहना भी पसंद करते हैं। ऐसा इसलिए कि इससे हमें सस्ती लोकप्रियता प्राप्त होती है, हमारी नामवरी की भूख मिटती है और कभी-कभी इसके नाम पर हम अर्थ तथा अन्य प्रकार की सुविधाओं से भी लाभ उठाते हैं।

ये सारी प्रवृत्तियाँ कितनी घृणित, गर्हित, निन्दनीय और त्याज्य हैं—इसकी कल्पना हम तभी कर सकते हैं, जब पुस्तकालय के आधारभूत सिद्धान्त तथा उसके सर्वोदयी रूप को अच्छी तरह जान लें।

जीवन और जगत में जिस प्रकार सर्वोदय की भावना प्रबल से प्रबलतर होती जा रही है, उसी प्रकार हमें अपने पुस्तकालय के सारे कार्यों को सर्वोदय के आधार पर नियोजित करना होगा। हमें उसकी सेवाओं को इतना व्यापक, विविध और सुविस्तृत बनाना होगा कि उनसे हमारे समाज का कोई भी व्यक्ति वंचित नहीं रहे। पुस्तकालय से यदि बड़े-बड़े विद्वानों को अपनी विद्वत्ता को संवर्धित करने में सहयोग मिले, पुस्तकालय किसी अन्वेषक अथवा अनुसन्धायक के लिए नये तथ्यों का रहस्योद्घाटन करने में सहायक हो, किसी परीक्षार्थी को परीक्षोत्तीर्ण होने में मदद करे, किसी पुस्तक-प्रेमी को अपनी पाठ्य-सामग्रियों द्वारा मानसिक खुराक प्रदान करे, तो शिक्षा के वरदान से वंचित अनपढ़ों और निरक्षरों को भी वह सहयोग दे, तभी उसका सर्वोदयी पक्ष उजागर हो सकेगा। गाँव के मास्टरजी और निठल्ले बैठे हुए ग्रेजुएट बबुआजी ग्राम-हितैषी-पुस्तकालय से पुस्तकें पढ़ते रहें और बीफन मोची तथा हरखु महतो का उससे कोई ताल्लुक न रहे, तो यह पुस्तकालय की आंशिक उपयोगिता का ही परिचायक होगा। शहर के स्टूडेन्ट्स क्लब लाइब्रेरी के यदि मिस्टर सिन्हा, वर्मा, शर्मा और गाँजे की दूकान वाले चौधरी जी ही पुस्तकें पढ़ें और उनके बगल में ही रहनेवाला बालगोविन्द चायवाला तथा अब्दुला समद बीड़ी बनानेवाला कोई पुस्तक न पढ़े, तो उस लाइब्रेरी से कुछ को ही फायदा पहुँचेगा—सब को नहीं।

पुस्तकालय सर्वोदय के सिद्धान्त को मानकर चले, इसके लिए उसके साथ अधिकाधिक संख्या में लोगों का सम्पर्क स्थापित होना आवश्यक है। पुस्तकालय-सेवा की उत्तरोत्तर विकसित होनेवाली विधियाँ तो पुस्तकालय के सर्वोदय-पक्ष को और भी वृद्धि प्रदान कर रही हैं। दृश्य-श्रव्य-योजना, पुस्तकालय का भ्रमणशील रूप, पुस्तक लेन-देन की सुविधापूर्ण व्यवस्था आदि ऐसी उत्तमोत्तम प्रविधियाँ पुस्तकालय-संचालन की दिशा में उद्भूत हो रही हैं, जिनसे अंधा, बहरा, विकलांग रोगी; सबको पुस्तकालय-सेवाओं से लाभान्वित किया जा सकता है।

पुस्तकालय सर्वोदय सम्बन्धी साहित्य के संग्रह और अपने पाठकों-सदस्यों के बीच उनके उपयोगार्थ वितरण करके अपनी सर्वोदय-भावना का सबूत देते हुए सर्वोदय-आन्दोलन के संवर्धन में सहयोग दे ही सकता है। सर्वोदय की भावना

(शेष पृष्ठ ३२ पर)

खण्डित पूजा (कहानी-संग्रह)

लेखक—विष्णु प्रभाकर

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य—डेढ़ रुपया : पृष्ठ सं०--१७४

यह पुस्तक लेखक की तेईस मौलिक कहानियों का संग्रह है। लगता है, लेखक ने अपनी आदत सुधार ली है और सभी कहानियों की भूमिका नहीं लिखी है। लेखक कहता है : "अनुभव हुआ है कि कहानी-संग्रह की भूमिका लेखक और पाठक के बीच में व्यवधान ही बनती है।" फिर भी क्या यह लिखना आवश्यक है कि कौन-सी कहानी किस वर्ष लिखी गई ! पाठक स्वयं यह पढ़कर विचारें कि कौन-सी कहानी किस काल की है।

'खंडित पूजा', जिस कहानी पर पुस्तक का नाम रखा गया है, आजादी से पहले की कहानी है। 'वापसी' और 'रात की रानी और लाल गुलाब' मनोवैज्ञानिक कहानियाँ हैं। 'नारी चरित्रम्…', 'नचिकेता', 'कलाकार की खोज', 'यह हार, यह जीत' और 'ये उलझनें' कहानियाँ अच्छी बन पड़ी हैं।

कुछ अप्रचलित प्रयोग किये गये हैं, जैसे, 'संध्या गहरा आई है'। छपाई साफ है।

सुभाषित सप्तशती

संकलनकर्त्ता—मंगलदेव शास्त्री

प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

मूल्य--ढाई रुपया : पृष्ठ सं०--१८६

इस पुस्तक में प्राचीन वाङ्मय के चुने हुए सुभाषितों का संग्रह किया गया है। इसमें वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् के वचन भी हैं और रामायण, महाभारत, भागवत और योगवाशिष्ठ के श्लोक भी। धम्मपद आदि बौद्ध-जैन गाथाएँ भी हैं और कालिदास, भास, भारवि, हर्ष, दंडी आदि महाकवियों की सुभग-ललित कृतियाँ भी।

लेखक का अध्ययन गहन और व्यापक है और इसका अधिक-से-अधिक लाभ उन्होंने पाठकों को देने का प्रयत्न किया है। अगर यह कहा जाय कि शास्त्रीजी ने गागर में सागर भर दिया है तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। संस्कृत-प्रेमियों के लिए और संस्कृति-उपासकों के लिए यह एक अच्छी मनन-योग्य प्रसन्न-गंभीर देन है।

प्रच्छद-पट आकर्षक, छपाई साफ एवं सुन्दर है।

—विचारकेतु

अँगरेजी बनाम हिन्दी

लेखक—अभिनव गुप्त

प्रकाशक—साहित्यिकी, दक्षिण मन्दीरी, पटना-१

मूल्य—पचास न० पै०

प्राक्कथन में लेखक ने 'अंगरेजी व्यामोह में इसे (अंगरेजी को) जबर्दस्ती भारतीय जनता पर लाद रखने की अदूरदर्शिता दिखायी तो देश टुकड़े-टुकड़े बँट जायगा' यह जो बात कही है, अंगरेजी के हिमायती इसी बात को पलट कर हिन्दी के विरुद्ध इस प्रकार कहा करते हैं : 'हिन्दी व्यामोह में इसे (हिन्दी को) जबर्दस्ती भारतीय जनता (अहिन्दी-भाषी) पर लाद रखने की अदूरदर्शिता दिखायी तो देश टुकड़े-टुकड़े में बँट जायगा', और उनकी इस बात में जो स्वार्थ (उचित भी) या सतर्कता है, उसी को तरह देकर कुछ केन्द्रीय महापुरुष अंगरेजी को सब जगह लागू और उन्नत भी किये हुए हैं। अतः लेखक को इस बात के उठाने के साथ इस बात के उलट कर काटने के विरुद्ध भी सतर्क उत्तर देना चाहिए था। बल्कि यदि इसी उत्तर के लिए यह किताब होती, तो अधिक अच्छा होता। हिन्दी के पक्ष में टिलक, गाँधी, सुभाष, ठाकुर, लोहिया आदि की बात को अपनी इस पुस्तक की बात बना लेने में बहुत विवाद हैं। दुर्भाग्य है कि इस देश के इन जैसे बड़े-बुजुर्गों का शिक्षा-साधन इतिहासवश अंगरेजी होने से ही, ये अंगरेजी को ही विश्व-संपर्क का एकछत्र कारण माने हुए हैं और उसे सम्पन्न भी समझे हुए हैं। दूसरे, इनमें सुभाष जहाँ अपने देश की भाषाओं की लिपि रोमन चाहते रहे हैं वहीं लोहिया नागरी। अपने तर्क की पुष्टि में इन्हें रखते हुए इनके आपसी [illegible] भी विमर्श कर लेना चाहिए; नहीं तो सारी बात चिटबाजी जैसी गफलत पैदा करनेवाली ही समझी [illegible]

इस पुस्तक में दूसरी कमी यह है कि इसे भाषाविमर्षक के तौर पर सोचकर नहीं, बल्कि राजनीतिक जोश में लिखा गया है, इसलिए इसमें हिन्दी-बोल संवादी स्वर हो उठा है और देश की दूसरी भाषाएँ वर्जित स्वर जैसी। इसे राजनीतिक जोश से अधिक यदि राजनीतिक होश होकर भी लिखा जाता, तो यह उपेक्षा या अपेक्षा जैसा दो-मुँहाँ दोष नहीं आता। मैं यह सब सिर्फ अगले संस्करण में सुधार कर लेने की राय देने भर को लिख रहा हूँ। वैसे, हिन्दी को दबाने और अंग्रेजी को उभारने वाली बद-नीयतों के विरुद्ध इसमें काफी प्रमाण इकट्ठे कर लिये गये हैं।

पंजाब की प्रीत कहानियाँ (ध्वनि-गीतिनाट्य)

कवि—हरिकृष्ण 'प्रेमी'

प्रकाशक—आत्माराम एंड संस, दिल्ली

मूल्य—३.५०

इसमें बहुतेरी रीतिरहित स्थितियाँ हैं, जैसे, इन नाटकों की नायिकायें अपनी लुनाई की प्रशंसा खुद ही पाँच जनों में गाकर कर बैठती हैं: 'ये गोरी बाँहें चनाब से खेलें, नागिन-सी अलकें लहरों पर फैलें' (हीर), 'पतली कमर लचक जाती है' (ससि की माँ द्वारा अपने लिये) आदि। बिना किसी विष्कम्भक की जगह बनाये, देखते ही फट से प्रेम प्रारंभ हो जाता है: 'राँझा—कमलों से कोमल हाथों से करती निर्दय काम, हीर—ए परदेसी दिखता है तू सच-मुच भोला-भाला, सहेली—लाल हो उठी हीर लाज से... चलो यहाँ से···हो लेने दो दोनों की पहचान...जब नजरें मिल गईं हो गया शुरू प्रीत का खेल, सहेली—देख रहा क्या नजर गड़ाए ?, ससि—छिः फिजूल तकरार बढ़ाती, पुन्नूँ—ससि यह हाथ न अब छूटेगा, दुल्ला—तरसा मत अब और, नूरी—दिल का माल लूटने वाला, इत्यादि। फटाफट प्रेम करनेवाली ये नायिकाएँ जहाँ मुग्धात्व की आयु में ही मुँहफट की तरह प्यार जताती हैं, वहीं लगे हाथ अपने नायक के प्रति अशुभ भी कह जाती हैं: नूरी—तेरे गले हमेशा फाँसी, मिर्जा—गोरी-गोरी बाँह तुम्हारी कल फाँसी भी बन सकती है। इसमें बहुतेरे प्रससारशनैर्वायु भी हैं: 'साजन का आँगन चिकना है' (विवाह में महिलाओं का ढोलक-गान 'सोहनी-महीवाल'), 'हौले हिचकोले ले रानी, हिचकोलों से हिले जवानी' (ससि-पुन्नू)', 'इसकी है तलवार निराली, इसकी है सलवार निराली' (दुल्ला)। छन्द तो इसके इतने बचकाने हैं कि नमूना देखा जाय: "धड़क-धड़क धक हिया धड़कता" (हीर के मुँह से)—इसमें जब हिया 'धक' है, तो 'धड़कता' क्यों है ? 'मत नाहक अंधेर करो' और 'होना था हो गया अचानक' (मिर्जा-साहिबाँ)—इन दोनों सम के पदों में चौदह और सोलह मात्राओं जैसा फर्क। इसमें 'पंजाब' पर बिना किसी विशेषता बताए जोर मारा गया है: 'नहीं प्रीत के पथ से हटने वाली है पंजाबिन बाला' (हीर), 'पंजाबिन से पड़ा नहीं पाला है', 'पर मैं भी पंजाबिन माँ हूँ', 'धुन की पक्की है पंजाबिन बाला' (सोहनी), 'यह पंजाब देश का दिल है' (मिर्जा), 'प्यारा पंजाब निराला' 'ओ पंजाबी लाल' 'यह पंजाब शीश ऊँचा कर' (दुल्ला)—आदि। टक्कर में बातें निकल आए तो वह नाटकीयता हुई; मगर पंजाब के रेडिओ से नाटक जारी करना है, बस इसीलिए पात्रों के 'पंजाब-पंजाब' का जाप हो, तो सोचने की बात है।

—लालधुआँ

★

(पृष्ठ ३० का शेषांश)

को उसके और प्रभावशाली एवं अचूक रूप से तब बल मिलेगा, जब वह अपने स्वरूप को सर्वोदयवादी साँचे में ढाल कर अपने प्रांगण में बिना किसी भेदभाव के सबको आमंत्रित करके उनका सम्यक् कल्याण करे।

रस्किन, महात्मा गाँधी और आचार्य विनोबा के सर्वो-दय-आन्दोलन की सफलता बहुत अंशों में पुस्तकालयों द्वारा [illegible] पर ही अवलम्बित है।

इस पुस्तकालय से चाहे जिस रूप में सम्बन्ध हों—संस्थापक हों, पाठक हों अथवा कोई अन्य हों—हमें पुस्तकालय के सर्वोदयवादी स्वरूप को समझना और समझाना होगा। जब हम ऐसा करेंगे, तो पुस्तकालयों के सिर पर चढ़े हुए सेहरे के सुमन में सौन्दर्य के साथ सुगन्ध का भी समावेश होगा।

★

हमें यह कहना है
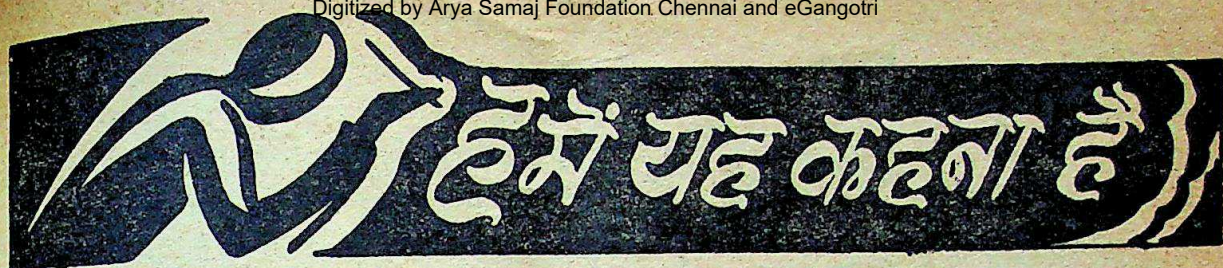
राष्ट्रीयकरण : एक प्रश्न

समाजवादी समाज के नाम पर दो रुख सोचे जाते और अमल में लाये जाते हैं। पहला रुख तो यह है कि जनता की विभिन्न आर्थिक और सामाजिक इकाइयों के हित में तत् तत् इकाइयों की सहयोगिता द्वारा कार्य, और दूसरा रुख यह है कि जनता और उसकी इकाइयों के हित के नाम पर सारे कारोबार को अपने तंत्र के हित में सरकार द्वारा हस्तगत किया जाना। यह दूसरा रास्ता कम्युनिस्ट देशों में चलता है। गाँधीवादी विचार तो पहले रास्ते के भी विरुद्ध है, क्योंकि उस तक में समाज के नाम पर व्यक्ति की हैसियत कुंठित कर दी जाती है। व्यक्ति की प्रमुख हैसियत होती है : उसका विचार एवं तदनुसार आचार। यह बात उसमें शिक्षा और संगति से आती है। हमारे देश की सरकार ने गाँधीवादी रास्ता तो क्या, उससे दूसरे रास्ते को भी छोड़कर तीसरे पर जाने की हद कर दी है। हम तो शिक्षा के राष्ट्रीयकरण के नितान्त विरोधी हैं। शिक्षा के मामले में यह कोई भली शर्त्त नहीं है कि, उसे जैसा सरकार-हथियाए हुए नेता चाहें, वैसी ही वह चले। सरकार को यदि अपना तंत्र चलाने के लायक आदमी चाहियें तो वह हर ऊँचे विद्यालय-शिक्षालय में अपने साधारण काम के लायक एक-दो ऐच्छिक पर्चे रख सकती है। बाकी धर्म, दर्शन, साहित्य आदि को पढ़ाई के लिये सभी विद्यालय स्वतंत्र होवें, और उन सबों के कोर्सों को सरकार मान्यता दे। शेष विज्ञान आदि में कोई विवाद आदि नहीं है। विवाद तो होता है विचार बनानेवाले आध्यात्मिक, साहित्यिक या आधिभौतिक कला-पक्ष के अध्ययन को लेकर। राज्य धर्मविहीन (सेकुलर) हो, यह अच्छा है; मगर पढ़ाई भी धर्मविहीन हो, इस बात को गाँधीवादी भी दुर्भाग्यपूर्ण मानते हैं। आखिर क्या कारण है कि शिक्षा, उद्योग, राज-व्यवस्था — सभी मामले में, इस देश की आत्मा की और गाँधीवाद तक की जानबूझ कर इतनी उपेक्षा की जा रही है? हम तो यहाँ तक समझते हैं कि इस शास्त्रार्थी परम्परा वाले देश में राजनीति तो क्या, धर्म-विषय तक के खुले-आम खंडन-मंडन की सहिष्णुता रही है और जिस सहिष्णुता को जब-जब राजकीय दबाव से मिटाया गया है, तब-तब उसका अच्छा लाभ नहीं हुआ है। यही बात शिक्षा के नाम पर आज भी की जा रही है। यही कारण है कि आज मनीषा के स्थान पर दबाव या फैशन के अनुकरण की शिक्षा चलती है। इधर पता चला है कि पढ़ाई की पोथियों के राष्ट्रीयकरण के लिए सरकार कुछ और जोर पर है, और वह उसके लिए इतनी तेज मशीन ला रही है कि देश भर की तमाम पढ़ाई-पोथी वह एक साल में ही मुहैया कर दे। सरकार ऐसा तभी कर सकती है, जबकि शिक्षा-पोथियों के मामले में बाजार में वह अकेली रहे, और सारे देश के पढ़ाई-विषय को एक ही रंग में रँग दे। हमें इन दोनों बातों से बहुत दुःख होगा। क्योंकि न तो हम एक रंग-ढंग पर सबको पढ़ने के लिए मजबूर किये जाने के पक्षपाती हैं, और न सरकार के शिक्षा-निर्देशक होने के। हम अलग-अलग प्रकाशन-संस्था, वैसों की सहयोगी संस्था और शिक्षालयों को इस विषय में बिलकुल स्वतंत्र रखना चाहते हैं और इनमें अधिक-से-अधिक इतनी ही राजकीय हित की गुंजाइश छोड़ सकते हैं कि उसके हित के भी एक-दो पर्चों की पढ़ाई वहाँ हो।

—१ जून को भारत सरकार ने हिन्दी-शिक्षा समिति की सिफारिशों पर सरकारी नौकरियों के लिये देश की १५ संस्थाओं द्वारा संचालित हिन्दी परीक्षाओं के हिन्दी स्तर को मान्यता दी है। इनमें हिन्दी विद्यापीठ, देवघर की प्रवेशिका, साहित्य भूषण तथा साहित्यालंकार एवं हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की प्रथमा, मध्यमा तथा साहित्यरत्न परीक्षायें भी सम्मिलित हैं जिन्हें क्रमशः मैट्रिक, बी० ए० तथा बी० ए० से अधिक की मान्यता प्रदान की गयी है।

—३ जून को एर्नाकुलम (आंध्र) में मलयालम के विख्यात् कवि श्री शंकर कुरुप के सम्मान में आयोजित सांस्कृतिक समारोह का उद्घाटन करते हुए केन्द्रीय सूचना-मंत्री डा० केसकर ने कहा कि श्री शंकर कुरुप ने अपनी रचनाओं के माध्यम से राष्ट्रीय एकता को सुदृढ़ किया है। इनके कविता-संकलन देवनागरी लिपि में प्रकाशित होने चाहिए।

—४ जून को बर्लिन में भारतीय पत्रकार हैमनरे ने भारत तथा पश्चिमी जर्मनी के सौहार्दपूर्ण संबंधों की चर्चा करते हुए कहा कि यूरोप में पश्चिमी जर्मनी उन देशों में है जिसके स्कूलों और कालेजों में अब भारत की हिन्दी, बंगला तथा तामिल भाषाएँ विधिवत् पढ़ाई जा रही हैं।

—७ जून को पंजाब सरकार ने केन्द्रीय सरकार द्वारा अनुमोदित देवनागरी लिपि को स्वीकार कर लिया है। इससे धीरे-धीरे गुरुमुखी की जगह अब नागरी लिपि का ही प्रयोग होगा।

—अखिल भारतीय राष्ट्रभाषा प्रचार-सम्मेलन के दशम अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव में कहा गया है कि आसाम, उड़ीसा, बंगाल आदि राज्यों में, जहाँ विद्यालयों में हिन्दी परीक्षा का विषय नहीं है, वह अनिवार्य विषय बनाया जाय।

—१६ मई को आगरा में केन्द्रीय शिक्षा-महाविद्यालय में दीक्षान्त भाषण करते हुए हिन्दी के प्रसिद्ध आलोचक डा० रामविलास शर्मा ने कहा कि अंगरेजी, जिसे विश्वभाषा कहा जाता है, वास्तव में विश्वभाषा नहीं है। संसार की एक चौथाई जनसंख्या भी अंगरेजी नहीं जानती। यह खेद की बात है कि हम अंगरेजी पढ़े बिना अपने ज्ञान को अधूरा समझते हैं।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ
नवनिर्वाचित कार्यसमिति की बैठक

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की नवनिर्वाचित कार्यसमिति की प्रथम बैठक ४ जून १९६१ सायंकाल ४॥ बजे, भारती भंडार, लीडर प्रेस इलाहाबाद में श्री कृष्णचन्द्र बेरी की अध्यक्षता में हुई। बैठक के प्रारम्भ में अध्यक्ष ने कार्यसमिति के रिक्त स्थान के लिए लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद के श्री दिनेशचन्द्र जी को मनोनीत किया।

राष्ट्रीय पुस्तक समारोह—कार्यकारिणी समिति राष्ट्रीय पुस्तक समारोह के प्रस्तावित प्रारूप को स्वीकृत करती है तथा निर्देश देती है कि पुस्तकों के प्रचार तथा शिक्षा के प्रसार की दृष्टि से इस प्रकार के समारोह का आयोजन प्राप्त सुविधाओं की सीमा के अन्तर्गत किया जाना चाहिये। कार्यसमिति समारोह के व्यय के लिए दो हजार रुपये की राशि स्वीकृत करती है और इसके अतिरिक्त संघ को इस समारोह के निमित्त जितनी राशि प्राप्त हो उसके व्यय के लिये भी अनुमति देती है।

नेट बुक समझौता—समिति ने मत प्रकट किया कि प्रधान मंत्री के निर्देश से कोई एक संयुक्त मंत्री नेट बुक समझौते का कार्य देखें।

अनुशासन समिति—कार्यसमिति ने निम्नलिखित पाँच व्यक्तियों की एक अनुशासन समिति नियुक्त की जो नेट बुक समझौते को अनुशासित करेगी।

१. श्री पं० वाचस्पति पाठक — इलाहाबाद।
२. श्री रामलाल पुरी — दिल्ली।
३. श्री गोकुलदास धूत — इन्दौर।
४. श्री ओम्प्रकाश जी — दिल्ली।
५. श्री देवनारायण द्विवेदी — वाराणसी।

एक संयुक्त मंत्री कार्य का संचालन करेगा।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

रजिस्टर्ड नं० : पी० ८०४

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

र्ष ७ : अंक १२
ागस्त, १९६१

हिन्दी में पहली बार

प्रेमचंद

की पाँच कहानियों का आदि संग्रह

सोजे वतन

जो ५२ बरस पहले छपा था और छपते ही इतिहास बन गया था

सोजे वतन

जिससे गोराशाही थर्रा उठी थी और जिसकी होली जलाकर हमीरपुर के कलक्टर ने गुस्से से काँपते हुए मुंशीजी से कहा था—

"ख़ैर मनाओ कि मुग़ल सल्तनत में नहीं हो, वर्ना हाथ काट लिये जाते तुम्हारे !"

सोजे वतन

जिसकी चार कहानियाँ हिन्दी में पहली बार छप रही हैं।
अनुवाद अमृत राय ने किया है।

मूल्य—एक रुपया

अपने पुस्तक-विक्रेता से माँगिए

हंस प्रकाशन
इलाहाबाद

बंगभाषा के मूर्धन्य साहित्य-शिल्पी

श्री बुद्धदेव वसु की प्रख्यात उपन्यास-कृति

शेष पांडुलिपि

अनुवादक : श्री अनूपलाल मंडल

संस्मरणात्मक शैली में लिखे हुए इस श्रेष्ठ साहित्य-शिल्प में साहित्यकार की सारी चिन्ताधारा तमाम घटनाओं और आघातों के मूवी-कैमरे में नेगेटिव होकर चित्रित हुई है, जिसको सकारने या पाजिटिव रूप देने का निर्मम भार हर सहृदय पाठक के मन को अभिभूत करता है। किसी विचारशील शिल्पी के सारे निस्संग कृत्यों-अकृत्यों को इस कृति से अधिक शायद ही कहीं तटस्थतापूर्वक उपस्थित किया गया हो।

सुन्दर कागज और मुद्रण : सजिल्द

मूल्य : २.५०

बुक्स एण्ड बुक्स

अशोक राजपथ, पटना—४

साहित्य सम्मेलन, हिन्दी विद्यापीठ, इंटर, बी० ए०, हायर सेकेंडरी, संस्कृत-परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए

काव्य-प्रवेश

लेखक : श्री रासबिहारी राय शर्मा, एम० ए०, डिप० एड्०, साहित्यरत्न,
भूतपूर्व प्रधानाध्यापक, बिहार शिक्षा-अधिसेवा

काव्य क्या है?—काव्य के भेद—शब्दार्थ शक्ति—रस की व्युत्पत्ति—रस के अवयव—रस-भेद-निरूपण—दृश्य-काव्य—रसानुभूति—रिचार्ड की रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया—काव्य गुण—काव्य में रीति—शब्दालंकार—अर्थालंकार—छन्द—मात्राविचार—गति और यति—दग्धाक्षर या अशुभाक्षर—चरण—अन्त्यानुप्रास—छंदों के भेद—पाठ्यक्रम—काव्यदोष आदि विषयों से सम्पन्न।

मूल्य : १.५० न० पै०

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना ४

सॉनेट : एक नवीन काव्यरूप

★

श्री श्यामसुन्दर घोष

सॉनेट अपेक्षाकृत एक नवीन काव्यरूप है, जिसका आयात हिन्दी में विदेशी काव्य-साहित्य से उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में प्रारम्भ हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि सॉनेटों का जन्मस्थान इटली है। इटली के सिसिली-स्कूल के कवियों ने सबसे पहले इस काव्यरूप का सफल प्रयोग किया और इसे लोकप्रिय बनाने की चेष्टा की। इटली में सॉनेट को sonetto कहा जाता है, जिसका अर्थ है : शब्दों की ऐसी रचना जो किसी प्रकार के वाद्ययंत्र के सहारे गायी जा सके। सॉनेट पहले गाने के लिये ही लिखे जाते थे।

सॉनेटों का प्रचलन यद्यपि तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ, तथापि सोलहवीं शताब्दी तक इसका प्रयोग अपेक्षाकृत सीमित ही रहा। सबसे पहले इतालवी के कवि पेट्रार्क के द्वारा इसका रूप निश्चित किया गया और उसी के प्रयोगों के फलस्वरूप यह काव्यरूप अधिकाधिक कलात्मक प्रतीत होने लगा। पेट्रार्क के नाम पर इसका नाम भी पेट्रार्कियन सॉनेट पड़ा, जो इटली में आगे चलकर खूब प्रचलित हुआ। इस काव्यरूप का प्रयोग अंगरेजी और जर्मन साहित्य में भी किया गया, जिसमें रोमांस-साहित्य का तो वह प्रिय काव्यरूप ही रहा। सुप्रसिद्ध जर्मन कवि दांते ने भी इसका सुन्दर प्रयोग किया।

आगे चलकर यह नवीन काव्यरूप यूरोप के प्रायः प्रमुख देशों की उन्नत और समृद्ध भाषाओं में प्रचलित हो गया। इतालवी, फ्रांसीसी और अंगरेजी साहित्य में इसका सम्यक् प्रचार हुआ। इन विभिन्न भाषाओं में सॉनेटों का प्रयोग तो हुआ, लेकिन उनकी अलग विशेषताएँ रहीं। प्रत्येक भाषा में सॉनेट के चरणों के अक्षरों की संख्या अलग-अलग रही। इतालवी में ग्यारह, फ्रांसीसी में बारह और अंगरेजी में दस अक्षरों वाले चरण का प्रयोग किया गया। किन्तु, एक बात समानरूप से सभी भाषाओं के सॉनेटों में स्वीकृत की गई। वह थी चरणान्त और अन्त्यानुप्रास का क्रम।

अंगरेजी सॉनेट का प्रयोग सर्वप्रथम सर थामस वायट ने किया। पंद्रहवीं शताब्दी तक इटली के इस काव्यरूप की समस्त विशेषताएँ अंगरेजी में आ गईं। शेक्सपीयर, स्पेन्सर, मिल्टन, वर्ड्सवर्थ, कीट्स, ब्राउनिंग आदि समर्थ कवियों ने इस नवीन काव्यरूप को बड़े उत्साह के साथ स्वीकार किया। अंगरेजी साहित्य में शेक्सपीयर और स्पेन्सर के सॉनेटों की अपनी विशेषता रही—भावभूमि की दृष्टि से भी और छन्दविधान की दृष्टि से भी। इसीलिए, ये दो प्रकार के सॉनेट अपने प्रवर्त्तकों के नाम पर शेक्सपीरियन सॉनेट और स्पेन्सेरियन सॉनेट के नाम से अभिहित किये गये।

शेक्सपीयर ने सॉनेट के जिस रूप को अपनाया, वह इटैलियन सॉनेटों से भिन्न है। इटैलियन सॉनेटों में सॉनेट का आकार दो भागों में विभक्त रहता है। एक अष्टपदी [octave] आठ पंक्तियों का और दूसरा षट्पदी [sestet] छह पंक्तियों का। पर, शेक्सपीयर ने इस विधान को स्वीकृत नहीं किया। उसने सॉनेटों का रूप बहुत-कुछ स्पेन्सर की भाँति रखा। स्पेन्सर ने सॉनेटों को चार-चार पंक्तियों के तीन पदों [Quatrains] में विभाजित कर, अंत में द्विपदी [Couplet] का प्रयोग किया। उदाहरण के लिये, एक हिन्दी सॉनेट लिया जा सकता है, जो इस विधान के अनुसार है—

सुन्दरी के पैरों में देखी जब सोनहली
नरम बाल वाली और गोल श्वेत चत्तों की
चप्पल, तो देख उसे याद आयी हिरनों की
खुले चारागाहों में चौकड़ियाँ पहली

याद मुझे आया भूत, वर्त्तमान, भावी
याद नहीं आई मुझे किसी भगवान की
याद मुझे आई सिर्फ भगवती जानकी
मारीच आया बन हेम-हिरन मायावी

आज भी सु-वर्ण हमें तुम्हें ललचाता है
आज भी हमारी देवियों को वही कंचुकी
पहनने की इच्छा है। किन्तु वह बन चुकी
आज राम [illegible] ले वन में कहाँ जाता है

लक्ष्मण की रेखा खुद लक्ष्मण मिटाता है
खुशी खुशी सीता संग रावण मुस्काता है।
—प्रभाकर माचवे

शेक्सपीयर ने सॉनेट के इसी विधान को स्वीकृत किया। पर शेक्सपीयर और स्पेन्सर में कुछ बातों को लेकर अन्तर भी हैं। स्पेन्सर तुक की शृंखलावद्धता पर बहुत जोर देते हैं, जबकि शेक्सपीयर इसे बहुत आवश्यक नहीं समझते। शेक्सपीयर ने सॉनेट के रूप की अपेक्षा उसके भाव पर अधिक ध्यान दिया। उनके सॉनेटों में मानव-जीवन की मार्मिक अनुभूतियों की जो निश्छल अभिव्यक्ति हुई है, वही अधिक महत्त्वपूर्ण है।

पहले, सॉनेटों का सम्बन्ध प्रेम के प्रसंगों से था। सिडनी स्पेन्सर और शेक्सपीयर की भाव-सम्पदा प्रायः प्रेम की विविध मार्मिक अनुभूतियाँ ही है। किन्तु, पीछे चलकर मिल्टन, वर्डस्वर्थ जैसे कवियों ने इसकी भावभूमि का विस्तार किया। इस प्रकार, सॉनेट प्रेम-प्रसंगों की सीमित परिधि से मुक्त हुआ। वर्डस्वर्थ ने तो सॉनेटों को लौकिक स्तर से उठा कर अलौकिक भावस्तर पर स्थापित किया और उसमें एक प्रकार की आध्यात्मिकता का समावेश कर दिया। बाद में तो सॉनेटों का क्षेत्र और भी विस्तृत होता गया।

सॉनेटों की विशेषता उसकी गेयता और संक्षिप्तता है। सेनेटो शब्द उसकी गेयता को स्पष्ट करता ही है, पर इसके निश्चित छन्द-विधान से इसकी संक्षिप्तता भी सूचित होती है। कवि को जो-कुछ कहना रहता है, उसे चौदह पंक्तियों में ही कहता है। सॉनेट-लेखन में छन्द और भाव सम्बन्धी प्रतिबन्ध कम नहीं है। इसमें विभिन्न लयों [Contrasted Rythm] के सहारे एक ही भाव को स्पष्ट करना पड़ता है, जिसमें एकान्विति [Unity] पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। पंक्तियों के संयोजन में अन्तर होने पर भी भाव-धारा टूटे नहीं, इसका ध्यान रखना पड़ता है। एक ही भाव का निर्वाह करते हुए भी, उसे विभिन्न गति-भंगिमा से व्यक्त करना होता है। अष्टपदी के बाद ही भावों की भंगिमा में परिवर्तन आवश्यक समझा जाता है।

सॉनेट में अष्टपदी और षट्पदी का अपना-अपना कार्य होता है। सॉनेट के सम्बन्ध में विचार करते हुए कहा गया है : A sonnet should contain the expression of one single idea, impulse or sentiment which it is usual to unfold in the octave and illustrate in the sustet.

सॉनेट के एक अन्य प्रकार का भी उल्लेख किया गया है, जिसमें अष्टपदी और षट्पदी न होकर दो चतुष्पदियों के बाद तीन द्विपदियाँ होती हैं और इस प्रकार चौदह चरण होते हैं। Sometimes instead of eight continuous lines we have two stanzas of four lines each or two quatrains and similarily instead of one verse of six lines we have two or three lines each or two tercets.

सॉनेट के लिये हिन्दी में चतुर्दशपदी शब्द का व्यवहार होता है, जो इस काव्यरूप के बाह्य-विधान को देखते हुए प्रायः ठीक ही है। हिन्दी में सॉनेटों का प्रयोग छायावाद-युग में प्रारम्भ हुआ। हिन्दी के कवियों पर जहाँ स्पेन्सर और शेक्सपीयर के सॉनेटों का प्रभाव है, वहाँ वे इटैलियन सॉनेटों के प्रभावों से भी अछूते नहीं हैं। इसलिये, उन्होंने अपने प्रयोग का आधार दोनों प्रकार के सॉनेटों को बनाया।

हिन्दी में सॉनेटों का प्रयोग सबसे पहले किसने किया, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कहना कठिन है। सॉनेटों के प्रवर्तक के रूप में साधारणतः तीन नाम लिये जाते हैं—जयशंकर प्रसाद, सुमित्रानन्दन पंत और नरेन्द्र शर्मा। निरालाजी भी इस काव्यरूप की ओर आकृष्ट हुए और उन्होंने भी इसका प्रयोग किया। बाद में दिनकर, बालकृष्ण राव, प्रभाकर माचवे और त्रिलोचन शास्त्री भी इस ओर झुके। माचवे और शास्त्री ने सॉनेटों पर काफी श्रम कर इस काव्यरूप को माँज कर खूब चमका दिया। त्रिलोचन की मान्यता है कि सॉनेट में कसा-कसाया अनूठा भाव इस प्रकार प्रकट हो, जैसे आगरे के किले का नग पूरे ताजमहल से दिखाई पड़ता है। तभी सॉनेटों की सफलता और सार्थकता है। त्रिलोचन और माचवे के सॉनेटों की विशेषता उनकी व्यंग्यपूर्ण अभिव्यंजना और चुटीलापन है। बाद के कवियों में यह काव्यरूप अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया।

सोवियत शासन में साहित्य : एक उल्लेख्य संकलन

★

श्री सौदागर

"ओल्ड वर्ल्ड, पॉज बिफोर दि एन्सेन्ट एनिग्मा ऑफ दि स्फिंक्स ! दैट स्फिंक्स इज रशिया"—ये शब्द इस शताब्दी के रूसी कवि ब्लॉक के हैं, जिसके संबंध में पास्तरनाक ने अपनी आत्मकथा में लिखा है—"ब्लॉक वाज पार्ट ऑफ माइ यूथ, एज ऑफ दि यूथ ऑफ माइ जेनेरेशन", और इह्रेनबुर्ग ने कहा है कि : "ब्लॉक्स पोएम 'दि १२' विल एनड्योर एज दि ग्रेटेस्ट फेनोमेना इन रशियन लिटरेचर।" ब्लॉक की मृत्यु हुए चालीस वर्ष बीत चुके, किन्तु रूस आज भी रहस्यमय है। किस अप्रकट प्राणशक्ति के बल पर गृहयुद्ध, अकाल और दो-दो महायुद्धों के सिर से गुजर जाने के बावजूद, आज के रूस की इतनी विस्मयकर प्रगति हो सकी है, यह आजतक एक अनाविष्कृत रहस्य ही बना हुआ है।

प्रतिकूल परिस्थितियों को परास्त कर देने की यह क्षमता, रूसी जीवन के अन्यान्य क्षेत्रों के समान, साहित्य के क्षेत्र में भी अप्रकट नहीं है। "लिटरेचर मस्ट बी पार्ट लिटरेचर"—लेनिन के इस फरमान के बाद, कम्युनिस्ट नीति के विधि-निषेधों के प्राचीर खड़े कर, रूसी साहित्य की स्वच्छन्दगति को बंद कर देने की जो चेष्टा होती रही है, उसके कारण साहित्य का श्वासरोध संभवतः हो ही जाना चाहिए। किन्तु, रूसी साहित्य में वैसा कुछ हो नहीं सका, उसका महान ट्रेडिशन आज भी अपनी जगह बरकरार है। केवल राष्ट्रीय निर्देशों का उल्लंघन कर ही रूसी साहित्यिकों ने अपने इस गुरुतर दायित्व का पालन किया है—यह बात सही नहीं है; बल्कि उनमें से अनेक निर्देशों या प्रतिबंधों को मानकर भी सार्थक साहित्य के निर्माण में सक्षम सिद्ध हुए हैं। एक ओर, जिस तरह कम्यूनिस्ट शैतानी के विरुद्ध प्रतिवाद करते हुए जामियातिन जैसे लेखक घोषणा करते हैं कि "इफ दिस डिजीज इज इनक्योरेब्ल, आइ एम अफ्रेड दैट रशियन लिटरेचर हैज बट वन फ्यूचर—इट्स पास्ट", उसी तरह रूसी क्रान्ति के कवि मायकोवस्की लिखते हैं कि "मिस्टर्स, यू कान्ट नो दि ड्राइव एंड दि ग्लोरी, दि रूट्स ऑफ दि जील ऑफ अवर कम्यूनिस्ट्स।"

इन दोनों पक्षों का अनिवार्य संघात स्वभावतः विप्लवोत्तर रूसी साहित्य के इतिहास का एक बहुत बड़ा अध्याय है। ब्लॉक के ऊपर आक्रमण से इस संघर्ष का प्रारंभ होता है। पास्तरनाक ने अपनी आत्मकथा में लिखा है कि अपनी मृत्यु के कई एक महीने पहले, राष्ट्रीय समर्थन में पुष्ट लेखकों और समालोचकों के हाथ से ब्लॉक को कितनी बुरी तरह अपमानित होना पड़ा था। जिस ब्लॉक को एक दिन यह सुनाम दिया गया था कि "दि क्रियेटर ऑफ दि पोएम ऑफ दि ग्रेट रशियन रेभोल्यूशन", उसी को आम जनसभा में कहा गया : 'बैक नंबर" और "लिविंग कॉर्प्स"। साहित्य के क्षेत्र में पार्टी का अनुशासन मानने में असम्मत होने के बावजूद, जिन्हें सार्थक साहित्यिक कहकर ट्राट्स्की ने अभिनन्दन दिया, रूस के नए समाज में जिनकी प्रयोजनीयता की स्वीकृति के नाते "फेलो ट्रव्लर्स" जैसी अभिधा की सृष्टि उन्होंने की; वे ही जामियातिन एवं उनके भक्त लेखक "दि सेरापियन ब्रिद्रेन" के रूप में अस्पृश्य घोषित कर दिए गए। अनेकों लांछनाओं को ढोने के बाद, अपने अनुरागी मित्र गोर्की की सहायता से जामियातिन ने रूस को छोड़ देने की अनुमति पाई और तब उसकी मृत्यु विदेश में ही हुई। केवल न्यू-रियलिस्टों की ही यह हालत हुई, यह बात नहीं; बल्कि पार्टी का सर्वोत्तम दायित्व जिन्होंने अपने मन में ले रखा था, वे लेखक भी इस दुर्भाग्य को टाल नहीं सके। पिलनियाक और बाबेल हठात् गायब कर दिए गए; येसेनिन और यासविलि ने आत्महत्या कर ली। अपने मित्र येसेनिन की आत्महत्या की निन्दा करते हुए जिन मायकोवस्की ने लिखा था कि "इन दिस लाइफ डाइंग इज नॉट हार्ड, टु कंस्ट्रक्ट लाइफ इज कंसिडरेब्लि हार्डर", वे ही मायकोवस्की जब अपने इस मित्र की मृत्यु के पाँच वर्ष बाद खुद आत्महत्या करते हैं; तो उनके बचे हुए बन्धुओं की समालोचना भी वैसी

ही मुखर होती है। मृत्यु के बाद, मरे हुए मायकोवस्की की पुनःप्रतिष्ठा केवल स्तालिन के सर्टिफिकेट की ही बदौलत हुई। स्ट्राट्स्की ने एक बार लिखा था कि पिलनियाक, सेरापियन ब्रिद्रेन, मायकोवस्की एवं येसेनिन—इन सबों को छोड़ देने के बाद, भविष्य में प्रलितारियन साहित्य में क्या बच जायगा : "एक्सेप्ट ए फ्यू डिफल्टेड प्रमिसरी नोट्स।" इन उपर्युक्तों में से किसी ने रिहाई नहीं पाई, और इससे रूसी साहित्य की क्षति निश्चय ही हुई; किन्तु अग्रगति बंद नहीं हुई। इन क्षतियों के बावजूद, रूसी साहित्य का गौरव अम्लान है।

सोवियत तंत्र के रूसी साहित्य का एक संकलन अमेरिका की मॉडर्न लाइब्रेरी ने हाल में ही प्रकाशित किया है। गोर्की से लेकर पास्तरनाक तक बीस विशिष्ट रूसी लेखकों की कहानी, कविता, उपन्यास ने उक्त संकलन में स्थान पाया है। लेखकों के बीच हैं गोर्की, ब्लॉक, मायकोवस्की, येसेनिन, जमियातिन, बाबेल, ताल्सताय, फादेयेव, एह्रेनबुर्ग और पास्तरनाक। कहना नहीं होगा कि साढ़े चार सौ पृष्ठ की इस पुस्तक में, इन सभी साहित्य-महारथियों की तमाम कृतियों को देखते हुए, सुविचार तक पहुँचना पूरी तरह संभव नहीं हो सका है। फिर भी, विप्लवोत्तर रूसी साहित्य के वैचित्र्य का परिचय इस पुस्तक से अच्छा मिल जाता है। इसके संकलक ने इस ओर अच्छी उदारता का परिचय दिया है, राजनीतिक कारणवश किसी साहित्य-कीर्ति को स्वीकार करने में कुंठित नहीं हुए हैं। यद्यपि, एक समय यह परिहासोक्ति सुनी जाती थी कि रूसी साहित्य रूस में सृष्ट न होकर पेरिस, बर्लिन और प्राग में सृष्ट होते हैं; फिर भी, उन सब प्रवासी (एमिग्रे) लेखकों की रचना इस संकलन में स्थान नहीं पायी है। संकलक ने ऐसा करने का कोई भी कारण नहीं बताया है। हो सकता है कि उनकी रचना, क्योंकि रूसभूमि पर नहीं लिखी गई है, इसीलिए उन्हें छोड़ दिया गया हो। प्रचलित रूसी प्रबंध-काव्य की एक रचना का १५ पृष्ठ वाला संचयन इस पुस्तक का विशेष आकर्षण हो उठा है।

इस संकलन का सबसे बड़ा आकर्षण जामियातिन का उपन्यास 'वह' है। पैंतीस वर्ष से भी अधिक इस पुस्तक पर सोवियत रूस में प्रतिबंध था। इस उपन्यास का अंगरेजी संस्करण १९२८ साल में अमेरिका में पहले-पहल प्रकाशित हुआ, और उसके दो साल बाद इसका एक संक्षिप्त चेक संस्करण भी निकला। उसके भी बाद, प्राग की एक एमिग्रे रूसी सामयिक पत्रिका ने उक्त चेक संस्करण का रूसी अनुवाद प्रकाशित किया। रूसी भाषा में लिखित यह उपन्यास सम्पूर्णरूप में पहले-पहल १९५२ साल में प्रकाशित हुआ, और इस बार भी वह अमेरिका में ही। और दूसरी सात भाषाओं में भी इस उपन्यास का अनुवाद हुआ है। इस पुस्तक के प्रकाश में आने के साथ-ही-साथ सोवियत यूनियन के पेशेवर गण-साहित्य-स्रष्टा जामियातिन के ऊपर खड्गहस्त हो गए, और उनका यह आक्रमण कई-एक वर्ष के बीच ही इतना प्रबल हो चला कि जामियातिन को सोवियत यूनियन छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा। गोर्की की सहायता और स्तालिन की अनुमति के अनुसार, १९३२ साल में वे पेरिस चले गए, और वहीं पर पाँच वर्ष बाद उनकी मृत्यु हुई।

जामियातिन क्रान्ति-विरोधी नहीं थे, किन्तु उन्होंने रूसी क्रान्ति के बाद वाले समाज की दोष-त्रुटि के संबंध में मतमतान्तर प्रकट करने की अबाध स्वतंत्रता चाही थी। विप्लव के फल की रक्षा के लिए, जनसाधारणों को विप्लवियों के प्रभाव से मुक्त रखने के लिए कंठरोध की आवश्यकता हुआ करती है—इस बात पर वे विश्वास नहीं करते थे। उनका विश्वास था कि लेखक की स्वाधीनता का हरण प्रकृत साहित्य-रचना का विरोधी है। 'वह' में उन्होंने अपनी इसी मान्य स्वाधीनता का प्रयोग किया था। प्राणहीन, नीतिसर्वस्व समाज और उसके यांत्रिक मनुष्यों का जो चित्र उन्होंने उसमें उपस्थित किया है, वह श्लेष आरवेल के "१९८४" या हक्सले के "ब्रेव न्यू वर्ल्ड" से किसी कदर कम तीक्ष्ण नहीं है। जामियातिन इस व्यंग्य और श्लेष में इन दोनों लेखकों के ही गुरु हैं।

'वह' सोवियत शासकों को उद्देश्य कर कही गई एक सतर्क वाणी है। 'वह'-समाज के मनुष्य, अर्थात् इस लोग भी, नामगोत्रहीन हैं; उनका परिचय सिर्फ गिनती में ही है। उपन्यास में नायक है 'डी-५०३' और नायिका 'ई-३३०'; राष्ट्र का नाम 'दि वन स्टेट' है। राष्ट्रनायक का नाम 'दि बेनिफैक्टर' है और राष्ट्ररक्षीदल 'दि गार्डियन्स'

के नाम से परिचित होता है। इस राष्ट्र की प्रतिष्ठा दो सौ वर्ष के युद्ध के बाद होती है, जिस युद्ध में प्रति हजार में केवल दो ही व्यक्ति अन्त तक बच पाते हैं।'दि वन स्टेट' में सूरज की रोशनी तक का सबमें बराबर बँटवारा कर दिया गया है, वहाँ का जीवन 'दि टेब्लस् ऑफ हाउअर्ली कमान्डमेंट्स' के द्वारा नियंत्रित है, और वहाँ का श्रेष्ठ साहित्य है: 'टाइम टेब्लस् ऑफ ऑल दि रेलवेज़'। इस समाज में पारिवारिक जीवन नहीं है, वहाँ गर्भधारण का दंड मृत्यु है एवं वहाँ की प्रत्येक संख्या ही है (क्योंकि संख्या ही किसी जीवधारी मनुष्य का नाम है): "हैज दि राइट ऑफ एमेलेबिलिटि एज ए सेक्सुअल प्रोडक्ट टू एनी अदर नम्बर"। इस राष्ट्र के बाहर एक और समाज चारों ओर व्याप्त है, जिसका नाम है 'वे'। इस 'वह' और उस 'वे' के बीच एक अलंध्य प्राचीर है। 'वह'-लोग जानते हैं कि 'वे'-लोग असभ्य और जंगली हैं। उपन्यास की नायिका 'ई-३३०' विद्रोहिणी है, और वह अपने राष्ट्र 'दि वन स्टेट' को निष्प्राण यांत्रिकता से छुटकारा दिलाना चाहती है। इस नायिका के प्रभाव में पड़कर नायक 'डी-५०३' में भी हृदय-परिवर्त्तन प्रारंभ हुआ और वह भी अपने देश की यांत्रिकता से मुक्ति का सपना देखने लगा। उसका ऐसे सपने देखने का संवाद लोगों को मिला, लोगों के द्वारा वह राष्ट्र के डाक्टरों के पास पहुँचा; और तब डाक्टरों ने रोग-निर्णय किया कि उसके शरीर के बीच मन नामक एक अस्वाभाविक कोष की सृष्टि हो गई है और अस्त्रोपचार के बिना उसे इस रोग से छुटकारा नहीं मिल सकता। फलस्वरूप, अस्त्रोपचार पाकर स्वस्थ होने के बाद 'डी-५०३' ने अपने ऊपर आए हुए पूर्वोक्त सारे प्रभावों और उसके बाद की तथाकथित तमाम बातों को पूरापूरी स्वीकार कर लिया। उसकी इस स्वीकृति के बाद 'ई-३३०' और उसके सहयोगियों ने 'दि मैशीन ऑफ दि बेनिफैक्टर' के नीचे अपने प्राण दिये।

जहाँ तक जाना जाता है, जामियातिन ने इस उपन्यास को १६२० साल में लिखा था। इसलिए, उस समय के हिसाब से उनके 'बेनिफैक्टर' स्तालिन नहीं; बल्कि स्वयं लेनिन हैं। स्तालिनी टेरर के साथ सोवियत यूनियन का परिचय उसके बहुत बाद होता है। स्तालिन-युग से संबंध न होने के कारण, यह 'वह' उपन्यास राजनीतिसंपर्कहीन ही कहा जायगा। 'वह' कम्यूनिज्म का विरोधी नहीं है, बल्कि व्यक्तित्व के विलोप का ही विरोधी है और नीति को हृदय-वृत्ति के ऊपर आरोपित कर देने का विरोधी है। जामियातिन ने रूसी क्रान्ति को हेय प्रतिपन्न करने की चेष्टा नहीं की; किन्तु वही क्रान्ति अन्तिम क्रान्ति है और उसी क्रान्ति के साथ-साथ किसी आगे आनेवाली क्रान्ति का प्रयोजन समाप्त हो जाता है—उन्हें यह मानने में आपत्ति थी। आनेवाला विप्लव क्या रूप लेगा, उसका उद्देश्य क्या हो सकेगा; इस संबंध में उनकी कोई भी धारणा नहीं थी—यह बात नहीं कही जा सकती, यद्यपि उनके 'वह' की नायिका ने विप्लव की व्यर्थ चेष्टा में अपने प्राण तक गँवा दिए थे।

'वह' व्यक्ति-स्वातंत्र्य का घोषणापत्र है, अनेक के हित के नाम पर एक की हत्या का अग्रिम प्रतिवाद है। ऐसी हत्या पिपुल्स डेमोक्रेसी के नाम पर जितनी ही संभव है, उतनी ही संभव है किसी विशेषणहीन डेमोक्रेसी के नाम पर भी।

An Anthology of Russian Literature in the Soviet Period from Gorki to Pasternak—By Bernard Guilbert Guvoney; Modern Library, Random House, New York; Pp 452; S 1.45.

★

मेरी कला इतने सरल, या चाहे कहो, साधारण धरातल पर है कि जो समाज आयगा, वही उसे पसन्द करेगा। जैसे बच्चा हो, उसे सब कोई गोद में लेते हैं, ऐसी ही मेरी कला है।..... म्यूजियम, आर्ट-गैलरी की बात हमने अँगरेजों से सीख ली है। इस देश में कलाकार का सब काम मन्दिर में रहता है।.... मन में और शरीर में जब शक्ति होगी, तभी इस जमाने में कोई अपनापन रख सकता है। मैंने अपने चित्रों में अपना रूप-विधान रखा है। सच तो यह है कि यूरोप और भारत के बीच रूप (फार्म) का कोई समझौता नहीं हो सकता।.......चित्रकार भीत को सूनी नहीं देख सकता। वह शून्य स्थान को भर देना चाहता है।

—यामिनी राय
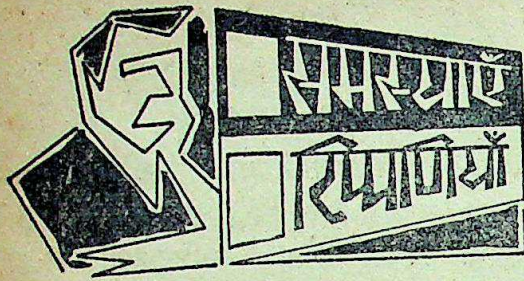
अश्लील-अभद्रता :

साहित्य अकादमी, दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी, बिहार पुस्तकालय-अधीक्षक और लोगों की जानकारी के लिए

एक पत्र

'पुस्तक जगत' जुलाई १६६१ के अंक में 'गत मास का साहित्य : आकलन एवं समीक्षण' लेख, भाई जयप्रकाश शर्मा द्वारा प्रस्तुत, मैंने पढ़ा। इस लेख के प्रारंभ में भारत सरकार के पाकेट की संस्था 'साहित्य अकादमी' के एक अँग्रेजी प्रकाशन की चर्चा के अन्तर्गत मेरा नामोल्लेख करते हुए कहा गया है कि उक्त प्रकाशन में मेरे जैसे लेखकों की उपेक्षा की गयी है।

निवेदन है कि इस प्रकाशन की सूचना 'साहित्य अकादमी' की ओर से मेरे पास आयी थी। उनका निर्धारित फार्म भी मैंने भरकर भेजा और जो सूचना मेरे बारे में छपनेवाली थी उसका 'प्रूफ' भी स्वीकृति के लिए आया था, जो देखकर भेज दिया गया। इसके बाद मुझे कुछ पता नहीं कि मेरा नाम उसमें क्यों नहीं आया। इतना जरूर है कि इस संबंध में दो घटनाएँ मेरे साथ हुईं, जिनका उल्लेख कर देना जरूरी समझता हूँ, ताकि मेरे पाठक स्वयं निर्णय कर सकें।

जब मैंने अपनी स्वरचित पुस्तकों की सूची भेजी तो डाक्टर एस० आर० टीकेकर का पत्र मिला कि श्रीमान, ये सब उपन्यास हैं या लघुकथाएँ, कृपया स्पष्ट करें। केवल ५ वर्ष की अवधि में, २६ वर्षीय युवक द्वारा इतना प्रकाशन-लेखन देखकर उनको विश्वास नहीं हो रहा था। मैंने उनकी शंका का समाधान कर दिया।

इसके बाद, अपनी १११ वीं पुस्तक के प्रकाशन के सिलसिले में मैंने गुरुजनों से आशीर्वाद-हेतु प्रार्थना की। एक पत्र 'साहित्य अकादमी' को गया जिसके उत्तर में उसके एक पदेन अधिकारी ने इतनी बेहूदगी के साथ पत्र लिखा, जो हिन्दी के लिये अत्यन्त लज्जाजनक है। और आश्चर्य है कि ऐसे गैर-जिम्मेदार व्यक्ति, जिनको पत्र लिखने के शिष्टाचार की तमीज भी नहीं है, साहित्य-अकादमी में पदाधिकारी हैं। स्वभावतः, लेखक होने के कारण, मैंने उनको अत्यन्त कठोर पत्र लिखा। मैंने अखबार बेचकर, फुटपाथों पर सोकर जिंदगी गुजारी है; लल्लो-चप्पो पर नहीं पला। एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी के आगे झुकना क्या! 'साहित्य अकादमी' के इस प्रकाशन में नाम छपे या न छपे, इसकी चिन्ता नहीं। जो कुछ मैं लिखता हूँ, यदि आत्मा सहमत है, तो दुनिया की चिन्ता नहीं।

दिल्ली पब्लिक लायब्रेरी मेरी पुस्तकें हटाये या रखे, चिन्ता नहीं। दिल्ली नगर-निगम की परिषद् मेरा नाटक 'गुनहगार' खेल चुकी है। उत्तरप्रदेश की सरकार दो बार पुरस्कार दे चुकी है। उपेक्षा इसलिये है कि हिन्दी मठाधीशों के चरण-स्पर्श करना अपना स्वभाव नहीं है।

अश्लील लिखता हूँ, तो चुनौती देता हूँ कानून को कि आकर टकरा ले। मेरे वर्ग के प्रायः सभी लेखकों पर अश्लीलता के मुकदमे चल चुके हैं, पर मेरी पुस्तकों पर नहीं। राज्य सरकार ने गुप्त रूप से कोशिशें कीं, पर ऐसा कुछ प्रमाण पुस्तकों में मिला ही नहीं। सुना है कि बिहार के पुस्तकालय-अधीक्षक भी कुछ इसी बात पर रुष्ट हैं। इससे क्या; मेरे पाठक मुझे चाहते हैं, मैं जिन्दा हूँ। रही अपरिपक्व-वय को भ्रष्ट करने की बात। तो जब भी मैं लिखता हूँ, अपने परिवार का खयाल रखकर, जिसमें मेरी पत्नी है और एक नौ वर्षीया बालिका है। जैसे मेरा अपना परिवार है, वैसे मेरे पाठकों का भी है। जब मैं अपने बच्चों को भ्रष्ट नहीं देख सकता हूँ, तो दूसरों के बच्चों को बिगाड़ने का क्या अधिकार है?

साहित्य की श्लीलता और अश्लीलता की मर्यादा का सीमा-निर्धारण एक पेचीदा काम है। इतना मैं जानता हूँ कि मैंने जो-कुछ भी लिखा है, उसे आत्मा ने अश्लील नहीं माना है। मुझे दूसरों की चिन्ता नहीं है। 'उग्रजी' ने एक स्नेह-पत्र में मुझे लिखा है : "ईश्वरप्रदत्त अंगों की कर्मलीला को गधे ही अश्लील कहते हैं, भलेमानस नहीं।"

—गोबिन्द सिंह

१६/१२ ...
वाराणसी
१-७-६१

शिल्प का एक प्रश्न : बहिरंग और वस्तु

श्री सुप्रिय पाठक

गत बार 'बहिरंग और वस्तु' के विषय में श्री ज्योतिर्मय वसुराय और श्री सुकोमल चौधुरी के दो उपभोग्य निबंध पढ़ने का अवसर मिला। वसुराय महोदय ने यह कहते हुए अपनी बात प्रारंभ की थी कि "कहानी, उपन्यास, नाटक, कविता आदि रम्यरचना—जो भी क्यों न हो, एक लेखन के मूल्य का केवल लेखन के मूल्य के ही नाते विचार क्यों नहीं किया जायगा।"

उत्तर में चौधुरी महाशय ने कहा कि—"क्यों नहीं होगा। सामयिक विचार के नाते साहित्य-कर्म की यह दिशा तो अनेक समय प्राधान्य पाती ही है।"

सारा मामला बस वही पुराना तर्क भर है। फार्म एवं कन्टेन्ट का झगड़ा। कौन वड़ा है? किसका स्थान पहले है? एक कहता है—"विरस भाषा में एक महत् मात्र की वात कहना यदि वड़ा आर्ट हो, तो एक अकिंचित्कर वस्तु को सरस भाव और अनन्य भंगी में कह सकना ही क्यों नहीं अनुरूप स्वीकृति पा सकेगा?" दूसरे ने जवाब में कहा—"प्रश्न को इस रूप में उठाना ही गलती है। फार्म एवं कन्टेन्ट का मिलन ही तो शिल्प है।"

पहले ने उदाहरण दिया है वानगाग के चित्र से। "चित्रकार की रेखाओं की भंगी या उसकी अपनी दृष्टि-भंगी चित्र में जो लावण्य का संचार करती है" श्री वसुराय के मत से वही चित्र के साफल्य की घोषणा करती है। यहाँ लक्ष्य करने की वात है 'अपनी दृष्टिभंगी' जैसा शब्द। वह चीज क्या है? निश्चय ही वह आकाश से टपकी हुई चीज तो है ही नहीं। जीवन और जगत को देखने की यह भंगी ही हुई, विषय। किस तरह कूची पकड़नी होगी, यह बात भी जिस तरह सीखनी पड़ती है, ठीक उसी प्रकार दृष्टिभंगी को भी गढ़ कर बनाना होता है। जीवन को जिस तरह का समझा, उसको वैसा ही रेखा और रंग में उगा कर रख दिया। इसमें यदि लावण्य का संचार हो, तो और अच्छा। उसे तब हम शिल्प कहेंगे। किन्तु, केवल इसी नाते, केवल कूची के जरिए ही यह सम्भव हो सका, यह [illegible] हम यथार्थ स्वीकार करेंगे? निजस्व दृष्टिभंगी को ही हम अपने प्राप्य से क्यों वंचित करें!

फार्म कभी भी हवा में झूलता नहीं रहता। उसे एक मजबूत बुनियाद पर जमाना ही पड़ता है। विषय ही वह बुनियाद होता है। फार्म के साथ खेलते-खेलते हठात् कोई विषय को नहीं पा जाया करता। असल में, विषय का विचार मन में रखकर ही फार्म का खेल शुरू होता है। किन्तु, इस खेल का विचारक कौन होगा? निश्चय ही पाठक, दर्शक और श्रोता—अर्थात् जो सब इस रस के भोक्ता हैं। समरसेट माम को जिन्होंने महान् साहित्यिक सोचा है, दिखाई देगा कि उन्होंने ही टामस मान को अपाठ्य कहकर विवेचित किया है।

तो वैसी हालत में, क्या हम टामस मान को खारिज कर दें? इस विचार का भार कौन अपने पर लेगा? चौधुरी महाशय ने कहा—'इसका विचारक है महाकाल।' यदि उनके कथनानुसार यही होनेवाला हो, तो अभी ही उन्होंने माम को छोटे लेखक के बतौर चिह्नित क्यों कर दिया? माम अब भी जीवित हैं। इस हालत में, महाकाल के विचारने के लिए और एक सौ वर्ष छोड़ देना ही उचित है।

इस बात को कहने का मेरा यह उद्देश्य है कि सभी मामले में हम 'महाकाल' के लिए अपेक्षा नहीं किया करते। हम खुद ही फैसला करते हैं, और वह करते हैं शिल्पबोध की सहायता से। माम एवं मान—इनके विषय में किन अनुरागियों का शिल्पबोध सरेख है, उस बहस में मैं नहीं जाता हूँ। किन्तु, लेखन अच्छा है या खराब (अर्थात्—फार्म और कन्टेन्ट के परस्पर अन्तर्निहित होने पर जो शिल्प आविर्भूत होता है) उसका विचार जो करेंगे, मेरे मन में आता है कि फार्म एवं कन्टेन्ट के इस द्विपक्षीय झगड़े में, उनके तीसरे पक्ष का भी स्थान है।

थोड़ा लक्ष्य करने पर ही दीख पड़ेगा कि सड़क किनारे के संगीत-सम्मेलन में मंडप के बाहर बहुतेरे लोग व्याकुल होकर संगीत सुन रहे हैं, और आस-ही-पास बहुतेरे

गृहस्थ, गायक का बुरा मना रहे हैं। एक ही चीज के इस दो फलाफल के लिए निश्चय ही फार्म और कन्टेन्ट कोई जबाबदेह नहीं हैं। सुतरां, विचार का भार महाकाल पर नहीं, बल्कि परिशीलित मानस-सम्पन्न पाठक, दर्शक या श्रोता पर ही है। रस के उत्कृष्ट होने पर ही उसके श्रोता-दर्शक-पाठक रसिक हो ही उठेंगे—ऐसी कोई शर्त नहीं सोची जा सकती। रीतिपूर्वक अभ्यासप्रद चर्चा करने से ही रसिक हुआ जाता है, एवं रसिकों की संख्या, शत-प्रतिशत पढ़े-लिखों के देश में भी दाल में नमक-बराबर है। अपने देश की बात तो हम छोड़ ही दें।

मैं अन्दाज करता हूँ कि हमारे साहित्य में फार्म एवं कन्टेन्ट का वही पुराना सड़ियल विवाद अब फिर से सर चढ़ रहा है। वह तो हो, मगर यह भी यहाँ ध्यान रखने की जरूरत है कि इस विवाद के फेर में अबतक जिस तरह तीसरे पक्ष को उपेक्षित रखकर निष्कर्ष पर नहीं पहुँचा जा सका है, वैसी व्यर्थता-भरी बकवास फिर न हो—मैं यही अग्रिम अनुरोध किए दे रहा हूँ। क्योंकि, उस तीसरे पक्ष की भूमिका भी दोनों पक्षों के समान ही जरूरी है। इस पृथिवी पर ऐसा कोई शिल्प आज भी अज्ञात ही रह गया है और चिरकाल तक भी अज्ञात ही रह जायगा, जिसे फार्म और कन्टेन्ट के विषय में विशेषज्ञ होकर भी हमलोग किसी दिन पहचान नहीं सकेंगे। ऐसी हालत में, शिल्प उत्कृष्ट है या निकृष्ट—इसकी निष्पत्ति के लिए शिल्पी और शिल्पित वस्तु के ग्रहीता को छोड़ा नहीं जा सकता। असल में तो, अच्छा या बुरा लगना जैसा विषय ही आपेक्षिक वस्तु है।

★

भारत की कला पर हंगरी में पुस्तक

★

कुमारी रमारानी शर्मा

प्रत्येक देश चाहता है कि दुनिया के लोग उसके बारे में जानें, और सही-सही बातें जानें। संसार की शांति और मैत्री के लिए यह आवश्यक है। इस जमाने में जब संसार छोटा रूप धारण करता जा रहा है, जब हम चन्द घन्टों में एक से दूसरे देश में पहुँच सकते हैं, इस बात की आवश्यकता बहुत ज्यादा बढ़ गई है कि हम एक-दूसरे को जानें। प्रत्येक देश की सरकार इस ओर भागीरथ-प्रयत्न करती है।

हम भी चाहते हैं कि संसार हमारे बारे में जाने। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारी यह इच्छा अधिक बलवती हो गई है, क्योंकि अब हम संसार को भारत के बारे में सच्ची बातें बता सकते हैं। विदेशी शासन-काल में विदेशी शासक अपने लाभ के लिए संसार में हमें बदनाम करते थे और हमें अपने बारे में दुनिया को सजग करने की नाममात्र की गुंजाइश थी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद की संसार की वर्तमान परिस्थिति में सभी देश एक-दूसरे के बारे में जानने और उनको अपने बारे में बताने के लिए उत्सुक हैं। दोनों ओर की इन भावनाओं का फल यह हुआ है कि छोटे-से-छोटे देश संसार के देशों में दिलचस्पी लेने लगे हैं और बड़े-से-बड़े देश छोटे-से-छोटे देशों के बारे में अधिकाधिक जानने के लिए उत्सुक हो उठे हैं।

सन् १९५९ में हंगरी में जितनी पुस्तकें प्रकाशित हुईं हैं, उनमें जो वर्ष भर की सर्वसुन्दर पुस्तक घोषित की गई है, वह है 'भारत की कला'। इसके लेखक हैं श्री अरविन बकटे, जिन्होंने भारत की कई बार यात्रा करके भारत की कला का गंभीर अध्ययन किया है। ४५० पृष्ठ की इस पुस्तक के अन्त में ८० कला के नमूने दिए गए हैं, जिनके बारे में प्रायः जिक्र आया करता है।

लेखक ने इस पुस्तक में अपने ५० वर्ष के वैज्ञानिक अध्ययन का समावेश किया है, जिसमें गजब की विविधता है। इस पुस्तक का एक शीर्षक है "प्राचीन काल से २० वीं सदी तक का इतिहास और सभ्यता", जो इसके प्रमुख शीर्षक को अधिक स्पष्ट और बोधगम्य कर देता है।

भारतवर्ष में समय के विभाजन के सम्बन्ध में एकमत न होने से लेखक को अपना विभाजन स्वयं अपने अध्ययन-मनन के आधार पर करना पड़ा, क्योंकि यूरोप में प्रचलित ढंग को भारत में लागू करने से वह गलत हो जाता। इसी कारण वह कुछ भिन्न-सा हो गया है। इनकी राय में, भारत की कला को पूर्णरूपेण जानने के लिए यह आवश्यक है कि मुस्लिम-काल में होने वाली प्रगति से भी परिचय प्राप्त किया जाय।

भारत की कला का वर्णन २९ अध्यायों में किया गया है। इनमें देश और देशवासियों, प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों के बारे में प्रकाश डाला गया है। सिन्ध नदी की तराई में सभ्यता के बारे में भी बताया गया है। सविस्तर अध्ययन में इण्डो-आर्यन और उनकी संस्कृति के सम्बन्ध में कई दिलचस्प बातें प्रकट होती हैं। इसमें ब्राह्मण-काल पर भी विचार किया गया है, जिसमें इसके सामाजिक ढाँचे का और जीवन के प्रति इसके रुख का भी वर्णन है। इस समय में कला और सभ्यता की स्थिति के बारे में लिखा गया है। लेखक ने इसमें हिन्दू, बौद्ध, और जैन धर्म के दर्शन का भी वृहद् विवेचन किया है। मौर्य-साम्राज्य और उस समय की कला का भी सविस्तर वर्णन है, अन्य अध्यायों में सुंग और आंध्र के समय के प्रथम भाग का तथा यूनानी और कुशाण की जीत के प्रभाव का भी जिक्र किया गया है। हिन्दू-काल की कला के बाद मुस्लिम-काल या मुगल-साम्राज्य के जमाने की बातें भी बताई गई हैं। अंग्रेजों के शासन-काल की स्थिति भी इसकी निगाह में बची नहीं है। अन्तिम अध्याय में भारतीय कला पर पश्चिमी प्रभाव का विवेचन है।

पुस्तक के अत्यधिक आकर्षक विषय और उसकी विविधता के कारण इसके प्रकाशन ने प्रारंभ से ही अन्ताराष्ट्रीय दिलचस्पी उत्पन्न कर दी है। इस माँग को

(शेष पृष्ठ १३ पर)

पुस्तकालय का प्रचार-पत्र

★

श्री परमानन्द दोषी

किसी भी संगठन अथवा आन्दोलन को ज्यादा व्यापक बनाने के लिए प्रचार-कार्य आवश्यक है। जबतक उसका समुचित प्रचार नहीं हो सकेगा, तबतक अधिकाधिक लोग उनके विषय में अधिकाधिक जानकारी नहीं प्राप्त कर सकेंगे। समुचित जानकारी के अभाव में उससे सम्पर्क स्थापित करना सम्भव नहीं है। हर क्षेत्र में किये जानेवाले प्रचार-कार्यों को देखकर लोग इस युग को 'प्रचार का युग' कहने लग गये हैं। इस युग को प्रचार का युग कहने में सम्पूर्णतः सचाई न भी हो, तो भी इतना हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि सभी क्षेत्रों में प्रचार-कार्य होता है। यह हो सकता है कि कहीं प्रचार की अतिशयता हो, और इस कारण हम उसकी भर्त्सना करें। पर संतुलित परिमाण में किसी कार्य के लिए प्रचार होना अवांछनीय नहीं है।

पुस्तकालय-संचालन का कार्य एक ऐसा कार्य है, जिसके लिए प्रचार की अनिवार्यतः आवश्यकता है। पुस्तकालय-सेवा खाद्य और वस्त्र की तरह जीवन-यापन के लिए अनिवार्य नहीं तो आवश्यक अवश्य है। ऐसी अवस्था में, इसकी अनिवार्यता को समझ कर लोग इसकी ओर स्वतः उन्मुख होंगे, ऐसी कल्पना हम नहीं कर सकते। लोग पुस्तकालय-सेवाओं से लाभ उठायें, इसके लिए पुस्तकालय और की ओर से प्रयत्न किया जाना चाहिये। ये प्रयत्न कई प्रकार के हो सकते हैं। प्रचार भी उन्हीं प्रयत्नों में से एक है। जबतक पुस्तकालय से होने वाले लाभ की बात को हम ज्यादा-से-ज्यादा लोगों के बीच नहीं फैलायेंगे, तबतक लोग अपनी प्रेरणा से पुस्तकालय की ओर बहुत कम मात्रा में आकृष्ट हो सकेंगे। शिक्षा की जीवन में क्या महत्ता है, इस बात के प्रचार की भी आवश्यकता है। पुस्तकालय व्यापक और विविध शिक्षा प्रदान करते हैं, इसका ज्ञान जबतक सर्वसाधारण को नहीं होगा, तबतक शायद ही वे शिक्षा के अन्य साधन और पुस्तकालय की तुलनात्मक विवेचना करते हुए पुस्तकालय को अपेक्षाकृत ज्यादा महत्व देने में समर्थ हो सकेंगे। इस कार्य की सिद्धि अपेक्षित प्रचार की अपेक्षा रखती है। पुस्तकालय के महत्त्व को स्वीकार कर लेने के बाद भी उसकी सेवा-विधियों, सुविधाओं, इसमें संगृहीत पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य पाठ्य-सामग्रियों की जानकारी जबतक लोगों को नहीं होगी, तबतक लोग उसका अधिकाधिक उपयोग करने लिए कैसे प्रेरित होंगे? निस्सन्देह, प्रचार के माध्यमों से अपने पाठकों, सदस्यों को इन सब बातों की जानकारी पुस्तकालय करा सकने में समर्थ हो सकता है।

बड़े-बड़े पुस्तकालयों में तो ऐसी व्यवस्थाएँ रहती हैं, जिनसे नियमित रूप से लोगों को लाभ पहुँचता रहता है। जैसे; वहाँ कोई पुस्तक पहुँची, तो इसकी सूचना, डाक, पत्र-वाहक, समाचारपत्र अथवा फोन द्वारा तत्काल पाठकों को दे दी जाती है। यह क्या है? यह भी प्रचार का एक अंग है न! पुस्तकालय में संगृहीत सभी पाठ्य-सामग्रियों का सम्पूर्ण विवरण के साथ पुस्तकाकार प्रकाशन कर उनका वितरण करना प्रचार कार्यों में से एक है। बहुत-से पुस्तकालय नियमित रूप से नवसंगृहीत पुस्तकों की मासिक तालिका तैयार कर उसका वितरण करते हैं, इसीलिए कि उनके यहाँ नई-नई प्राप्त की गई पुस्तकों की जानकारी सर्वसाधारण को हो।

कुछ पुस्तकालय तो सुविधा मिलने पर प्राप्त पाठ्य-सामग्रियों का विवरण बहुप्रचारित समाचार-पत्रों एवं पत्र-पत्रिकाओं में अपेक्षित शुल्क देकर भी सर्वसाधारण में प्रचारार्थ छपवाया करते हैं। कई तो अपनी पुस्तकों तथा अन्य पाठ्य-सामग्रियों की वांमय सूची तैयार कर, उसे प्रचारित करते हैं। अपने प्रदर्शन-पट पर पुस्तकों के आवरण-पृष्ठों या उनसे सम्बन्धित अन्य प्रकार के हैन्डबिलों, सूचनापत्रों, फोल्डरों आदि को जो प्रदर्शित करते हैं। उसके पीछे यही भावना रहती है कि लोग उसके विषय में जानें।

ये प्रचार सम्बन्धी व्यवस्थायें बड़े-बड़े उन्नत समर्थ पुस्तकालयों में की जाती हैं। छोटे-छोटे, विशेषतः गाँवों के साधनहीन पुस्तकालय प्रचार के इन प्रबंधों को अपने यहाँ व्यवहृत नहीं कर पाते। हमने उनकी चर्चा इसीलिए की, क्योंकि वे प्रचार से संबंध रखते हैं। ये तो कुछ उदाहरण स्वरूप हैं, प्रचार के तो इतने माध्यम हैं जिनका नामोल्लेख मात्र भी यहाँ संभव नहीं।

अभी-अभी हमने छोटे-छोटे ग्रामीण पुस्तकालयों की चर्चा की। प्रचार के कार्य को इन पुस्तकालयों के संदर्भ में रखकर इनकी उपयोगिता की परीक्षा करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

सदियों से पराधीनता के पाश में जकड़े हुए ये शोषित और उपेक्षित गाँव, जहाँ से शिक्षा और सम्पन्नता अद्यावधि रूठी रही है और जो हमारे देश की आत्मा हैं, उनमें जागृति और चेतना लाने के लिए पुस्तकालयों का संचालन अनिवार्य है। गाँव के लोगों में नागरिक भावना जगे, उनमें राष्ट्रीयता और देश-सेवा की चेतना उद्भूत हो, अपने गौरव और वैभव को वे समझ सकें और अपने दायित्व और कर्त्तव्य को समझते हुए देश में जनतंत्र को सफल बनावें, इसके लिए यह जरूरी है कि उन्हें शिक्षा के वरदान से विभूषित किया जाय। यह वरदान पुस्तकालय ही उन्हें कम-से-कम समय में और ज्यादा-से ज्यादा उपयोगी रूप से निःस्वार्थतः प्रदान कर सकते हैं। पर पुस्तकालय और उनकी उपयोगिता के विषय में लोग ज्यादा-से ज्यादा जान सकें, इसके लिए उन्हें भी प्रचार के माध्यमों का सहारा लेना होगा। ये प्रचार के माध्यम बड़े-बड़े पुस्तकालयों के माध्यम से सर्वथा भिन्न होंगे। नीचे की पंक्तियों में प्रचार के उन्हीं रूपों पर हम विचार करेंगे।

सबसे पहले तो हमें पुस्तकालय का अहसास लोगों को कराना होगा। पुस्तकालय केवल पूर्ण शिक्षितों एवं विद्वानों के लिए ही नहीं, बल्कि सामान्य शिक्षित जनों और सभी वय के स्त्री-पुरुषों के लिए हैं, इस बात का प्रचार वहाँ करना होगा। इसके लिए बाहरी विद्वानों के भाषण, व्याख्यान, प्रवचन, उपदेश आदि दिलाने के अतिरिक्त एतत्सम्बन्धी नाटक, प्रहसन, चलचित्र आदि का आयोजन करना होगा। अनपढ़ व्यक्तियों में पढ़ जाने से उत्पन्न चमत्कार के उदाहरणों का प्रचार करना होगा।

दूसरे, पुस्तकालयों को केवल पठन-पाठन का केन्द्र ही नहीं बल्कि समस्त ज्ञातव्य सूचनाओं का केन्द्र बनाना होगा, जिससे हर किसी को हर प्रकार की जानकारी वहाँ से हासिल हो जाय।

तीसरे, वहाँ वाचन की व्यवस्था भी रहे, जिससे हर व्यवसाय और रुचि के लोगों को पुस्तकें पढ़कर इस तरह सुनायी जाँय, जिससे कि उन्हें अपने व्यवसाय में तुरत लाभ का आभास मिले।

चौथे, पुस्तकालय की उपसमितियों तथा कार्यसमिति की बैठकें नियमित रूप से होती रहें। महापुरुषों की जयन्तियाँ, राष्ट्रोत्सव आदि भी होते रहें। पुस्तकालय का सम्मेलन-अधिवेशन तो प्रतिवर्ष होता रहना अनिवार्य है। इनके सिवा, अपने क्षेत्र के सभी प्रमुख व्यक्तियों को अपने पुस्तकालय के साथ सम्बन्ध बनाये रहना होगा, जिससे कि वे पुस्तकालय के विषय में सदैव कहीं-न-कहीं चर्चा करते रहें।

समय-समय पर पुस्तकालय की नवीन व्यवस्था या पुस्तकालय के विषय में बड़े-बड़े व्यक्तियों द्वारा व्यक्त किए गए उद्गार अथवा पुस्तकालय के अन्य उल्लेखनीय कार्यों के विवरण छपवाकर लोगों में बँटवाने से भी पुस्तकालय का प्रचार होता रहता है। अपने क्षेत्र की जितनी भी सरकारी-गैरसरकारी संस्थायें हों; जैसे सहकारी समिति, पंचायत, विद्यालय, प्रखंड आदि; उनसे सम्पर्क बनाये रखना चाहिये। पुस्तकालय की गतिवधियों से इन संस्थाओं के लोगों को अवगत कराते रहने से इन लोगों द्वारा पुस्तकालय का समुचित प्रचार होता रहता है।

लोगों को पुस्तकालय-रुचि बनाने के लिए पुस्तकालय-विकास से सम्बन्धित आकर्षक कार्यक्रमों के साथ पुस्तकालय-सप्ताह प्रतिवर्ष नियमित रूप से मनाया जाना चाहिए। इस सप्ताह में शिक्षा से लाभ, पुस्तकालय की उपयोगिता आदि के नारे लगवाये जायँ तथा घर-घर और व्यक्ति-व्यक्ति तक पुस्तकालय के संदेश को पहुँचाया जाय।

जिन अवसरों पर किसानों की फसलें कटकर खलिहान आयें, उन अवसरों पर पुस्तक-दान-यज्ञ तथा इसी प्रकार के अन्य अनुष्ठान अवश्य किये जायँ।

पुस्तकों और पत्र-पत्रिकाओं की प्रदर्शनी, पुस्तक-मेला, पोस्टर-वितरण आदि के आयोजन तथा 'सदस्य बनाओ' अभियान के द्वारा पुस्तकालय का प्रचार-कार्य आसानी से सम्पन्न किया जा सकता है।

स्थानीय अथवा समीप के मेला बजारों में पुस्तकालय का स्टाल लगाकर ध्वनि-वितरक-यंत्रों द्वारा लोगों का आह्वान करके पुस्तकालय के संग्रह और उसकी सेवाओं का प्रदर्शन सफलतापूर्वक संभव है।

गाँव में किसी के यहाँ बारात, उपनयन-संस्कार या छठ, सत्यनारायण स्वामी की पूजा अथवा दावत-जलसे के अवसर पर अधिकाधिक लोग एकत्र हुआ करते हैं। ऐसे अवसरों पर भी पुस्तकालय-प्रचार के कार्य द्वारा लाभ उठाया जा सकता है।

सांस्कृतिक कार्यक्रम तो पुस्तकालय के आवश्यक अंग हैं ही। ऐसे कार्यक्रमों के सहारे भी पुस्तकालय अपने कार्यों एवं उद्देश्यों का परिचय सर्वसाधारण को दे सकता है।

उत्साही बालकों एवं किशोरों का कार्यकर्त्ता-दल तथा सार्वजनिक कार्यों में अभिरुचि रखने वाली परदाजनित रूढ़ियों एवं अंधविश्वासों की सतह से ऊपर उठी महिला-कार्यकर्त्रियों के दल क्रमशः बच्चे, किशोरों और स्त्रियों के बीच पुस्तकालय का प्रचार सरलतापूर्वक कर सकते हैं।

सरकार के जनसम्पर्क-विभाग की ओर से रियायती मूल्य पर दिए जाने वाले रेडियो के सामुदायिक सेट द्वारा जनता-जनार्दन को मनोरंजन प्रदान किया जा सकता है। उसके माध्यम से पुस्तकालय अपना प्रचार भी उनके बीच भली-भाँति कर सकता है। समस्त ग्रामीण पुस्तकालयों को ऐसे रेडियो सेट अपने यहाँ अवश्य रखने चाहिए।

प्रचार के बहुतेरे स्वस्थ साधन हैं, जिनका अवलम्बन करके पुस्तकालय जनता-जनार्दन के बीच अपने को अच्छी तरह स्थापित कर लेने में समर्थ हो सकते हैं। प्रचार के कतिपय हल्के और अस्वस्थ साधन भी हैं, जिनके सहारे पुस्तकालय जन-सामान्य को थोड़े समय के लिए अपनी ओर आकर्षित कर लेने में समर्थ हो सकते हैं। जैसे, अश्लील साहित्य का संग्रह करना अथवा गंदे और बुरे नाटकों एवं चलचित्रों का प्रदर्शन करना। अच्छे साध्य के लिए अच्छा साधन भी चाहिए। बुरे साधन से अच्छे साध्य की प्राप्ति असंभव है। अतएव, सस्ती लोकप्रियता और अस्थायी ख्याति के लिए पुस्तकालय को ऐसे साधनों का सहारा हर्गिज नहीं लेना चाहिए।

पुस्तकालय अपना प्रचार करे, साथ-ही-साथ वह अपने माध्यम से कतिपय अच्छी बातों का प्रचार करे, तो इससे उसकी दुहरी उपयोगिता प्रमाणित होगी। आज सरकार अपनी योजनाओं का प्रचार करती है। इस सिलसिले में बचत-योजना का प्रचार, परिवार-आयोजन का प्रचार, सुनागरिकता का प्रचार, सहकारिता और अनिवार्य शिक्षा का प्रचार आदि बहुतेरे प्रचार सरकार देश की समृद्धि और जनता की सुख-सम्पन्नता के लिए करती है। ऐसे प्रचारों में पुस्तकालयों को भी सहयोग देना चाहिए।

पुस्तकालय अपनी सेवाओं और कार्यों का प्रचार करे, साथ-ही-साथ देश की सर्वतोमुखी विकास सम्बन्धी योजनाओं आदि का भी प्रचार करे, तो उसकी ऐसी प्रवृत्ति सोने में सुगंध वाली उक्ति को चरितार्थ करने वाली होगी।

पुस्तकालय को 'प्रचार' शब्द को इसके हल्के अर्थ में नहीं लेकर गम्भीर अर्थ में लेना होगा। अभी हमारे देश देश में पढ़े-लिखे पुस्तक-प्रेमी तथा विद्या-व्यसनी जनों की बेहद कमी है। जब यह कमी दूर होगी, तब शायद प्रचार-कार्य पुस्तकालय कम भी कर दे सकते हैं, पर जब-तक साक्षरों शिक्षितों की कमी है, तबतक पुस्तकालय स्वस्थ रूप में अपने प्रचार-कार्य को जारी रखें।

शिक्षा और सम्पन्नता की दृष्टि से विश्व के उन्नत देशों में भी पुस्तकालय प्रचार-कार्य को काफी महत्त्व देते हैं। चल-पुस्तकालय के माध्यम से लोगों के घर-घर और द्वार-द्वार जाकर पुस्तकें देना प्रचार-कार्य नहीं तो और क्या है?

पुस्तकालय के प्रचार-पक्ष की सबलता उसकी व्यापक सफलता और सुविस्तृत सेवा का परिचायक है।

★

(पृष्ठ ६ का शेष)

पूरा करने के लिए जर्मन भाषा में इसका अनुवाद तैयार किया जा रहा है। जो शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

हंगरी में विज्ञान और कला की उत्कृष्टता ने पुस्तक की छपाई-सफाई आदि ऐसी प्रशंसनीय बना दी है कि हंगरी-वासियों को इसपर गर्व है। यह चमकदार सफेद कागज पर प्रकाशित की गई है और ४७० पृष्ठों में ४२५ पृष्ठों के सादे और पूरे पेज के रंगीन कलात्मक फोटो तथा चित्र दिए गए हैं।

भारत और हंगरी के बढ़ते हुए अच्छे सम्बन्धों को यह पुस्तक दृढ़ता और स्थायित्व देने में अवश्य सफल होगी। इसमें हंगरी के निवासियों की कला की उत्कृष्टता का पता चलेगा।

★

एक कवि ने ईरान के मौलाना जामी को अपनी गजल सुनायी और कहा—"मैं यह चाहता हूँ कि इसको नगर के दरवाजे पर लटका दूँ ताकि लोग पढ़ें और इसकी ख्याति हो।" मौलाना ने फरमाया—"उन लोगों को कैसे ज्ञात होगा कि यह तुम्हारी गजल है। इसलिए उचित तो यह मालूम होता है कि तुमको भी गजल के साथ लटका दें ताकि लोग यह गजल पढ़ें और तुमको दाद देते हुए चले जाएँ।"

प्रकाशन-कला

शुद्ध छपाई : लेखकीय योग

★

श्री कृष्ण विकल

वर्तमान अवस्था

अपनी पुस्तक की छपी प्रति पाकर लेखक को चाहे दूसरी दृष्टियों से कितनी भी प्रसन्नता क्यों न हो, पर अशुद्धियाँ रह जाने की उसकी शिकायत बनी ही रहती है। ऐसे में, यदि कोई लेखक को उसकी गलतियों की ओर ध्यान दिलाता है, तो लेखक के लिए प्रूफ-रीडर की असावधानी को स्मरण करना जैसे आवश्यक-सा हो जाता है। यदि लेखक अपने कर्तृत्व के प्रति भावुक हुआ, या अशुद्धियों के प्रति अधिक 'असहनशील' हुआ, तो वह अपने प्रकाशक को प्रूफ-रीडर साहब के लिए उदार हृदय से ऐसा प्रमाण-पत्र लिख भेजता है, जिसे समझदार प्रकाशक गुप्त रखने में ही भला समझता है और व्यावहारिक सुझावों को या दूसरे संस्करण में संशोधन करने के लिए, उसके पत्र को फाइल करवा देता है। या इससे उल्टे वह सम्बन्धित प्रूफ-रीडर से पूछताछ करने लगता है। वह पुस्तक तो छप गई, अब क्या हो सकता है? इस स्थिति में, यदि प्रूफ-रीडर ने उस पुस्तक पर पर्याप्त मेहनत की होती है, तो उसके मन में व्यर्थ ही गाँठ पड़ जाती है। और, कार्य में रत्ती-भर भी सुधार नहीं हो पाता। और फिर, जब उस लेखक की कोई और पुस्तकें छपती हैं, तब भी लेखक की ओर से वही शिकायत दुबारा, तिबारा दुहराई जाती है।

सामान्यतया लेखकों को यह कहते सुना गया है कि जब तक कम्पोजिटर और प्रूफ-रीडर अधिक पठित एवं शिक्षित नहीं हो जाते, तब तक पुस्तक को परमशुद्ध छपवा सकना स्वप्न रहेगा। दूसरे शब्दों में, उन्हें अपनी पुस्तक की गलतियों की भूल में कम्पोजिटरों एवं प्रूफ-रीडरों की अशिक्षा ही दिखाई देती है। किसी हद तक उनकी बात ठीक हो सकती है कि कम्पोजिंग और प्रूफ-रीडिंग के कार्य में जीवन गला डालने के लिए अभी अर्धपठित अर्धशिक्षित, हिंदी भाषा एवं साहित्य के प्रेमी ही तैयार हो पाये हैं। पढ़े-लिखे इधर ताकते ही नहीं; और अभी इस 'थैंकलेस जॉब' को अपनाने के लिए अनर्धशिक्षित व्यक्तियों को आकर्षित करने में वर्षों लगेंगे। जबकि देश में अनिवार्य शिक्षा का परिणाम सामने आयेगा तभी इस इच्छा के प्रतिफलित होने की आशा की जा सकती है। निस्सन्देह, तब लेखक भी तो अपने कर्त्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक हो सकेंगे। किन्तु, सम्प्रति तो आधुनिक परिस्थिति पर ही विचार करना होगा।

वस्तुस्थिति यह है कि लेखक अपनी इस शिकायत में काफी अंशों में सच्चा होता है कि पुस्तक में छपते समय गलतियाँ रह गई हैं। उधर, कहने को तो लोग कहते हैं कि 'पुस्तक और नारी कभी शुद्ध नहीं होती।' पुस्तक की बात करें तो हमारा अभीष्ट यही है कि पुस्तकें शुद्ध छपें; फिर भी उसमें दोष रह सकते हैं, पर इतना तो प्रयत्नसाध्य है कि गलतियों की संख्या कम-से-कम की जा सके। याकि, पुस्तक में जो अशुद्धियाँ रह जाएँ, वे नगण्य हों। ऐसी स्थिति संतोषजनक कही जा सकती है। पर, विचारणीय बात यही है कि जब प्रकाशक के पास योग्य प्रूफ-रीडर अपनी पूरी शक्ति एवं सतर्कता से काम करता हो, और प्रेस भी उच्चकोटि का हो, तो फिर अशुद्धियाँ क्यों रह जाती हैं? इस समस्या को हल करने में लेखक किसी सीमा तक योग दे सकते हैं, यही हमारा प्रस्तुत विषय है।

व्यावहारिक कठिनाई

हिन्दी में अंग्रेजी की अपेक्षा अधिक अशुद्धियाँ रहती हैं। इसमें एक कारण तो है मुद्रण में नागरी लिपि की अपेक्षाकृत जटिलता; इसके अलावा एक कारण और है, जिसका प्रभाव ... लिपि के निर्माण पर पड़ता है। वह है,

हिन्दी पांडुलिपियों के लिए टाइपराइटर के साधन की दुरुपलब्धि। फलतः, अधिकतर पांडुलिपियाँ हाथ से तैयार की जाती हैं। इसपर, कहीं लेख-घसीट हुआ, कहीं लिपिकार ने पेंसिल से लिख दिया, या अपर्याप्त कागज़ पर बिना हाशिये के 'फरीट' दिया, या पृष्ठ के दोनों तरफ़ लिख डाला, तो कम्पोज किये मैटर की क्या दुरवस्था होगी; इसका अनुमान मुक्तभोगी सहज ही लगा सकते हैं। और, सच कहा जाए तो अभी हमारे अधिकतर लेखकों का ध्यान इस ओर नहीं जमा है और वे अभ्यासवश इन सिद्धान्तों का परिपालन आवश्यक नहीं समझते। इसमें उनकी व्यावहारिक कठिनाइयाँ भी हो सकती हैं, पर ऐसा कुछ ही बातों के सम्बन्ध में कहा जा सकता है। अधिकांश का निर्वाह तो बिना किसी कठिनाई से हो सकता है।

लेखकीय कर्तव्य

इसलिए, यहाँ लेखक-वर्ग का इस ओर नम्रतापूर्वक ध्यान आकृष्ट करना असंगत न होगा। यदि वे पांडुलिपि तैयार करते समय कुछेक प्रमुख बातों का ख्याल रखने का कष्ट करें, तो निस्सन्देह पुस्तक का प्रकाशन अधिक शुद्ध एवं व्यवस्थित रूप से हो सकेगा।

कुछ ध्यान देने योग्य बातें

(१) पांडुलिपि सुस्पष्ट लिखनी चाहिए।

पांडुलिपि जितनी स्पष्ट होगी, कम्पोज़िंग उतना ही शुद्ध होगा। कम्पोज़िंग जितना शुद्ध हो जाएगा, पुस्तक में गलतियाँ रह जाने की गुंजाइश उतनी ही कम होगी। इसके विपरीत, यदि पांडुलिपि अस्पष्ट है, तो पुस्तक के गलत छपने की सम्भावना बढ़ जाती है। कई लेखक इस तथ्य की ओर ध्यान नहीं देते। इसके विपरीत, वे समझते हैं कि अपने-आप प्रूफ देखने से पुस्तक शुद्ध छपेगी। इसलिए, वे अन्तिम प्रूफ स्वयं पढ़ते हैं। जब छपी हुई पुस्तक में उन्हें अशुद्धियाँ नज़र आती हैं, तो वे चकित रह जाते हैं। किन्तु, वस्तुतः इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं, क्योंकि लेखक स्वयं जब अपनी पुस्तक के प्रूफ पढ़ता है, तो वह विषय के प्रवाह में बहने लगता है और पंक्तियों में मुद्रित अशुद्धियाँ नज़रों से चूक जाती हैं।

[लेखक को महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का एक प्रूफ अवश्य पढ़ना चाहिए, किन्तु इसी आशय से कि उसे विषय-प्रतिपादन देखना है, या इस अभिप्राय से कि जो उसने विशेष प्रयोग किये हैं, उनमें तो कोई परिवर्तन अथच विकार नहीं हुआ।]

पांडुलिपि शुद्ध होगी तो प्रूफ-संशोधक की तत्परता पुस्तक को सुन्दर-शुद्ध रूप देने में समर्थ हो सकेगी।

(२) पांडुलिपि पृष्ठ के एक ओर लिखनी चाहिए।

(३) पांडुलिपि का कागज़ बहुत पतला नहीं होना चाहिए।

(४) पांडुलिपि पैंसिल से नहीं लिखनी चाहिए। अच्छा तो यह है कि पैन की स्याही से लिखी जाए।

(५) पांडुलिपि सदा फुलस्केप साइज़ के कागज़ पर लिखनी चाहिए।

लेखक प्रायः इस बात पर ध्यान नहीं देते। जैसा भी कागज़ उनके पास रहता है, उसी पर लिख कर वे भेज देते

हैं। उनके हाथ में नोट-बुक साइज़ के कागज़ पड़ जाते हैं, तो वे उसीपर लिखने लग जाते हैं। ऐसे छोटे-छोटे साइज़ के कागज़ों की पांडुलिपि से मुद्रण-कार्य में असुविधा रहती है। और, पांडुलिपि में पूरा-पूरा मार्जिन न दे सकने के कारण मैटर घिचपिच हो जाता है। साथ ही, पांडुलिपि स्थूल हो जाने से सम्हलने में दिक्कत रहती है।

(६) पांडुलिपि के प्रत्येक पृष्ठ पर एक जैसी पंक्तियाँ होनी चाहिए।

यदि प्रतिपृष्ठ एक जैसी पंक्तियाँ लिखने का अभ्यास न डाल सकें तो लाइनदार फुलस्केप कागज़ का प्रयोग करना चाहिए, ताकि अपने-आप प्रतिपृष्ठ एक-सी लाइनें लिखी जाएँ। इससे प्रकाशक पांडुलिपि की पृष्ठ-संख्या का अन्दाज सहज ही लगा सकता है।

(७) पांडुलिपि के पृष्ठों के दोनों ओर पर्याप्त हाशिया छोड़ना चाहिए। ऊपर-नीचे भी यथेष्ट स्पेस छोड़नी चाहिए।

इसके कई लाभ हैं: (क) कम्पोज़िंग में पकड़ते समय लिखित मैटर गन्दा होने से बच जाता है। (ख) यदि कहीं-कहीं सुधार करना अभीष्ट हो तो सहज ही हाशिये में लिखा जा सकता है। (ग) कई बार बाद में फुटनोट बढ़ाने पड़ जाते हैं। यदि नीचे ब्लैंक रहेगी तो सहज ही बढ़ा सकते हैं। यदि ब्लैंक पहले से न रखी जाएगी तो उस स्थिति में पृष्ठ के नीचे अतिरिक्त स्लिप लगाने से पांडुलिपि गंदी हो जाएगी। (घ) हाशिये के चारों ओर ब्लैंक छोड़ने का एक लाभ यह भी होता है कि यदि कहीं मुद्रणावस्था में किनारे फट भी जाते हैं, तो लिखित मैटर प्रायः बच जाता है।

(८) पांडुलिपि में पैरे अच्छी तरह बनाने चाहिए।

एक बार एक ख्यातिप्राप्त लेखक की ऐसी पांडुलिपि मुद्रणार्थ आई थी, जिसमें तीन सौ पृष्ठों की पूरी पुस्तक में एक भी पैरा नहीं था। और, वह पुस्तक छपी थी। आप अन्दाज़ा लगा सकते हैं कि मेक-अप तोड़ने में कितनी असुविधा रही होगी।

(९) यदि पांडुलिपि में किसी पृष्ठ के बीच अधिक मैटर बढ़ाना हो, तो मैटर की स्लिप पिन से नहीं जोड़नी चाहिए, बल्कि यथास्थान हाशिये पर गोंद से चिपका देनी चाहिए।

(१०) यदि पुस्तक में चित्र जाने हों, तो यथास्थान चित्रों का निर्देश कर देना चाहिए।

(११) अनूदित पुस्तकों में अनुवादक को, मूल पुस्तक के जिस संस्करण से अनुवाद किया हो, वह पुस्तक पांडुलिपि के साथ भेजनी चाहिए, और मूल पुस्तक के प्रतिपृष्ठ का निर्देश पांडुलिपि के बायें हाशिये में अवश्य करना चाहिए, जिससे सन्दिग्ध स्थलों को सहज ही 'टैली' किया जा सके।

(१२) विदेशी अनूदित उपन्यासों की पांडुलिपि में पात्रों एवं स्थानों के नामों की सूची पृथक् से भेजनी चाहिए, जिससे पूरी पुस्तक में नाम एक-से शुद्ध छप सकें।

(१३) आलोचनात्मक ग्रन्थों की पांडुलिपियों में, संस्कृत और अंग्रेज़ी आदि अन्यान्य भाषाओं के संदर्भ एवं कविता के पद्य अत्यन्त प्रामाणिक पुस्तकों से शुद्ध रूप में उतारने चाहिए।

यदि ऐसा नहीं करते, तो प्रकाशित ग्रन्थों के अप्रामाणिक हो जाने से उनका महत्त्व कम हो जाता है। ऐसी पांडुलिपियाँ जब मुद्रणार्थ आती हैं, तो बेचारे अल्प-साधन-युक्त प्रूफ-रीडर बहुधा, जितने रैफरेंस उन्हें मिल सकते हैं उनके आधार पर, खून-पसीना एक करके संदर्भों को शुद्ध करने का प्रयास करते हैं। किन्तु, इससे एक तो संदर्भ पूर्णतया शुद्ध और प्रामाणिक नहीं छप पाते, दूसरे मुद्रक और प्रकाशक का अकथनीय समय विनष्ट हो जाता है।

(१४) पांडुलिपि में विराम-चिह्नों का यथेष्ट प्रयोग कर लेना चाहिए।

(१५) पांडुलिपि पूरी लिख लेने के पश्चात् लेखक को एक बार उसे अवश्य रिवाइज़ कर लेना चाहिए।

(१६) कविता आदि सज्जात्मक विषयों की पांडुलिपि तैयार करते समय लेखक को इस बात का ख्याल कर लेना चाहिए कि जिस सैटिंग में उसे मेक-अप अभीष्ट है, उसी प्रकार लिखी जाए।

इसके अलावा और भी कुछ-एक बातें हो सकती हैं, जिन पर लेखक को यथास्थान विचार करके पांडुलिपि का निर्माण करना चाहिए।

(१७) किन्तु, पुस्तक छपवाते समय प्रकाशक और प्रेस को जिस बहुत बड़ी दिक्कत का सामना करना पड़ता है, वह है एकरूपता सम्बन्धी। दुर्भाग्यवश, अभी तक हिन्दी भाषा में बहुरूपता बनी हुई है, जिससे सभी अपनी डफली अपना राग चला रहे हैं। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ ने गत वर्ष स्वयमेव एकरूपता-निर्धारण का कार्य अपने कन्धों पर लिया था। उससे मुद्रण एवं प्रकाशन के क्षेत्रों में संतोष की लहर दौड़ गई थी। दिसम्बर में उसका अन्तिम निर्णय होने की बात थी। फिर सुना कि विद्वानों (Heads of the department) से प्रार्थना की गई कि अपने निर्णय भिजवाएँ। शायद एकाध संस्था के एकरूपता-सम्बन्धी सुझाव भी प्रकाशित हुए थे। अब फिर न जाने वे सो गए या प्रारूप के विधाता ही अलसा गए। सरकार की आलोचना तो हम सब करते हैं, पर छोटे-से राष्ट्र-भाषा के हित के कार्य को भी हम यदि सोत्साह सम्पन्न नहीं कर सकते, तो हम अपने लिए क्या सोचें? यह दिक्कत हम सब की है—लेखक की, प्रकाशक की, मुद्रक की और इससे ऊपर जन-साधारण की। हमें यथाशीघ्र हिन्दी को अपवाद-मार्गों से हटाकर सुनिश्चित बनाना चाहिए। राष्ट्र-भाषा का हित इसी में है। प्रकाशक-संघ अपने स्वार्थ को ही लें तो इससे उसकी 'एनर्जी' का अपव्यय बच सकता है। जिनको रोजाना दिक्कत आती है, वे हैं कम्पोज़िटर और प्रूफ-रीडर। कई तो इसे हिन्दी का अनिवार्य दोष समझ कर शैलीगत परिवर्तनों का अनुचित भार-वहन करते चले जाते हैं। जो कुछ सोच पाते हैं, वे कुढ़ते भी हैं, अतिरिक्त श्रम भी ढोते हैं। इससे नुकसान किनका होता है? 'पीस' पर काम करने वाले कम्पोजिटरों का, प्रेस-कर्मचारी मेकअप-मैनों का और मुद्रक एवं प्रकाशक के प्रूफ-रीडरों का और भला किसका होता है? किसी का नहीं। और, इन सबसे मिलता क्या है? एक लँगड़ी एकरूपता कर देने का खोखला सन्तोष! यह सन्तोष कितना महंगा पड़ता है! प्रकाशक एक शैली बनाता है, जिसका गेली-प्रूफ से लेकर आदेश-प्रूफ तक परिपालन हो पाता है। पहले, दूसरे, यहाँ तक कि तीसरे प्रूफों तक ढेर-सारे शैलीगत चिह्न देखे गए हैं। आखिर, ऐसा क्यों? जब एक कोई शैली-विशिष्ट स्पष्टतया निर्धारित नहीं होती, उस स्थिति में प्रकाशक बेचारा ही शैली-सम्बन्धी मोटे-मोटे सिद्धान्त निर्धारित कर पाता है। शेष सामान्य ज्ञान पर छोड़ना पड़ता है। फलतः, एक प्रकाशक के पास तीन प्रूफ-रीडरों की पढ़ने की शैली, कुछ प्रमुख सिद्धान्तों को छोड़कर, अपनी अनोखी होती है; जिससे शैलीगत 'मार्किंग' का कोई ओर-छोर निश्चित नहीं किया जा सकता। फलतः, प्रेस के प्रूफ-रीडर को, जिसे दस प्रकाशकों से 'डील' करना होता है, दस शैलियाँ मनस्थ करनी पड़ती हैं—जिससे वह प्रकाशक की मनोवांछित 'स्टाइल' को 'फॉलो' कर सके। यह कम्पोजिटरों का तर्कसंगत शोषण नहीं है क्या? और, यह प्रकाशक या लेखक का स्वयं अपने-आप अपना शोषण नहीं है क्या?

ऐसी अव्यवस्था में क्या राष्ट्र-भाषा हिन्दी के मान्य लेखकों का यह कर्तव्य नहीं है कि वे अपनी प्रामाणिक योग्यता एवं सप्रतिभ व्यक्तित्व से एकरूपता के निर्धारण में उचित मार्ग-दर्शन करें ! दिसम्बर, १९६० के अंक में, मैंने इसी आशा की प्रार्थना की थी कि अन्तिम निर्णय विद्वानों के वस का है। अतः, उन्हीं से अपेक्षा करनी चाहिए। किन्तु, इससे कम-से-कम मेरा तो आशय यह नहीं कि केवल विद्यालयों के 'हैड आव द डिपार्टमेंट्स' से ही निर्णय की अपेक्षा की जाए। एतद्-विपरीत, उनके साथ-साथ, यत्र-तत्र बिखरे हुए भाषाविदों से एवं प्रेस में काम करनेवाले तथाकथित अर्द्ध शिक्षित प्रूफ-रीडरों से भी इस समस्या के समाधान में सहयोग देने की अपील करनी चाहिए थी। अगर, अब भी हम एकरूपता का समुचित निर्धारण करके उसे प्रकाशक-संघ के माध्यम से व्यापक रूप दे सकें तो सामयिक होगा। नहीं तो, इससे बड़ी शर्म की बात क्या होगी !

ये हैं कुछ दायित्व, जिनका निर्वाह करके लेखक-वर्ग शुद्ध छपाई में योग दे सकता है। जब पांडुलिपि में हर चीज़ स्पष्ट रहेगी, जब एकरूपता-सम्बन्धी सिद्धांत व्यापक रूप में निश्चित हो जाएंगे, तब प्रेस, सम्पादक और प्रूफ-रीडर का ध्यान स्वतः ही वास्तविक अशुद्धियों की ओर अधिक जाएगा। तब निस्संदेह सुधार की संभावनाएं बढ़ जाएंगी। आशा है, लेखक-मंडल इन सुझावों की ओर सद्भावनापूर्वक ध्यान देंगे।

राजाजी ने कहा था कि यदि शासन करने वाले लोगों को जनता के जीवित सम्पर्क से अलग हट कर स्वयं निर्जीव नहीं हो जाना है, तो उन्हें हिन्दी को अखिल भारतीय स्तर पर अपनाना होगा, क्योंकि सर्वसाधारण के लिये सभी भारतीय भाषाओं में से वही एक मात्र सर्वसुलभ भाषा हो सकती है। आज देश का दुर्भाग्य है कि उनके जैसा तपस्वी देशभक्त अंग्रेजी का इतना बड़ा समर्थक बन गया है।

हमारे सद्यःप्रकाशित गौरव-ग्रंथ

•

श्री विष्णुकान्ता

शान्तला

कन्नड़ का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक उपन्यास-शिल्प

साहित्य अकादमी की ओर से

मूल्य : ७.००

•

अनुभूत सत्य

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण प्रसाद

मूल्य २.००

•

औरत और अरस्तू

अभिनेय ऐतिहासिक नाटक

लेखक : श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ'

मूल्य : २.००

•

श्री द्वारका प्रसाद, एम० ए०-प्रणीत

मानव-मन

मनोविज्ञान पर विद्वान लेखक की मौलिक कृति

मूल्य : ४.७५

हमारे आगामी प्रकाशन

•

महाकवि दण्डी-प्रणीत

दशकुमार-चरित

संस्कृत का सांस्कृतिक उपन्यास-शिल्प

अनुवादक : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

•

फूल, सपने और वास्तव

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण

•

नए चरण : नई दिशा

सर्जनात्मक निबन्ध

लेखक : प्रो० सिद्धनाथ कुमार

•

शिक्षा-शास्त्र-मंजूषा

लेखक : श्री तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

जिला शिक्षा पदाधिकारी, मुंगेर

•

हा: हा:-ही: ही:

लेखक : स्व० सरयू पंडा गौड़

बालोपयोगी कौतुक-कथायें

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,

पटना—४

हिन्दी कथा-साहित्य की नई उपलब्धियाँ

★

डॉ० केवल धीर

आज के हिन्दी कथा-साहित्य ने जहाँ कुछ नई उपलब्धियाँ ग्रहण की हैं वहाँ पुरानी धारणायें भी इस के लिये स्तम्भ सिद्ध हुई हैं। इस मास में प्रकाशित कुछ नई एवं पुरानी कथायें इस तथ्य की परिचायक हैं। इस सदंर्भ में आने वाली हम कुछ ऐसी ही कथाओं का सिंहावलोकन करते हैं।

'नई कहानियाँ' के वर्षगाँठ विशेषांक में कुल चौदह कहानियाँ प्रकाशित हुई हैं। इनमें से अधिकांश हिन्दी कहानियाँ हैं। इस विशेषांक में कुछ पुराने कथाकार भी हैं जिनकी रचनाओं से अधिक उनके नामों का मूल्य है। जैसे, श्री उपेन्द्रनाथ अश्क, यशपाल, बलवंत सिंह आदि। जहाँ तक यशपाल एवं बलवंत सिंह के नाम एवं उनके साहित्य का प्रश्न है, वे अपने-अपने विषय के अछूते कथाकार हैं। यशपाल की कहानी "एक हाथ की उंगलियाँ" जहाँ यौन सम्बन्धी लक्ष्यों को उजागर करती है, वहाँ अमीर और गरीब, लाचार एवं खुशहाल का भेद-भाव भी स्पष्ट करती है। अमीर गरीब की आवाज तक को किस प्रकार दबा सकता है और गरीब जानते-बूझते हुए भी अमीर के आगे अपनी भावनाओं को नत कर देता है, इन बातों का चित्रण लेखक ने बखूबी किया है। लेखक की भाषा वही है, जो आज से वर्षों पूर्व थी। उसके माधुर्य एवं लोच में तनिक मात्र अंतर नहीं है। यशपाल अपनी तरह के एक ही कथाकार हैं, जिनकी कहानियाँ 'बाम्ब शैल' से कम नहीं होतीं, जिन्हें पढ़ कर पाठक सोचने को विवश हो जाता है कि लेखक ने 'उस'- की ही बात क्योंकर जान ली। 'नई कहानियाँ' के वर्षगाँठ-विशेषांक में यशपाल की इस कहानी को हम सर्वश्रेष्ठ कह सकते हैं। इसी कतार के दूसरे कथाकार बलवंत सिंह की कहानी 'देवता का जन्म' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित होते हुए भी कम रोचक नहीं है। मैं आजतक बलवंत सिंह को आंचलिक कथाकार मानता रहा हूँ, किन्तु लेखक की नई कहानी 'देवता का जन्म' ने यह सिद्ध कर दिया है कि उनकी जादूनिगार लेखनी 'सब रस' है। लेखक ने इस कहानी में मिस्र के प्राचीन रिवाजों पर आधारित कुछ तथ्यों को शब्दों की माला पहना कर हमारे सामने कुछ इस ढंग से रखा है, मानो लेखक उस युग का वह 'पगला संन्यासी' है जो अपने सबसे बड़े पुजारी 'जेफा' से कह रहा है "मुझे बता कि तेरे नगर के लोग मुझे हँसने क्यों नहीं देते? वे बढ़ई जो लकड़ी को पत्थर से हमवार करते हैं, वे लोहार जो भट्ठियों के सामने बैठ कर गर्म लोहे को हथौड़ों से कूटते हैं, वे किसान जो फूली-फूली मश्कों में पानी भर-भर कर अपने खेतों को सींचते हैं, वे भक्त जो 'तूम' की बेकार मूर्त्ति के सामने माथा रगड़ा करते हैं और वे धनी जो अंजीर के पेड़ों के नीचे अपने छोटे-छोटे तालाबों में नहाते हैं; वे सब मुझसे पूछते हैं: बेवकूफ, बता! तू किस बात पर हँसता है?" यह एक ऐसी कहानी है जिसपर पाठक चौंकता भी है, दर्द भी महसूस करता है और 'फराऊन' जैसे घातक व्यक्ति पर उसे क्रोध भी आता है। ये दोनों कथाकार पुरानी पीढ़ी के वे स्तम्भ हैं जिनपर नई कहानी टिकी हुई है। अब इसी पीढ़ी के तीसरे कथाकार श्री उपेन्द्र नाथ अश्क को हम लेते हैं। 'नई कहानियाँ' के इसी अंक में प्रकाशित उनकी मनोवैज्ञानिक कहानी 'पलंग' है। जहाँतक कहानी के शिल्प, शैली एवं भाषा का प्रश्न है, वह कोई बुरी नहीं; किन्तु श्री अश्क की इस कहानी का कथानक चुराया हुआ है। विदेश से प्रकाशित होने वाली एक अंग्रेजी पत्रिका 'लाइफ' के सन् १९५४ के किसी अंक में "I with my wife" (आई विद माई वाईफ) का बिल्कुल यही कथानक है। मैं नहीं समझ पाता कि श्री अश्क को यह क्या सूझी? पाठकगण ही बतायें कि हम श्री अश्क को किस प्रकार का कहें? मैं यह अवश्य मानता हूँ कि श्री अश्क की लेखनी ने 'डाची' जैसी कहानियाँ लिखी हैं और वह अपने समय के 'साहित्य सम्राट' रहे हैं। किन्तु 'असल' पर 'सूद' की कमाई भला कब तक पचाई जा सकती है, इसका अनुमान मेरे योग्य एवं 'अति ईमानदार' लेखक भाई भली प्रकार कर सकते हैं।

दूसरी कतार के लेखक, जो हिन्दी कथा-साहित्य के इन स्तम्भों को थामे हुए हैं, हमें उनपर भी गर्व है। 'नई कहानियाँ' के विशेषांक में प्रकाशित कमल जोशी की कहानी 'आधार', राजेन्द्र यादव की 'पुराने नाले पर बना नया फ्लैट', भीष्म साहनी की 'पास फेल', मन्नु भण्डारी की 'चय' और शेखर जोशी की 'समर्पण' उत्तम कलाकृतियाँ हैं। भीष्म साहनी की कहानी 'पास फेल' नये कथानक पर एक नया एवं सफल प्रयास है। ऐसी बहुत कम कहानियाँ हिन्दी साहित्य को कभी उपलब्ध हुई हैं। लेखक की व्यंग्यपूर्ण शैली प्रशंसा-योग्य है।

डॉ॰ धर्मवीर भारती के सम्पादन में साप्ताहिक "धर्मयुग" का कहानी-विशेषांक गत दिनों प्रकाशित हुआ है। इस विशेषांक की सर्वश्रेष्ठ रचना उर्दू के सुप्रसिद्ध कथाकार ख्वाजा अहमद अब्बास का लघु उपन्यास 'काला सूरज : सुफेद साये' है। अपनी रचना में अब्बास ने भाषा का जो नवीन प्रयोग किया है, वह अवश्य ही उनकी नई साहित्यिक उपलब्धि है। उनके इस लघु उपन्यास के पात्र वही किसान, मजदूर और वे विवश लोग हैं जिनके बाजुओं पर हमारा जीवन टिका है, जिनका पसीना हमारे लिए दूध बन कर आनन्द प्रदान करता है; किन्तु हम इन्हीं विवश लोगों का गला घोंटते हैं, इनके अधिकार को निजी अधिकार जताते हैं। इसलिए कि हम मिल-मालिक हैं, हम धनवान हैं। संक्षेप में, इसी कथानक पर अधारित श्री अब्बास की यह सफल रचना है। संक्षिप्त कहानियों में इसी अंक में प्रकाशित गुरुबचन सिंह की कहानी 'सिद्ध साईं' सर्वोत्तम कहानी है। गाँव की विवाहिता अल्हड़ युवती अपने रूठे साजन को मनाने के लिए उस दैवी शक्ति पर विश्वास रखती है जिसे किसी ने नहीं देखा। बन्तो एक कोढ़ी व्यक्ति को इस शक्ति का प्रतिरूप मान कर उसकी पूजा करती है। वह बोल नहीं सकता, समझ सकता है; किन्तु बन्तो क्या जाने उस साईं की भावनाओं को! जब बन्तो को उसका साजन मिल जाता है तो वह अपने साईं पर अपार श्रद्धाभाव दिखलाती है। वह इस भय से मुख फेर लेता है कि कहीं उसकी करुणा आँसू बन कर बन्तो को रुला नहीं दे। पंजाब की धरती की मुँह-बोलती तस्वीर है गुरुबचन सिंह की 'सिद्ध साईं'। इसी अंक में श्री अश्क के दो लतीफे प्रकाशित हुए हैं। समझ में नहीं आता कि किस दृष्टिकोण से इन लतीफों को इस 'विशेषांक' में स्थान दिया है? कमल जोशी की 'बड़े बाप की बेटी', कमलेश्वर की 'जरूरी और गैर-जरूरी' यशपाल की 'अपमान की लज्जा' अच्छी कहानियाँ हैं।

पंजाब सरकार द्वारा प्रकाशित हिन्दी मासिक 'जागृति' में मात्र एक ही ऐसी कहानी है जिसे हम अच्छी कह सकते हैं। वह कहानी है श्री शानी लिखित 'पहिला झूठ'। इस कहानी में लेखक ने साधारण परिवार के एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो घरेलू जीवन में रह कर झूठ बोलने के लिए विवश है।

कृशनचन्द्र की मधुर लेखनी किसको मोहित नहीं कर लेती? साधारण से साधारण बात भी इसकी लेखनी से

कथा का रूप ले लेती है। 'नई कहानियाँ' के जुलाई अंक में प्रकाशित लेखक की कहानी 'फूल की तनहाई' हमारे दैनिक जीवन की ऐसी ही साधारण-सी बातों का मजमुआ है जिसे कथा-शिल्पी कृश्न ने इतने सुन्दर ढंग से हमारे समक्ष रख दिया है कि पाठक वाह कह उठता है। इसी अंक में प्रकाशित दूसरी कहानी नई पीढ़ी के 'साहित्यिक हीरो' मधुकर गंगाधर की 'किनारे से पहले' एक अच्छी कलाकृति है। भाषा के भले मधुकर गंगाधर को ही यह श्रेय प्राप्त है कि इस अल्पायु में उसने इतनी ख्याति अर्जित की है। लेखक का एक-एक शब्द नश्तर बन कर पाठक के मन को छेदता है और पाठक इस नश्तर की चुभन का अनुभव अवश्य करता है। इसी अंक की दो और कहानियाँ गुरुवचन सिंह लिखित 'करम जली' और रमेश बक्षी की 'एक रंगीन तस्वीर' भी अच्छी कहानियाँ हैं। रमेश बक्षी जिस गति से साहित्यिक दौड़ में आगे ही आगे बढ़ रहे हैं, उसे देख कर मुझे लगता है कि उनकी यह दौड़ एक दिन रंग लायेगी।

हिन्दी साहित्य में कादम्बिनी एक नया संगे-मील सिद्ध हुई है। इस पत्रिका के कुछ ही अंकों ने हिन्दी साहित्य को चौंका दिया है। जुलाई अंक में तीन हिन्दी मौलिक कहानियाँ हैं। पहली कहानी मनहर चौहान लिखित है। इधर मनहर चौहान को जिस गति से प्रकाशित होते देखा जा रहा है; उससे हर साहित्यिक भले ही यह अनुमान लगा सकता है कि वह दिन दूर नहीं जबकि मनहर 'घास फूस' लिखने लगेंगे, किन्तु उनकी नई कहानी 'कुन्नों' ने इस शंका को कुछ मद्धिम कर दिया है। भाई मनहर को मेरा यह विनम्र परामर्श है कि वह इस गति को त्यागें और हिन्दी साहित्य को चौंका देने वाली चीजें दें। इसी अंक में प्रकाशित चन्द्र किरण सोने-रैक्सा एवं शान्ता सिन्हा की कहानियाँ भी अच्छी हैं। इस नई पत्रिका एवं इसके लेखकों से हमें आशा है।

इन दिनों हिन्दी साहित्य में एक और नई पत्रिका 'नीहारिका' ने प्रवेश किया है। जून अंक में कुल बारह कहानियाँ हैं। तीन-चार कहानियों को छोड़ कर शेष सभी कहानियाँ यूँ ही सी हैं। इस अंक की सर्वश्रेष्ठ कथा श्री विष्णु प्रभाकर लिखित "भयानक सौंदर्य और आत्मकथा" है। कर्त्तार सिंह दुग्गल लिखित "फैशनेबल लड़की आराम की तलाश में" एक साधारण किन्तु सफल कहानी है। श्री रावी लिखित 'नया बल' और श्री मन्मथ नाथ गुप्त लिखित 'समाधान' भी अच्छी कृतियाँ हैं।

अंत में, इतना ही कहूँगा कि इन दिनों हिन्दी साहित्य को कुछ बहुत ही अच्छी कहानियाँ प्राप्त हुई हैं, जिन में यशपाल की 'एक हाथ की उँगलियाँ', बलवंत सिंह की 'देवता का जन्म', अब्बास की लम्बी कहानी 'काला सूरज : सफेद साये' मधुकर गंगाधर की 'किनारे से पहले' गुरुवचन सिंह की 'सिद्ध साईं' और कृश्नचन्द्र की 'फूल की तनहाई' हैं।

✶

अहिन्दी भाषा-भाषी जनसाधारण हिन्दी-विरोधी नहीं है, इसका एक बहुत बड़ा प्रमाण हिन्दी फिल्में भी हैं। इससे यह भी साबित होता है कि वे हिन्दी भाषा आसानी से समझ भी लेते हैं। इस दृष्टि से यह केवल १०-१५ करोड़ इन्सानों की भाषा ही नहीं है, बल्कि बाकी २० करोड लोगों के लिए भी वह व्यवहारतः सुगम है। वे लोग पढ़ लिख नहीं पाते, यह कोई महत्वपूर्ण दलील नहीं है, क्योंकि भारतवर्ष में पढ़े-लिखों की संख्या ही कितनी है? सारी भाषाओं को मिलाकर देखने से भी कुल पढ़े-लिखे १२ प्रतिशत से अधिक नहीं हैं। अंग्रेजी जानने वाले तो १ प्रतिशत ही हैं। यह सारा काण्ड [झगड़ा] इन चन्द मुट्ठी भर लोगों का पैदा किया हुआ है। यही दुखद परिस्थिति शिक्षा के माध्यम को लेकर भी है। एक तो यह शिक्षा एकदम निकम्मी है और हमारे बच्चों को हैवान बना रही है, दूसरे इसका माध्यम अंग्रेजी भाषा होने के कारण विद्यार्थियों के लिए वह अत्यधिक भार-रूप है। हाँ, नौकरशाही के बालबच्चों के लिए जरूर वह भार-रूप नहीं है। इनके घर का समस्त वातावरण अंग्रेजीमय होता है, रहन-सहन वैसा ही, घर की व्यवस्था अंग्रेजी ही है।

—रामाधार [भारतवाणी, जुलाई ६१]
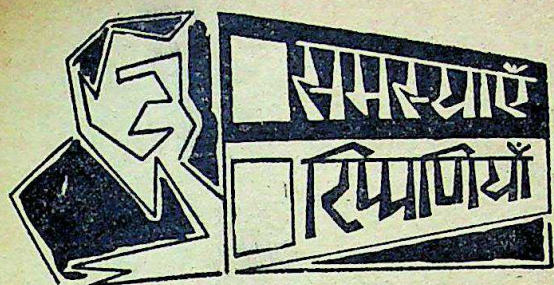
शिक्षा पर सरकारी नियन्त्रण के विरुद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण विचार

"शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण लोकतन्त्र की हत्या है। लगभग सभी राज्यों में पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभागों द्वारा ही निर्धारित की जाती हैं। कई पाठ्य-पुस्तकें शिक्षा-विभाग द्वारा लिखाई जाती हैं तथा वही उन्हें प्रकाशित करता है। क्या यह सब शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण नहीं है? क्या कांग्रेसी सरकारें कह सकती हैं कि वे अपने ढंग से शिक्षा को नियंत्रित नहीं करतीं? सिद्धांततः कांग्रेस शिक्षा के सरकारी नियंत्रण को स्वीकार करती है।···जब सरकारी नियंत्रण का सिद्धांत मान लिया जाता है, तब स्वभावतः जिस पार्टी की सरकार अस्तित्व में आवेगी वह अपने दृष्टिकोण के अनुसार शिक्षा को नियंत्रित करे तो आश्चर्य की कौन-सी बात है? केरल में वर्त्तमान में कम्युनिस्ट पार्टी की सरकार है और कम्युनिस्ट पार्टी अन्य बातों के साथ-साथ शिक्षा पर भी पूर्ण सरकारी नियंत्रण में विश्वास करती है। ऐसी स्थिति में यदि केरल-सरकार ने कांग्रेसी राज्यों की अपेक्षा सरकारी नियंत्रण में वृद्धि की है, तो उसे दोष क्यों दिया जाता है।"

—धीरेन्द्र मजूमदार ('आज' १६-६-५६)

"शिक्षा के नियंत्रण के माध्यम से अधिकारारूढ़ पार्टी नयी पीढ़ी को सूक्ष्म शैक्षणिक तरीकों द्वारा अपने साँचे में ढालने का प्रयास करती है। इसका स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि विचार-स्वातंत्र्य एवं स्वतंत्र-दृष्टिकोण के लिए अनुकूल वातावरण रह नहीं जाता। समाज के सन्तुलित विकास की दृष्टि से यह बात घातक होती है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस राष्ट्र में भी शिक्षा के सरकारी नियंत्रण पर अत्यधिक जोर दिया गया, वह प्रारंभ में तेजी से कुछ प्रगति करता हुआ प्रतीत होता है, किन्तु कुछ ही वर्षों में वह अपने पड़ोसियों के लिये खतरा पैदा कर देता है और साथ ही आन्तरिक विद्रोह के बीज भी बो देता है।······शिक्षा का नियंत्रण सरकार के हाथ में नहीं, बल्कि समाज के विद्वानों, विचारकों एवं मनीषियों के हाथ में होना चाहिए। सरकार का कार्य ऐसे व्यक्तियों की सहायता करना एवं आवश्यक साधन प्रस्तुत करना होता है।"

—'आज' (संपादकीय १६-६-५६)

"सरकार के हाथों में किसी भी प्रकार की शिक्षा-पद्धति नहीं होनी चाहिए।···मैं पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण का विरोधी हूँ एवं हमें पाठ्य-विषय एवं शिक्षा-प्रणाली को सरकारी प्रभावों से बचाने की चेष्टा करनी चाहिए। शिक्षा-प्रणाली में किसी भी प्रकार की अनिवार्यता नहीं आनी चाहिए तथा शिक्षा का माध्यम लड़के की मातृभाषा होनी चाहिए।"

—विनोबा भावे

(आ० भा० बुनियादी शिक्षा सम्मेलन, १३ वाँ अधिवेशन, राजपुरा (पंजाब), २७ अप्रेल १९५९)

"हम एक भारतीय समाचार-पत्र से यह अंश उद्धृत कर रहे हैं, जिसने इसका नामकरण 'विद्या के क्षेत्र में एकाधिकार हानिकारक' ठीक ही किया था।

'मद्रास हाईकोर्ट के न्यायाधीश श्री पी० वी० बालकृष्ण अय्यर ने, एक फैसले के बीच, कहा कि इस वर्ष की सेकेंडरी स्कूल लीविंग सर्टिफिकेट के निमित्त मद्रास सरकार द्वारा प्रकाशित अंगरेजी की एक पाठ्य-पुस्तक (स्काट-रचित Quentin Durward का संक्षिप्त संस्करण, सरकारी ट्रेनिंग कालेज की महिला प्रिंसिपल द्वारा सम्पादित) की 'उल्लेखनीय सफलता नहीं रही है।' 'एक अच्छी पाठ्य-पुस्तक कैसी नहीं होनी चाहिए, इसका यह एक उदाहरण है'····'अविस्तृत अध्ययन के निमित्त सरकार का अंगरेजी की पाठ्य-पुस्तक प्रकाशित करने का वर्त्तमान प्रयास पूर्णतया असफल रहा है'··· 'शिक्षा-धारा के अन्तर्गत एकाधिकार की स्थापना का प्रयास, विशुद्ध आर्थिक क्षेत्र में ऐसे प्रयोग से कहीं अधिक खतरनाक है।"

—'दि इंडियन पब्लिशर एंड बुकसेलर' (जनवरी १९५९)

"स्वतंत्रता के बाद देश के अनेक राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण किया जाने लगा। केरल में जब कम्यूनिस्ट सरकार आई, तो उसने भी स्वभावतः यह कदम उठाया।··· हर संभव उपाय से इस षड्यंत्र को रोकने का उपाय करना चाहिए। पर रोके कौन ? हमारे हाथ तो स्वयं इस रक्त से रँगे हैं। क्या कांग्रेस द्वारा शासित प्रदेशों की राष्ट्रीयकृत पाठ्य-पुस्तकों में अपनी पार्टी के प्रान्तीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर के जीवित नेताओं की प्रशस्तियाँ नहीं गाई गई हैं ? अपने विचार घोलकर बच्चों को नहीं दिए गए हैं ? गाँधीजी ने कहा था, सुधार की क्रिया अपने से शुरू की जानी चाहिए। हमारा निवेदन है कि केरल के दरवाजे पर दस्तक देने से पहले···पाठ्य-पुस्तकों के राष्ट्रीयकरण की इस प्रणाली को अपने यहाँ से रुखसत कर देना चाहिए। शिक्षा का रूप स्थिर करने का भार, अपने ऊपर न रखकर, शिक्षाविदों और विचारकों की एक समिति पर, पूरे अधिकार और स्वतंत्रता के साथ, डाल देना ही सभी दृष्टि से स्वस्थ और जनतांत्रिक है।"

—'पुस्तक जगत' (नवम्बर १९५८)

"एक ओर तो कांग्रेस ने शिक्षा का राज्यकरण करने वाली शिक्षा-विधि का विरोध कर, राज्यकरण करने वाले शासक-दल—साम्यवादी दल—को उखाड़ फेंका, मगर दूसरी ओर बिहार में केरल की शिक्षा-विधि से भी ज्यादा खतरनाक कानून, हाई स्कूल (नियंत्रण) विधेयक स्वीकृत कराने में एड़ी-चोटी का जोर लगा मारा। सिद्धांतरूप में तो कांग्रेस वाले यह मानते हैं कि शिक्षा का राज्यकरण नहीं होना चाहिए,···लेकिन इस सिद्धान्त को वहीं व्यवहार में लाते हैं, जहाँ उन्हें सत्ताधारी विरोधी दल को दबाने की जरूरत पड़ती है। जहाँ वे स्वतः सत्ताधारी बने हुए हैं, वहाँ इस सिद्धान्त को ताक पर रखकर, इसके विपरीत कार्य करते हैं।"

—'पुस्तक जगत' (जून, १९६०)

"अपने देश में एक गलत तरीका चल रहा है। आज सबसे बड़ा खतरा यह है कि तालीम सरकार के हाथ में है। ···पिछले दिनों केरल में शिक्षा के बारे में कुछ हेरफेर किया तो सारे देश में हो-हल्ला मचा। मैंने कहा—आखिर उन्होंने किया ही क्या ? आप जो करते हैं, उसी को उन्होंने थोड़ा कसकर किया है। आपके स्कूलों का टाइम-टेबुल भी तो ऊपर से लिखकर आता है कि फलाँ विषय इतने घंटे तक पढ़ाया जायगा; जो किताबें तय हुई हैं, वे ही पढ़ाई जायँगी। इससे बढ़कर खतरा दूसरा नहीं है। क्या यह डिमोक्रेसी है ? डिमोक्रेसी तब प्रकट होगी जब तालीम मुक्त होगी। अब तालीम का जो ढाँचा बन गया है, उस ढाँचे को तोड़ना होगा।"

—विनोबा भावे ('पुस्तक-जगत' जून, ६०)

"राष्ट्रीयकरण के विरोध में कही जाने वाली इस बात की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि ऐसा होने के पश्चात विद्यार्थियों को शासक-दल की सामग्री पढ़ने को मिलेगी, शिक्षा निष्पक्ष नहीं रह सकेगी। इस बात का हल्का-सा जिक्र केन्द्रीय शिक्षामंत्री ने भी अपने भाषण में किया है। यूनेस्को द्वारा आयोजित मद्रास में होनेवाली विचार-गोष्ठी में भाषण करते हुए उन्होंने कहा कि—'सरकार को चाहिए कि पुस्तकों का निर्माण निजी संगठनों और प्रकाशकों के हाथ में छोड़ दे। तभी विचारों का उन्मुक्त प्रवाह सम्भव हो सकेगा और लेखकों की कल्पना और बुद्धि की तथा जनगण की रचनात्मक-शक्तियों की पूर्ण और अधिक उन्मुक्त अभिव्यक्ति हो सकेगी।···यदि प्रकाशकों में कम मूल्य में अच्छी पुस्तकें पैदा करने का उत्साह न हो, तो सरकार को हस्तक्षेप करना पड़ता है। जिन राज्यों में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण हुआ है, उनके मन में भी यही बात थी। फिर भी, मेरी राय है कि उन राज्यों में भी प्रकाशकों को स्वतंत्र प्रतियोगिता का अधिकार होना चाहिए, तथा सरकार को एकाधिकार नहीं करना चाहिए।"

—दयानन्द वर्मा ('पुस्तक-जगत' फरवरी, १९६१)

"केरल में भूतपूर्व कम्युनिस्ट सरकार पर काँग्रेस तथा अन्य विरोधी पक्षों द्वारा यह आरोप लगाया गया कि विद्यार्थियों में वामपन्थी दृष्टिकोण पैदा करने के लिए उसने अनुकूल पाठ्य-पुस्तकों का प्रचार किया तथा राज्य के पुस्तकालयों को वामपन्थी पुस्तकालयाध्यक्षों से भर दिया गया, कि वे इसमें अनुकूल पुस्तकों के संग्रह में साधन सिद्ध

हो सकें ।...केरल दिल्ली से दूर है; वहाँ क्या-कुछ हुआ कि जिसके बारे में काँग्रेस के मंच और प्रेस से देश भर में गुहार-पुकार मचाई गई, हमें मालूम नहीं है। हमें उसकी निजी जानकारी अवश्य है, जोकि काँग्रेस द्वारा शासित उत्तर के राज्यों में तथा केन्द्र में पिछले अनेक वर्षों से बराबर हो रही है। १६४७ के बाद पुस्तकालय-आन्दोलन पर बहुत और उचित बल दिया गया, सार्वजनिक कोष से लाखों रुपयों की पुस्तकें देश भर के पुस्तकालयों के लिए खरीदी जा रही हैं। लेकिन, काँग्रेस द्वारा शासित राज्यों में जो पुस्तकें खरीदी जा रही हैं, उनका अधिकांश ऐसे साहित्य का है, जो शासकों के राजनीतिक और सामाजिक दर्शन के अनुकूल पड़ता है···जोकि परोक्षरूप से वर्त्तमान शासकीय नीति का समर्थन करता हो। कहा जाता है कि आज हमें वैज्ञानिक और तकनीकी साहित्य की जरूरत है···लेकिन जब सार्वजनिक कोष से पुस्तकें खरीदने का प्रश्न आता है, तो वैसा ही साहित्य खरीदा जाता है, जिसे समर्थन देने के लिए केरल की भूतपूर्व सरकार पर लांछनों और आरोपों की झड़ी लगाई गई थी।··· केन्द्रीय शिक्षा-मंत्रालय ने ऐसे अनुकूल साहित्य को देश के अहिन्दी प्रान्तों के पुस्तकालयों में पहुँचाने के लिए लाखों रुपये इसी प्रकार खर्च किए हैं और कर रहा है। इस साहित्य को खरीदने के लिए किसी नियम या पद्धति का पालन आवश्यक नहीं समझा जाता, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं से पुस्तकों के नमूने नहीं माँगे जाते, सुविधाएँ और कमीशन की दरें नहीं पूछी जातीं। एक शासकीय आर्डर निकल जाता है, और आज के संक्रान्ति काल में अन्य अत्यन्त उपयोगी साहित्य की नितान्त उपेक्षा करते हुए, अनुकूल साहित्य स्कूलों कालेजों के पुस्तकालयों और सार्वजनिक पुस्तकालयों में भर दिया जाता है।"

—'प्रकाशन समाचार' (दिसम्बर, १६५६)

"स्वराज्य और लोकतन्त्र की हत्या का सबसे बड़ा जरिया शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण हैं। पर, आज पूरे भारत के कांग्रेसी शासन में और केरल के साम्यवादी शासन में शिक्षा पर सरकारी नियंत्रण है। केरल में लोकतंत्र की हत्या हो रही है, यह सच है। पर, उतनी ही मात्रा में यह भी सच है कि भारत के दूसरे राज्यों में उसी मात्रा में लोकतंत्र पर सैनिक-शाही का नियंत्रण है।"

—धीरेन्द्र मजूमदार (२८ जून, कानपुर)

"शिक्षा का दायित्व सरकार के ऊपर है और इसका विधिवत उल्लेख भारत के संविधान में है। जहाँ दायित्व रहता है, वहाँ अधिकार भी स्वयं आ जाता है, पर संविधान में किसी अधिकार की चर्चा नहीं है। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिक्षा के संबंध में अपने उत्तर-दायित्व के निर्वाह के लिए या उसके बदले में सरकार अपने लिए पूरा अधिकार ले लेती है।···हिसाब लगा

कर देखा जाय तो शिक्षा के पूरे मद में खर्च होनेवाली रकम का एक-चौथाई अंश सरकार देती है और तीन-चौथाई अंश जनता को देना पड़ता है।···प्रजातंत्र के समुचित विकास के लिए यह बहुत आवश्यक है कि शिक्षा के क्षेत्र में सरकार को कम-से-कम अधिकार या नियंत्रण रखना चाहिए ।··· सरकारी गैर-सरकारी स्कूल, सब सरकार के भार से दबे हुए हैं···उनकी शिक्षा-पद्धति, उनकी प्रबंध-समिति, उनकी पाठ्य-प्रणाली, उनकी पाठ्य-पुस्तकें; सब पर सरकार सवार है। स्वस्थ प्रजातंत्र के लिए यह स्थिति अनुकूल नहीं है। यदि समुचित रीति से भारतीय प्रजातंत्र में हमें शिक्षा का प्रचार करना है, तो यह अधिकार अधिक-से-अधिक नागरिकों को देना चाहिए और कम-से-कम सरकार को अपने पास रखना चाहिए। शिक्षा-शास्त्रियों का यह विचार नया नहीं है कि देश की शिक्षा-पद्धति राजकीय नियंत्रण से स्वतंत्र होनी चाहिए ।···विकसित तथा प्रबुद्ध प्रजातंत्र में शिक्षा को स्वतंत्र ही छोड़ा गया है, भारत जैसे नवजात प्रजातंत्र में इसकी आवश्यकता पर पूरा विचार किया ही नहीं गया।···········विगत ३१ मई को भारत सरकार के शिक्षामंत्री डॉ० कालूलाल श्रीमाली ने अमृतसर में एक भाषण में कहा कि : "सरकार को शिक्षा-संस्थाओं पर एकाधिकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि इससे देश में प्रजातंत्र के विकास में कमजोरी आ जायगी ।···शिक्षा के क्षेत्र में, ढाँचे में एकरूपता लाने से, प्रायवेट स्कूलों की स्वयं आगे बढ़ने की प्रेरणा और प्रयोगात्मकता समाप्त हो जायगी और काम का एक ढर्रा बँध जायगा, जो प्रजातंत्र की भावना के विरुद्ध है।" डॉ० श्रीमाली की उक्ति का हम समर्थन करते हैं और चाहते हैं कि वे अपने विचारों को कार्यरूप में परिणत करने की चेष्टा करें। उनके हाथ में अभी शिक्षा का शासन-सूत्र है। वे चाहें तो शिक्षा को भारतीय प्रजातंत्र में उचित स्वतंत्रता मिल सकती है। किन्तु, खेद की बात है कि बहुधा उचित बात से उचित काम का संबंध नहीं रखा जाता ।·····इंगलैंड एक महान् जनतंत्री राष्ट्र है और उसका प्रभाव हमारे भारतीय जीवन तथा शासन पर अत्यधिक है। अंगरेजों की दी हुई शिक्षा-प्रणाली को अब तक हम किसी-न-किसी प्रकार ढोते चले जा रहे हैं।···यह आश्चर्य की बात है कि इंगलैंड में पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण नहीं है, पर अंगरेजी सरकार ने अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए भारत में शिक्षा को अपने पूरे नियंत्रण में रखा। भारतीय सभ्यता, संस्कृति; सब को दबा कर उन्होंने अपने प्रभुत्व के तेज से हमारी आँखें चौंधिया दीं। भारत की राष्ट्रीय सरकार ने जहाँ-तहाँ इसके सुधार के प्रयत्न किए हैं, यह प्रशंसा की बात है। किन्तु, सरकार के लिए जनता का—प्रजातंत्रीय जनता का—पथ-प्रदर्शक मात्र रहना ही श्रेयस्कर है। जनता का हाथ पकड़ कर रास्ते पर घसीटना अच्छा नहीं। जीवन में उच्छृंखलता को संयत रखने के लिए नियंत्रण आवश्यक है, किन्तु नियंत्रण का स्वरूप ऐसा नहीं होना चाहिए कि उसका बोध हमें प्रत्येक क्षण होता रहे।···पाठ्य-पुस्तकों का राष्ट्रीयकरण तो राष्ट्रघातक ही माना जा सकता है।···सरकार यह दावा नहीं कर सकती कि उसकी स्वीकृत तथा प्रकाशित पाठ्य-पुस्तकें बाजार में सबसे अच्छी हैं, सस्ती हैं और राष्ट्रीय विचारों से परिपूर्ण हैं। किसी पाठ्य-पुस्तक में गाँधी-जवाहर का नाम आ जाना ही उसकी राष्ट्रीयता की पहचान नहीं हो सकती।"

—लक्ष्मीनारायण सुधांशु ('पुस्तक जगत', **सितम्बर १९५९**)

"यह बात ठीक है कि आज विद्यार्थियों में अनुशासन कम है, लेकिन मुझे आश्चर्य होता है कि उनमें इतना भी अनुशासन कैसे बचा है! क्योंकि आज हिन्दुस्तान में जो तालीम दी जा रही है, उसका वास्तविकता के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।"

—विनोबा भावे

★

बापू की कारावास कहानी

लेखिका—सुशीला नायर
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली
मूल्य—ढ़ाई रुपये मात्र, पृष्ठ—४०२

६ अगस्त १६४२ को बापू वन्दी बना लिये गये और और इक्कीस माह तक आगा खाँ महल, पूना में नजरबंद रखे गये।

१५ अगस्त, ४२ को अचानक महादेव भाई का देहावसान आगा खाँ महल में ही हो गया। उनकी मृत्यु के पश्चात् बापू के आदेश पर लेखिका ने प्रतिदिन की घटनाओं की डायरी लिखी, जिसका संशोधन बापू पढ़कर कर देते थे।

बापू के कारावास का यह काल भारतीय स्वतंत्रता की लड़ाई का ऐतिहासिक काल था।

आलोच्य पुस्तक बापू के कारावास-जीवन की लेखिका द्वारा रखी डायरी का मुद्रित रूप है। इन डायरियों में भारतीय स्वतंत्रता के इतिहास की झलक मिलेगी और इतिहास के पाठक इससे पूर्ण लाभ उठा सकते हैं, क्योंकि इसमें शुद्ध घटनाओं का वर्णन है और घटनायें पुरानी पड़कर इतिहास बन जाती हैं।

इसके साथ ही यह डायरी बापू का निकट से अध्ययन करने का पूरा अवसर प्रदान करती है और उनके मनोभावों का सूक्ष्म अध्ययन प्रस्तुत करती है।

यद्यपि मात्र घटनाओं के उद्धरण से नीरसता आ गयी है और कहीं-कहीं पुनरुक्ति-दोष आ गये हैं, पर यह पठनीय और संग्रहणीय पुस्तक है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती।

अरबों के देश में

लेखक—गोपाल प्रसाद व्यास
प्रकाशक—आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य—तीन रुपये पचास नये पैसे, पृष्ठ—पचहत्तर

लेखक ने कुछ दिन पूर्व मिस्र आदि अरब देशों की यात्रा की थी जिसके पश्चात् इस पुस्तक का प्रकाशन हुआ।

पर आलोच्य पुस्तक में लेखक के मन में जो भाव उस धरती को देखकर उमड़े उन्हीं का वर्णन अधिक है। यात्रा-विवरण के नाम पर अत्यन्त ही अल्प सामग्री है, जैसा कि लेखक ने अपनी भूमिका में स्वीकार भी किया है—"यह पुस्तक यात्रा-विवरण नहीं है।...... मैंने इस पुस्तक को भूगोल, इतिहास या राजनीति की दृष्टि से नहीं, साहित्य की दृष्टि से लिखा है।"

इस दृष्टि से पुस्तक रोचक बन पड़ी है और पाठक को रस मिलता है, पर कहीं-कहीं, जैसे गाँधी टोपी का विज्ञापन और नासिर के २ घण्टे ४७ मिनट के भाषण में ७३ बार तालियाँ बजीं आदि बातें पुस्तक की गरिमा को कम कर देती हैं।

फिर, पचहत्तर पृष्ठों की पुस्तक का मूल्य तीन रुपये पचास नये पैसे कदापि न्यायोचित नहीं कहा जा सकता।

रूस में छियालिस दिन

लेखक—यशपाल जैन
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली
मूल्य—डेढ़ रुपया, पृष्ठ—१८३

अल्पमोली साहित्य के अन्तर्गत प्रकाशित यह यात्रा-साहित्य लेखक की हिन्दी साहित्य को एक अमूल्य भेंट है और हमारे यात्रा-साहित्य में एक 'माईल स्टोन'।

लेखक ने पिछले वर्ष रूस तथा अन्य यूरोपीय देशों की यात्रा की थी। प्रस्तुत में लेखक के छियालिस दिनों के रूस-प्रवास का वर्णन है। इन छियालिस दिनों में लेखक ने रूस के प्रायः सभी दर्शनीय स्थलों को देखा, छोटे-बड़े लोगों से मिले, जनता में घुल-मिल गये और समय का अधिक-से-अधिक सदुपयोग किया। लेखक को इससे देश और उसके लोगों को समझने का पूरा अवसर मिला और इन्होंने समझा भी।

पुस्तक को पढ़ने के बाद ऐसा लगता है कि लेखक उस देश की आत्मा की गहराई तक पहुँचने में सफल हुआ है, यद्यपि ऐसा कभी-कभी लगता है कि उसने उसकी खूबियों की यथास्थान चर्चा कर दी है पर खामियों पर मौन रह गया है—चाहे इसमें लेखक का जो भी उद्देश्य क्यों न रहा हो।

यूँ, विषय और शैली दोनों दृष्टियों से पुस्तक अद्वितीय बन पड़ी है और कम मूल्य में पाठक को उत्कृष्ट सामग्री प्रदान करती है।

सागर और मनुष्य

लेखक—अर्नेस्ट हेमिंग्वे
अनुवादक—आनन्द प्रकाश जैन
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली
मूल्य—दो रुपये, पृष्ठ—११२

जग-प्रसिद्ध उपन्यासकार हेमिंग्वे, जिनकी अकाल-मृत्यु हाल ही में अपनी ही गोली से हो गयी, की नोबेल-पुरस्कार प्राप्त यह कृति मूल का अनूदित रूप है।

The old man and the Sea नाम का अनुवाद 'सागर और मनुष्य' कभी भी अपना औचित्य नहीं रखता।

उपन्यास का सबसे बड़ा सौंदर्य इसकी सादगी है—कथा की, पात्र की, भाषा की, शैली की। सारे उपन्यास में कहीं भी आपको अटकाव नहीं अनुभव होगा। इसकी सरलता तो पाठक के हृदय को मोह लेती है। उस बूढ़े का उस मछली के साथ संघर्ष जीवन में संघर्ष का प्रतीक है और जीवन में संघर्ष की प्रेरणा देता है। उपन्यास का अन्त अत्यन्त ही करुण है।

अनुवाद की भाषा में उस सादगी का सर्वथा अभाव है, जिसकी अपेक्षा थी। आवरण-पृष्ठ आकर्षक एवं भावपूर्ण है।

—विश्वनाथ

*

—चेकोस्लोवाकिया में प्रति वर्ष ५ करोड़ पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, यानी औसत हर नागरिक के पीछे चार पुस्तकें छपती हैं। दूसरे महायुद्ध के पूर्व की तुलना में प्रकाशन तीन गुना बढ़ गया है। अगले ५ वर्षों में प्रकाशन फी व्यक्ति पाँच-छः प्रतियों तक पहुँच जाएगा।

—किताबों की दूकानों की संख्या भी चेकोस्लोवाकिया में बहुत अधिक है। देश में ८१६ बड़ी दूकानें हैं जहाँ हर प्रकार की पुस्तकें मिल सकती हैं। छोटे बुक-स्टाल, अन्य सामग्री के साथ पुस्तकें भी बेचने वाली दूकानों आदि की संख्या अगिनत है। किताबों की सबसे अधिक दूकानें राजधानी प्राग में हैं जहाँ हर ७,६२० नागरिकों पर एक दूकान का हिसाब बैठता है। ऐसा परिवार मुश्किल से मिलेगा, जिसके पास अपना घरेलू पुस्तकालय न हो।

—चेकोस्लोवाकिया में ५६,००० सार्वजनिक पुस्तकालय हैं, जिनमें ३ करोड़ ६० लाख से अधिक पुस्तकें हैं और सदस्यों की संख्या ४० लाख से अधिक है। चेकोस्लोवाकिया की आबादी केवल १ करोड़ ३५ लाख है।

—विश्वविद्यालयों, कॉलेजों और स्कूलों के अपने विशिष्ट पुस्तकालय हैं। चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग के विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में २५ लाख से अधिक पुस्तकें हैं। हर कारखाने और सहकारी खेत के अपने पुस्तकालय तो हैं ही। साथ ही, अस्पतालों विश्रामगृहों, सेनेटोरियमों आदि के पास भी काफ़ी बड़ा पुस्तक-भण्डार होता है।

—अभी हाल में अमेरिका के सम्बन्ध में किसी विदेशी दर्शक ने कहा था कि इस देश के सम्बन्ध में सबसे विस्मयकारी बात यह है कि वहाँ विविध प्रकार की अच्छी-अच्छी पुस्तकें उपलब्ध हैं।

आम तौर पर अमेरिका की टैक्नोलॉजिकल सफलताओं का विदेशी लोगों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ता है। अन्य देशों में केवल पुस्तकों की दूकान से ही पुस्तकें खरीदी जाती हैं, किन्तु अमेरिका में अत्यन्त अप्रत्याशित स्थानों पर पुस्तकें प्रदर्शित होती हैं।

—अमेरिका में मोटे कागज की जिल्द वाली पुस्तकों का बहुत अधिक चलन है। कागज़ की जिल्द वाली इन सस्ती पुस्तकों ने प्रकाशकों तथा पाठकों दोनों के लिए ही बिलकुल नया क्षेत्र खोल दिया है।

अमेरिका में २२ वर्ष पूर्व मोटे कागज़ की जिल्दों-वाली पुस्तकों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था। उसके बाद से उनकी संख्या में निरन्तर आशातीत वृद्धि होती चली गई है। गत वर्ष प्रतिदिन लगभग १० लाख पुस्तकों की बिक्री होती रही है।

आँकड़ों को देखने से यह प्रकट हो जाता है कि अमेरिका में भारी संख्या में लोग मोटे कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकें खरीदते हैं। यद्यपि इन पुस्तकों के सम्बन्ध में लोग भलीभाँति परिचित हो गए हैं, फिर भी वे कभी-कभी लोगों के लिए विस्मय का कारण बनती रहती हैं।

गत वर्ष पुनः यह बात देखने में आई, जब अमेरिका के दो प्रसिद्ध समाचार-पत्रों, 'न्यूयार्क टाइम्स' तथा 'न्यूयार्क हेरल्ड ट्रिब्यून' ने केवल कागज़ की जिल्दों वाली पुस्तकों के सम्बन्ध में अपने वार्षिक रविवारीय विशेषांक प्रकाशित किए।

हमें आँकड़ों से यह पता चलता है कि अब पुस्तक-प्रकाशकों को अपनी कुल आय का ५ वाँ भाग कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकों से प्राप्त होता है। इस समय कागज़ की जिल्दों वाली लगभग १२,००० पुस्तकें उपलब्ध हैं और इनमें से लगभग २५०० नई पुस्तकें केवल केवल १९६० में प्रकाशित हुई हैं।

—पॉकेट बुक्स में सभी प्रकार की पुस्तकें—जासूसी उपन्यास, लोकप्रिय सरल उपन्यास, प्रेरणादायक रचनाएँ, तथा विविध प्रकार के कार्य सिखाने वाली पुस्तकें सम्मिलित हैं।

परन्तु सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि अब गम्भीर विषयों की रचनाएँ अधिकाधिक संख्या में प्रकाशित हो

रही तथा खरीदी जा रही हैं। उन पुस्तकों में इतिहास, जीवनियाँ, विज्ञान, दर्शन, अर्थशास्त्र तथा साहित्य सम्बन्धी रचनाओं के अलावा विभिन्न प्रकार के उपन्यास आदि सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त १९६० में कविता, नाटक, ललितकलाओं तथा धर्म के सम्बन्ध में अनेक उत्कृष्ट रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकें बेचने वाली दूकानों के अलावा, समाचार-पत्र बेचने के स्थानों, औषधियों की दूकानों, सुपरमार्केटों, डिपार्टमेण्ट स्टोरों, रेलवे स्टेशनों तथा हवाई अड्डों पर घूमते हुए आप विविध विषयों पर कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकें देख सकते हैं।

—एक अन्य आगामी परीक्षण के अन्तर्गत कागज़ की जिल्द वाली बच्चों की पुस्तकें प्रकाशित की जाएँगी। इस समय तक कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकें प्रकाशित करने के सम्बन्ध में कुछ नहीं किया गया है, किन्तु अब कुछ प्रकाशनों ने बच्चों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विस्तृत योजनाएँ तैयार की हैं।

अमेरिका में विभिन्न स्थानों पर कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकें बेची जाती हैं। निःसन्देह सुपर-मार्केटों में ऐसी पुस्तकों की सबसे अधिक बिक्री होती है। ऐसी ८२ प्रतिशत मार्केटों में कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकों का व्यवसाय होता है। जिन अन्य प्रकार के स्टोरों में पहले पुस्तकों का व्यवसाय नहीं होता था, वहाँ भी परीक्षण के तौर पर छोटे पैमाने पर कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकों का व्यवसाय किया जाने लगा है।

स्कूलों तथा कॉलेजों के पुस्तक-स्टोरों में चिरकाल से कागज़ की जिल्द वाली पुस्तकों की बिक्री होती है। अब माध्यमिक स्कूलों के ऐसे पुस्तक-स्टोरों में भी ऐसी पुस्तकें बेची जाने लगी हैं जिनमें से अधिकांश का स्वयं छात्रों द्वारा संचालन होता है।

कम दामों में पुस्तकें उपलब्ध हो जाने के फलस्वरूप बहुत-से छात्रों ने अपने निजी पुस्तकालय बनाने प्रारम्भ कर दिए हैं। कुछ स्कूलों में पुस्तकें खरीदना बच्चों का शौक बन गया है।

★
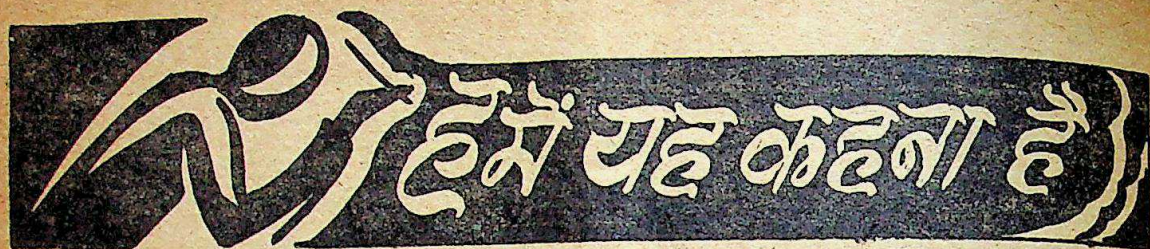
संगठन के लिए विचारने की बात :
किताबों पर दाम और छूट

कमीशन-नियमन से आने वाले पहले लाभ को निश्चय ही सोच लिया जाय। वह है, उसके लागू किये जाने पर किताबों का अच्छा और सस्ते दाम का होना। अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ को यह नियमन लागू किये हुए कई साल हो रहे हैं। इधर बिहार पुस्तक-व्यवसायी संघ ने भी इसे बड़ी सख्ती से जारी किया है, मगर इस रचनात्मक पहले लाभ को सोचने का इरादा कहीं भी पैदा नहीं लगता। इसमें एक गैर-ईमानी से उत्पन्न लाचारी भी है। वह है कि, यों व्यक्तिगत गाहक को कुछ नहीं और व्यवसायी और सरकारी खरीद को बँधा हुआ कमीशन देने की करार के बावजूद, लगभग काफी व्यवसायी अपना माल खपाने की नाजायज लालच में काफी नाजायज घूस ऊपरी कमीशन के बतौर देते हैं। और, यही वजह है कि कमीशन-नियमन से होने वाला पुस्तकों के कम-दाम का वह पहला हित बिना हुए ही रह जाता है। अतः, पुस्तकों का दाम कम किया जाय, यह बात अटक जाती है कि फालतू कमीशन जहाँ-का-तहाँ बल्कि हद से ऊपर चल ही रहा है। दोनों बातें सोचनी होंगी। या यह भी पहले तय करना सही हो सकता है कि पुस्तकों के दाम बाँध देने पर, झख मार कर अतिरिक्त कमीशन खतम हो जायगा। मगर, दाम बाँधने के मामले में दो और बातों पर गौर किया जाय। पहली बात तो विदेशों की तुलना है और दूसरी बात संस्करण की प्रतियाँ। सो, विदेशों की तुलना में तो हमारे यहाँ पुस्तकों का दाम ठीक, बल्कि कुछ उनसे कम ही है। हाँ, और कम करने की ईमानदारी दिखाई जा सकती है, खासकर सस्ते कागज और मलाट जिल्द के संस्करण निकाल कर। जो कुछ हो भी रहा है। दूसरी, संस्करण की प्रतियों वाली बात का भी संबंध दाम सस्ता-मँहगा होने से है। हिन्दी में खरीदार पाठक अभी इतने नहीं हैं कि अधिक प्रतियों के संस्करण जारी हों। पाठक तैयार करने की ओर, साहित्य-संगठनों का जो पहला काम होता है और हो नहीं रहा है, पुस्तक-व्यवसायियों का भी कम दायित्व नहीं है। संगठन को, दाम के बाद दूसरी रचनात्मक बात यह भी सोच लेनी होगी। इसके सिवाय चारा भी नहीं है। तीसरी बात, सहायताओं के बिरते बेव्यापाराना ढंग की प्रतिस्पर्धा रोकने की भी है। जैसे, विदेशी प्रभावविस्तार की मद से मिली मदद पर या सरकार के प्रभावविस्तार की मदद पर कई मामलों की छूट पाये हुए प्रकाशकों द्वारा बेव्यापाराना तरीके के कम दाम वाले खास-खास दरजे के प्रकाशन। ऐसे विषय में अदालत से भी फैसला लेने की कोशिश हो सकती है। जहाँ सभी के लिए समान अवसर की शर्त्त एक वैधानिक चीज है, वहाँ किसी खास को औरों से अधिक मौका देने की नीयत अवैधानिक चीज भी है। यही तीन बातें हैं, और तीनों ही रचनात्मक। अपने लिए भी, और अपने व्यवहारियों के लिए भी। इन तीनों पर संगठन के लिए सिलसिलेवार दस्तूर तय करना हालाँकि कुछ कठिन है, पर हैं ये तीनों ही काम पहले दरजे के। संगठन को एक अच्छी बहस खोल कर इनपर फैसला लेना चाहिए ही।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,
पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

श्री दिनकर-विरचित

तीन नवीन कृतियाँ : अभी इसी मास प्रकाशित

उर्वशी

नर-नारी-प्रेम पर विरचित, चिर-प्रतीक्षित, अद्भुत महाकाव्य : १२ अलभ्य चित्रों से सज्जित : सुमुद्रित, सुबद्ध और सुभव्य ।

मूल्य रु० १२-०० मात्र

धर्म, नैतिकता और विज्ञान

रोचक शैली में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर के तीन विचारोत्तेजक निबंध : उर्वशी महाकाव्य के दर्शन को समझने के लिए अनिवार्य ।

मूल्य रु० १·५० मात्र

वट-पीपल

दिनकरजी का नवीनतम निबंध-संग्रह : महापुरुषों के संस्मरण वट हैं ; भाषा, साहित्य और संस्कृति का विवेचन पीपल है : प्रांजल गद्य, प्राणप्रेरक भाव और हृदयग्राही विचार ।

मूल्य रु० ३-०० मात्र

व्यापारिक सुविधाओं के लिए पत्राचार करें तथा अपनी प्रतियों का आदेश सीधे हमें दें

★ ★ ★

समग्र दिनकर साहित्य के प्रकाशक एवं विक्रेता

उदयाचल, आर्यकुमार रोड, पटना-४

पुस्तक-जगत
हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

वर्ष ८ : अंक १
सितम्बर, १९६१

नवीन पाठ्य-क्रम के अनुसार बिहार में स्वीकृत

हमारा प्रेमचंद साहित्य

निर्मला : प्री-युनि० पटना युनि० आर्टस्
कर्मभूमि : बी० ए० पार्ट II, पटना युनि०
बिहार युनि० डिग्री II आनर्स
सेवासदन : बी० ए० आनर्स, पटना युनि०
मानसरोवर भाग १ : बी० ए० आनर्स, पटना युनि०
प्रेमचंद स्मृति : बी० ए० आनर्स, पटना युनि०
प्रतिज्ञा : बिहार युनि० डिग्री १
राँची युनि० डिग्री १
गबन : बिहार युनि० डिग्री २
राँची युनि० डिग्री २
सप्त सरोज : भागलपुर युनि० डिग्री २
अहिन्दी भाषा-भाषी
कफ़न : पटना युनि० बी० ए० व डिग्री २ आनर्स
भागलपुर युनि० डिग्री २ आनर्स

पुस्तक-विक्रेताओं के लिए नियम

- साधारण व्यापारिक कमीशन २५ प्रतिशत
- एक साथ रु० ५००.०० के ग्रास मूल्य पर ५ प्रतिशत अतिरिक्त एवं एफ़० ओ० आर० की सुविधा
- आकर्षक रूप-सज्जा
- प्रेमचंद साहित्य के स्टाक में रुकने का प्रश्न ही नहीं उठता
- सम्पूर्ण सूची के लिए लिखें।

हंस प्रकाशन

१३ जीरो रोड, इलाहाबाद

राष्ट्रभाषा होने के लिये हिन्दी की योग्यता

श्री सुधीरचन्द्र मजूमदार

भारतीय संविधान के अनुसार हिन्दी ही केन्द्रीय राष्ट्रभाषा के रूप में निर्धारित है। प्रश्न केवल यह था कि किस अवधि तक अँगरेजी को रहने दिया जाय। परन्तु, इधर चलकर, कभी हिन्दी को यह पद दिया जाय कि नहीं, इस पर भी प्रश्न उठ खड़ा हुआ है। यदि केवल दक्षिण-भारत से ही यह आपत्ति होती तो कुछ सीमा तक क्षम्य होती, क्योंकि वहाँ की तमिल आदि मूलतः द्राविड़ी भाषा होने के कारण वहाँ के अधिवासियों के लिए यथार्थ ही हिन्दी सीखने में कुछ कठिनता होती है तथा उन्होंने पहले ही अँगरेजी को इस तरह अपनाया कि वह कुछ मातृभाषा-सी हो गई। किन्तु, ऐसी बात नहीं है कि उनके लिए भी हिन्दी सीखना कोई असंभव है। हजारों वर्षों तक आर्य-संस्कृति तथा संस्कृत-चर्चा में दक्षिण-भारत उत्तर-भारत से कभी पीछे नहीं रहा। आज द्राविड़ी भावना के परिणामस्वरूप वहाँ आर्य-विद्वेष नाना रूपों से दिखाई दे रहा है तथा हिन्दी-विरोध उसी का अंग है। परन्तु, बंगाल के कुछ नेताओं ने भी जो इस विरोध में योगदान किया, उसका कारण 'सुपीरियर रेस' या उच्चतर जाति की घातक भावना है। बंगाल के कम ही लोग खुशी से हिन्दी को राष्ट्रभाषा मानने को तैयार हैं। "बँगला ही क्यों नहीं" का नारा भी जारी था, जिसने काफी बल नहीं पाया, पर आज भी मौके-बेमौके (जैसे आसाम का भाषा-आन्दोलन) वह नारा उठाया जाता है। अब मेरा कहना है कि गत एक-दो सदियों के भीतर भारत के किस प्रान्त में अधिक विद्वान तथा मेधावी व्यक्ति पैदा हुए इस पर झगड़कर कोई लाभ तो नहीं होगा, बल्कि भारतीय एकता व्याहत होगी। रवीन्द्रनाथ, बंकिमचन्द्र, अरविन्द, जगदीश वसु को कौन नहीं महान मानते हैं? केवल इतने विचार से किसी प्रान्त के लोगों या भाषा को भारत-शासन-व्यापार में कोई प्रमुख स्थान दिया नहीं जा सकता है। भारत की कौन भाषा साहित्य-संपद में सर्वश्रेष्ठ है, यह भी एक विवादात्मक प्रश्न है। तमिल आदि भाषाओं के साहित्यों के संबंध में हमें पूरी जानकारी भी नहीं है। 'चूँकि रवीन्द्रनाथ ने बँगला में लिखा, अतः बँगला आसाम की एक राज्यभाषा होनी चाहिये' यह तर्क 'चूँकि गयटे ने जर्मन में लिखा, अतः जर्मन फ्रान्स की राज्यभाषा होनी चाहिये' के समान है। राष्ट्रभाषा के लिये सर्वश्रेष्ठ साहित्यिक भाषा होना कोई जरूरी नहीं है। साहित्यिक दृष्टि से भी हिन्दी भाषा दरिद्र नहीं है। यदि पुर्तगीज अथवा बर्मी किसी राज्य के लिए राष्ट्रभाषा हो सकती है, तो कोई कारण नहीं है कि हिन्दी नहीं हो सकती। जो लोग हिन्दी का विरोध करते हैं, वे चाहे तो अँगरेजी के मोह से या 'इतनी भाषाओं के रहते हुए क्यों हिन्दी को यह पद मिले' इस तर्क पर करते हैं। मैं इसी का जवाब देता हूँ। तुलना विशेषकर बँगला से ही की जाती है।

(१) हिन्दी मध्यदेश की भाषा है, प्रान्त (end) की नहीं। यह भारत की चिरंतन राजधानी, प्राच्य के रोम, दिल्ली में उत्पन्न होकर राजनीतिक कारणों से ऐसी विस्तृत हो गई कि गुरुमुखी, व्रजभाषा, अवधी, मैथिली, छत्तीसगढ़ी आदि के क्षेत्रों में भी उनका स्थान अधिकृत कर लिया तथा आज करीब एक-तिहाई भारतीयों ने इसे मातृभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया।

(२) यह बहुजनबोध्य तथा बहु-प्रचलित भाषा है। पेशावर से चटगाँव, कराँची से मणिपुर तथा कश्मीर और नेपाल से हैदराबाद तक के लोग इसे कुछ-न-कुछ समझते हैं। सुदूर-दक्षिण (मैसूर, केरल और तमिल-नाद) को छोड़कर समग्र भारत-उपमहादेश के विभिन्न प्रान्तों के लोग, भारत में या भारत के बाहर भी, बहुधा इसी के माध्यम से आपस में वार्तालाप करते हैं। व्यवसाय तथा तीर्थाटन में हिन्दी कितनी उपयोगी है, यह व्यवसायी तथा तीर्थयात्री लोग भली-भाँति जानते हैं। हिन्दी सिनेमा-फिल्में बंबई तथा कलकत्ते के लाखों मराठी तथा बंगाली दर्शकों को आनन्द देती हैं। वर्तमान अँगरेजी में बहुत भारतीय शब्द गृहीत हैं (लीची, हिलसा, वकील, जमींदार) जोकि खासकर हिन्दी से ही लिए गये। भारत में नात्सी या साम्यवादी प्रचार मुख्यतः हिन्दी के माध्यम

से ही होता आया। यूरोप महादेश के लिए फ्रान्सिसी भाषा का जो स्थान है, भारत उपमहादेश के लिये भी हिन्दी का वही स्थान है। यूरोप के स्कूलों में करीब सभी छात्र अपनी मातृभाषा के अतिरिक्त और दो भाषाएँ पढ़ते हैं—लातिन और फ्रान्सिसी (फ्रान्स में, अँगरेजी या जर्मन)। इनमें लातिन तो क्लासिकल तथा सांस्कृतिक दृष्टिकोण से हमारी संस्कृत तथा फारसी के समान है। परन्तु 'लिंगुआ फ्रंका' (फ्रान्सिसी भाषा) का महत्त्व तो समग्र यूरोप तथा मध्य-प्राच्य में बोध्यता के कारण ही है।

(३) हिन्दी देवनागरी में लिखी जाने के कारण उत्तर में नेपाल तथा दक्षिण में महाराष्ट्र तक सुगम हो गई है। और प्रान्तों के भी हिन्दू लोग संस्कृत की खातिर देवनागरी लिपि सीखते ही हैं। देवनागरी की यह सुविधा है कि करीब किसी भी युक्ताक्षर को देखते ही बूझा जाता है कि वह कौन-कौन अक्षर मिल कर बना है। बँगला में क्त, ङ्क, ङ्ग, ञ्च, द्ध, त्क, न्थ, न्ध, स्थ, ष्ण आदि बहुत युक्ताक्षरों के रूप इतने स्वतंत्र हो जाते हैं कि बच्चों को उन्हें सिखलाना बहुत कठिन काम हो जाता है। कुछ युक्ताक्षर तो बँगला में एकदम नहीं होते हैं, जैसे—क्ख, ग्घ, ह्ढ, ल्ल, न्ह, म्ह, स्ट।

(४) हिन्दी में उच्चारण की शुद्धता की रक्षा की जाती है तथा यथासंभव मूलानुगत उच्चारण किया जाता है। इ-ई, उ-ऊ, ण-न, श-स, ज-य, व-व के उच्चारण-भेद बचपन से ही सिखलाये जाते हैं। उच्चारण के दोष से ही बँगला में नीचे की तरह अशुद्ध विवरणों का प्रचलन रह गया है—चिनि, शिशि, चाकु, तारिख, किस्ति, स्कुल, टिचार, उकिल, उजिर, मेथर, दोयात, गोलाप, खाराप, जोयान, हिन्दु, खरच वगैरह। फिर जहाँ यथार्थ उच्चारण में एक ही 'मात्रा' (syllable) है, वहाँ दो मात्राओं में तोड़कर लिखा जाता है, जैसे—बयेल, कयेद, इयार (दोस्त), सओदागर, रेलओये वगैरह। कलकत्ते के स्थानीय उच्चारण की नकल करके आजकल बहुत लेखक 'निन्दे' (निन्दा), 'पूजो' (पूजा) आदि भी लिख रहे हैं।

(५) हिन्दी में सभी तरह के उच्चारण प्रकाशित किये जा सकते हैं। कुछ अक्षरों के नीचे विन्दु देकर अँगरेजी f, z तथा कई अरबी उच्चारण प्रकट किये जाते हैं।

(६) हिन्दी एक नियमित भाषा है। संसार की और श्रेष्ठ भाषाओं की तरह इसमें लिङ्ग-वचनादि के सुनिर्दिष्ट नियम हैं। बँगला में—मोटा बालक, मोटा बालिका; बालक जाय, बालकेरा जाय आदि उदाहरण यही स्पष्ट करते हैं कि इसमें लिङ्ग-वचनादि के सुनिर्दिष्ट नियम नहीं हैं।

(७) हिन्दी भाषा की कुछ विशिष्टताएँ हैं। संस्कृत से उत्पन्न होने पर भी यह संस्कृत का अनुवाद मात्र नहीं है। formula एक लातिन शब्द है, जिसका व्यवहार अँगरेजी में होता है। अतः, इसके बहुवचन में अँगरेजी को स्वतंत्रता है कि चाहे formuloe या formulas लिखें। वैसे ही, हिन्दी में 'कायदा' का बहुवचन 'कवायद' और 'कायदे' दोनों हो सकते हैं तथा 'सुन्दर' का स्त्रीलिङ्ग 'सुन्दरी' और 'सुन्दर' दोनों हो सकते हैं। बँगला में पूरक-वाचक शब्द (प्रथम, द्वितीय), विशेषण से संज्ञा (दैर्घ्य, वार्धक्य), संज्ञा से विशेषण (क्षुधित, सामुद्रिक), कर्मवाच्य (उक्त, दृष्ट), जीव-जानवरों की बोली (बृंहण, हेषा) इत्यादि संस्कृत से उधार न करने से चलता नहीं है। किन्तु हिन्दी में प्रत्येक के निजस्व शब्द हैं। अँगरेजी भाषा बहुत दुर्बल होती यदि earth से विशेषण earthly शब्द न रहता तथा सर्वदा उसे लातिन terrestrial शब्द से ही व्यक्त करना पड़ता। "घर का दैर्घ्य कितना होगा"—यह अनपढ़ बंगाली राजमिस्त्री नहीं पूछ सकता है क्योंकि संस्कृत 'दैर्घ्य' शब्द उसका जाना हुआ नहीं है किन्तु विहारी राजमिस्त्री अनायास 'लम्बाई' पूछ सकता है। "हम लोग क्षुधित हैं" ऐसी भाषा की हम यथार्थ क्षुधितों से आशा नहीं कर सकते हैं; किन्तु 'भूखे' लोग अनायास अपना आवेदन जना सकते हैं। इससे कोई नहीं समझे कि मैं भाषा में संस्कृत शब्दों के प्रयोग का विरोधी हूँ। उच्चभावों के प्रकाश के लिये वर्त्तमान सभी भाषाएँ अपनी अपनी सांस्कृतिक भाषाओं (classical languages) से शब्द-संपद ग्रहण करती ही हैं। मेरा कहना इतना ही है कि सभी भाषाओं में कुछ ऐसे सरल शब्द भी रहें जिनसे महज अनपढ़ लोग भी अपने साधारण भावों को प्रकट कर सकें। इनके अभाव में किसी भाषा में शक्ति (force) नहीं रहती है।

(८) बँगला में कुछ भाव एकदम नहीं व्यक्त किये जा सकते हैं। यथा—तुझ पापी से क्या किया गया (किं त्वया पापिना कृतम्), टहलते हुए मनुष्य ने बहती हुई नदी में गिरता हुआ फल देखा (The travelling man saw a falling fruit into a flowing river).

(९) बँगला भाषा का कोई स्तर (standard) नहीं है। इसमें व्यवहृत संस्कृत शब्दों के सिवा शुद्धि-अशुद्धि की कोई बलाय नहीं है। यथा—एकटि-एकटी, बुझा-बोझा, धर-धरो, नाइ-नेइ, हाती-हाति, बउ-बौ (बहू), दइ-दै (दही), कान-काण वगैरह सभी शुद्ध हैं। हिन्दी में तो 'भी' को 'भि', 'कि' को 'की' लिखने से भूल ही मानी जाती है। अतः बँगला प्रश्न-पत्रों में खास कर कुछ ऐसे ही शब्द शुद्ध करने के लिये दिये जाते हैं जो संस्कृत-व्याकरण के अनुसार अशुद्ध हैं। बँगला में बहुत विशेषण-शब्द संज्ञा के रूप में तथा संज्ञा-शब्द विशेषण के रूप में व्यवहृत होते हैं।' यथा—तुम्हारे **भालो** (भलाई) के लिये कहता हूँ, आज बहुत **गरम** पड़ा है, तुमसे **माफ** चाहता हूँ, मैं बहुत **खुशी** हुआ, यहाँ बहुत माल **तैयारी** होते हैं—वगैरह। २३-२४ वर्ष पहले बँगला के अव्यवस्थित विवरणों (spellings) को दुरुस्त करने के लिये कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने एक कमिटी नियुक्त की थी। फल यह हुआ कि विवरण और भी अव्यवस्थित हो गये, चूँकि कुछ लेखकों ने तो कमिटी की सिफारिशें मान लीं और बाकी ने पुराने ही रास्ते को कायम रखा।

(१०) बँगला के नाम से दो भाषाएँ चल रही हैं—साधु और चलित। दोनों में फर्क इतना ज्यादा है कि इनमें एक यदि बँगला हो तो दूसरी बँगला नहीं है। कलकत्ता इलाके की बोली, जो पहले साहित्य में अचल थी, धीरे-धीरे इतनी फैल गई कि अब भाषण, नाटक, सिनेमा और रेडियो में केवल इसी भाषा का बोलवाला है और आगे कथा-साहित्य में भी इसने काफी कदम बढ़ाया है। तथापि, अभी तक पाठ्य-पुस्तक, इतिहास, भूगोल, रेखागणित, समाचार-पत्र आदि में पुरानी साधु भाषा का व्यवहार जारी है। इसी चलित भाषा कि कृपा से पहले बंगाल में जो भी शुद्ध उच्चारण (निन्दा, मीठा, सीधा, पूजा, जूता, मुर्दा, ऊपर, भीतर) चलते थे, वहाँ कलकत्ते के विकृत उच्चारण और तदनुरूप विवरण (निन्दे, मिठे, सिधे, पूजो, जुतो, मुद्दो, ओपर, भेतर) लादे जा रहे हैं। हिन्दी और उर्दू दो भाषाएँ मानी जाती हैं, लेकिन ऐसे वाक्य को कोई नहीं कह सकता है कि हिन्दी ही है, उर्दू नहीं—"यह सुनकर बेटे ने कहा, 'वे कल ही जा रहे हैं, आप चलियेगा'।" लेकिन, बँगला में इसके दो रूप देखें—(१) इहा शुनिया छेले बलिलो, ताहारा कालइ जाइतेछे, आपनि ओ चलिबेन, (२) ए शुने छेले बल्लो, तारा कालइ जाच्छे, आपनि ओ चलबेन। पूर्व बंगाल के लोगों ने इस चलित भाषा को कम ही पसंद किया तथा शायद अरबी-फारसी अलफाज़ से लदी हुई ढाकाई बोली को 'पाकिस्तानी बँगला' बनाने की जो कोशिश हो रही है, वह इस कलकत्ताई भाषा की ही प्रतिक्रिया है।

एक बात और है। जिन अहिन्दी-भाषी छात्रों को केवल राष्ट्रभाषा के नाते हिन्दी पढ़ाना है उनके पाठ्यक्रम में तुलसी-सूर आदि की व्रजभाषा घुसाना उचित नहीं है। वह तो उनके लिए है, जिनकी मातृभाषा हिन्दी है अथवा जो संस्कृतादि के बदले हिन्दी-साहित्य लेना चाहते हैं।

मैं बँगला का द्वेषक नहीं हूँ। वह मेरी मातृभाषा है और इसलिए मुझे गौरव है। बँगला के साहित्य और संस्कृति भारत के आदर्श-स्थानीय हैं जिनका अध्ययन करके कोई भी लाभान्वित हो सकता है। परन्तु, भाषा की व्यापकता, व्यावहारिकता तथा वैज्ञानिकता के संबंध में मैंने निष्पक्ष दृष्टि से जो समझा, वही ऊपर लिखा।

★

तुलसी का तो शब्द-चयन तक शान्ति की समाँ बाँधता है। कभी-कभी अति होती है। तुलसी की रामायण में प्रायः सभी अच्छे पात्र अश्रुलोचन हैं। शान्ति और करुणा एक-दूसरे के बहुत नजदीक हैं। मनुष्य जब गद्गद् होता है तब उसमें करुणा व्यापती है और विस्तार भी। इसमें खतरा है, एक तरफ विडम्बना का दूसरी तरफ निर्जीवता का। हिन्द के दीमागी इतिहास में दीर्घकाल से ऐसा हो भी रहा है। जो इन खतरों से सावधान रहते हैं, रामायण के शान्त-रस का निर्बन्ध मजा लेते हैं। —*डॉ० राममनोहर लोहिया*

बहिरंग और वस्तु

श्री परिमल राय

पहले विवेचक का प्रश्न है कि शिल्पकर्म में भाववस्तु बड़ी चीज होती है कि गठनशैली ? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए श्री सुकोमल चौधरी ने कहा है कि भाव और शिल्प-भाषा में सार्थक समन्वय को ही सार्थक शिल्पसृष्टि कहा जा सकता है। किन्तु, इस विषय में, प्रश्न को देखते हुए, प्रश्नकर्त्ता के मन में कोई संशय था—ऐसा नहीं लगता। प्रश्न से कुछ छटक जाने पर भी, श्री चौधरी जब कहते हैं कि : "जिस-किसी विषयवस्तु को लेकर, जीवन की गभीरता में डूब कर, शक्तिमान शिल्पी मणिमुक्ता निकाल सकते हैं", तो यह समझ में आता है कि उनका झोंक कन्टेन्ट की ही ओर है। और इसीलिए, फार्म और कन्टेन्ट के द्वन्द्व में उन्होंने महाकाल को ही निर्णायक माना है।

तीसरे विवेचक सुप्रिय पाठक ने रसभोक्ताओं का प्रसंग लेकर एक सुखपाठ्य निबंध की रचना की। किन्तु इस नूतन प्रसंग ने क्या मूल प्रश्नविचार के पथ में कुछ भी आलोकपात किया है ?

मेरी धारणा है कि शिल्प के क्षेत्र में बड़ी चीज होती है उसकी प्रकाशभंगी। महत या विशिष्ट उपलब्धि की बात अविकृतरूप में कह सकने को ही आर्ट नहीं कहा जा सकता। तब तो शिशुशिक्षा की सारी नीतिकथाएँ, अथवा द्रष्टा पुरुषों की सारी ज्ञानचिन्ता की बातें शिल्पपर्यायभुक्त हो जातीं। शिल्प का काम है सत्य को कमी और आतिशय्य देकर उन्मुख करना। सत्य का यह अभाव किस प्रकार घटित करना होता है इसे कोई नहीं कह सकता है। यह कार्य तो एकान्तरूप से शिल्पी की निजस्व चीज ही होता है, उसकी शिल्पशैली के अन्तर्गत होता है। संगीत के क्षेत्र में गायकी और स्वर, चित्रकला के क्षेत्र में रेखा और रंग, साहित्य के क्षेत्र में भाषा और छंद का व्यवहार तथा वर्णनभंगी ही शिल्पकर्म को अपनी विशिष्टता से मंडित करने वाली चीजें होती हैं।

शिल्पी का वक्तव्य हुआ, उसकी उपलब्धि अथवा शिल्पप्रेरणा का उत्स—और वह इन बातों को किस प्रकार कहेगा या व्यक्त करेगा, वही हुआ उसका शिल्प। शिल्प-सृजन की यही क्षमता अथवा उसकी प्रकाशनभंगी की विशिष्टता ही उसे शिल्पी बना देती है। आप कह सकते हैं कि उपलब्धि न होने पर किस प्रकार शिल्प की सृष्टि हो सकती है ? इस नाते विचार करने पर आप, हो सकता है कि, फार्म या बहिरंग से अधिक शिल्प की भाववस्तु या कन्टेन्ट को ही नंबर देना चाहेंगे। इस संबंध में मुझे यह कहना है कि : कोई मननशील व्यक्ति जीवन के गभीर तत्त्व की उपलब्धि कर सकते हैं, किन्तु ऐसे व्यक्तिमात्र शिल्पी तो नहीं ही कहा सकते हैं। शिल्पी वे हैं, जो अपनी उपलब्धि को शिल्पसम्मत विकृति के द्वारा किसी एक माध्यम से रूप दे सकते हों। और, उस रूप देने की भंगी का ही नाम है शिल्प।

★

हमारा कथा-साहित्य

पुराणों में कथा है, उपनिषदों में कथा है, कथा में मन रमता है। कथा से मन को कुछ मिलता है। कथा में स्मृति है और उसमें संस्कृति की धरोहर है।

भारतीय ज्ञानपीठ के कथा-साहित्य में आज के भारतीय समाज का रहन-सहन, उसकी इच्छा-आकांक्षा, प्रेम और विषाद, संघर्ष और उपलब्धि का सजीव चित्रण है। आधुनिक भारत को समझने के लिए ज्ञानपीठ के कथा-साहित्य का पढ़ना परम आवश्यक है। विषय-वस्तु की विविधता, शिल्प की रमणीयता और आधुनिक जीवन की व्यापक गतिमयता के चित्रण की दृष्टि से ये कृतियाँ हिन्दी-साहित्य में अपना विशेष स्थान रखती हैं।

आस्करवाइल्ड की कहानियाँ	धर्मवीर भारती	२॥)	काल के पंख	आनन्दप्रकाश जैन	३)
गहरे पानी पैठ	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२॥)	जयदोल	अज्ञेय	३)
जिन खोजा तिन पाइयाँ	"	२॥)	नये चित्र	सत्येन्द्र शरत्	३)
कुछ मोती कुछ सीप	"	२॥)	संघर्ष के बाद	विष्णु प्रभाकर	३)
लो कहानी सुनो	"	२)	पहला कहानीकार	रावी	२॥)
एक परछाई दो दायरे	गुलाबदास ब्रोकर	३)	मेरे कथागुरु का कहना है	रावी	३)
नये बादल	मोहन राकेश	२॥)	हरियाणा लोकमंच की कहानियाँ	राजाराम शास्त्री	२॥)
आकाश के तारे :			मोतियों वाले	कर्तारसिंह दुग्गल	२॥)
धरती के फूल	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	२)	अपराजिता	भगवतीशरण सिंह	२॥)
खेल खिलौने	राजेन्द्र यादव	२)	कर्मनाशा की हार	डॉ० शिवप्रसाद सिंह	३)
अतीत के कम्पन	आनन्दप्रकाश जैन	३)	सूने अंगन रस बरसै	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	३)

उपन्यास

ग्यारह सपनों का देश	संपादक-लक्ष्मीचन्द्र जैन	४)	शतरंज के मोहरे	अमृतलाल नागर	६)
मुक्तिदूत	वीरेन्द्र कुमार	५)	गुनाहों का देवता	डॉ० धर्मवीर भारती	५)
तीसरा नेत्र	आनन्दप्रकाश जैन	२॥)	शह और मात	राजेन्द्र यादव	४)
रक्तराग	देवेश दास	३)	राजसी	देवेश दास	२॥)
संस्कारों की राह	राधाकृष्ण प्रसाद	२॥)	पलासी का युद्ध	तपनमोहन चट्टोपाध्याय	३॥)

संस्मरण, रेखाचित्र, जीवनी

आज के युग में महापुरुषों की संगति उनके निकट जाकर पाना तो कठिन है। किन्तु उनके संस्मरण, रेखाचित्र और जीवनियों द्वारा आप घर बैठे साधु संगति का प्रसाद पा सकते हैं। भारतीय ज्ञानपीठ ने ऐसे संस्मरण, रेखाचित्र और जीवनी का प्रकाशन किया जिनके द्वारा घर बैठे महापुरुषों की संगति का लाभ पाया जा सकता है।

हमारे आराध्य	बनारसीदास चतुर्वेदी	३)	दीप जले शंख बजे	कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर	३)
संस्मरण	"	३)	माखनलाल चतुर्वेदी : जीवनी	बरुआ	६)
रेखाचित्र	"	४)	पराड़करजी और पत्रकारिता	लक्ष्मीशंकर व्यास	५॥)
जैन-जागरण के अग्रदूत	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	५)	बना रहे बनारस	विश्वनाथ मुखर्जी	२॥)

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी—५

भारततत्त्व : शास्त्रीय अनुसन्धान के उपकरण

श्री विश्वनाथ शास्त्री

वर्तमान युग में ज्ञान-विज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में अनुसंधान का महत्त्व बढ़ गया है। प्रत्येक विद्वान को अपने-अपने क्षेत्र में उन्नति के लिए स्वाध्याय और अन्वेषण करना पड़ता है। निःसन्देह अनुसंधानकर्त्ता स्वयं अपने-अपने विषय की सामग्री और साधनों को सम्यक् रूप से जानते हैं, परन्तु हम लोग विश्वविद्यालयीय पुस्तकालय में शोधकर्त्ताओं के संपर्क में प्रायः आते रहते हैं और उनकी समस्याओं को जानते हैं। इसी दृष्टि से इस लेख में हमने अनुसंधान के उपकरणों के संबंध में कुछ लिखना उचित समझा है।

भारतीय शास्त्रों के अनुसंधानकर्त्ताओं को भारतीय मूल शास्त्रों के संबंध में जानकारी होनी चाहिए। वैदिक संस्कृति के मूलाधार चार वेद हैं। संसार के साहित्य में वेद सबसे पुराने ग्रंथ हैं। भाषाशास्त्र के अध्ययन के लिए वैदिक भाषा का ज्ञान परमावश्यक है। संसार के धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए वेदों का अध्ययन अनिवार्य है। सर्व धर्मों का स्रोत तो वेद ही हैं। संसार की प्राचीन संस्कृति और समाज का अध्ययन करने के लिए वेद का जानना जरूरी है। वेद संख्या में चार हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। वेदों के मुख्य रूप से प्रतिपादक ग्रन्थ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं। ब्राह्मण ग्रन्थ एक प्रकार से वेदों की व्याख्या करते हैं। ये गृहस्थों के कर्मकाण्ड-ग्रन्थ हैं। ब्रह्म शब्द का अर्थ यज्ञ है। यज्ञ का प्रतिपादन करने से इनका नाम ब्राह्मण पड़ा। इनमें शतपथ ब्राह्मण और एतरेय ब्राह्मण प्रसिद्ध हैं। आरण्यक ग्रन्थ वाणप्रस्थों के कर्मकाण्ड और उपदेश ग्रन्थ हैं। इनमें यज्ञ, रहस्य-प्रतिपादक विद्या है। इनका पठन-पाठन अपेक्षाकृत कम है। उपनिषदें रहस्यवादी ऋषियों की कृतियाँ हैं। इनमें अधिकतर ब्रह्मविद्या का वर्णन है। वैदिक साहित्य में वर्तमान काल में सबसे अधिक प्रचार उपनिषदों का ही है। जर्मन विद्वान् शापनहावर ने उपनिषदों के स्वाध्याय से गद्गद् होकर कहा था कि इन्होंने मुझे जीवन में शान्ति दी है और मृत्यु के पश्चात् भी मुझे ये शान्ति देंगी। वेदों के छह अंग माने जाते हैं—शिक्षा, छन्द, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और कल्प। शिक्षा का अर्थ वर्णों के उच्चारण की शिक्षा है। वैदिक व्याकरण और उच्चारण संबंधी ग्रन्थ प्रातिशाख्य नाम से प्रसिद्ध हैं। कल्प का अर्थ विधि-नियम है। इसके चार मुख्य भेद हैं। ये सूत्र-ग्रन्थ कहलाते हैं। श्रौत सूत्रों में वैदिक यज्ञ, दर्श, पौर्णमास और अग्निष्टोम आदि यज्ञों का वर्णन रहता है। गृह्यसूत्रों में उपनयन, विवाह आदि संस्कारों का विधान रहता है। धर्मसूत्रों में वर्ण, आश्रम और राजा के कर्त्तव्यों का वर्णन रहता है। शुल्वसूत्रों में वेदी आदि का विधान रहता है। शुल्व का अर्थ डोरा है, जिससे वेदी नापी जाती है। छह दर्शन भी वैदिक साहित्य के अंगभूत हैं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा ये छह दर्शन पण्डित-समाज में सर्वत्र पढ़े जाते हैं। आजकल वेदान्त का सबसे अधिक प्रचार है। शंकर का अद्वैत वेदान्त तो मानो हिन्दू धर्म का मुख्य सिद्धान्त बन गया है। अब तो राजयोग और हठयोग भी सर्वप्रिय होते चले जा रहे हैं। उपर्युक्त समूचे साहित्य को वैदिक साहित्य के नाम से पुकारते हैं। इसके पश्चात् के साहित्य को स्मार्त्त साहित्य कहते हैं। स्मृतियों में मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति प्रामाणिक मानी जाती हैं। इनका भारत में पठन-पाठन होता है। इसी साहित्य के अन्तर्गत पुराणेतिहास में रामायण, महाभारत, गीता और पुराण आते हैं। हिन्दू जनता में पुराणेतिहास सबसे अधिक पढ़े जाते हैं। शैव तन्त्र और आगम ग्रन्थ भी अपना-अपना साम्प्रदायिक दृष्टिकोण लेकर चलते हैं। हमने यहाँ संक्षेप से वैदिक तथा स्मार्त्त साहित्य की रूपरेखा दी है। शोधकर्त्ताओं को भारतीय साहित्य से सुपरिचित होना चाहिए। उन्हें इस विषय पर कोई प्रामाणिक ग्रन्थ पढ़ना चाहिए।

विन्टरनिस, बलदेव उपाध्याय, मंगलदेव शास्त्री की भारतीय साहित्य के इतिहास पर अच्छी पुस्तकें हैं।

अनुसंधान करने लिए किन-किन उपकरणों की आवश्यकता पड़ेगी, अब हम इस विषय पर कुछ पंक्तियाँ लिखते हैं। शोधकर्त्ता को अपने विषय के ग्रन्थ चुनने के लिए पुरानी और नई सभी प्रकार की सूचियों की आवश्यकता पड़ेगी।

(क) **पुरानी सूचियाँ**। शोधकर्त्ता को अनुसंधान के लिए अपने विषय की पुस्तकों का संग्रह करना आवश्यक है। उपयोगी पुस्तकों का चयन करना कोई सरल कार्य नहीं है। पुस्तक-चयन के लिए उसे प्रामाणिक सूचियाँ देखनी होंगी। भारतीय शास्त्रों अथवा भारत-भारती के सम्बन्ध में निम्नलिखित सूचियाँ प्रामाणिक समझी जाती हैं। शोधकर्त्ता को ये सूचियाँ अवश्य पढ़नी चाहिए।

(1) Bombay Historical Society : Annual bibliography of Indian history and Indology.

(2) Dandekar, R. N., Progress of Indian studies 1917-1942 B. O. R. I. Poona.

(3) Dandekar, R. N, Vedic bibliography : register of all important works done since 1930 in the field of the Veda. Bombay, Karnatak publishing House, 1946

(4) Garde, P. K., Directory of reference works published in Asia. U. N. E S C. O. 1956

(5) Hari Das Mitra : Contribution to a bibliography of Indian art and aesthetics. 1951

(6) India-govt. : Books to read for Indian students going abroad.

(7) Kern Institute, Leyden (Holland): Annual bibliography of Indian archaeology.

(8) Konkan Institute of arts and sciences : Bibliography of Indological studies. 1943

(9) Oxford University Press : Selected list of books on the civilization of the Orient. 1955.

(10) Renon, Louis : Bibliographie Vedique Paris 1931 Complete record of all that has been done about Vedas in any Country upto 1930.

(ख) **नई सूचियाँ**। नवीन प्रकाशनों के लिए प्राच्य पुस्तक-विक्रेताओं की नवीनतम सूचियाँ देखनी चाहिए। पुस्तक-व्यवसाय की ओर से भारतीय संस्कृति के प्रकाशनों के संबंध में निम्नलिखित त्रैमासिक पत्रिका प्रकाशित होती है।

Luzac's Oriental List and Book review Quarterly. London.

इस पत्रिका में समस्त संसार में प्रकाशित भारतीय संस्कृति विषयक ग्रन्थों का उल्लेख रहता है। भारत सरकार की ओर से भारत में प्रकाशित हुई पुस्तकों की निम्नलिखित सूची त्रैमासिक और वार्षिक संस्करणों में निकलती है।

Indian National Bibliography. Calcutta.

शोधकर्त्ताओं को शोधकार्य के लिए प्रमुख रूप से तो किसी बृहत् पुस्तकालय की सूची को ही अपना आधार बनाना होगा। पुनः उपर्युक्त पुरानी और नई सूचियों से अपने विषय की पुस्तकों को चुनकर, यदि वे अपने पुस्तकालय में न हों तो किसी पुस्तक-विक्रेता से खरीद कर अथवा राष्ट्रीय पुस्तकालय कलकत्ता या अन्य किसी बड़े पुस्तकालय से उधार लेकर, पढ़नी चाहिए।

अब हम अनुसंधानकर्त्ताओं का ध्यान संदर्भ-ग्रन्थों की ओर आकर्षित करना चाहते हैं। संदर्भ-ग्रन्थ प्रत्येक शोध-कर्त्ता के लिए एक समान उपयोगी हैं। अतः हर एक शोध-कर्त्ता को इनका ज्ञान होना चाहिए। संदर्भ-ग्रन्थ वे ग्रन्थ कहलाते हैं जिनका उपयोग किसी विशेष बात को जानने के लिए किया जाय। ऐसी पुस्तकों को आद्योपान्त नहीं पढ़ा जाता। उदाहरण के लिए, हम किसी शब्द का अर्थ देखने के लिए शब्दकोश उठाते हैं और अर्थ देख कर उसको रख छोड़ते हैं। संदर्भ-ग्रन्थ प्रायः प्रबन्धात्मक शैली में नहीं होते। इनमें आँकड़ों, रेखाचित्रों आदि की प्रधानता रहती है। विश्वकोश, शब्दकोश, अनुक्रमणी आदि संदर्भ-ग्रन्थों के प्रमुख भेद हैं। इन ग्रन्थों की रूपरेखा सामान्य ग्रन्थों से कुछ भिन्न होती है। हम भारत-भारती के प्रमुख संदर्भ-ग्रन्थों को कुछ एक कोटियों में बाँट कर उनकी सूची शोधकर्त्ताओं के हितार्थ दे रहे हैं।

१. विश्वकोष

(क) नगेन्द्रनाथ वसु : हिन्दी विश्वकोष १९१५-३१, २५ भाग, कलकत्ता।

(ख) नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी : हिन्दी विश्वकोष।

२. शब्दकोष

संस्कृत से संस्कृत में :—

(क) तारानाथ तर्कवाचस्पति : वाचस्पत्यम् अथवा बृहदभिधानम् - यह संस्कृत का मानो विश्वकोष है। इसमें शास्त्रीय ग्रन्थों के प्रमाण देकर शब्दों की व्याख्या की गई है।

(ख) राधाकान्त देव : शब्दकल्पद्रुम। ५ भाग। यह भी एक विश्वकोष-सरीखा है। इसमें भी पुराण, तन्त्र आदि के उद्धरण देकर शब्दों की व्याख्या की गई है।

(ग) तारानाथ भट्टाचार्य : शब्दस्तोममहानिधि।

(घ) सुखानन्द नाथ : शब्दार्थचिन्तामणि।

संस्कृत से हिन्दी में :—

(क) द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी : संस्कृतशब्दार्थकौस्तुभ।

हिन्दी से संस्कृत में :—

(क) रामसरूप शास्त्री : आदर्श हिन्दी-संस्कृत-कोष।

संस्कृत से अंग्रेजी में :—

(क) Apte, V. S : Practical Sanskrit English dictionary. 3 v.

(ख) Monier-williams : Sanskrit-English dictionary.

अंग्रेजी से संस्कृत में :—

(क) Monier-williams : English-Sanskrit dictionary.

३ वैदिक कोष :—

(क) हंसराज : वैदिक कोष।
वैदिक विद्या की खोज में अत्युपयोगी बीस हजार विशेष ब्राह्मण-वाक्यों का संग्रह।

(ख) श्रौतकोष

४. दैवत कोष : वैदिक :—

(क) शौनक : बृहद् देवता।

(ख) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर : दैवत संहिता।

(ग) Macdonell, A.A. : Vedic mythology.

(घ) Pandit, M. P. : Aditi and other deities in the Vedas.

(ङ) Rele, V. G : Vedic Gods.

दैवत कोष : उत्तर वैदिक

(क) Dowson, J : Classical dictionary of Hindu mythology and religion, geography, history and literature.

(ख) Hopkins, E. W : Epic mythology

(ग) Thomas, P : Epics, myths and legends of India

५. शास्त्रीय कोष

(क) उपनिषद् वाक्यमहाकोष

(ख) केवलानन्द : मीमांसाकोष

(ग) भरतकोष

(घ) भीमाचार्य : न्यायकोष

(ङ) लक्ष्मण शास्त्री जोशी : धर्मकोष

(च) वेंकट शास्त्री जोशी : भारतीय राजनीतिकोष

(छ) श्रीपाद दामोदर सातवलेकर : गोज्ञानकोष

(ज) Shafer, Robert : Ethnography of ancient India

(झ) Mankad, D. R : Puranik chronology

(ञ) Muir : Original Sanskrit texts on the origin and history of the people of India, their religion and institutions.

६. साहित्यिककोष

(क) धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्यकोष

७. चरित्रकोष

(क) कृष्णवल्लभ द्विवेदी : भारत निर्माता

(ख) सिद्धेश्वर शास्त्री चित्राव : भारतवर्षीय चरित्र-कोष, ३ भाग (मराठी)

(ग) Akshaya kumari Devi : Biographical dictionary of Puranic personages.

८. भौगालिककोष

(क) रामगोपाल मिश्र : तपोभूमि : प्राचीन भारत का ऐतिहासिक भूगोल

(ख) Cunningham : Ancient geography of India

(ग) Dey, Nundolal : Geographical dictionary of ancient and mediaeval India.

(घ) Law, B. C : Historical geography of ancient India.

९. अनुक्रमणी

(क) कात्यायन : सर्वानुक्रमणी

(ख) यशपाल टंडन : पुराण-विषय समनुक्रमणिका

(ग) विश्वबन्धु शास्त्री : वैदिक पदानुक्रमकोष

(घ) विश्वेश्वरानन्द व नित्यानन्द : वेदपदानाम् अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका

(ङ) Bloomfield, M : Vedic Concordance

(च) Macdonell, A. A. and Keith A. B : Vedic index of names and subjects 2. V.

(छ) Ramchandra Dikshitar, V. R. : Purana index

हमने उपर्युक्त पंक्तियों में भारत-भारती के अनुसंधान के लिए कुछ एक उपकरणों का उल्लेख किया है। हम यहाँ सभी उपकरणों का वर्णन तो नहीं कर पाए हैं। शास्त्रीय अनुसंधान के लिए शिलालेख, ताम्रपत्र आदि अनेक उपकरण हैं, जो पुरातत्ववेत्ताओं के क्षेत्र में आते हैं। हमने तो केवल पुस्तकाध्यक्ष के रूप में कुछेक सहायक ग्रन्थों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है। ★

"उसका लेखन खराब है। और भाषा! उसमें विराम-स्थल शब्दोंसे भी अधिक हैं। लेकिन प्रतिभा तो प्रेम है। जो प्रेम करता है, वह प्रतिभाशाली है। प्रेमी लोगोंको देखो, उन सबमें प्रतिभा होती है।"

—दास्तोवस्की के लिये टालस्टाय का कथन

विश्व भारती

बृटिश राजनीति: एक प्रसंग-पुस्तक

श्री सौदागर

आज के बृटिश साम्राज्य का आयतन पन्द्रह वर्ष पहले के मुकाबले दसवाँ हिस्सा भर है, किन्तु युद्धोत्तर बृटेन में साधारण लोगों की जीवन-यात्रा का मान अभावनीय रूप में उन्नत है, उसको वर्त्तमान प्रवाहता नेवर-हैड इट इस विशेषण से विभूषित है। साम्राज्य की परिसमाप्ति होने के बावजूद, बृटेन की यह समृद्धि राजनीतिकों और अर्थनीतिकों के समक्ष एक विस्मय है। क्योंकि, किताबी भाषा में, औपनिवेशिक शक्ति की समृद्धि पूरे तौर पर उपनिवेशों के शोषण करने के ही ऊपर आश्रित हुआ करती है। इस दुरूह स्थिति के ऊपर बृटेन के पूर्व-प्रधानमंत्री एवं लेबर-पार्टी के विशिष्ट नेता और विचारों के नेता श्री स्ट्रेची ने अपनी अन्तिम पुस्तक 'दि एंड आफ एम्पायर' में आलोकपात किया है।

तत्त्व और तथ्य में विरोध घटित होने पर, विशुद्ध तात्त्विकों के अलावा, हर कोई तत्त्व को तिलांजलि देकर ही बात करते हैं। स्ट्रेची भी इसके व्यतिक्रम नहीं हैं। साम्राज्यवाद की सनातनी व्याख्या की यौक्तिकता में इन्होंने सन्देह प्रकट किया है, यद्यपि इसी के लिए एक समय के सहयंत्री इन स्ट्रेची महोदय को मार्क्स, एंगेल्स, लेनिन; कम्यूनिज्म के इन तीन त्रिकालज्ञ ऋषियों की विरोधिता भी करनी पड़ी थी। अवश्य, इसका अर्थ यह नहीं है कि स्ट्रेची ने साम्राज्यवादी शोषण के अस्तित्व को अस्वीकार किया है। उनका मत तो यह है कि हो सकता है कि साम्राज्यवाद के शैशव-काल में इस औपनिवेशिक शोषण से शासक-देश की सार्वजनीन समृद्धि सम्भव हो, किन्तु साम्राज्य-विस्तार के साथ-साथ यह शोषण व्यक्तिगत मुनाफे में वृद्धि के यंत्ररूप में परिणत हो जाता है। साम्प्रतिककाल में, औपनिवेशिक शोषण के द्वारा बृटेन के केवल सैकड़े में दस व्यक्ति ही लाभवान हो सके हैं, बाकी नब्बे फीसदी को केवल साम्राज्य होने के गौरव को चाट कर ही सन्तुष्ट रहना पड़ा है। अतः, इन मुष्टिमेय लोगों के स्वार्थ के लिये साम्राज्य की रक्षा का विराट् व्यय वहन करना होता था। साम्राज्य का लोप होने से अवश्यम्भावी व्यय का संकोच बृटेन की वर्त्तमान समृद्धि का अन्यतम कारण है।

स्ट्रेची सोचते हैं कि बीसवीं शताब्दी के द्वितीय चरण में जो साम्राज्य-रक्षा की चेष्टा की गयी, वह जातीय उन्नति की परिपन्थी थी। उदाहरणस्वरूप, फ्रान्स का उल्लेख किया जा सकता है। हिन्दचीन और उत्तरी अफ्रीका में अपनी साम्राज्य-रक्षा की व्यर्थ प्रचेष्टा में फ्रान्स का राजनीतिक और अर्थनीतिक जीवन किस तरह विपर्यस्त हुआ था, उसे नए सिरे से कहने की आवश्यकता नहीं है; और अलजीरिया के युद्ध के लिए फ्रान्स की अग्रसरता आज भी धीमी ही है। इस आत्मघाती प्रयास की तह में फ्रान्स के शासकों का यह विश्वास रहा है कि साम्राज्य के सिवा फ्रान्स की राजनीतिक या अर्थनीतिक प्रतिष्ठा का अर्जन अन्य किसी उपाय से संभव नहीं है। किन्तु, यह धारणा कितनी भ्रान्त है, इसका प्रमाण पश्चिम जर्मनी है। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही जर्मनी का कोई अपना उपनिवेश नहीं है। दूसरे महायुद्ध के बाद जर्मनी द्विखंडित है। इन दोनों स्थितियों के बावजूद जर्मनी की आज की आर्थिक उन्नति विस्मयजनक ही है। फ्रान्स और जर्मनी के इस उदाहरण से समझा जा सकता है कि साम्राज्यवाद आज ऐसी स्थिति पर पहुँच गया है कि जहाँ साम्राज्य-रक्षा जातीय स्वार्थ के लिए ही हानिप्रद हो उठती है और साम्राज्यवर्जन जातीय जीवन की उन्नति के अनुकूल हो उठता है।

बृटेन का लेबर-मंत्रिमंडल इस सत्य का अनुगमन कर पाया था और इसीलिए वह भारत को स्वाधीनता देने के लिए इतना व्यग्र हो उठा था। भारत को स्वाधीनता देने के पक्ष में बृटेन अपने स्वार्थ के ही नाते सम्मत हुआ था, न कि उदारता और भारत के प्रति प्रीति के नाते। हेगेल ने कहा है कि 'फ्रीडम इज दि रिकागनिशन ऑफ नेसेसिटी।" भारत को स्वाधीनता देने के लिए सम्मत होकर

बृटेन ने अपने तदानीन्तन जरूरी प्रयोजन को ही सोचा था। इस विषय में लेबर-मंत्रिमंडल का सिद्धान्त था: "वन ऑफ दि ग्रेटेस्ट एक्ट्स् ऑफ फ्रीडम।" स्ट्रेची ने कहा है कि 'बृटेन की वर्त्तमान कंजरवेटिव सरकार के लिए उचित है कि लेबर-पार्टी का अनुकरण करते हुए वह अफ्रीका के दो-एक के सिवा बाकी सब उपनिवेशों को अभी ही स्वाधीनता प्रदान करे।"

स्ट्रेची सोचते हैं कि बृटिश साम्राज्य की यह क्रमलुप्ति साम्राज्यवाद के अवसान की ही सूचना है। साम्राज्यवाद की इस अनिवार्य परिणति का प्रारंभ जो बृटिश साम्राज्य से ही है, उसका कारण है युद्धोत्तर बृटेन की लेबर-पार्टी की सरकार की दूरदर्शिता। इस दूरदर्शिता के अभाव के कारण, यूरोप के दूसरे साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने-अपने साम्राज्य की रक्षा करने में समर्थ हो सकेंगे—ऐसी बात नहीं होने वाली है। इस बीच उनमें से अनेकों के उपनिवेशों ने स्वाधीनता पाई है। यह सच है कि अब भी उनमें से कोई-कोई राष्ट्र साम्राज्य-रक्षा की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु उनकी भी वह चेष्टा व्यर्थ ही जाने वाली है। उसका कारण है कि साम्राज्य-वाद की ऐतिहासिक भूमिका का अन्त हो चुका है।

अवश्य ही, एक यह प्रश्न उठ सकता है कि पहले की तरह, किसी एक नए रूप में, साम्राज्यवाद के पुनः प्रकट होने की सम्भावना है कि नहीं। स्ट्रेची का विचार है कि इस नए साम्राज्य की प्रतिष्ठा की एकमात्र क्षमता केवल तीन राष्ट्र या राष्ट्रवर्गों में है—अमेरिका, रूस, या रूस-चीन। फिर भी, अनेकों युक्तियों के सहारे उन्होंने कहा है कि इनमें से भी किसी के पक्ष में, चाहने पर भी, नए सिरे से साम्राज्य की स्थापना असंभव ही है। वैसा चाहने पर उसमें सबसे बड़ा अड़चन बनकर उपस्थित होगा, नए स्वाधीनता-प्राप्त देशों का जातीयता-बोध। दूसरा कारण होगा, अमेरिका और सोवियत यूनियन का द्वन्द्व। अवश्य ही, दोनों महाशक्ति ही दूसरे-दूसरे देशों पर अनेकों उपा[illegible] अपने प्रभाव-विस्तार की चेष्टा कर रहे हैं, किन्तु व[illegible] विस्तार किसी प्रकार उपनिवेश-भित्तिक साम्[illegible] तुलनीय नहीं कहा जा सकता।

साम्राज्य की समाप्ति के बाद साम्राज्यवादी राष्ट्रों के अधिवासियों के लिए मानसिक शून्यता का बोध एक स्वाभाविक चीज है। स्ट्रेची ने प्रधानतः इंगलैंड की ही बात की है। उन्होंने सोचा है कि कामनवेल्थ का आदर्श इस शून्य स्थान को भर सकता है। कामनवेल्थ का बंधन चाहे कितना ही क्षीण क्यों न हो, किन्तु स्वेज-युद्ध के समय यह तो जाना ही जा सका है कि वह बंधन कितना अधिक घातों को सहने का सामर्थ्य रखता है। कामनवेल्थ के आदर्श को अच्छी तरह कार्य में परिणत कर सकने पर, वह राजनीति और अर्थनीति दोनों ओर, कामनवेल्थ के सदस्य-राष्ट्रों के लिए कल्याणकारी ही होगा; साम्राज्यवाद के स्वर्णयुग में जो सब राष्ट्र एकजुट हुए थे उनकी एकता तो ज्यों-की-त्यों बरकरार ही रहेगी, और इसके अलावा यह बंधन भी हर तरह शोषण-मुक्त रहेगा। यह सच है कि कामनवेल्थ के पक्ष में यह भूमिका ग्रहण करना संभव होगा कि नहीं एवं संभव होने पर भी अनुन्नत राष्ट्रों में कितनी अर्थनीतिक सहयोगिता संभव हो सकेगी इन बातों को लेकर मतभेद की संभावना है। किन्तु, स्ट्रेची की इस बात से सभी सहमत होंगे कि इस युग का एक अन्यतम प्रधान लक्षण साम्राज्यवाद का अवसान ही है। और, यही उनका मूल वक्तव्य है।

—वृद्धत्तापूर्ण

The End of Empire—By John Stratchey; Victor Gollancz Ltd., London; Pp. 35; 30s.

★

दक्खिनी हिन्दी-कविताओं में तत्सम का प्रयोग काफी है। यह प्रवृत्ति तो १४वीं शताब्दी से सारे भारतवर्ष की सारी भाषाओं में देखी जाती है; लेकिन यहाँ कहीं-कहीं ब्रजभाषा की तरह तद्भव शब्दों का भी प्रयोग देखा जाता है। दक्खिनी हिन्दी के आदि-कवि ख्वाजा बन्दानेवाज ने अपने 'चक्कीनामा' को १४२१ ई० में लिखा था। कबीर उस वक्त केवल २२ वर्ष के थे और विद्यापति ७१ वर्ष के। गुरु नानक के पैदा होने में अभी प्रायः आधी शताब्दी की देर थी। सूर और तुलसी का तो अभी कहीं पता भी नहीं था।

—राहुल सांकृत्यायन
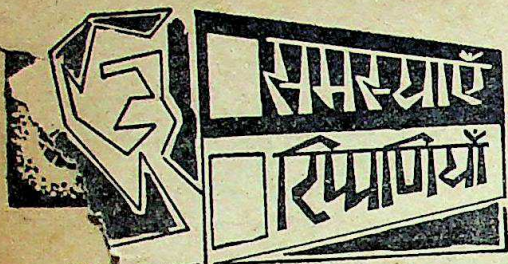
आज

रूसी साहित्य के हिन्दी अनुवाद

पहली बात यह है कि रूसी लेखकों की संख्या, जिनकी रचनाओं के अनुवाद हिन्दी में प्रकाशित हुए, बहुत कम है। और, हमारे देश में न केवल रूसी, बल्कि उक्रेनी, बेलोरूसी, गुर्गी, ताजिक, उजबेक आदि जातियों के लेखक हैं। इनका परिचय हिन्दी में नहीं के बराबर है। यह तो भारतीय प्रकाशकों की बात है और मैं इसमें कोई दखलंदाजी करना नहीं चाहता हूँ। दूसरी बात यह है कि रूसी साहित्य की किताबों का अनुवाद अंग्रेजी अनुवादों ही से होता है। और, ये अंग्रेजी अनुवाद बहुधा सोवियत-संघ में नहीं, बल्कि अन्य देशों में प्रकाशित हुए हैं। इन अंग्रेजी अनुवादों में अनेक अशुद्धियाँ होती हैं। अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद करते समय इन अशुद्धियों की संख्या और भी बढ़ जाती है।

हिन्दी अनुवादों में एक और बात होती है। वह है कृति का नया नामकरण। रूस में ऐसा नहीं होता। 'प्रेमाश्रम' को हम लोग 'एक गाँव की कहानी' नया नाम नहीं देंगे। खैर, यदि हिन्दी में कभी नया नाम दिया जाता है, तो मेरे ख्याल से नये नाम के साथ कोष्ठक में मूल नाम भी देना आवश्यक है। किस लिए? इसकी क्या जरूरत है?— कोई पूछेगा, तो जवाब दूँगा : पहले तो पाठक को मालूम होना चाहिए कि हिन्दी का नाम मूल नाम से मिलता है या नहीं। शायद कोई पाठक इसी पुस्तक को पढ़ना चाहेगा तो मूल नाम न जानते वह यह कैसे कर सकेगा?

हिन्दी अनुवाद करने में और भी बहुत-सी बातें होती हैं। कई महीने हुए मुझे तुर्गनेव की एक कृति के हिन्दी अनुवाद का सम्पादन-कार्य करना पड़ा। इस काम के दौरान में मुझे अनेक बातें स्पष्ट हुईं। इनमें मुख्य ये हैं—

१. मूल कृति का नाम 'फाउस्त' है। हिन्दी अनुवाद का नाम 'प्रेम प्रपंच' है।

२. तुर्गनेव का नाम अनुवाद में 'तुर्गनेव' में बदल गया।

३. बहुत-से वाक्यांश और वाक्य छूट गये। शायद अंग्रेजी अनुवाद अधूरा था। जिन वाक्यों को अनुवादक नहीं समझता था, उनकी उन्होंने छूट की।

४. कभी कोई अशुद्धि ही आ जाती, जैसे हिन्दी में "पादरियों जैसी टोपियाँ।" वास्तव में टोपी दूसरी थी।

५. रूसी भाषा में 'तुम' और 'आप' होते हैं। लेकिन अंग्रेजी अनुवाद में 'आप' न होने के कारण हिन्दी अनुवाद में कहीं 'तुम' कहीं 'आप' हो गये। यह सब मूल कृति से नहीं मिलता। जहाँ रूसी में 'आप' है, हिन्दी में 'तुम' हो गया। इससे अलग-अलग पात्रों के संबंध अशुद्ध दिखाई देते हैं।

रूसी में—"हाल में मेरे पिता का स्वर्गवास हुआ।"

हिन्दी में—"मेरे पिता अभी हाल ही में मरे थे।" मेरे विचार से यह बात शैली-संबंधी अशुद्धि है।

६. अंग्रेजी के कारण बहुत-सी अशुद्धियाँ आ गयी हैं—

अशुद्ध	शुद्ध	
टिमीफ़े	तिमोफ़ेय	(पुरुष नाम)
ओनेजिन	ओनेगिन	(पुरुष नाम)
ग्रेचम	ग्रेथेन	(स्त्री नाम)
नटेशा	नताशा	(स्त्री नाम)
अल्टसव	येलत्सोव	(पुरुष नाम)
पिटर्सबर्ग	पेतेरबुर्ग	(नगर का नाम)

इत्यादि। साथ ही सूचित करूँ कि रूसी भाषा में कोई टवर्ग नहीं है।

७. अलग-अलग पेड़ों, पक्षियों इत्यादि के नामों संबंधी अशुद्धियाँ—

रूसी में	हिन्दी में
लस्तोचका (एक पक्षी का नाम)	जलपक्षी वास्तव में लस्तोचका कोई जलपक्षी नहीं है।
पाइप (हुक्का)	सिगार
अलमारी	सन्दूक
द्रोज़्द	कौवा

वास्तव में द्रोज़्द कोई कौवा नहीं है। आदि।

८. कभी-कभी रूसी नामों का भारतीयकरण किया जाता है :—

रूसी में	हिन्दी में
प्रिइमकोव (पुरुष नाम)	प्रेमकवि
लीपा (एक पेड़ का नाम)	नीबू का वृक्ष
	इत्यादि ।

मैंने इस प्रकार की बातों के कई एक उदाहरण दिये हैं। वास्तव में इनकी संख्या इससे कहीं अधिक है। भविष्य में ऐसी बातें न हों, इस बात पर आप मुझसे सहमत होंगे। इन्हें दूर करने का क्या उपाय है? सबसे अच्छा उपाय होगा—सीधा रूसी से हिन्दी में अनुवाद करने का, और आजकल भारत में बहुत-से ऐसे व्यक्ति हैं जो रूसी भाषा पढ़ते हैं। क्योंकि दिल्ली, इलाहाबाद, बम्बई, लखनऊ, हैदराबाद, कानपुर आदि नगरों में रूसी भाषा की शिक्षा दी जाती है और जबतक अंग्रेजी से रूसी पुस्तकों का हिन्दी अनुवाद होता रहेगा, तबतक हिन्दी अनुवाद प्रकाशित करने से पहले इसका संपादन या संशोधन का कार्य करना चाहिए। इस काम को किसी-न-किसी रूसी भाई या बहन की मदद से करवाना चाहिए।

ये हैं मेरे विचार रूसी पुस्तकों के हिन्दी अनुवादों के संबंध में। मुझे आशा है कि मेरे इन तुच्छ खयालों से हिन्दी के अनुवाद-कार्य के लिए कुछ लाभ होगा।

—प्योत्र बारान्निकोव

('हिन्दी प्रचारक' अगस्त ६१)

हिन्दी वर्त्तनी और अक्षरी एकरूपता

मुझे भी कई हिन्दी शब्दों के उच्चारण और तदनुरूप लेखन के सम्बन्ध में प्रश्न का सामना करना पड़ रहा है। इस प्रश्न के अन्तर्गत पहले वे क्रियाएँ आती हैं, जिनका बहुवचनान्त रूप, व्याकरण के अनुसार 'ये' होना चाहिये। 'होना, करना, लेना, देना और जाना' को छोड़ दीजिये, क्योंकि इनके बहुवचनान्त रूप व्याकरण के अनुसार नहीं बनते, ये अलौकिक रूप रखते हैं। लेकिन, क्या हम बाकी उन क्रियाओं के बहुवचनान्त रूप में 'ये' या 'यी' का उच्चारण 'ये' या 'यी' ही करते हैं, जिनका एकवचन रूप 'या' होता है? मैं तो यही कहूँगा कि हम 'आया' तो कहते-सुनते हैं, पर न तो 'आये' या 'आयी' कहते हैं और न ही सुनने में आता है; बल्कि 'आए' और 'आई' ही कहते-सुनते हैं।

कई हमारे बुजुर्ग कहते हैं कि 'के लिये' को तो 'के लिए' लिखा जाये पर 'गोद लिये बच्चे' में 'लिये' को 'लिये' लिखा जाये। परन्तु, क्या 'के लिए' और 'लिये' के 'लिए' तथा 'लिये' में उच्चारण के समय कोई फर्क है? यदि नहीं तो फिर लेखन में फर्क क्यों ठोंसा जाये!

कई बुजुर्ग कहते हैं कि 'चाहिये' को 'चाहिए' लिखा जाय, हालाँकि 'चाहिये' में 'ये' बिल्कुल साफ सुनाई देता है, जैसा कि 'लिये, पिये, दिये' आदि में; क्योंकि 'ये' से पहले 'इ' आता है और 'ये' पर जोर देकर बोलना पड़ता है। यदि मैं ऐसा कह रहा हूँ तो इसलिये नहीं कि मेरा ऐसा कहने को जी चाहता है, बल्कि मेरा ऐसा कहने का कारण यह है कि ताशकन्द यूनिवर्सिटी में हिन्दी पढ़ाते समय मैंने देखा है कि जब मैं विद्यार्थियों को कहता हूँ कि

"देवनागरी में खूबी यह है कि आप जो बोलें उसे बिल्कुल उसी तरह लिख सकते हैं और 'देवनागरी' में शब्द जैसे लिखा हो उसका उच्चारण उसी तरह होना चाहिये", और जब विद्यार्थी किसी समाचार-पत्र, पत्रिका या पुस्तक में लिखे 'आये' या 'आयी' में 'ये' या 'यी' का उच्चारण अंग्रेजी शब्द Yesterday 'येस्-टर्-डे' के 'ये' या Yield 'यील्ड' के 'यी' की तरह करते हैं, तब मैं उनको कैसे कहूँ कि यह गलत है, हालाँकि यह सरासर गलत तो है ही। सो, मेरे विचार में, हमें अपने हिन्दी-व्याकरण में कुछ तब्दीली करके कह देना चाहिये कि यदि क्रिया के बहुवचनान्त रूप में 'ये' से पहले 'इ' हो, तो उसका उच्चारण 'ये' होता है और उसे उच्चारण-अनुसार ही लिखना चाहिये और बाकी सारी हालतों में 'ये' या 'यी' नहीं, बल्कि 'ए' या 'ई' होता है।

अब आई बात अनुस्वार और मीलित पञ्चम वर्ण के सम्बन्ध की। यह तो बिल्कुल साफ है कि अब 'ञ', 'ण' का उच्चारण 'न' जैसा हो गया है। इसलिये, मेरे विचार में, 'पञ्जाब', 'ण' और 'न' किसी संयुक्ताक्षर में पहले अक्षर का रूप बन कर आयें, तो इनको 'ञ्', 'ण्' और 'न्' लिखना चाहिये और जब किसी भी वर्ग के वर्णों के अनुसारी हों, तब अनुस्वार रूप (ं) में लिखे जायँ। 'ङ' और 'म' का तो प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिये 'ङ' को 'क, ख, ग, घ' के साथ और 'म' को 'प, फ, ब, भ, व' के साथ इस्तेमाल किया जाय—यहाँ अनुस्वार की जरूरत ही नहीं पड़ती। हाँ, विदेशी भाषाओं के शब्दों में केवल अनुस्वार का प्रयोग दुराग्रहपूर्ण ही कहा जायेगा ('अन्य', 'पुण्य', 'दम्पति', 'अङ्क', 'अन्त', 'सम्वरण', 'अंग्रेजी' आदि)। जहाँ तक चन्द्रबिन्दु का सम्बन्ध है, तो मेरे विचार में केवल 'आ, ई, अ, ए, ऐ, ओ, औ' के साथ ही चंद्रबिन्दु का प्रयोग होना चाहिए, क्योंकि इन्हीं स्वरों के बाद ही चंद्रबिन्दु का साफ-साफ उच्चारण सुनाई देता है। यह बात भी तो है कि जब हिन्दी बोलने वाले ११ प्रतिशत भाई शब्द—'हँसना' और 'हंस' बोलते हैं तो अनुस्वार और चंद्रबिन्दु के उच्चारण में रत्ती भर फर्क सुनाई नहीं देता, फिर 'हँसना' जैसे शब्दों में चंद्रबिन्दु की जरूरत ही क्या रह जाती है। बिल्कुल यही बात 'अः' की है। हिन्दी जाननेवाले कितने मेरे भाई 'दुःख' और 'दुख' बोलते समय 'अः' का उच्चारण करते हैं?

यदि अमरीका में Through को Thru बनाकर अंग्रेजी भाषा को नुकसान नहीं पहुँचाया गया, बल्कि उसे साधारण बना कर उसकी सेवा ही की गई है, तो हम लकीर के फकीर क्यों बने रहें?

पूज्य पं० गोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती ने लिखा है कि शब्द 'चाहिए' को बहुत्व प्रकट करने के लिये चन्द्रबिन्दु देना अनावश्यक है, बल्कि व्याकरण के नियम से अशुद्ध है। पहले तो यह बात समझ में नहीं आती कि 'दिये', 'लिये', 'पिये', 'किये' आदि के अंत में तो 'ये' हो और 'चाहिये' के अंत में 'ए'। दूसरी बात यह कि कम-से-कम मैंने तो पहली बार ही देखा है—'आम खाने चाहिए', 'लीचियाँ खानी चाहिए'। मैं तो आज तक यही कहता-सुनता आया हूँ—'आम खाने चाहियें', 'लीचियाँ खानी चाहियें', 'आम खाना चाहिये', 'लीची खानी चाहिये'। क्या हम यह नहीं कहते और सुनते—'मुझे (यह) काम करना है', 'मुझे (ये) काम करने हैं', 'मुझे (यह) बात बतानी है', मुझे (ये) बातें बतानी हैं'। क्या कभी किसी ने कहा है—'मुझे काम करने है', 'मुझे बातें बतानी है'।

श्री सियारामजी तिवारी, एम० ए०, पटना से लिखते हैं कि फारसी से आये हुए शब्दों में 'ज' और 'ज़' ध्वनि को अलग करना श्रेयस्कर नहीं। अगर ऐसा करेंगे भी तो वह केवल लिखने में चलता रहेगा, उच्चरित कभी नहीं हो सकेगा। तब जिस ध्वनि का उच्चारण हम कर ही नहीं पाते हैं, उसको सिर पर लादे चलना बुद्धिमानी नहीं है।

श्री सियारामजी तिवारी का यह कहना बिल्कुल ठीक है कि जिस ध्वनि का उच्चारण हम कर ही नहीं सकते, उसको सिर पर लादना अच्छा नहीं। पर क्या यह स्पष्ट है कि हम 'ज़', 'ग़', 'फ़', 'ख़' का उच्चारण कर ही नहीं पाते हैं? कौन नहीं जानता कि फारसी तथा अरबी शब्द आने से पहले हमारी बोली में ये ध्वनियाँ थीं ही नहीं। परन्तु, यदि दिल्ली, पंजाब और इनके आस-पास वाले इलाकों में रहनेवाले भाई बग़ैर किसी कठिनाई के इन ध्वनियों का उच्चारण कर पाते हैं, तो दूसरे प्रान्तों वाले भाई इन ध्वनियों का उच्चारण क्यों नहीं कर पाते। यह बात मेरी समझ से परे है। बड़े आश्चर्य की बात है कि अंग्रेजी शब्दों—

First (फ़र्स्ट), Film (फ़िल्म); Philosophy (फ़िल्-ग्रास्-ग्रो-फी), Season (सीज़्-ग्रान), Reason (री-ज़न) आदि में 'फ़' और 'ज़' ध्वनियों का उच्चारण हम सब कर पाते हैं, पर फारसी और अरबी शब्दों 'ज़ाती' 'ज़िक्र', 'ज़मीन', 'ग़ुबारा', 'ग़जल', 'फ़र्श', 'फ़लसफ़ा', 'ख़ाली', 'ख़र्च' आदि में हम 'फ़', 'ज़', 'ग़', 'ख़' ध्वनियों को सिर पर लादना नहीं चाहते, क्योंकि इनका उच्चारण कर ही नहीं पाते। मैं तो कहूँगा कि जिन भारतीय भाइयों ने इन ध्वनियों को अपना लिया है उन्होंने हिन्दी की सेवा ही की है, कोई नुकसान नहीं पहुँचाया, क्योंकि जिस भाषा में जितनी ज्यादा ध्वनियाँ होंगी, वह भाषा उतनी ही ज्यादा धनी समझी जायेगी।

—मदनमोहन हरदत्त
ताशकंद रेडियो
('हिन्दी प्रचारक' ८ । ६१)

वर्तनी-समिति के निर्णय

शिक्षा-मन्त्रालय द्वारा नियुक्त वर्तनी-समिति की तीसरी बैठक शिक्षा-मन्त्रालय के संयुक्त सचिव श्री रमाप्रसन्न नायक के कमरे में तारीख १९-४-६१ को हुई।

अन्तिम रूप से निम्नलिखित निर्णय स्वीकृत किए गए :

(१) हिन्दी के विभक्ति-चिह्न सर्वनामों के अतिरिक्त सभी प्रसंगों में प्रातिपदिक से पृथक् लिखे जाएँ; जैसे राम ने, स्त्री को, उससे, मुझको। परन्तु प्रेस की सुविधाओं को ध्यान में रखकर पत्र-पत्रिकाओं में संज्ञादि शब्दों में भी विभक्तियाँ मिलाने की छूट रहेगी।

अपवाद : (क) सर्वनामों के साथ यदि दो विभक्ति-चिह्न हों तो उनमें पहला मिलाकर और दूसरा पृथक् लिखा जाए; जैसे उसके लिए, इनमें से।

(ख) सर्वनाम और विभक्ति के बीच 'ही', 'तक' आदि का निपात हो तो विभक्ति को पृथक् लिखा जाए; जैसे आप ही के लिए, मुझ तक को।

(२) संयुक्त क्रियाओं की अंगभूत क्रियाएँ पृथक्-पृथक् लिखी जाएँ; जैसे पढ़ा करता है, आ सकता है।

(३) 'तक', 'साथ' आदि अव्यय सदा पृथक् लिखे जाएँ; जैसे आपके साथ, यहाँ तक।

(४) पूर्वकालिक प्रत्यय 'कर' क्रिया से मिलाकर लिखा जाए; जैसे मिलाकर, खा-पीकर, रो-रोकर।

(५) द्वन्द्व समास में हाइफेन रखा जाए; जैसे राम-लक्ष्मण, शिव-पार्वती संवाद।

(६) 'सा', 'जैसा' आदि से पूर्व हाइफन रखा जाए; जैसे तुम-सा, राम-जैसा।

(७) तत्पुरुष समास में हाइफन का प्रयोग केवल वहाँ किया जाए, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की सम्भावना हो, अन्यथा नहीं।

(८) जहाँ श्रुतिमूलक य-व का प्रयोग विकल्प से होता है वहाँ न किया जाए, अर्थात् गए-गये, नई-नयी, लिए-लिये आदि में से पहले (स्वरात्मक) रूपों का प्रयोग किया जाए। यह नियम क्रिया, विशेषण, अव्यय आदि सभी रूपों में माना जाए।

(९) हिन्दी में ऐ (ै), औ (ौ) का प्रयोग दो प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए होता है। पहले प्रकार की ध्वनियाँ 'है', 'और' आदि में हैं तथा दूसरे प्रकार की गवैया', कौआ' आदि में। इस विषय में यह निर्णय हुआ कि दोनों ही प्रकार की ध्वनियों को व्यक्त करने के लिए इन्हीं चिह्नों का प्रयोग किया जाए। 'गवइया', 'कव्वा' आदि संशोधनों की आवश्यकता नहीं।

(१०) संस्कृत-मूलक तत्सम शब्दों की वर्तनी के विषय में यह निर्णय हुआ कि उन्हें सामान्यतः संस्कृत-रूप में ही लिखा जाए। परन्तु जिन शब्दों के प्रयोग में हिन्दी में हलन्त चिह्न लुप्त हो चुका है उनमें उसको फिर से लगाने का यत्न न किया जाए; जैसे 'महान्', 'विद्वान्' आदि में।

(११) पंचमाक्षर और अनुस्वार के प्रयोग के विषय में यह निर्णय हुआ कि जहाँ पंचमाक्षर के बाद उसीके वर्ग के शेष चार वर्णों में से कोई वर्ण हो तो अनुस्वार का ही प्रयोग किया जाए, अन्यथा उस व्यंजन का यथावत् प्रयोग किया जाए; जैसे अंत, अन्य, गंगा, वाङ्मय संपादक, साम्य, सम्मति।

(१२) चन्द्रबिंदु के विषय में यह निर्णय हुआ कि चन्द्रबिंदु का प्रयोग आवश्यक है, क्योंकि उसके बिना प्रायः अर्थ में भ्रम की गुंजाइश रहती है; जैसे हंस, हँस अथवा 'अंगना', 'अँगना' आदि में। अतएव, ऐसे भ्रम को दूर करने के लिए चन्द्रबिंदु का प्रयोग अवश्य किया जाना चाहिए। परन्तु, जहाँ चन्द्रबिंदु के प्रयोग से छपाई आदि में बहुत कठिनाई हो और चन्द्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार का प्रयोग किसी प्रकार का भ्रम उत्पन्न न करे वहाँ चन्द्रबिंदु के स्थान पर अनुस्वार के प्रयोग की भी छूट दी जा सकती है। जैसे नहीं, मैं, में, परन्तु कविता आदि के ग्रन्थों में छन्द की दृष्टि से चंद्रबिंदु का यथास्थान अवश्य प्रयोग किया जाए; जैसे नंदनंदन।

(१३) हलका, हल्का; भरती, भर्ती; एकाई, इकाई; ठंडा, ठंढा; गर्मी, गरमी; गर्दन, गरदन आदि शब्दों की अक्षरी के विषय में विचार करने के बाद यह निर्णय किया गया कि हिन्दी की वर्तमान प्रवृत्तियों का विचार-पूर्वक अध्ययन करने के बाद ही यह निर्णय सम्भव है कि इन शब्दों के प्रचलित एकाधिक रूपों में से किस रूप को अधिक प्रामाणिक माना जाए।

(१४) अरबी-फारसीमूलक वे शब्द जो हिन्दी के अंग बन चुके हैं और जिनकी विदेशी ध्वनियों का हिन्दी ध्वनियों में रूपान्तर हो चुका है, हिन्दी रूप में ही स्वीकार किये जाएँ; जैसे जरूर। परन्तु जहाँ पर उनका शुद्ध विदेशी रूप में प्रयोग अभीष्ट हो वहाँ उनके हिन्दी में प्रचलित रूपों में यथास्थान नुक्ते लगाए जाएँ, जिससे उनका विदेशीपन स्पष्ट रहे; जैसे राज़, गज़ल।

(१५) अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्ध-विवृत 'औ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप का हिन्दी में प्रयोग अभीष्ट होने पर 'आ' (ा) की मात्रा के ऊपर अर्द्ध-चन्द्र का प्रयोग किया जाए = ऑ, ॉ।

(१६) संस्कृत के जिन शब्दों में विसर्ग का प्रयोग होता है वे यदि तत्सम रूप में प्रयुक्त हों तो विसर्ग का प्रयोग अवश्य किया जाए; जैसे 'दुःखानुभूति' में। परन्तु यदि उस शब्द के तद्भव रूप में विसर्ग का लोप हो चुका हो तो उस रूप में विसर्ग के बिना भी काम चल जायगा; जैसे 'दुख-सुख के साथी'।

प्रकाशक : सरकार सहयोग और सौदा

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ के प्रतिनिधियों से भारत सरकार के शिक्षा-मन्त्रालय का विचार-विमर्श १९५८ और १९५९ में समय-समय पर लगभग एक वर्ष पर्यन्त होता रहा, इस विषय में किसी परिणाम पर पहुँचने के उद्देश्य से कि हिन्दी में विज्ञान-सम्बन्धी विषयों की पुस्तकों के प्रकाशन में प्रकाशकों का सहयोग किन नियमों, सिद्धान्तों और सूत्रों के अनुसार प्राप्त किया जा सकता है। प्रकाशक मुख्यतः उन्हीं पुस्तकों का निरन्तर प्रकाशन कर सकते हैं जिनकी माँग हो; अब भारत सरकार इस माँग को अपनी ओर से देने के लिए तैयार हुई है। लेकिन व्यावसायिक प्रकाशकों के प्रति हमारी सरकार में जो संदेह और अविश्वास की भावना है, संघ के प्रतिनिधियों और केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के अधिकारियों की बातचीत लगातार उससे दूषित रही, और अब जो केन्द्रीय शिक्षा-मन्त्रालय के हिन्दी-निर्देशालय से एक परिपत्र प्रकाशकों को भेजा गया है, उसपर भी उसी भावना की छाया स्पष्ट पड़ी हुई है।

संघ के प्रतिनिधियों ने इस बात पर जोर दिया था कि इस योजना के अनुसार जिन पुस्तकों का प्रकाशन हो, उनका मूल्य लागत से तीन गुना हो—इस दो-तिहाई अन्तर में रायल्टी प्रकाशकों के पुस्तक-उत्पादन का व्यय, पुस्तक-विक्रेता का कमीशन और प्रकाशक का लाभ रहेगा। सामान्यतया रायल्टी और पुस्तक-विक्रेता को दिये जाने वाले कमीशन एवं सुविधाओं के अधिक होने के कारण पुस्तकों का मूल्य चार गुना तक रखा जाता है, फिर भी पुस्तकों के बिक जाने पर १० प्रतिशत से कम ही लाभ प्रकाशक को मिलता है। लेकिन सभी पुस्तकें एक निश्चित अवधि में बिक जाएँगी, इसकी गारण्टी (पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त) प्रकाशक-जगत में कहीं नहीं होती। पुस्तकों की बीसियों प्रतियाँ समीक्षा के लिए वितरित की जाती हैं; फिर दीमक, सीलन और अन्य कारणों से उन्हें नुकसान पहुँचता रहता है; भेजे गए पार्सल पुस्तक विक्रेताओं ने किसी कारण यदि न छुड़वाए तो लौटी हुई पुस्तकें बिक्री-योग्य नहीं रहतीं—इन सबका खर्च ऊपर के सूत्र में भी नहीं जोड़ा गया है, और प्रत्येक प्रकाशक जानता है कि इस व्यय का बोझ कुल लाभ पर एक बड़े अनुपात में रहता है। यदि पुस्तक बिकने से रह गई तो उस दशा में रद्दी के दामों के अलावा शेष सभी स्वाहा हो जाता है।

सरकारी समर्थन से एक उद्देश्य-विशेष की पूर्ति के लिए प्रकाशित पुस्तकों का दाम लागत से तीन गुना रखा जाए, यह माँग सर्वथा उचित थी। इससे कम अनुपात में दाम रखना प्रकाशन-व्यवसाय को क्षति पहुँचाने से कम नहीं है। हिन्दी में आज जो साहित्य है भी, वह किसी सरकारी प्रयास का परिणाम नहीं, प्रकाशकों के सामर्थ्य, साहस और सूझबूझ का परिणाम है। उनका सहयोग उनके हितों को क्षति पहुँचाकर क्योंकर प्राप्त किया जा सकता है?

—'प्रकाशन-समाचार' (अगस्त ६१)

साहित्य अकादमी : समकालीन हिन्दी साहित्य-विषयक ग्रंथ

भारत-सरकार की साहित्य अकादमी को समकालीन हिन्दी साहित्य विषयक आलोचनात्मक ग्रंथ प्रकाशित करने के शुभ अवसर पर, मैं हार्दिक शुभ-कामनाएँ देता हूँ। अवश्य यह हर्ष की बात है कि साहित्य अकादमी जैसी साधन-सम्पन्न और बुद्धि-प्रवण संस्था ने समकालीन हिन्दी साहित्य-विषयक आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित करने-जैसा गुरु-गंभीर कार्य अपने सिर उठाया है, जो हिन्दी के प्रत्येक प्रेमी पाठक के लिए जरूर ही खुशखबरी है। किन्तु, एक ओर जहाँ इस शुभ समाचार ने हिन्दी-प्रेमियों और पाठकों के हृदय को हर्ष दिया है, दूसरी ओर उन सबकी मानसिक चिन्ता भी अत्यधिक बढ़ा दी है। विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशित सूचना-समाचारों के आधार पर ज्ञात हुआ कि साहित्य अकादमी द्वारा समकालीन हिन्दी साहित्य पर प्रकाशित होनेवाला यह आलोचना-ग्रंथ ३०० पृष्ठों का होगा और उसमें १९४७ ई० से १९६० अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद से अब-तक के हिन्दी साहित्य पर विस्तृत आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जायगा।

उपरि-उद्धृत सूचना में कुछ बातें अवश्य चिन्तनीय हैं। ध्यान देने की बात है कि इस ग्रंथ में १९४७ से १९६० अर्थात् स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद से अबतक के हिन्दी साहित्य की चर्चा में समुचित न्याय की संभावना अवश्य नहीं की जा सकती। जैसा कि साहित्य अकादमी और बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद् द्वारा प्रकाशित ऐसे ग्रंथों में अकसर होता चला आया है। वर्ग-विशेष के खास-खास लोगों के साहित्य का ही उल्लेख हुआ है, अपने दल के ही खास-खास साहित्यकारों के साहित्य की चर्चा की गई है और शेष अन्य का नामोल्लेख तक नहीं कर, उन सभी को जानबूझ कर बिलकुल भुला दिया गया है। समकालीन हिन्दी साहित्य पर आलोचना-ग्रंथ प्रकाशित करने का साहित्य अकादमी का नया कदम ठोस और दुरुस्त हो, यह प्रयास स्वस्थ और प्रशंसनीय है, इसके लिए आवश्यक है कि निर्भीक, ईमानदार और सु-अधीत हिन्दी विद्वानों को उक्त ग्रंथ की संपादन-समिति में स्थान दिया जाय। डॉ० नगेन्द्र और हरवंश राय 'बच्चन'-जैसे केवल विचविचवा पीढ़ी के लेखकों से उचित काम नहीं होने को। नयी पीढ़ी के प्रतिभावान साहित्यकारों के प्रति उनकी द्वेष-ईर्ष्या से स्वभावतः स्वतंत्रता-उपरांत समग्र हिन्दी साहित्य का उल्लेख नहीं हो सकेगा। और, साथ ही यह प्रश्न स्वाभाविक है कि संसद और विधान-सभा में जब हर जाति और प्रत्येक वर्ग को प्रतिनिधित्व प्राप्त है तो नयी पीढ़ी के प्रतिभावान् साहित्यकारों के प्रतिनिधि उक्त ग्रंथ की संपादन-समिति में क्यों नहीं रखे जायँ। मेरा निश्चित मत है संपादन-समिति में नवीन प्रतिभाओं को स्थान देने पर ही उक्त ग्रंथ वास्तव में समकालीन हिन्दी साहित्य का सही-सही आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकेगा।

ध्यान देने की दूसरी बात यह भी है कि १९४७ ई० के बाद विपुल हिन्दी साहित्य ३०० पृष्ठों की लघु सीमा में भलीभाँति आकलित नहीं हो सकता। अतः पृष्ठों की संख्या बढ़ाकर कम-से-कम ५०० अवश्य रखी जाय।

किन्तु, वास्तव में चिन्ता की बात यही और इतनी ही नहीं है। सबसे बड़ी आशंका तो यह है कि साहित्य अकादमी हिन्दी साहित्य के विविध अंगों के विशेषज्ञ विद्वानों का सहयोग संभवतः नहीं ले रही है। उपन्यास, कहानी, नाटक, निबंध, आलोचना आदि विविध क्षेत्रों में हिन्दी साहित्य ने जो विशाल समृद्धि प्राप्त की है, किसी दो-चार साहित्य-समालोचक की ज्ञान-गगरी में निश्चय ही उपलब्ध नहीं हो सकती। इसी भाँति छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद आदि क्षेत्रों में भी विशेषज्ञ विद्वानों की सहायता और सहयोग-प्राप्ति साहित्य अकादमी के लिए इस प्रसंग में नितांत अनिवार्य है। काव्य और विशेषतः छायावाद के क्षेत्र में मुख्य समालोचक प्रो० दीनानाथ 'शरण' ने तथा आलोचना की दिशा में मूर्द्धन्य विद्वान श्री नलिन विलोचन शर्मा ने महत्त्व का काम किया है। साहित्य अकादमी क्या इन विद्वानों से सहयोग ले रही है? ताज्जुब है कि श्री हरिवंश राय 'बच्चन' को न जाने कैसे साहित्य अकादमी के सुयोग्य अधिकारियों द्वारा समालोचक समझ लिया गया।

प्राप्त सूचना-समाचार के आधार पर ज्ञात हुआ है कि

उक्त ग्रंथ शीघ्र ही १९६१ ई० के अंत तक प्रकाशित हो जायगा। मेरी तुच्छ सम्मति है कि जितना शीघ्र ही यह शुभ कार्य हो उतना ही अच्छा। किन्तु, शीघ्रता अयोग्यता और असमर्थता की परिचायिका न बन जाय, इस खतरे से सदा सावधान रहना है। नम्र निवेदन है कि स्वतंत्रता-उपरांत समस्त हिन्दी-साहित्य के सही-सही अध्ययन-आकलन के लिए साहित्य अकादमी सर्वप्रथम सभी हिन्दी प्रकाशकों को पत्र दे कि वे १९४७ के बाद प्रकाशित समस्त पुस्तकों की सूची भेजें। तदुपरांत प्रत्येक साहित्यकार की प्रत्येक पुस्तक की एक-एक प्रति साहित्य अकादमी द्वारा खरीदी जानी चाहिए और अपनी संपादन-समिति में उस विषय पर लिखनेवाले संपादक-लेखक को सम्यक् समालोचन के लिए भेजी जानी चाहिए।

—नरेन्द्र बख्शी
मीठापुर, पटना-१

पुस्तकें : पसन्द : चित्रों का महत्त्व

पुस्तकें पढ़ी जाएँ, इसके लिए पहले यह जरूरी है कि वे देखी जाएँ। यह एक बहुत ही स्पष्ट-सी बात है। लेकिन जबतक पुस्तकें देखी न जाएँ—और वे ध्यान न आकृष्ट करें—तबतक इस बात की सम्भावना है कि उन्हें पढ़ा भी न जाए।

पाठक के लिए आँख का महत्त्व सबसे अधिक होता है। पाठक की आँख जो-कुछ देखती है और उसपर उसका जो असर होता है ये दोनों ही बातें समान रूप से उन लोगों के लिए महत्त्व रखती हैं जो पुस्तकें तैयार करते हैं और प्रकाशित करते हैं या जिन्हें इस बात में दिलचस्पी होती है कि किताबें पढ़ी जाएं। लेकिन जाहिर है कि इसमें खास दिलचस्पी उन लोगों को होती है जो पुस्तकों के लिए चित्र बनाते हैं।

अगर व्यक्ति को अपनी पसन्द की चीज चुनने की आजादी न हो तो लोकतन्त्र एक ढोंग बनकर रह जाता है और 'शिक्षा' जबर्दस्ती दिमाग में चीजें ठूँसने का रूप धारण कर लेती है। लोगों को अपनी पसन्द की चीज चुनने की आजादी देकर उन्हें विभिन्न बातों की जानकारी प्रदान करने में आधुनिक समाज में पुस्तकों का महत्त्व बढ़ा ही है, घटा नहीं। आज हमें पहले से बनी-बनाई रायें जितनी आसानी से मिल सकती हैं उसकी वजह से यह आवश्यक हो गया है कि हर व्यक्ति सतर्क रहे ताकि कहीं ऐसा न हो कि असावधानी में कहीं स्वयं उसकी ईमानदारी पर भी आँच न आ जाए। लोगों को अपनी पसन्द की चीज चुनने की आजादी सचेतन रूप से और समझ-बूझकर चीजों के चुनने की आजादी होनी चाहिए क्योंकि जब हर आदमी को अपनी पसन्द की चीज चुनने की आजादी होगी तभी हर आदमी का अलग अपना व्यक्तित्व सम्भव हो सकेगा, तभी लोकतन्त्र या स्वतन्त्रता सम्भव हो सकेगी।

पुस्तकें उपलब्ध की जानी चाहिएँ—हर तरह की पुस्तकें, चाहे उसमें इस बात का ही खतरा क्यों न हो कि भावी पाठक इतनी बहुत-सी पुस्तकें देखकर बौखला जाए। हाल ही में कम दामों वाली कच्ची जिल्द की पुस्तकों ने जो प्रगति की है उससे देखने वाले की आँखों के सामने इसी प्रकार की अव्यवस्था का चित्र आता है, हालाँकि इसकी बदौलत सारी दुनिया में लाखों ऐसे लोग पुस्तकें पढ़ने लगे हैं और पुस्तकें खरीदने लगे हैं जो पहले पुस्तकें खरीदना अपने बस के बाहर की बात समझते थे। लेकिन इस अव्यवस्था में भी एक प्रकार की व्यवस्था है। कच्ची जिल्द वाली पुस्तकों (पॉकेट बुक्स) के इस गोरखधन्धे में भी विशेष प्रकार के साहित्य के प्रेमी, जैसे विज्ञान-सम्बन्धी कथा-साहित्य के प्रेमी, एक नजर में इस विषय की पुस्तकों को पहचान सकते हैं, क्योंकि इन पुस्तकों के आवरण-पृष्ठ की सज्जा भड़कीली होते हुए भी ऐसी अवश्य होती है कि उसे देखकर पुस्तक का विषय पहचाना जा सके। यह इस बात का केवल एक उदाहरण है कि पुस्तकों के प्रकाशन और उनकी बिक्री के नये-नये तरीकों के कारण पुस्तकों की रूप-सज्जा में क्या परिवर्तन आ रहे हैं। कुछ प्रकाशकों का तो यहाँ तक दावा है कि कुछ ही वर्षों में यह हालत हो जाएगी कि पुस्तकें छापी नहीं जाया करेंगी बल्कि उन्हें फोटोग्राफी की किसी तरकीब से तैयार किया जाया करेगा। उससे शायद उन लोगों को तो दुःख हो जो खूबसूरत किताबों के शौकीन होते हैं, लेकिन दुनिया में आज किताबों की जो भूख है उसे देखते हुए शायद लगातार बढ़ती हुई जरूरतों को पूरा करने के लिए नये-नये तरीकों का सहारा लेना पड़ेगा।

पुस्तकें सचित्र हों अथवा सादी, वे हमेशा से सभ्यता के लिए आवश्यक रही हैं और यदि कभी भी मशीनों ने पुस्तकों का स्थान ले लिया तो इसका कारण यही होगा कि मशीनों को पुस्तकों ने ही सम्भव बनाया है। मनुष्य अपने जीवनकाल में स्वयं खोजकर अथवा अनुभव करके बहुत-कुछ जान सकता है। लेकिन पुस्तकों की सहायता से तो अबतक जो-कुछ हो चुका है और आगे चलकर जो-कुछ हो सकता है, वह सब उसकी पठन-दृष्टि की परिधि में आ जाता है। अगर मनुष्य को अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करना है तो हमें और अधिक पुस्तकें उपलब्ध करनी चाहिएँ। हमें उनको आकर्षक बनाना चाहिए, ताकि पाठक का ध्यान उनकी ओर जाए और वह उन्हें पढ़े।

—आर० ओ० हाजेल

साहित्यिक बन्धुओं से निवेदन

'पुस्तक जगत' के अगस्त अंक में मेरा एक लेख 'हिन्दी कथा साहित्य की नई उपलब्धियाँ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। 'नई कहानियाँ' के वर्षगाँठ विशेषांक में श्री उपेन्द्र नाथ अश्क लिखित कहानी 'पलंग' की समीक्षा भी मैंने अपने इस लेख में की है। पंजाब एवं उत्तर प्रदेश के कुछ पत्रों ने मेरी बात का खण्डन किया है और ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है कि वह उचित प्रतीत नहीं होता। इन पत्रों का यह कहना भी है कि क्योंकि मैंने 'मंटो: मेरा दोस्त' पुस्तक की रचना की है और इसमें श्री अश्क की रचना 'मंटो : मेरा दुश्मन' की आलोचना की है, इसलिये मैंने श्री अश्क की कहानी 'पलंग' का कथानक चुराया हुआ कहा है। हकीकत तो यह है कि श्री अश्क से मेरी कोई दुश्मनी नहीं है। उनकी हमेशा की तरह आज भी मैं उतनी ही कद्र करता हूँ। मेरे मन में उनकी बहुत चाहत है। मेरा उद्देश्य न तो उनको बदनाम करना है और नहीं उनके विरुद्ध कोई मुहाज कायम करना है। मेरी रचना मात्र एक आलोचना है, इससे अधिक कुछ भी नहीं। मैंने कहीं सुनी चर्चा के आधार पर यह लिखा था कि 'पलंग' का कथानक चुराया हुआ है। यदि यह सत्य है तो बहुत ही लज्जाजनक बात है और यदि इसमें सचाई नहीं है, तो 'पलंग' एक लाजवाब कहानी है, जिस पर लेखक ने बहुत परिश्रम किया है।

—डा० केवल धीर

★

कदाचित् सरकार मेरे चित्रों में से कुछ ले ले, तो मैं समझूँगा कि मेरे चित्रों में कुछ कमी है।

—श्री यामिनी राय

कुछ श्रेष्ठ प्रकाशन

हास्य-रस—

१. लफ्टंट पिगसन की डायरी—बेढब बनारसी		४·००
२. टनाटन	,,	२·००
३. गान्धीजी का भूत	,,	१·५०
४. मसूरीवाली	,,	२·००
५. महत्त्व के गुमनाम पत्र	,,	१·५०
६. बनारसी एक्का	,,	२·००
७. हुक्कापानी	,,	३·००
८. महाकवि चच्चा	श्री अन्नपूर्णानन्द	२·५०
९. मगन रहु चोला	,,	२·५०
१०. मंगल मोद	,,	२·५०
११. मेरी हजामत	,,	२·५०
१२. मुर्गे	आनन्द प्रकाश जैन	२·००
१३. कलम कुल्हाड़ा	कौतुक बनारसी	२·५०
१४. कलम की कमाई	,,	२·५०
१५. छलाँग	शौकत थानवी	२·००
१६. नाम के पति	,,	२·५०
१७. मिस्टर उनसठ	,,	२·५०

उपन्यास—

१. चेतसिंह का सपना	गिरिजा शंकर पाण्डेय	८·५०
२. अठारह वर्ष बाद	,,	४·००
३. नारी! तुम केवल श्रद्धा हो—दीनानाथ शरण		३·००
४. आशीर्वाद	साधुराम शुक्ल	३·००
५. दो चिताएँ	'पागल'	३·००
६. चंचला	रंजन वर्मा	२·५०
७. क्रान्तिकाल	व० ह० पिटके	३·५०
८. कीर्ति-मन्दिर	चन्द्रकान्त काकोडकर	३·२५
९. मुक्त नारी	,,	२·२५
१०. जमींदार की बेटी	श्री० शि० चौगुले	३·२५
११. शाही कमरबन्द	बाबूराव अनीलकर	३·००

नवीनतम प्रकाशन—

बेकसी का मजार

(ऐतिहासिक उपन्यास)

श्री प्रतापनारायण श्रीवास्तव

सन् १८५७ के आधार पर आधारित प्रसिद्ध उपन्यासकार की नवीनतम कृति। सुन्दर आवरण एवं छपाई।

मूल्य १३·००

•

विदिशा की देवी

(ऐतिहासिक उपन्यास)

श्री जगदीश कुमार 'निर्मल'

महान अशोक की प्रणय गाथा पर आधारित, रोचक उपन्यास। तिरंगा आवरण। सुन्दर साज-सज्जा।

मूल्य ५·००

•

कालिदास

श्री सन्तोष व्यास

भूमिका ले०—*पद्मभूषण श्री सूर्यनारायण व्यास*

महाकवि के जीवन पर आधारित उपन्यास। सुन्दर आवरण एवं साज-सज्जा।

मूल्य ४·००

•

ये तथा हमारी अन्य पुस्तकें अपने यहाँ के पुस्तक-विक्रेता से माँगिए।
वहाँ न मिलें, तो हमें अवश्य लिखिए।

आनन्द पुस्तक भवन

औसानगंज, वाराणसी

साहित्य एवं जीवन का सम्बन्ध

डॉ० केवल धीर

साहित्य के सामने एक प्रश्न है, "हम किस प्रकार जीवित रहें?"

यूँ तो यह प्रश्न मानवता के ही सामने है, किन्तु साहित्य में मैं इसलिए इस प्रश्न को उठा रहा हूँ कि साहित्य की उत्पत्ति जीवन से होती है। इसका संबंध जीवन ही से रहता है और यह जीवन की ही सेवा करता है। साहित्य एवं जीवन का संबंध इतना गहरा एवं सुदृढ़ है कि यदि हम इसे नजर-अंदाज भी करना चाहें तो नहीं कर सकते। यह प्रश्न मात्र उन साहित्यिक बन्धुओं से है जो उद्देश्यपूर्ण जीवन में विश्वास रखते हैं, उनसे नहीं जो साहित्य को धन की उत्पत्ति का साधन मात्र ही समझते हैं। क्योंकि साहित्य जीवन का प्रतिनिधि एवं महान् शक्ति का पैकर है। गोर्की ने एक बार कहा था कि साहित्य से अधिक शक्तिशाली वसीला कोई नहीं है, जिससे कि हम एक-दूसरे को अपने विचारों से परिचित करा सकें। गोर्की की इस उक्ति के अनुसार यदि देखा जाय तो एक साहित्यकार का प्रयोग वास्तविक अर्थों में यही है। एक सच्चे एवं जीवित साहित्यकार की यही एक पहचान हो सकती है, और वह यह कि उसने हमें जीवित रहने के लिए हमारा प्रतिनिधित्व किया है या नहीं? और, उसकी रचनायें इस प्रतिनिधित्व के संघर्ष में एक शक्तिशाली वसीला हैं या नहीं?

जब हम साहित्य एवं जीवन के संबंध के विषय में बात करते हैं, तो हमारे सामने सीमित क्षेत्र या व्यक्तियों का छोटा-बड़ा गिरोह नहीं होता, बल्कि यह बात संपूर्ण मानव जाति के विषय में होती है।

हम सोचें कि 'डिव्हाइन कॉमेडी' आज भी हमारी आत्मा को क्यों झकझोर देती है, यद्यपि तेरहवीं शताब्दी का वह समाजी तूफान, बहुत दिन पूर्व समाप्त हो चुका है। मात्र इसी कारण तो, कि इस महान साहित्यिक प्रयोग के पीछे एक विशेष रुचि काम कर रही है। एलिया एह्रेनबर्ग ने ठीक ही कहा है कि एक कलाकार एवं साहित्यिक भी साधारण व्यक्तियों की तरह किसी वस्तु को पसंद या नापसंद करता है। जहाँ पर उसका मतभेद अधिक हो जाता है, वहीं साधारण व्यक्ति की अपेक्षा उसकी भावनाएँ शक्तिशाली हो जाती हैं। जिसका प्राकृतिक परिणाम यह होता है कि उसका मस्तिष्क एक विशेष रुचि की ओर बढ़ जाता है। यह बात दूसरी है कि यह रुचि उसे स्वस्थ-साहित्य-रचना की ओर ले जाये या कि अश्लीलता की ओर।

जो व्यक्ति साहित्य में वास्तविकता की ऊपरी आकृति प्रस्तुत कर देने के पक्ष में हैं और निजी रुचि को व्यक्त नहीं करते, वे वास्तविकता से बहुत दूर रहते हैं। उनमें वह शक्ति ही नहीं होती जो वास्तविकता की तलखियों की ताब ला सके। वे इसकी आड़ में अपनी कमज़ोरियों को छिपाना चाहते हैं। कलाकार का कार्य यही नहीं है कि वह अधूरे चिह्न मात्र प्रस्तुत कर पृथक हो जाये, बल्कि उसका सबसे महत्त्वपूर्ण कर्तव्य यह होता है कि वह उन चित्रों को पूर्ण कर सबके सामने प्रस्तुत करे। उन चित्रों में ऐसे रंग भरे, जो इनको लाज़वाल और अटल बना दें। यह कार्य उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक कि कलाकार वास्तविकता की गहराइयों में डूब न जाये। उर्दू साहित्य के महारथी सरदार जाफ़री ने अपनी पुस्तक "तरक्की पसंद अदब" में लिखा है कि, "कलाकार को मात्र वास्तविकता के नाम पर भरोसा करने की बजाय इसके भीतर तक झाँकना चाहिए। इसी कलाकार को 'क्यों' और 'कैसे' का उत्तर देना पड़ता है। भविष्य तक उसके समक्ष बेनकाब हो जाता है।"

वास्तव में यह साधारण-सी बात है और हर वह साहित्यकार या कलाकार जो एक उद्देश्यपूर्ण जीवन के संग साहित्य की भी उद्देश्यपूर्ण कल्पना करता हो, इस बात से इनकार नहीं कर सकता कि वास्तविकता का अर्थ क्या है? स्पष्ट है कि इन महान् उद्देश्यों को पाने के लिए साहित्यकार को सामग्री एवं विषय के चुनाव में सतर्कता एवं रुचि से काम लेना होगा। न तो हर विषय साहित्य का विषय बन सकता है और न ही हर विषय के अंतर्गत कलाकार के सभी गुण एवं भावनायें उभर सकती हैं। साहित्यकार हर वस्तु और हर व्यक्ति के

संबंध में नहीं लिख सकता। उसे सामग्री एवं विषय के चुनाव में चुनाव के तरीके को अपनाना ही पड़ता है। एक पुस्तक की रचना इसलिए नहीं जाती कि साहित्यकार को उसके लिखने का ढंग ज्ञात है, बल्कि इसलिए कि वह पुस्तक स्वयं साहित्यकार के मस्तिष्क से निकलने के लिए बेचैन है। लेखक की भीतरी एवं बाहरी भाषाओं से होकर उसे गुजरना पड़ता है, कि कुछ कहने को वह इच्छुक है। रचना की यही भावना (Creative Impulse) एक साहित्यकार की कला की आत्मा है। यह उसी समय स्पष्ट हो सकती है जब भावनाओं में तीव्रता एवं उत्साह हो। यही भावना हमें उर्दू में ख्वाजा अहमद अब्बास, कृष्णचन्द्र, बेदी और अश्क में मिलती है तथा हिन्दी में नागार्जुन, प्रभाकर माचवे, मोहन राकेश, रांगेय राघव, रेणु आदि का साहित्य भी इसी भावना से ओतप्रोत है।

इन तथ्यों से हमें स्वीकार करना ही होगा कि साहित्य जीवन का ही दूसरा रूप है, और इससे कोई भी इनकार नहीं कर सकता।

*

पुस्तक-प्रकाशन में सम्पादन

★

श्री कृष्ण विकल

[इसके पूर्व अंक में 'शुद्ध छपाई में लेखकीय योग' शीर्षक लेखक का निबंध आ चुका है। इस अंक के अनन्तर 'अक्षर-नियोजन-कला' और 'प्रूफ-संशोधन-कला' आदि विषय पर उपयोगी निबंध इस स्तंभ में लेखक उपस्थित करेंगे। विवेचक पाठकों से विशेष सुझावों का आग्रह है, जो लेखक के इस पते पर भी भेजे जा सकते हैं: १२२३, गली लाहौरियाँ, रोहतास नगर, शाहदरा, दिल्ली-३२। — संपादक]

पुस्तक-व्यवसाय में सम्पादन से आशय है पांडुलिपि में संशोधन करके प्रेस-कापी तैयार करना। हिन्दी-प्रकाशन-व्यवसाय में प्रायः किन्हीं मजबूरियों से अभी तक इस कार्य की उपेक्षा की जाती रही है। किन्तु अब जबकि हिन्दी पुस्तकों का दायरा बढ़ता जा रहा है, प्रकाशन स्तर की ओर ध्यान अनिवार्य हो गया है। 'बुक-प्रॉडक्शन' में जहाँ एक ओर सुन्दर छपाई और साज-सज्जा का अपना स्थान है, वहाँ दूसरी ओर, पुस्तक शुद्ध तथा प्रमाणित रूप में तैयार हो, यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। बल्कि यों कहना चाहिए कि पुस्तक की उपयोगिता विषय की आत्मा में अधिक है, शरीर में अपेक्षाकृत कम। कुछ भी हो, प्रॉडक्शन के दोनों पहलू अपना-अपना स्थान रखते हैं, और पुस्तक-सम्पादक के कार्य की सीमा में ये दोनों पक्ष आते हैं।

हाँ, तो अब पुस्तक-सम्पादक के उत्तरदायित्व, उसकी समस्याओं पर विचार करना चाहिए। सुविधा के लिए सम्पादक के कार्य को दो पक्षों में विभक्त करते हैं—बहिरंग और अंतरंग।

पहली कोटि के कार्य में शीर्षकों की सैटिंग और टाईप-संकेत, चैप्टरों के ऊपर जानेवाली ब्लैंक, फोलियो, फ़ुटनोट आदि शैलीगत विविध निर्देश रहते हैं। और, दूसरी कोटि में विषय का सम्यक् संशोधन।

समष्टि-रूप से सम्पादन का कार्य एक अत्यंत पेचीदा कार्य है। सम्पादक की योग्यता के बारे में यहाँ कहने की तो कोई आवश्यकता नहीं, किन्तु समर्थ व्यक्ति भी इस कार्य में तब तक अधिक सफल नहीं हो सकता, जब तक कि उसे इस कार्य में अधिक गहराई से पैठने का अवसर न मिले या कि वह अपने-आपको विषयानुकूल गंभीर न बना ले। कहने का तात्पर्य यह है कि हलके मन से किया गया कार्य, विशेषतया सम्पादन-कार्य, कोई अच्छा फल नहीं ला सकता।

इसपर सम्पादक की भी अपनी विवशताएँ हैं। छपी पुस्तक में अशुद्धियाँ तैरकर आँखों के सामने आ जाती हैं और आलोचकों की नज़र में पांडुलिपि में रह गई अशुद्धियों का उत्तरदायी समझा जाता है सम्पादक को। परन्तु वास्तविकता इससे पृथक् है। बहुधा जब पांडुलिपि घिच-पिच लिखी रहती है तो ठीक स्फुरण ही नहीं हो पाता। वही सम्पादक जब प्रूफ में या साफ टाइप-प्रति में पढ़ता है तो सरलता से अशुद्धियों को ठीक कर लेता है। मेरे कहने का आशय यह है कि कापी जितनी अस्पष्ट रहेगी, ठीक संशोधन करने के लिए उतनी ही अधिक एकाग्रता की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार विषय जितना गंभीर होगा, उतनी ही अधिक एकाग्रता की अपेक्षा बढ़ती जाएगी।

यह तो रही ऊपरी बात। अब क्रम से सम्पादन के दोनों पहलुओं पर आएँ।

बहिरंग पक्ष

सम्पादन के बहिरंग पक्ष में कुछ प्वाइंट ऐसे हैं जो सामान्यतः सभी विषयों की पुस्तकों पर लागू होते हैं। उनमें से कुछ विशिष्ट अंग ये हैं:—

(१) गेज,

(२) चैप्टर,

(३) शीर्षक,

(४) बॉडी-मैटर,
(५) लेड,
(६) फोलियो,
(७) फुटनोट

इनके बारे में विस्तृत जानकारी की तो यहाँ गुंजाइश नहीं, और न आवश्यकता ही। हाँ, इनके शैलीगत सभी पक्ष सम्पादक की मेज़ पर तालिका-रूप में रहें तो उसे पांडुलिपि पर निर्देश करने में बहुत सहायता मिलेगी। इससे कोई भी बिन्दु—प्वाइंट—छूटने नहीं पाएगा। नीचे तालिका दी जाती है :

(१) गेज (मैटर की लम्बाई-चौड़ाई) :—

बुक-प्रॉडक्शन में निम्न साइज़ अधिकतर व्यवहृत होते हैं। नीचे पुस्तक के प्रत्येक साइज़ के साथ कम्पोज़िंग के साइज़ का सांकेतिक निर्देश दिया जाता है। आवश्यकतानुसार मैटर-गेज का विधान कर लेना चाहिए।

(क) डबल क्राउन सोलहपेजी [२० × ३०/१६] में—
सामान्यतया : २२ × ३६
अन्य : २४ × ३६
२४ × ३८
२२ × ३४

(ख) डबल क्राउन अठपेजी [२० × ३०/८] में—
सामान्यतया : ३४ × ३८
अन्य : ३६ × ४८
३६ × ५०

(ग) डबल फुलस्केप सोलहपेजी [१७ × २७/१६] में—
सामान्यतया : १८ × ३२
अन्य : २० × ३४
२१ × ३४
२० × ३३

[किन्तु सस्ती पुस्तकों में, जहाँ कम पृष्ठों में अधिक मैटर खपाना अभीष्ट होता है, २० × ३४, २१ × ३४ और २२ × ३४ भी साइज़ रखा जाता है। आजकल पॉकट सीरीज़ इसी में निकल रही हैं।]

(घ) डबल फुलस्केप चौपेजी [१७ × २७/४] में—
सामान्यतया : ३६ × ६८
अन्य : ३८ × ७०
३८ × ६८
४० × ७२

(ङ) डिमाई अठपेजी [१८ × २२/८] में—
सामान्यतया : २४ × ४२
अन्य : २६ × ४४

(च) रॉयल अठपेजी [२० × २६/८] में—
सामान्यतया : २७ × ४८
अन्य : २८ × ४८
३० × ४८

ये हैं विविध पेपर-साइज़ों में कम्पोज़िंग के गेज। आवश्यकतानुसार चारों ओर के हाशिये में घट-बढ़ करके कम्पोज़िंग का गेज घटाया-बढ़ाया जा सकता है।

(२) चैप्टर :—

क. नये पेज से
रन - ऑन

ख. ऊपर की ब्लैंक—
चार एम
छः एम
आठ एम
दस एम या इससे अधिक।

[सामान्यतया चैप्टर नये पेज से जाने चाहिए। जिन पुस्तकों के चैप्टर परस्पर अनुबद्ध न होकर स्वतंत्र अस्तित्व रखते हों (उदाहरणतः विभिन्न लेखकों के लेखों या कविताओं की संकलन-पुस्तकें, जिनमें एक-एक कवि की एक से अधिक रचनाएँ हों); वे सम पृष्ठों पर नहीं आने चाहिए, बल्कि यदि पहला चैप्टर विषम पृष्ठ पर समाप्त होता हो तो सम पृष्ठ ब्लैंक जाएगा और अगले विषम पृष्ठ पर नया चैप्टर आएगा। फिर भी आवश्यकतानुसार इस नियम का उल्लंघन कर सकते हैं। इसी प्रकार यदि अधिक मैटर खपाना अभीष्ट हो तो चैप्टर रन-ऑन भी कर सकते हैं। इसी प्रकार पुस्तक के आकार के हिसाब से चैप्टर के ऊपर की ब्लैंक का निर्देश देना चाहिए।]

(३) शीर्षक :—

क. मुख्य शीर्षक

टाइप
२४ पा०
२० पा०
१८ पा०
१६ पा०

ख. उपशीर्षक, अथवा उपशीर्षक का अन्तर्वर्ती

टाइप
१६ काला
१६ सफेद
१४ काला
१४ सफेद
१२ इटैलिक
या कोई अन्य टाइप...

शैली
अ सैंटर में
आ. आध ऐम से डेश के साथ
आध ऐम से कोलन के साथ
आध ऐम से बिना कोलन या डैश के
इ. नये पैरे से मैटर के साथ रन-ऑन [1]

[पुस्तक के आकार के हिसाब से शीर्षकों एवं उपशीर्षकों आदि के टाइप तथा शैली का निर्देश देना चाहिए। २० × ३०/१६ जैसी पुस्तकों में १२ प्वाइंट बॉडी-टाइप के साथ बहुत मोटे टाइप न लगाए जाएँ तो ठीक रहेगा। किन्तु आलोचनात्मक गद्य-पुस्तकों में, जहाँ विषय के प्रमुख एवं आंगिक-आनुषंगिक बिंदुओं को अनुबद्ध करने के लिए शीर्षक, उपशीर्षक एवं आगे-आगे उपशीर्षक के अनुवर्त्ती शीर्षकों की रचना की जाती है, वहाँ प्रमुख टाइपों का कुछ मोटा रखना अधिक व्यावहारिक होगा।]

(४) बॉडी-मैटर :—

टाइप
१२ सफेद
१२ काला
१४ सफेद
१४ काला
१६ सफेद
१६ काला
२० प्वाइंट।

[साधारणतया १२ प्वाइंट सफेद टाइप चलता है; १४ सफेद नाटक, कविता-पुस्तक आदि विषयों के लिए उपयुक्त है। किशोर-साहित्य के लिए १६ सफेद; २० प्वाइंट प्रौढ़-साहित्य एवं बाल-साहित्य के लिए। १२, १४ और १६ के काले फेस भी बॉडी-टाइप के रूप में सफेद टाइपों के स्थान पर प्रयुक्त हो सकते हैं। प्रयोजनवश इन टाइपों में फेर-बदल भी किया जा सकता है।]

(५) लेड :—

क (मैटर के बीच में लेड)
३ पाइंट
२ पाइंट
१ पाइंट

ख. (पैरों के बीच में लेड)
अतिरिक्त लेड न दें
अतिरिक्त लेड दें [2]

---

१. नये पैरे से जानेवाले शीर्षक नियमतः तो उपशीर्षक के अन्तर्वर्ती शीर्षक अन्तर्गत हों तभी देने चाहिए, अन्यथा यदि वे एक ही पैरे से संबद्ध हों तो उपशीर्षक के रूप में भी दिए जा सकते हैं। फिर भी हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उनका टाइप बॉडी-टाइप के प्वाइंट का ही रहे, जैसे १२ पा० सफ़ेद टाइप के साथ १२ पा० इटैलिक या १२ पा० काला; नहीं तो प्रेस को 'ऐडजस्ट' करने में दिक्कत रहेगी।

२. सम्पादनार्थ आई री-प्रिंट पुस्तकों में यदि पैरों में डबल लेड छपे हों, तो अच्छा यही है कि उन्हें निकालने का प्रेस को निर्देश कर दिया जाए। बीच-बीच में डबल लेड डालने से छपाई खराब होती है। यह व्यवस्था तब की है जब लकड़ी के लेड भी चलते थे। अब लाइन पर लाइन की छपाई करने के लिए पैरों के बीच में लेड देने की प्रथा को बिलकुल निषिद्ध करना होगा। इसके लिए पेजों में 'विडो लाइन' को भी स्वीकार करना होगा।

[मैटर में साधारणतया ३ पाइंट के लेड ही चलते हैं। मैटर अधिक खपाना हो तो २ पाइंट और १ पाइंट के लेड भी डाल सकते हैं। २०×३०/१६ में, ३६ एम लम्बे पृष्ठ में ३ पाइंट के लेडों से २७ लाइनें (फोलियो को छोड़कर) आती हैं, जबकि २ पाइंट के लेडों से २६, और १ पाइंट के लेडों से ३१। फलतः जहाँ पृष्ठों में ३ पाइंट के लेड रहने पर १२ पाइंट की २७०० लाइनें १०० पृष्ठों में आएंगी, वहाँ २ पाइंट के लेड रहने से इन लाइनों के ९३ पृष्ठ बनेंगे और तीन लाइनें बच रहेंगी; तथा १ पाइंट के लेड रहने से ८७ पृष्ठ बनेंगे और तीन लाइनें बचेंगी। अर्थात् ३ पाइंट के १०० पृष्ठों के पीछे २ पाइंट में लगभग ७ पेज कम होंगे और १ पाइंट में १३ पेज। अतः आवश्यकतानुसार लेडों की समुचित व्यवस्था का निर्देश देना चाहिए]

(६) फोलियो :—

क. टाइप

१२ सफेद

१२ काला

१० मोनो

ख. ऊपर, नीचे

ग. पुस्तक का नाम दोनों ओर, या

अध्याय का नाम दोनों ओर, या

एक ओर पुस्तक का नाम दूसरी ओर अध्याय का, या

केवल पृष्ठ-संख्या

घ. (अ) कोनों में

(आ) सैंटर में

[फोलियो का टाइप काला न हो तो अच्छा हो, क्योंकि कोनों में रहने से एक तो वैसे ही उनके भर जाने की आशंका रहती है; दूसरे काला टाइप पेज में उभरकर प्राधान्य धारण कर लेता है, जबकि फोलियो का उद्देश्य मात्र यही है कि वह पुस्तक के विषय आदि का संकेत-भर दे। सामान्यतया फोलियो ऊपर दिए जाते हैं, पर नीचे भी दिए जा सकते हैं। विशेषतया कविता-पुस्तकों में फोलियो नहीं देने चाहिए। उपन्यास, कविता आदि पुस्तकों में दोनों ओर उपन्यास आदि का नाम देना चाहिए। नाटक-पुस्तकों में सम पृष्ठों पर नाटक का नाम तथा विषम पृष्ठों पर अंक तथा दृश्य का निर्देश रहना चाहिए। आलोचनात्मक ग्रंथों में सम पृष्ठों पर ग्रंथ का नाम तथा विषम पृष्ठों पर अध्याय का नाम रहना चाहिए। पर यदि पुस्तक का नाम निश्चित न हुआ हो तो केवल अध्याय का नाम ही देना चाहिए।]

(७) फुटनोट :—

क. टाइप

१२ सफेद

१२ काला

१० मोनो

ख. नये पैरे से, या

आध एम से फीगर देकर मैटर इंडैंट से

ग. अंत में पूर्ण-विराम

अंत में पूर्ण-विराम नहीं

[फुटनोट काले टाइप में नहीं देना चाहिए। १२ पाइंट सफेद के बॉडी-टाइप के साथ १० पाइंट मोनो का फुटनोट, तथा १४ पाइंट सफेद बॉडी-टाइप में १२ पाइंट सफेद का फुटनोट देना चाहिए। जिस पुस्तक में, फुटनोटों में वाक्य हों, उनमें अंत में पूर्ण-विराम लगाने चाहिए। पर शब्द-समूहों की पंक्तियों वाले फुटनोटों के अंत में पूर्ण-विराम नहीं लगाने चाहिए]

सामान्य पाइंटों पर विचार करने के पश्चात् अब विषय के अनुसार पैदा होने वाले शैलीगत विधान की चर्चा करें।

नाटक

१. सैटिंग :—

नाटक की सैटिंग चार प्रकार से हो सकती है :

(१) पात्र का नाम दूसरे 'फेस' में आध एम से; शेष रन-ऑन मैटर दो एम इण्डेन्ट से।

(२) पात्र के नाम के साथ मैटर नए पैरे से रन-ऑन।

(३) पात्र का नाम आध एम से कोलन के साथ, टैक्स्ट मैटर तीन एम या चार एम इण्डेण्ट से।

(४) पात्र का नाम सैंटर में अलग टाइप से और टैक्स्ट मैटर नए पैरे से।

[सामान्य रूप में शैली नं० १ अधिक प्रचलित है। यदि मैटर अधिक खपाना हो तो शैली नं० २ प्रयोग में आती है। यदि मैटर को फैलाना अभीष्ट हो तो शैली नं० ३ को प्रयोग में लाते हैं। शैली नं० ४ का व्यवहार लोग अधिक नहीं करते, किन्तु इस शैली से मुद्रित नाटकों का नाट्य-पाठ करने में बहुत सुविधा रहती है। इस शैली में कम्पोज़ कराने से प्रायः शैली नं० १ जितना मैटर आता है—न अधिक फैलता है और न ही अधिक सकुचता है।]

२. निर्देशांश :—

टाइप—यदि टैक्स्ट-मैटर १४ पा० 'सफेद' में हो तो निर्देश मैटर उससे छोटा अर्थात् १२ पा० 'काला' में होना चाहिए। काले टाइप में इसलिए कि निर्देश टैक्स्ट-मैटर में उभरा रहे जिससे नाट्य-पाठ में सुविधा हो। (यदि १४ सफेद के साथ १२ सफेद का निर्देशांश देंगे तो वह टैक्स्ट-मैटर में घुल-मिल जाएगा। अतः वैसा रखना समुचित नहीं।) इसी प्रकार यदि टैक्स्ट-मैटर १४ काले में हो तो निर्देश-मैटर १२ सफेद में होना चाहिए।

स्थिति—संवाद की पंक्ति के साथ रन-ऑन चलने वाले निर्देशांश यदि हो सके तो 'पैरेन्थसिस' में देने चाहिए, 'ब्रैकेट' में नहीं। क्योंकि संवाद के साथ रन-ऑन मैटर अनुवर्ती होता है और पैरेन्थसिस का भी गौण स्थलों में प्रयोग होता है। किन्तु जब निर्देशांश पृथक् पंक्ति से हों तो ब्रैकेट का व्यवहार समुचित है।[1]

विराम-चिह्न—निर्देश-मैटर के अंत में यदि विराम-चिह्न देना चाहें तो पूरी पांडुलिपि में संकेत लगा देना चाहिए। यदि न देना चाहें तो पूरी पांडुलिपि में जहाँ-जहाँ भूल से दिए गए हों, उन्हें काट देना चाहिए। यदि निर्देश के अंत में विराम-चिह्न न दें तो अधिक सामयिक होगा। (प्रायः देखा गया है कि नाटक-पुस्तकों में निर्देशों के अंत में कहीं विराम-चिह्न लगे रहते हैं और कहीं नहीं।)

कविता

कविता-पुस्तकों में सैटिंग का बहुत महत्त्व है। पुस्तक-विज्ञान में आमने-सामने पड़ने वाले दो पृष्ठों को एक इकाई माना जाता है; दो नहीं। फलतः सैटिंग करते समय दोनों पृष्ठों का ध्यान रखा जाता है। इसलिए पांडुलिपि को सम्पादित करते समय सम्पादक को चाहिए कि वह प्रेस को इस बात का स्पष्ट संकेत कर दे कि आमने-सामने पृष्ठों में यदि दो कविताएँ आ रही हों तो उनके ऊपर की ब्लैंक एक-सी रखी जाए। (स्मरण रहे कि ऐसी पुस्तकों में पृष्ठ की लम्बाई का ⅓ भाग तक ब्लैंक रखा जा सकता है, अर्थात् ३६ एम लम्बे पृष्ठ में अधिक-से-अधिक १२ एम तक ब्लैंक दे सकते हैं; किन्तु सामान्यतः उचित यही है कि ऊपर की ब्लैंक ८ एम से १० एम तक रखी जाए।)

यदि संभव हो तो कविता-पुस्तकों की पांडुलिपि में ही पंक्तियाँ गिनकर पृष्ठों के 'मेक-अप' का निर्देश कर देना चाहिए।

कविता-जैसी सज्जात्मक विषयों की पुस्तकों के फोलियो नीचे देने चाहिए ताकि सभी पृष्ठों पर फोलियो दिए जा सकें। (यदि फोलियो ऊपर रहता है तो कविता के शीर्षक वाले पृष्ठों में फोलियो नहीं दिया जा सकता है। परिणाम यह होता है कि किसी पृष्ठ में फोलियो होता है, किसी में नहीं।)

जिन कविता-पुस्तकों में कविता के अंत में सुविधानुसार सज्जात्मक 'स्टॉप-पीस' देने हों, वहाँ फोलियो ऊपर देना चाहिए।

कविता-पुस्तकों में कविताओं को जिस 'स्टाइल' से कम्पोज़ कराना हो, वैसा ही संकेत कर देना चाहिए ताकि बाद में कम्पोज़ किए मैटर में तबदीली न करनी पड़े।

मुक्त छंद की कविताओं को ३ एम अन्दर रखकर कम्पोज़ करने का निर्देश देना चाहिए। और, दाईं ओर 'छोटी-बड़ी लाइनों में uneven करें' ऐसा लिख देना चाहिए।

कहानी-उपन्यास

कहानी में जहाँ प्रसंग बदलता है वहाँ १, २, ३, ४ आदि संकेत दे दें तो ठीक है, अन्यथा वहाँ एक लाइन की ब्लैंक देनी चाहिए। उपन्यास में स्वेच्छानुसार विभिन्न शैलियों का प्रयोग किया जाता है; उन्हें सम्पादित करते

१. निर्देशांश कहाँ पृथक् और कहाँ साथ जाना चाहिए, इसपर अंतरंग-पक्ष में यथास्थान विचार किया जाएगा।

समय इन पाइंटों की दृष्टि से पांडुलिपि को चैक कर लेना चाहिए—

(क) खण्ड, रन-ऑन या नए पेज से। (ख) उद्धरण-चिह्न सिंगल या डबल;[1] या अल्प विराम और उद्धरण-चिह्न के स्थान पर केवल डैश।

उपन्यासों में जहाँ प्रसंगों के बीच में एक लाइन ब्लैंक का विधान लागू करना चाहें, वहाँ नए प्रसंग में ड्रॉप-लैटर की व्यवस्था पर विचार कर लेना चाहिए। कइयों का विचार है कि ड्रॉप-लैटर की शैली पुरानी पड़ चुकी है। किन्तु इसके यथास्थान प्रयोग से बहुत लाभ हो सकता है। जहाँ हम स्थान-स्थान पर एक लाइन ब्लैंक का विधान करना चाहते हैं वहाँ 'मेक-अप' में एक कठिनाई आ पड़ती है। वह इस प्रकार है :

कई बार एक प्रसंग पृष्ठ के अंत में समाप्त होता है। 'मेकअप-मैन' नीचे एक लाइन की ब्लैंक देकर अगले प्रसंग को दूसरे पृष्ठ पर ले जाता है। अपने-आपमें तो वह यह समझ लेता है कि एक लाइन की ब्लैंक मैं पिछले पृष्ठ में दे आया हूँ; पर पाठक को उससे कोई मदद नहीं मिलती। इसी प्रकार, यदि एक प्रसंग पृष्ठ के अंत में ऐसी स्थिति में पूरा हो जाता है कि पेज में एक लाइन की ब्लैंक भी नहीं दी जा सकती तो मेकअप-मैन एक लाइन की ब्लैंक दूसरे पृष्ठ के प्रारम्भ में ही डालकर आगे मेक-अप कर देता है। इससे भी अभीष्ट अर्थ सिद्ध नहीं होता। फलतः कई प्रसंग पृथक् लुप्त जाते हैं और कई एक-दूसरे में ही मिल जाते हैं।

ऐसी स्थिति में प्रूफ-रीडर को, इस त्रुटि को दूर करने के लिए एक-दो पृष्ठों में दो-एक लाइनों की घट-बढ़ करने की कोशिश करनी पड़ती है कि या तो पीछे की एक लाइन आगे लाई जा सके या अगले पृष्ठ से एक लाइन पीछे लाई जा सके, जिससे दो प्रसंगों के बीच एक लाइन की ब्लैंक आ जाए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि एक लाइन की ब्लैंक के सिस्टम में कितनी कठिनाई उत्पन्न होती है। यदि हम ऐसी स्थिति में ड्रॉप-लैटर का विधान अपना लें, तो समस्या हल हो जाती है। हाँ, १२ पा० सफेद के मैटर के साथ १६ पा० काला का ड्रॉप-लैटर लगा सकते हैं, जोकि बहुत बड़ा भी नहीं लगेगा।

आलोचना-ग्रंथ

आलोचनात्मक पुस्तकों में शीर्षकों, उपशीर्षकों, उपोपशीर्षकों का ठीक विधान पांडुलिपि को पढ़ने के पश्चात् ही किया जा सकता है। अतः इस पर अंतरंग-पक्ष में यथास्थान विचार किया जाएगा। यहाँ केवल इतना ही कथ्य है :

(१) उद्धरण अलग टाइप में जाने चाहिए।

[बॉडी-मैटर से भिन्न दीखने वाले टाइप में उद्धरण दिए जाएँ तो पाठक को सुविधा रहती है।]

(२) मैटर में जहाँ अंग्रेजी के उद्धरण आएँ, वहाँ रोमन में न देकर नागरी में दें।

---

१. उपन्यासों में केवल डैश या सिंगल उद्धरण-चिह्न का प्रयोग दूर तक निभ नहीं सकता—(१) कई बार एक ही पात्र किसी घटना को पाँच-छः पैराग्राफों में कहता है; उस स्थिति में लोग बाहर भी सिंगल उद्धरण-चिह्न और सुनाई गई बात के संवादों-प्रतिसंवादों में भी सिंगल उद्धरण-चिह्न लगाते हैं; जिससे 'घपला' हो जाता है। (२) कई बार संवाद के बीच में किसी एक शब्द या शब्दों के समूह को चरित्र ज़ोर देकर कहता है; ऐसी स्थिति में यदि हमने बाहर डबल उद्धरण-चिह्न लगाए होंगे तो हम उस शब्द-विशेष को सिंगल उद्धरण-चिह्न में ले सकते हैं। अगर हमने बाहर भी सिंगल का प्रयोग किया होगा तो गड्ड-मड्ड हो जाएगा। (३) उद्धरण-चिह्नों के स्थान पर डैश का प्रयोग प्रायः बंगला पुस्तकों में देखा जाता है और कई लेखक इस शैली का बड़े चाव से प्रयोग करते हैं। किन्तु ऐसी स्थिति में संवाद का मैटर दूसरे मैटर के साथ ऐसे मिल जाता है कि संवाद के समाप्त होने पर अनिवार्य रूप से डैश का प्रयोग करने पर भी पढ़ने वाले की नजरों में खटकता है और अर्थावबोध में भी व्यवधान उत्पन्न करता है। साथ ही जहाँ वस्तुतः डैश का प्रयोग करना होता है वहाँ लेखक सकते में आ जाता है। शैली तो अभिव्यक्ति में सहायक होनी चाहिए। वह शैली ही क्या जो खुद बवाल बन जाए!

[रोमन में अंग्रेजी उद्धरण देने में कोई तुक नहीं। क्या हम रूसी, चीनी, जर्मनी आदि भाषाओं के लिए उनकी लिपियाँ लाएँगे ?]

(३) पांडुलिपि में यह जाँच लेना चाहिए कि बॉडी-मैटर में दी गई पाद-टिप्पणियों (फुटनोटों) के संकेत पाद-टिप्पणियों में दिए गए संकेतों से मिलते हैं या नहीं।

[प्रायः देखा जाता है कि कहीं ऊपर मैटर में पाद-टिप्पणी का संकेत रहता है तो नीचे पाद-टिप्पणी नदारद; और पाद-टिप्पणी रहती है तो बॉडी-मैटर में संकेत नदारद।]

इनके अलावा प्रायः देखा गया है कि पुस्तकों में संख्या के लिए सामान्य वार्तालाप में भी कई लोग अंकों का प्रयोग कर देते हैं। जोकि असंगत-सा दीखता है। सौ तक के संख्या-शब्दों के लिए अंकों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। जहाँ-जहाँ ऐसे प्रयोग हुए हों वहाँ पांडुलिपि में ठीक कर लेना चाहिए। नहीं तो प्रूफ में बदलने से प्रेस की परेशानी बढ़ जाती है। गणित-पुस्तकों की बात अलग है; वहाँ तो अंकों में संख्या देना ही अभीष्ट रहता है।

ये हैं कुछ प्रमुख बातें, जिनपर पांडुलिपि के संशोधन में ध्यान रखना पड़ता है। यह तो हुआ बहिरंग-पक्ष; अगले लेख में हम सम्पादन के अंतरंग-पक्ष पर विचार करेंगे।

★

बुद्धं शरणं गच्छामि

लेखक—कर्तार सिंह दुग्गल

प्रकाशक—एम० गुलाब सिंह एंड सन्स प्राइवेट लि०
दिल्ली : इलाहाबाद

'भगवान को क्या वे प्रिय नहीं हैं' या 'एक सुख है' अथवा 'कोई अजन्ता को कैसे छोड़ सकता है' आदि एक वाक्य-खंड को बार-बार दुहराते चल कर संवाद की गतिशीलता को बनाये रखने की शैली मुख्यतः अपनायी गयी है। कहीं-कहीं तो एक ही वाक्य-खंड जैसे 'कोई अजन्ता को कैसे छोड़ सकता है' अथवा 'भिक्षु, तुमने मुझे छेनी जान-बूझ कर मारी' इतनी बार दुहराया गया है, इतनी बार दुहराया गया है कि······किन्तु संवाद को आवेग-पूर्ण बनाये रखने की इस शैली में लेखक को सफलता मिली है। यह सफलता और बढ़ जाती है जब हम देखते हैं कि नाटकीयता के निर्वाह के लिये मात्र कथोपकथन का ही आश्रय लिया गया है।

उपर्युक्त अंतिम विशेषता, खास कर, एकांकी की है। इस रचना में एक सुन्दर एकांकी होने का गुण था। जबकि दुग्गलजी को यह सुविधा प्राप्त थी ही कि एक सफल कहानीकार के लिये नाटक के माध्यम से जीवन को चित्रित करना सरल होता है तो थेर के चरित्र को केन्द्र बना कर उसके मनोद्वन्द्व से ही नाटकीय वातावरण की सृष्टि की जाती और अनावश्यक विस्तार के बदले कुछ संकोच-शैली से काम लिया जाता तो कथा-तत्त्व की कमी की भरती के संवादों और फलतः संवादों में जगह-जगह एक ही बात की पुनरुक्ति के सृजन का अवसर न मिलता, अधिक क्षिप्रता और संश्लिष्टता एक सुन्दर एकांकी का रूप गढ़ती और चूँकि लेखक ने रंगमंच की सुविधाओं का पूरा खयाल रखा है और दृश्य-परिवर्तन भी नहीं है, अतः एकांकी के रूप में एक ही सेट पर इसका अभिनय बहुत अच्छी तरह हो सकता। हाँ, चूँकि संपूर्ण नाटक अजन्ता की एक गुफा में अभिनीत है, अतः आवाज किस प्रकार वैसी ही गूँजे, इसके लिये तो तब भी कुछ सोचना ही पड़ता।

नाटक में नाटककार आलोचक हो सकता है, किन्तु 'बुद्धं शरणं गच्छामि' का नाटककार थेर के माध्यम से जब आलोचक बनने लगता है तो इस हद तक कि मूल कथावस्तु से नाटककार का ध्यान हट जाता है और अन्विति खतरे में पड़ जाती है। और फिर यह नाटक है जिसकी सबसे बड़ी शर्त है कि उसको पहले नाटक होना चाहिये और नाटक चल-जीवन की व्याख्या है, न कि कलागत जीवन की व्याख्या। हजारों साल से विख्यात कला-कृतियों को जाँचने के लिये जो कसौटी लेखक ने रखी है उसमें इतना भर ही पता चल सकता है कि लेखक का अपना दृष्टिकोण क्या है। इतिहास की कच्ची-पक्की यथार्थ-वादी आलोचना तो आसान है, किन्तु यह यथार्थ की व्यापक भाव-भूमि, जो साहित्य को अधिक मर्मस्पर्शी बनाती है, नहीं है। शायद यही कारण है कि व्यंग्य तो पकड़ में आ गया है, किन्तु उसमें से प्रभाव निकल गया है। शायद ऐसा इसलिये भी हो गया है कि लेखक की आलोचनात्मक प्रवृत्ति ने कथोपकथन को अस्वाभाविक विस्तार, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, दिया है और कथोपकथन की आवश्यकता चरित्र-चित्रण के लिये न रह गयी है।

······ऐसे भी, नाटक की चरित्र-नायिका थेर को ही समझना होगा। फल-प्राप्ति, जोकि अप्रत्याशित है, थेर का अपनी बेटी और दामाद को पा लेने में है, क्योंकि भघर-बन्धु को पाने की निराशा से विक्षुब्ध होकर वह यहीं से भिक्षु-संघ का परित्याग करती है और पुनः गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश करती है। इस तरह अजन्ता और भिक्षु-संघ की धज्जी उड़ाने का लक्ष्य भी लेखक का यहीं पूरा हो जाता है। नाटक यहीं समाप्त होना चाहिये था, क्योंकि इसके बाद तो पुनः नाटक के उद्देश्य का निर्णय करना कठिन हो जाता है, नाटक की गति में और भी विक्षेप पड़ने लगता है और वातावरण कृत्रिम मालूम होता है।

—प्रभाकर मिश्र

देख कबीरा रोया

लेखक—मन्मथनाथ गुप्त
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मूल्य—तीन रुपये । पृष्ठ संख्या—१५१.

यह गुप्तजी का नवीनतम उपन्यास है। कुछ लोगों के सिद्धान्त बड़े ऊँचे होते हैं एवं वे घोर आदर्शवादी होते हैं, लेकिन जब उन्हें कार्यरूप में परिणत करना चाहते हैं तो सैंकड़ों बाधाएँ सामने आ खड़ी होती हैं और हार कर उन्हें दुनिया के साथ चलना पड़ता है। मान लीजिये आप सिद्धान्त के पक्के हैं और अपने सिद्धान्तों के रक्षार्थ आप काफी तकलीफ उठा रहे हैं तो आप यह मत समझिये कि दुनिया आपको सराहेगी। अगर आपकी कोई सहायता करना चाहे तो वह भी सम्भव नहीं होता। इस प्रकार एक ओर जहाँ लोग यह नहीं चाहते कि कोई सांसारिक मामलों में उनसे ऊपर उठ जाये, यानी समृद्ध हो जाये, तो दूसरी तरफ वे यह भी नहीं चाहते कि नैतिक रूप से कोई उनसे ज्यादा ऊपर उठा रहे।

पंडित मातादीन की पत्नी होकर भी वसुमती उनके सिद्धान्तों का पालन नहीं कर सकी और अब तो कुछ-कुछ क्या, उसमें अच्छी तरह यह विश्वास प्रबल हो चला था कि वे सिद्धान्त गलत थे, उनपर चलना ठाक नहीं है; यदि सब कुछ चला जाता, सर्वनाश हो जाता, पर आस्था बनी रहती तो बहुत-कुछ रहता; पर यहाँ तो आस्था की लौ बनी रहने की बात दूर रही, उसका दीया भी नहीं रहा, बत्ती भी गायब है, तेल तो बहुत पहले ही खत्म हो चुका था।

'देख कबीरा रोया' एक ऐसी ही कहानी है।

छपाई साफ एवं गेटअप सुन्दर है। आजकल कवर पर की तस्वीरें भ्रम पैदा करती हैं। किसी भी पुस्तक को उठाकर देखें, कवर-पृष्ठ पर किसी आकर्षक युवती की तस्वीर रहेगी या इसी तरह की अन्य तस्वीरें होंगी, भले ही पुस्तक में वैसी किसी युवती का चित्रण न हो या वैसी कोई घटना न घटी हो। प्रस्तुत पुस्तक के साथ भी यही बात है। पाठक कवर-पृष्ठ देखकर नहीं, पुस्तक के नाम पर या लेखक के नाम पर ज्यादा आकर्षित होता है।

—कमला वर्मा

रेडियो वार्त्ता-शिल्प

लेखक—सिद्धनाथ कुमार
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी
मूल्य—२.५० । पृष्ठ-संख्या—१४० ।

पुस्तक के नाम से स्पष्ट है कि यह कृति रेडियो-वार्त्ता के संबंध में प्रकाश में आई है। इसके लेखक सिद्धनाथ कुमार लगभग दस वर्षों तक रेडियो नाटक-लेखक और वार्त्ता-विभाग के प्रोड्यूसर के रूप में, आकाशवाणी से संबद्ध रहे हैं। कुछ वर्ष पूर्व इन्हीं लेखक की एक पुस्तक प्रकाशित हुई थी—'रेडियो नाट्य-शिल्प' उसमें श्री कुमार ने रेडियो-नाटक की संभावनाओं, उपलब्धियों और रचना-विधान पर विस्तृत प्रकाश डाला था और आज तक उस पुस्तक का समादर होता रहा है।

रेडियो पर वार्त्ता प्रसारित करना उतना ही कठिन है, अलग से जितना आसान समझा जाता है। एक रेडियो-वार्त्ताकार को वार्त्ता तैयार करने से लेकर प्रसारित करने तक किन-किन मनोवैज्ञानिक परिस्थितियों से गुजरना होता है—इसका इस पुस्तक में विशद विवेचन है। रेडियो-वार्त्ता के विभिन्न रूप-प्रकार की तैयारी और सफल प्रसारण की समस्याओं पर लेखक ने वह प्रकाश डाला है कि, ऐसा अनुभव होता है, जैसे वह वार्त्ताकार के हृदय में उठनेवाले समस्त संभावित प्रश्नों, शंकाओं, स्थितियों को समझ गया है और क्रमशः आत्मीय निर्देशक के रूप में सब कुछ समझा रहा है। आकाशवाणी से स्थायी अथवा अस्थायी रूप में, संबद्ध साहित्यकारों और वार्त्ताकारों के लिए यह पुस्तक सफल निर्देशिका है—इसमें संदेह नहीं।

ऐसी श्रेष्ठ कृति के लिए लेखक और ऐसे श्रेष्ठ प्रकाशन के लिए प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

—हिमांशु श्रीवास्तव

सूरज की धूप

लेखक—मनमोहन मदारिया
प्रकाशक—नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली

मूल्य—एक रुपया, पचास न० पै०

प्रस्तुत संग्रह में पाँच एकांकी संग्रहीत हैं—चार गंभीर और एक हास्य-रस प्रधान। ये सभी समय-समय पर

पत्र-पत्रिकाओं एवं रेडियो द्वारा प्रकाश में आ चुके हैं, अतः इस संग्रह द्वारा इनको पहली बार प्रकाश मिला है, ऐसी बात नहीं।

एकांकियों में कथा का तत्त्व गौण नहीं होने पाया है – अतः रस क्षीण नहीं होता है। इनका रंगमंच पर सफल अभिनय किया जा सकता है।

तमिल साहित्य और संस्कृति

लेखक—अवधनंदन
प्रकाशक—सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
मूल्य—साढ़े तीन रुपये

भाषा की दृष्टि से दक्षिण भारत के चार भाग किये जा सकते हैं—आंध्र, कर्णाटक, केरल एवं तमिलनाड। मद्रास और उसके दक्षिण में कन्याकुमारी तक की भूमि तमिलनाड कही जाती है।

प्रस्तुत में इसी प्रदेश की भाषा तमिल—जो दक्षिण भारत की दूसरी समृद्ध भाषा है—के साहित्य और संस्कृति का परिचय दिया गया है। उत्तर भारत के लोगों का, खासकर हिन्दी भाषा-भाषी प्रान्तों का, दक्षिण भारत की भाषाओं से परिचय नहीं के बराबर है। केवल बीच में इन भाषाओं से अनूदित एकाध कहानियाँ या उपन्यास पत्र-पत्रिकाओं में पढ़ने भर को मिल जाते हैं। हिन्दी में दक्षिण भारत की किसी विशेष भाषा से हिन्दी के पाठकों का विस्तृत परिचय कराने का प्रथम प्रयास इस पुस्तक-प्रकाशन द्वारा किया गया है। इस दृष्टि से यह प्रयास अत्यन्त सराहनीय है।

यह लेखक का मौलिक प्रयास है, अतः स्तुत्य है। अन्य दक्षिण भारतीय भाषाओं से भी हिन्दीवालों को इसी प्रकार स्वतंत्र पुस्तक निकालकर परिचित कराया जाना चाहिये।

विराट

लेखक—स्टीफेन ज्विग
अनुवादक—यशपाल जैन
प्रकाशक सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली
मूल्य—डेढ़ रुपया

प्रसिद्ध उपन्यासकार स्टीफ़ेन ज्विग का इसी नाम से अँगरेजी में प्रकाशित एवं भारतीय पृष्ठभूमि पर आधारित मूल का प्रस्तुत अनूदित रूप है।

उपन्यास का कथानक गीता के इन दो श्लोकों—जिनका उल्था उपन्यासकार ने पुस्तक के प्रारम्भ में दिया है—के इर्द-गिर्द चक्कर काटता है :

"कोई भी मनुष्य कर्म किये बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता। प्रकृति के गुण प्रत्येक परतंत्र मनुष्य को कुछ-न-कुछ कर्म करने में लगाये ही रखते हैं।"

(इस विषय में बड़े-बड़े विद्वानों को भी भ्रम हो जाता है कि) कौन कर्म है, कौन अकर्म।"

इन्हीं दो सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर उपन्यास के नायक 'विराट' का चित्रण किया गया है।

इस संसार में आकर मनुष्य अकर्म की स्थिति में नहीं रह सकता। मनुष्य को चाहिये कि वह फल की प्राप्ति की इच्छा त्यागकर कर्म करे। विराट इस जीवन में कर्म-मुक्त होकर रहना चाहता है पर वह रह नहीं पाता। अंत में वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचता है कि कर्म जीवन का अभिन्न अंग है, जिससे किसी भी स्थिति में छुटकारा असम्भव है।

उपन्यास की सबसे बड़ी विशेषता इसका भारतीयपन है। कथावस्तु, भाव, वातावरण यहाँ तक कि पात्र भी पूर्णतः भारतीय हैं।

—विश्वनाथ

—पश्चिम जर्मनी की सरकार यूनेस्को के शिक्षा-सहायता कार्यक्रम के अन्तर्गत भारत सरकार को लगभग ६५ लाख की मुद्रण-मशीन पाठ्य-पुस्तकों के मुद्रणार्थ भेंट-स्वरूप देगी। जर्मन-विशेषज्ञों का एक दल शीघ्र ही इस सम्बन्ध में भारत आनेवाला है और केन्द्रीय सरकार के शिक्षा-विभागीय अधिकारियों से मशीन के उपयोग के सम्बन्ध में वार्तालाप करनेवाला है।

—नवम्बर के मध्य में अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की ओर से राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह के आयोजन की व्यवस्था की जा रही है। यह समारोह अपने ढंग का अभूतपूर्व होगा। समारोह का प्रारूप भारत के समस्त पुस्तक-विक्रेताओं एवं प्रकाशकों को संघ के कार्यालय से इसी माह प्रचारित किया जायगा।

—अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का मुखपत्र विजयादशमी पर वाराणसी से प्रकाशित होगा। सम्पादक होंगे, भारतीय ज्ञानपीठ के संचालक श्री लक्ष्मीचन्द जी जैन। इस सम्बन्ध में किसी तरह के सुझाव या परामर्श का स्वागत किया जायेगा। श्री जैन का पता निम्न है। श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन, साहू जैन निलय, ६ अलीपुर पार्क प्लेस, कलकत्ता।

—आगामी २० से २३ सितम्बर तक स्पेन की राजधानी मैड्रिड में चतुर्थ अन्तर्राष्ट्रीय पब्लिसिटि कांग्रेस का अधिवेशन अन्तर्राष्ट्रीय विज्ञापन-संस्था के तत्वावधान में होगा। जो सज्जन इसमें भाग लेना चाहें वे डायरैक्ट्रेट आफ एडवर्टाइजिंग ऐण्ड विजुअल पब्लिसिटी, गवर्नमेंट आफ इंडिया, नई दिल्ली से सम्पर्क स्थापित करें।

—उत्तर प्रदेश सरकार की अभी तक हिन्दी-पुस्तकों पर पुरस्कार देने की नीति यह थी कि अच्छी पुस्तकों के लिए अधिक रकम दी जाए और नए तथा साधारण लेखकों को प्रोत्साहन देने के लिए उनकी पुस्तकों को भी पुरस्कृत किया जाए। प्रोत्साहन वाले पुरस्कार सामान्यतः २५०) रु० से लेकर ५००) तक के और अच्छी पुस्तकों पर १२००) तक के और कभी-कभी अधिक राशि के भी होते थे। वे प्रति वर्ष डेढ़-दो-सौ लेखकों को मिल जाते थे। उत्तर प्रदेश की नई सरकार ने अब पुरस्कार सम्बन्धी नीति बदल दी है। अब ये पुरस्कार नए साधारण लेखकों के प्रोत्साहन के लिए नहीं रहेंगे। अब इन्हें केवल श्रेष्ठ पुस्तकों के लिए दिया जायगा। अब सरकार ने पुरस्कारों की राशि, विषय और संख्या निर्धारित कर दी है। इस योजना में नीचे लिखे अनुसार पुरस्कार दिए जायँगे—**पाँच हजार रुपये के पुरस्कार :** १. रवीन्द्रनाथ टैगोर पुरस्कार—साहित्य पर, २. डा० भगवानदास पुर०—दर्शनशास्त्र पर, ३. गोविन्दवल्लभ पंत पु०—राजनीति पर, ४. मोतीलाल नेहरू पु०—कानून पर, ५. पं० मदनमोहन मालवीय पु०—शिक्षा पर, ६. डा० बीरबल साहनी पु०—विज्ञान पर। **ढाई हजार रुपये के पुरस्कार :** १. नरेन्द्रदेव पुरस्कार—समाजशास्त्र पर, २. प्रेमचन्द पुरस्कार—उपन्यास पर, ३. प्रसाद पुरस्कार—नाटक पर, ४. बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' पुर० कविता पर, ५. करमचन्द बहल पुर० —विज्ञान पर। इनके अतिरिक्त ५००-५०० रु० के ३० पुरस्कार और हैं जिनके विषय निर्धारित नहीं किए गए हैं।

—देहरादून की केन्द्रीय वन-अनुसंधानशाला में एक 'लकड़ी का पुस्तकालय' है। उसमें १६,००० लकड़ी की पुस्तकें हैं। यह एक काष्ठ-संग्रहालय है जिसमें १६ हजार किस्म की देशी और विदेशी लकड़ियाँ संग्रहीत हैं। इन्हें पुस्तकाकार काट लिया गया है, और जिल्दबन्द पुस्तकों की तरह उन पर नाम, नम्बर आदि लिखकर आलमारियों में सजाया गया है। इस अनुसंधानशाला में बाँस से कागज बनाने का भी एक कारखाना चल रहा है। न्यूजप्रिंट बनाने के सम्बन्ध में भी इस विभाग ने खोजबीन की है।

—राजस्थान शिक्षा-विभाग ने नवसाक्षरों एवं बालकों के लिये उपयोगी पुस्तकों का चयन करने के लिए चतुर्थ प्रतियोगिता आयोजित करने का निश्चय किया है। तीन सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों की १५० पृष्ठों की पुस्तकमाला पर लेखकों को १०००) रु० और ५००) रु० के दो पुरस्कार प्रदान किए जाएंगे। पुस्तकमाला की तीनों पुस्तकें किसी एक व्यक्ति की अथवा संयुक्त रूप से रचित होनी चाहिए। प्रत्येक पुस्तक की ४ प्रतियाँ प्रेषित करनी होंगी। पुरस्कार

के लिए चुनी हुई पुस्तक संभवतः शिक्षा-विभाग द्वारा खरीद ली जायेंगी। पुस्तकें ३१ दिसम्बर '६० के पश्चात् प्रकाशित होनी चाहिएँ। प्रतियोगिता के लिए पुस्तकें अथवा पांडुलिपियाँ उप-संचालक, समाज-शिक्षा, राजस्थान के पास ३० अक्टूबर '६१ तक अवश्य पहुँच जानी चाहिए।

—२६ जून को हरियाना लोक-समिति में भाषण देते हुए पंजाब विधान परिषद् के सदस्य प्रो० शेर सिंह ने कहा कि पंजाबी क्षेत्र में प्रति वर्गमील सरकार ८० हजार रुपये खर्च करने जा रही है, किन्तु हिन्दी क्षेत्र के लिये २७ हजार रुपये की ही स्वीकृति दी गयी है। पंजाब सरकार की हिन्दी-भाषी क्षेत्र के प्रति इस नीति से व्यापक क्षोभ है।

—दैनिक हिन्दुस्तान (दिल्ली) के १ जुलाई के समाचार के अनुसार केन्द्रीय सरकार शीघ्र ही अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य-सम्मेलन को अपने हाथ में लेकर राष्ट्रीय महत्त्व की संस्था घोषित करेगी। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति शीघ्र ही अध्यादेश निकालनेवाले हैं।

मैं एक लेखक के बतौर बढ़ना चाहता हूँ, उस आदमी के बतौर नहीं जो पाँच लड़ाइयाँ लड़ा है, पिंजरा-बंद पशु-योद्धा के भी बतौर नहीं; निशानेबाज, घुड़सवार, शराबनोश किसी भी नाते नहीं... सवाल है: क्या तुम लिख सकते हो?

—स्वर्गीय अर्नेस्ट हेमिंग्वे

चेकोस्लोवाकिया में 'सांस्कृतिक क्रान्ति'

डॉ० जोसेफ़ द्वोरक

चेकोस्लोवाकिया में दो शब्द अक्सर सुनाई देते हैं—'सांस्कृतिक क्रान्ति'। आखिर इनका क्या अर्थ है? इनसे क्या मुराद है? राजधानी प्राग में ही नहीं, किसी छोटे-से-छोटे कस्बे की सड़कों पर चक्कर लगायें तो भेद कुछ-कुछ समझ में आने लगता है।

उदाहरणार्थ, किताबों की इतनी दूकानें अनेक देशों में नहीं दिखाई देतीं। हर साल पुस्तकों की ५० लाख प्रतियाँ छपतीं और बिक जाती हैं, यानी हर नागरिक पीछे लगभग चार पुस्तकें। युद्ध के पहले की तुलना में आज तीन गुना अधिक पुस्तकें छपती हैं।

और, किताबों की दूकानों में ऐसी दो श्रेणियाँ नहीं दिखाई देतीं कि अच्छी किताबें थोड़े लोगों के लिए और रद्दी किताबें आम खपत के लिए। दूसरी श्रेणी तो है ही नहीं, क्योंकि पुस्तक-प्रकाशन में मुनाफे की भावना खत्म हो गयी है। बुरी किताबों के लिए कोई प्रकाशक ही नहीं मिलेगा। इसलिए यह आवश्यक नहीं रह गया है कि बच्चों और युवकों को किताबों से 'बचाने के लिए' माता-पिता या पुलिस को चिन्ता करनी पड़े। अनुवाद बड़े लोकप्रिय हैं—इतने कि बहुत-सी पुस्तकें तो मूल भाषा के देश की संख्या से बड़े संस्करणों में प्रकाशित हुई हैं। इस वर्ष रवीन्द्रनाथ ठाकुर की चुनी हुई रचनाओं का संग्रह तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ तो हाथों-हाथ बिक गया। यह अनुवाद मूल बंगला से किया गया है।

पाठकों की संख्या पुस्तकालयों में भी अत्यधिक है। १ करोड़ ३५ लाख अबादी वाले देश में ६०,००० सार्वजनिक पुस्तकालय हैं जिनमें ५ करोड़ पुस्तकें हैं। इनके अलावा हर कारखाने, दफ्तर और सहकारी खेत तथा अस्पताल, सेनेटोरियम आदि की अपनी लाइब्रेरियाँ है।

स्पष्ट ही, इसका मुख्य कारण शिक्षा का व्यापक प्रसार है। निरक्षरता तो पहले भी नहीं थी। इधर महायुद्ध के बाद ९ मई १९४५ को पुनः स्वतंत्र होने के साथ शिक्षा का प्रसार और अधिक हुआ है। अभी ही एक लाख आबादी पीछे विश्वविद्यालयों में पढ़ने वाले छात्रों की संख्या ५७१ बैठती है और इस तरह इस क्षेत्र में चेकोस्लोवाकिया अमरिका समेत सभी पश्चिमी देशों से आगे है।

लेकिन आम शिक्षा की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था। अब तक ८ वर्ष की शिक्षा अनिवार्य थी, अब एक वर्ष और बढ़ाकर ९ वर्ष तक कर दी गई है। १९६१ से नई योजना लागू की गई है, जिसका लक्ष्य है कि क्रमशः १९७० तक सारे चेकोस्लोवाकिया में माध्यमिक शिक्षा तक पढ़ाई अनिवार्य कर दी जाय। इस तरह प्रयत्न बराबर जारी है कि चेकोस्लोवाक नागरिक—आम जनता—दुनिया के सबसे अधिक शिक्षित व्यक्ति बन जायँ।

इसका प्रभाव अन्य सांस्कृतिक क्षेत्रों पर पड़ना अनिवार्य है। उदाहरण के लिए, सिनेमा को लीजिए। अमरीका में सिनेमा-घरों की कुल तादाद सबसे अधिक है, लेकिन अगर आबादी के हिसाब से देखा जाय तो संख्या चेकोस्लोवाकिया में अधिक है। चेकोस्लोवाकिया में ३,५१८ सिनेमा-घर हैं यानी ४ लाख लोगों के पीछे एक सिनेमा-घर है। दर्शकों का औसत आबादी से लगाया जाय तो हर नागरिक साल में कम-से-कम १४ बार सिनेमा अवश्य देखता है, लेकिन चूँकि इस औसत में सिनेमा न देखने वाले बच्चों और बहुत बूढ़ों की संख्या भी शामिल है, इसलिए असली औसत और ज्यादा ही बैठेगा।

उच्च सांस्कृतिक स्तर का एक और ठोस प्रमाण मिलता है थ्येटर (रंगमंच) की लोकप्रियता से। चेकोस्लोवाकिया में थ्येटर जितना लोकप्रिय है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। इस छोटे-से देश में ८० स्थाई थ्येटर हैं, जो सदा भरे रहते हैं। ब्रिटेन या अमरीका में यात्रा करने वाले चेकोस्लोवाक नागरिकों को यह देखकर हैरानी होती है कि वहाँ १० लाख से अधिक आबादी वाले नगरों में भी स्थायी नाटक-मण्डलियाँ और उनके स्थायी भवन नहीं होते, जबकि अपने

देश चेकोस्लोवाकिया में उन्हें ५० हजार से कम आबादी तक के कस्बों में स्थायी थ्येटर मिल जाता है।

एक कहावत बन गई है—हर चेक नागरिक संगीतज्ञ होता है। इसमें अतिशयोक्ति अवश्य है, मगर सत्य भी है। वरना क्या कारण है कि इस छोटे-से देश में १५ स्थायी गीत-नाट्य-मण्डलियाँ, १५ वाद्य-संगीत-मंडल और ३० संगीत-मण्डलियाँ हैं और इनके कार्यक्रम रोज होते हैं। १० लाख से कम आबादी वाले प्राग नगर में संगीत-प्रेमियों को हर शाम तीन संगीत-कार्यक्रमों में से एक को चुनने का अवसर प्राप्त होता है।

सांस्कृतिक दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण यह होता है कि जनता कलात्मक अभिव्यक्ति में स्वयं कितना भाग लेती है। ध्यान देने योग्य है कि विभिन्न स्थानों पर कुल ११,००० सांस्कृतिक क्लब हैं, अर्थात् बहुत छोटे-से गाँव को छोड़कर, हर गाँव में अपना सांस्कृतिक क्लब है। इनके अलावा ७७६ बड़े क्लब फैक्टरियों में और ६,६१६ 'सांस्कृतिक कक्ष' दफ़्तरों में स्थापित हैं। इन संगठनों को अपने सांस्कृतिक कार्यक्रमों के लिए भवन किराये पर लेने का संकट नहीं भोगना पड़ता। कानून ही ऐसा है कि हर स्थानीय प्रशासन को अपने यहाँ एक 'सांस्कृतिक प्रासाद' बनाना पड़ता है। पिछले वर्ष ५,१५,४६५ सदस्यों वाली १८,७१४ मण्डलियों ने इन प्रतियोगिताओं में भाग लिया था।

साहित्य और कला जनता के लिए—यह नारा बड़ा अच्छा लगता है। लेकिन शिक्षा की सुविधाओं और रहन-सहन के उच्च स्तर के बिना यह नारा व्यावहारिक नहीं बनाया जा सकता। नया चेकोस्लोवाकिया इसी नारे को अमल में लाने का प्रयत्न कर रहा है। उसका ध्येय है कि हर नागरिक को ज्ञान प्राप्त करने और कलात्मक अभिरुचि निखारने का समुचित अवसर दिया जाय।

हमारे सद्यःप्रकाशित गौरव-ग्रंथ

●

श्री विष्णुकान्ता

शान्तला

कन्नड़ का सांस्कृतिक और ऐतिहासिक उपन्यास-शिल्प

साहित्य अकादमी की ओर से

मूल्य : ७.००

●

अनुभूत सत्य

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण प्रसाद

मूल्य २.००

●

औरत और अरस्तू

अभिनेय ऐतिहासिक नाटक

लेखक : श्री रामप्रिय मिश्र 'लालधुआँ'

मूल्य : २.००

●

श्री द्वारका प्रसाद, एम० ए०-प्रणीत

मानव-मन

मनोविज्ञान पर विद्वान लेखक की मौलिक कृति

मूल्य : ४.७५

हमारे आगामी प्रकाशन

●

महाकवि दण्डी-प्रणीत

दशकुमार-चरित

संस्कृत का सांस्कृतिक उपन्यास-शिल्प

अनुवादक : श्री हवलदार त्रिपाठी 'सहृदय'

●

फूल, सपने और वास्तव

कहानियों का संग्रह

लेखक : श्री राधाकृष्ण

●

नए चरण : नई दिशा

सर्जनात्मक निबन्ध

लेखक : प्रो० सिद्धनाथ कुमार

●

शिक्षा-शास्त्र-मंजूषा

लेखक : श्री तारकेश्वर प्रसाद सिन्हा

जिला शिक्षा पदाधिकारी, मुंगेर

●

हा: हा:-ही: ही:

लेखक : स्व० सरयू पंडा गौड़

बालोपयोगी कौतुक-कथायें

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड,

पटना-४

कम मोल की किताब की जरूरत और कारण

कम मोल की किताब की जरूरत अपने देश की हैसियत के नाते बहुत ही अधिक है। मगर साथ ही यह समझना बहुत ही जरूरी है कि विदेशों के न्यूजप्रिंट जैसे रद्दी कागज और गोंद-बँधाई वाली 'पढ़ा और फेंका' पाकेट-पुस्तकों का आदर्श इस मामले में यहाँ नहीं अपनाया जा सकता। कारण कि यहाँ कम दाम वाली और तिसपर हमेशा पढ़ने के लिए जुगाकर रखी जा सकने वाली किताबें चाहिएँ। विदेशों में अधिकतर पाठकों की हैसियत ऐसी होती है कि वे जिसे 'पढ़ा फेंका' सीरीज में पैसा फेंक कर पसन्द करते हैं, उसके मँहगे डिलक्स-संस्करण खरीद कर घर की लाइब्रेरी भी बसाते हैं। मगर, हमारे यहाँ के सरस्वती-भक्तों की ऐसी ही आर्थिक स्थिति है कि वे पढ़कर फेंक देने लायक लागत की मतलब की चीज शायद ही तलब करें। वे उसे भी जुगाकर रखना चाहते हैं—अतः उसे उनके इस मतलब के नाते जुगाकर रखने योग्य तो बनाना ही होगा। इस नाते अल्पमोली मगर कुछ टिकाऊ संस्करणों की ही अपने यहाँ आवश्यकता है। इस बात को पाकेट-बुक्स के कुछ गुरु प्रकाशकों ने समझा है और कुछ ने नहीं समझा है—इसीलिये यह बात कहनी पड़ रही है। सस्ता और अच्छा ही भारत का उचित व्यापार-सूत्र होना चाहिए। एशिया में इस मामले में, और-और उद्योगों में भी, जापान पुराना आदर्श रहा है। योरोप और अमरीकी देशों का अध्ययन करने जाकर वहाँ के ऐसे-वैसे उद्योगी-व्यापारी तरीकों को अपने यहाँ लागू करने से अधिक भला है कि एशिया के हम-हैसियत जापान-जैसे देशों से कुछ सीखा-अपनाया जाय।

यह तो सच है कि किताब को अल्पमोली करने के लिए उसके ज्यादा-से-ज्यादा संस्करण होने की जरूरत होती है। वह संस्करण बढ़ना पाठक बढ़ने पर निर्भर है। इसमें प्रकाशक की ही इकहरी जवाबदेही न होकर शिक्षालयों द्वारा शौक पैदा करने की ही अधिक जवाबदेही है। सरकार सस्ता संस्करण नहीं देने पर प्रकाशकों पर जो उलहना लादती है, तो उसे अपने ही शिक्षोत्थानवाले वसीले के आईने में अपना ही मुँह देखकर तब कुछ फरमाना चाहिए। मगर अल्पमोली करने की दूसरी व्यापारिक शर्तों पर सोच लेना प्रकाशकों का ही धर्म है। मसलन, टाइप-सजावट का वह तरीका कि जिससे कम जगह में सुन्दरता के साथ ज्यादे-से-ज्यादा मैटर दिया जाय जिससे कि कागज की बचत हो, फ्रांस से आनेवाले कम रंगों के या सिर्फ अक्षरी कवरों के तरीके से कुछ खास प्रसिद्ध पुस्तकों के विषय में बचत, बेव्यापाराना कमीशन का खात्मा, विदेशी रोजगारियों द्वारा अपनी सम्पन्नता के दबाव से बहुत सस्ती की हुई चीजों से अपना गला दबना न रोक सकने की किसी सांस्कृतिक-संबंध जैसी दुहाई की लाचारी झेल लेने पर भी अपने देश की सरकार द्वारा अपने देश में दी हुई खास-खास को छूट के द्वारा गैर-व्यापाराना तरीके के सस्तेपन के दबाव को रोकना, राष्ट्रीयकरण जैसी एकछत्रता के द्वारा देश में सस्ती और अच्छी चीज देने की अच्छी व्यापारिक होड़ को तोड़ देनेवाली चालों को समाप्त करना। व्यापारिक और नागरिक जैसे दो-दो अधिकार इस व्यवसाय के हर फर्द के पास हैं। साथ ही, मात्र इसी व्यवसाय को देश के विचारों एवं आचारों को स्वतंत्र और आत्मरक्षित रख सकने की जवाबदेही उठानी है। अतः इस मामले में अपने दोनों अधिकारों का, जरूरत पड़े तो, सख्त-से-सख्त इस्तेमाल कर इस व्यवसाय के देशीय लोगों को अपनी वह जवाबदेही पूरी करनी चाहिए।

'पुस्तक-जगत के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०.००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०.००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५.००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५.००
,, आधा पृष्ठ	:	२०.००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२.००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

जनवरी १९६२ के अंक के रूप में

'पुस्तक-जगत'

हिन्दी में राजनीति-साहित्य विशेषांक

[अ० भा० काँग्रेस के पटना-अधिवेशन के अवसर पर]

नियमतः हमें सितम्बर ६१ के अंक को विशेषांक के रूप में देना चाहिए था। किन्तु, उक्त अवसर और उक्त विषय के सम्बन्ध के प्रभाववश हमने यह निश्चय किया। अभिनन्दनीय पाठकों, लेखकों एवं सहयोगियों से आग्रह है कि इस विशेषांक में वे सभी हमें यथावत सहयोग देने की कृपा करें।

विशेष स्तम्भ

- विभिन्न भारतीय राजनीतिक दलों के प्रकाशित अपने-अपने साहित्यों पर प्रकाश।
- भारतीय आर्थिक पहलू और राजनीति, सामाजिक पहलू और राजनीति, विश्ववाद और राजनीति, न्याय और राजनीति, उद्योग और शिक्षा की वैयक्तिकता और राजनीति आदि विषयक पुस्तकों और निबन्धों का अलग-अलग आकलन।
- भारतीय राजनीति विषयक विश्वभारती, भारतभारती, पुस्तकालय-वाचनालय, कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) आदि स्थायी स्तम्भ।
- देश के माननीय राजनीति-मनीषियों और लेखकों के निबंध।

देश भर में प्रसारित इस संग्रहणीय अंक में

विज्ञापन के लिये आज ही स्थान सुरक्षित करायें

विज्ञापन-दर : केवल इस विशेषांक के लिये

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	७५·००	भीतरी पूरा पृष्ठ	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	७५·००	भीतरी आधा पृष्ठ	३०·००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	६०·००	भीतरी चौथाई पृष्ठ	१६·००

१/८ डबल क्राउन का मौजूदा आकार : सफेद कागज : बहुचित्रित छपाई, बृहद् रूप, विशेष सजधज

★

व्यवस्थापक 'पुस्तक-जगत'

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत

हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

: अंक २
. १९६१

प्रेमचंद-स्मृति-दिवस १९६१

इस पुनीत अवसर पर आज यह विज्ञापित करते हुए हमें बड़ा हर्ष है कि जिस एकान्त मनोयोग और अथक परिश्रम से अमृतजी पिछले पाँच वर्षों से प्रेमचंद की सम्पूर्ण प्रामाणिक जीवनी पर काम कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप ऐसी बहुत-सी सामग्री प्रकाश में आयी है जो अब तक पाठकों को उपलब्ध नहीं है और हिन्दी में पहली बार पुस्तक के आकार में छप रही है। इसमें पचास के ऊपर कहानियाँ और मुंशीजी के आरंभिक उपन्यास हैं जो किसी कारण से उर्दू से हिन्दी में रूपान्तरित होने से रह गये और जिनका उद्धार उर्दू की पचास-साठ साल पुरानी पत्रिकाओं से किया गया है। इसी तरह, साहित्यिक-सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर दर्जनों, कोड़ियों लेख हैं जो उन्हीं पुरानी पत्रिकाओं में खोये पड़े हैं। 'हंस' और 'जागरण' के लेख और विशद संपादकीय टिप्पणियाँ भी संकलित करके प्रकाशित की जा रही हैं। देश भर से एकत्र करके प्रेमचंद के पत्र भी दो भागों में प्रस्तुत हैं।

यह सब सामग्री हिन्दी में पहली बार आ रही है और इनके बिना प्रेमचंद का हर अध्ययन और हर पुस्तकालय अधूरा है

हंस प्रकाशन : ६३ जीरो रोड : इलाहाबाद

मन्त्रालय के वर्त्तनी-निर्णय पर विचार

श्री वागीश्वर

'प्रकाशन-समाचार' के अगस्त, '६१ के अंक में शिक्षा-मन्त्रालय की वर्त्तनी-समिति के निर्णय प्रकाशित हुए हैं। पढ़कर जैसी प्रतिक्रिया हुई है, उसकी अभिव्यक्ति आवश्यक हो गई है। शिक्षा-मन्त्रालय के प्रस्तुत निर्णय के बारे में कुछ कहने से पूर्व इसकी पृष्ठभूमि का उल्लेख करना आवश्यक होगा।

प्रकाशक-संघ ने एक उपसमिति मनोनीत की थी, जिसने लेखन-मुद्रण में एकरूपता-संबंधी एक प्रारूप निर्धारित किया था। वह प्रारूप अगस्त, '६० के 'प्रकाशन-समाचार', 'पुस्तक-जगत्' और 'हिन्दी-प्रचारक' में एक साथ छपा था। साथ ही प्रकाशक-संघ ने विद्वानों एवं भाषाविदों को सुझावों के लिए आमंत्रित किया था। तत्पश्चात् इन्हीं पत्रिकाओं में उक्त प्रारूप पर कई एक व्यक्तियों के विचार प्रकाशित होते रहे हैं; और मैं एक भाषा-प्रेमी के नाते उक्त तीनों पत्रिकाओं के अंकों को ढूंढ-ढूंढकर पढ़ता रहा हूँ। इसलिए उक्त सारी गति-विधियों का मैंने बारीकी के साथ अध्ययन किया है।

और, उस दिन अचानक मेरे एक मित्र ने कहा—'भई, तुम जिस खब्त में पड़े हो उसका अन्तिम निर्णय तो शिक्षा-मन्त्रालय की ओर से हो भी गया है।' और, उसने 'प्रकाशन-समाचार' का अंक मेरे हाथ में थमा दिया।

मैं सकते में आ गया। मैंने कहा—'क्या कहते हो भई, प्रकाशक-संघ के प्रारूप का फैसला शिक्षा-मन्त्रालय में कैसे हुआ? इसकी कोई दूसरी रूप-रेखा रही होगी।'

पर जब मैंने स्वयं वर्त्तनी-समिति के निर्णय को पढ़ा तो मुझे भी कहना पड़ा कि ये निर्णय, प्रकाशक-संघ के प्रारूप पर, और उसपर उक्त पत्रिकाओं में प्रकाशित अन्य विद्वानों के संशोधनों पर आधारित हैं।

अपने-आप में यह बुरी बात है या अच्छी, यह अलग प्रसंग है, और इसपर मुझे विचार नहीं करना है। यह प्रकाशक-संघ का विषय है। पर जो कुछ निर्णय हुए, उन्हें सारी पृष्ठभूमि को सामने रखकर देखें तो जो निष्कर्ष सामने आता है उससे हमें अपनी सरकारी मशीनरी पर खेद ही अधिक होता है। उसके प्रति कोई सद्भावना उभर कर नहीं आती। कारण?—यही कि शिक्षा-मन्त्रालय की वर्त्तनी-समिति ने अपने 'अन्तिम' निर्णय में प्रकाशक-संघ के प्रारूप पर प्रकाशित विविध संशोधनों को तोड़-मरोड़कर अधूरे रूप में प्रस्तुत किया है। इससे कहीं तो सम्यक् रूप से लाभान्वित ही नहीं हुआ जा सकता है, और कहीं गोल-मोल भाषा रहने से, नियम को जिधर चाहें उधर ही मोड़े जा सकने की गुंजाइश बनी रह जाती है।

नियमों की ऐसी ढुलमुल भाषा रखने का अभिप्राय क्या यह नहीं है कि इसके निर्णायक किसी भाषाविद् की ठीक जँचने वाली बात को पूरी तरह ग्रहण करने में अपनी हेठी समझ बैठे हैं? और, साथ ही, क्या यह अभिप्राय नहीं है कि वे कुछेक युनिवर्सिटियों के प्रभावशाली विभाग-ध्यक्षों की असंगत पड़ने वाली बात को काटने में हिचकिचा गए हैं, और बात को गोलमोल रखकर उभयपक्षीय समर्थन (?) के लोलुप हो गए हैं? यदि ऐसा है तो यह अत्यन्त शोचनीय बात है।

आइए, अब वर्त्तनी-समिति के निर्णयों पर थोड़ी गंभीरता से विचार करें।

(१) उक्त निर्णय की १, २, ३, ४ और ६—ये धारायें तो सामान्य ही हैं। पहली तीन में की तो कोई समस्या ही नहीं है। वस्तुतः ऐसा होता ही है।

(२) धारा ५ में द्वन्द्व समास के लिए और धारा ७ में तत्पुरुष समास की विशिष्टावस्था के लिए हाइफन (-) का विधान किया गया है।

इससे पूर्व प्रकाशक-संघ द्वारा प्रचारित प्रारूप में पृथक्-पृथक् अवस्थाओं के कुछ समस्त शब्द गिनाकर उनको एक शिरोरेखा में रखने या उनमें हाइफन डालने का विधान प्रस्तुत किया गया था। इसपर पं० बलराम शास्त्री (पुस्तक-जगत, सितम्बर, ६०), पं० गोपालचन्द्र चक्रवर्ती (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर '६०) आदि कुछेक विद्वानों ने आपत्ति की थी और उन्होंने ऐसे शब्दों में

समास की दृष्टि से निर्णय का सुझाव दिया था। तत्पश्चात् 'प्रकाशन-समाचार' के नवम्बर, '६० के अंक में पृ० १२४ पर श्री कृष्ण विकल ने इस समस्या पर, समास की दृष्टि से, भेद-उपभेदों को दृष्टि में रखकर, विस्तार से प्रकाश डाला। ऐसे शब्दों के बारे में उनका आग्रह है कि हिन्दी भाषा में "समस्त शब्दों की समस्तता तबतक अखंडित रहेगी जबतक उन्हें एक शिरोरेखा में रखा जायगा अथवा उन्हें युग्मरेखा (-) से सम्बद्ध किया जायगा।" किन्तु इसके विपरीत, भारतीय हिन्दी-परिषद् की वर्त्तनी-समिति के विद्वानों—डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, डॉ० हरदेव बाहरी, डॉ० रघुवंश—का विचार है कि "हिन्दी की मूल प्रकृति विश्लेषणात्मक है, संस्कृत के समान संश्लिष्ट नहीं।" फलतः वे पहले विचारकों के इस विचार से तो सहमत हैं कि अव्ययीभाव (कुछेक अपवादों को छोड़कर), बहुव्रीहि और द्विगु में, अनिवार्य रूप में, समस्त पदों को एक शिरोरेखा में रखा जाए; और वे इस विचार से भी सहमत हैं कि 'भूदेव', 'नरपति' आदि छोटे-छोटे समस्त शब्दों को; एवं उन समस्त शब्दों को, जिनका या तो 'पहला तत्त्व' विकृत हो, या 'अपने मूल रूप' में हों, एक शिरोरेखा में रखा जाए। किन्तु जहाँ पहले विचारक तत्पुरुष समास में, आवश्यकतानुसार, 'साहित्य-समारोह', 'शब्द-चमत्कार' आदि लम्बे-लम्बे समस्त शब्दों में, हाइफन का विधान उचित मानते हैं, वहाँ दूसरे विचारक पृथक् करना अधिक उचित मानते हैं। वे ऐसे शब्दों को एक शिरोरेखा में देना नहीं चाहते; और ऐसा पहले विचारक भी नहीं चाहते। फिर यहाँ अन्तर केवल इतना ही है कि पहले विचारक ऐसे शब्दों में पारस्परिक सम्बद्धता बनाए रखने के विशेष आग्रही हैं, जबकि दूसरे विचारक यहाँ, हिन्दी की विश्लेषणात्मक प्रकृति के विचार से, पृथक्-पृथक् रखने में अनौचित्य नहीं देखते। वैसे, यह तो वे भी मानते हैं कि 'सिगरेट केस' और 'देख भाल' आदि शब्दों को ऐसे भी लिखा जा सकता है—'सिगरेट-केस' 'देख-भाल' आदि (प्रकाशन-समाचार, फरवरी, '६१, पृ० ३००)। और, फिर जहाँ तक कर्मधारय के विशेषण-विशेष्य-उदाहरणों का प्रश्न है, सामान्य विशेषण-विशेष्यों को तो श्री कृष्ण विकल ने भी नहीं लिया। वे 'लालमिर्च', 'शीतयुद्ध' आदि शब्दों को मिलाकर रखने की बात करते हैं। ऐसे शब्दों को, दूसरी कोटि के विद्वानों के अनुसार, मेरे विचार से, पृथक् भी रखा जाए तो किसी को कोई विशेष एतराज नहीं होगा।

इससे यह सिद्ध होता है कि समास की दृष्टि से विचार करते हुए उभयपक्षीय विचारकों में कोई बहुत बड़ा अन्तर नहीं रह गया। कुछ अन्तर है तो यही कि पहला पक्ष कुछ अधिक सख्ती का पक्षपाती है, और दूसरा कुछ ढील का।

अब शिक्षा-मन्त्रालय के निर्णय की ओर देखिए। उसके निर्णय के अनुसार "तत्पुरुष समास में हाइफन का प्रयोग केवल वहाँ किया जाए, जहाँ उसके बिना भ्रम होने की संभावना हो, अन्यथा नहीं।" 'भ्रम' होने की संभावना कहाँ है, यही समझ में नहीं आया। क्या उसका आशय कृष्ण विकल की इस उक्ति में निहित है?—"''''तत्पुरुष समास में न तो अपरिहार्य रूप से युग्मरेखा का विधान ही किया जा सकता है, और न ही बहिष्कार। इसके विपरीत, दृष्टि ही प्रमाण है। इसके मूल में यही सिद्धांत काम करता है कि समस्त पद घुले-मिले हों तो एक शिरोरेखा में दे देने चाहिएँ। और यदि अप्रचलित या लम्बे-लम्बे समस्त पद हों तो सुविधा के लिए उनमें हाइफन का प्रयोग करना चाहिए" (प्रकाशन-समाचार, नवम्बर, '६०)। और यदि यही आशय है तो कितना अस्पष्ट है! और फिर तत्पुरुष की अन्यान्य दशाओं के बारे में क्या ध्वनित होता है कि शेष दशाओं में अलग रखें या मिलाएँ? और फिर यही सोचिए न, कि भ्रम वाली दशाएँ कौन-सी हैं? उनका एक उदाहरण भी तो नहीं दिया!

इसके अलावा द्वन्द्व समास के बारे में उन्होंने जो हाइफन लगाने की बात कही है वह बहुसम्मत है, पर इसमें भी उन्होंने भारतीय हिन्दी-परिषद् के एक पाइंट का ध्यान नहीं रखा। इस नियम में उन्हें यह बात समाविष्ट करनी चाहिए थी कि जहाँ द्वन्द्व समास तीन शब्दों का होगा, वहाँ हाइफन नहीं लगेगा। जैसे—राम, लक्ष्मण, भरत। जहाँ दो शब्द होंगे, वहाँ हाइफन आएगा। जैसे—राम-लक्ष्मण, राम-भरत या भरत-लक्ष्मण आदि।

द्वन्द्व और तत्पुरुष के अलावा दूसरे समासों में शिक्षा-मन्त्रालय का क्या निर्णय है? वे शेष सभी समासों में मिलाने के पक्ष में हैं या कहीं उन्हें अपवाद रखना भी अभीष्ट है—इस बारे में वे चुप क्यों हैं? क्या वे कर्मधारय के उपमान-उपमेय के उदाहरण में 'चरण-कमल' और 'मुख-चन्द्र' आदि एक शिरोरेखा में देना चाहते हैं या हाइफन से, या पृथक्-पृथक्?

इसी प्रकार अव्ययीभाव समास में क्या वे 'प्रतिदिन' और 'हर रोज' आदि समस्त शब्दों को मिलाने के पक्ष में हैं या पृथक्-पृथक् रखने के पक्ष में? इसके बारे में वे चुप्पी लगा गए! आखिर क्यों?

(३) शिक्षा-मन्त्रालय की धारा ८ में क्रिया, विशेषण, अव्यय ('गए', 'नई', 'चाहिए') आदि सभी शब्दों में स्वरान्तक रूप ग्रहण किए गये हैं।

इससे पूर्व 'प्रकाशक-संघ' ने अपने प्रारूप में प्रधान क्रिया-शब्दों और 'विशेषण'-शब्दों के लिए 'गये' 'नयी' आदि रूप की सिफारिश की थी, साथ ही संयुक्त क्रियाओं में 'गौण' क्रिया-शब्द के लिए तथा अव्यय-शब्द के लिए स्वरान्तक रूप ग्रहण करने का आग्रह किया था। इसपर डॉ॰ नगेन्द्र ने यह संशोधन प्रस्तुत किया कि संयुक्त क्रियाओं में गौण क्रिया के लिए भी प्रधान क्रिया जैसा रूप रखा जाना चाहिए। अर्थात्—'हँसते गये' और 'उठायी गयी' ही होना चाहिए; 'हँसते गए' और 'उठाई गई' नहीं (प्रकाशन-समाचार, अगस्त, '६०)। श्री हर्षनारायण ने भी इसी पक्ष का समर्थन किया है (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर, '६०, पृ॰ १७)। पं॰ गोपालचन्द्र चक्रवर्ती ने भी 'गया' से 'गये' 'गयी' आदि रूपों को ही हिन्दी में शुद्ध माना, और 'लिए' आदि अव्ययों के लिए स्वरान्तक रूप का विधान स्वीकार किया (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर, '६०, पृ॰ ६)। इसी प्रकार श्री सियाराम तिवारी ने भी इस समस्या में डॉ॰ नगेन्द्र के पक्ष का समर्थन किया (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर, '६०, पृ॰ १४-१५) और पं॰ बलराम शास्त्री ने यह विचार प्रस्तुत किया कि किसी भी स्थिति में "धातु-रूप के परसर्ग के अन्तिम यकारापात का 'ए' या 'ई' में लाघव करना निरर्थक और साथ-ही-साथ निर्नियम भी है।" उनके

विचार से, कैसी भी क्रिया हो—चाहे वह आज्ञार्थक, सम्भावनार्थक, अथवा आदरसूचक भी क्यों न हो—सब जगह यकारी प्रत्ययों में ही रूप रहने चाहिए; अर्थात् 'आइये', 'खायेगा' आदि रूप शुद्ध हैं। उनके विचार से अव्यय, विशेषण आदि शब्दों के रूप भी 'चाहिये' और 'नये' आदि शुद्ध हैं (पुस्तक-जगत, सितम्बर, १९६०)।

ऐसी स्थिति में जबकि इतने विद्वानों का मत 'गये' 'नयी' आदि रूप रखने का था (जो कि मेरे विचार से हिन्दी की प्रकृति के अनुकूल भी था) तो शिक्षा-मन्त्रालय को इस विषय में निर्णय करते समय अपेक्षाकृत अधिक गंभीरता से विचार करने की आवश्यकता थी।

(४) शिक्षा-मन्त्रालय के उक्त निर्णय की धारा १० में 'महान', 'विद्वान' आदि कुछेक शब्दों को छोड़कर शेष सामान्यतः सभी शब्दों को संस्कृत रूप में लिखने की सिफारिश की गई है।

प्रकाशक-संघ ने 'महत्व', 'कर्तव्य', 'उज्वल', 'तत्व', 'द्वन्द्व' आदि विकृत रूप प्रचलित करने की सिफारिश की थी।

साथ ही भगवान्, महान्, विद्वान्, किंचित्, पृथक्, आदि शब्दों में, संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार, हलंत का प्रयोग करने का ही आग्रह किया था। इस पर डॉ० नगेन्द्र ने भी यही पक्ष प्रस्तुत किया था कि जिन शब्दों का हिन्दी में संस्कृतत्व लुप्त हो चुका है, उन शब्दों का संस्कृतवत् प्रयोग न किया जाए। वे शायद (?) किंचित्, पृथक्, महत्त्व, तत्त्व के स्थान पर 'किंचित', 'पृथक', 'महत्व', 'तत्व'—ये रूप रखना चाहते थे (प्रकाशन-समाचार, अगस्त '६०)। डॉ० इन्द्रनाथ मदान ने भी इसी आशय की पुष्टि की थी। उनके शब्दों में "संस्कृत व्याकरण के नियमानुसार हलंत का यथास्थान प्रयोग करने से कोई लाभ नहीं है, हानि है; महान् के स्थान पर 'महान', जगत् के स्थान पर 'जगत' और किंचित् के स्थान पर 'किंचित' होना चाहिए ('पुस्तक-जगत', सितम्बर, १९६०)। किन्तु इसके विपक्ष में पं० गोपालचन्द्र चक्रवर्ती ने 'तत्त्व', 'सत्त्व', 'महत्त्व', 'उज्ज्वल' आदि रूप ही शुद्ध माने; साथ ही 'भगवान', 'किंचित', 'पृथक' आदि शब्दों में हल् चिह्नों को अनावश्यक बताया (हिन्दी-प्रचारक, सितम्बर '६०)। और, पं० बलराम शास्त्री ने यह सुझाव दिया कि 'महान्', 'विद्वान्' आदि अनेकाकारी शब्दों और किंचित्', 'पृथक्' आदि एकाकारी अव्ययों पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करना चाहिए। भारतीय हिन्दी-परिषद् ने भी महत्त्व, उज्ज्वल, तत्त्व आदि रूपों के साथ-साथ विद्वान्, महान् आदि संस्कृत-रूपों को ही प्रश्रय दिया (प्रकाशन-समाचार, फरवरी' ६१)।

इस समस्या पर श्री कृष्ण विकल का तो एक स्वतन्त्र लेख 'पुस्तक जगत' के नवम्बर,' ६० के अंक में छपा। उसमें विस्तार के साथ संस्कृत शब्दों के स्वरूप-निर्णय पर प्रकाश डाला गया। उनका आग्रह है कि "संस्कृत के किसी शब्द का रूप-परिवर्त्तन करने से पहले यह देखना आवश्यक है कि अमुक शब्द के बदलने पर कोई ऐसी नई अड़चन तो नहीं खड़ी हो जाएगी जिसका परिणाम दूर तक जा सकता है।" और, इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने जगत्, पृथक्, साक्षात्, भगवत्, श्रीमत्, विद्वत्, महत् आदि रूपों को ही प्रश्रय दिया; ताकि जगन्नाथ, पृथक्करण, साक्षात्कार, भगवद्गीता, श्रीमच्चरण, विद्वज्जन, महद्धाम आदि को समझने में कोई दुविधा न हो। किन्तु साथ ही उक्त लेख में भगवान, महान, विद्वान, विराट आदि रूप रखने का आग्रह किया गया है, क्योंकि हिन्दी में ये शब्द दोनों लिंगों में धड़ल्ले से प्रयुक्त होते हैं, और ऐसा करने से कोई दूरगामी दुष्प्रभाव भी नहीं पड़ता।

शिक्षा-मन्त्रालय की वर्त्तनी-समिति ने भी इस सम्बन्ध में जो निर्णय किया है वह कृष्ण विकल के निष्कर्ष से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। किन्तु यहाँ निर्णय को और अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता थी कि क्या उन्हें जगत्, पृथक्, साक्षात्, महत् आदि उक्त रूप ग्राह्य हैं अथवा इनके हलंत-रहित रूप; क्योंकि उनके निर्णय में लिखा गया है कि "जिन शब्दों के प्रयोग में हिन्दी में हलंत-चिह्न लुप्त हो चुका है उनमें उसको फिर से लगाने का प्रयत्न न किया जाए; जैसे—महान, विद्वान आदि में।" यहाँ "महान, विद्वान आदि में, 'आदि' शब्द क्या भ्रम नहीं उत्पन्न करेगा? इस विषय को इस रूप में deal करना उचित न था, क्योंकि किसका हलंत-चिह्न लुप्त हो चुका है और किसका नहीं; यह तो अपने आप में ही विवादास्पद प्रश्न है। वस्तुतः दूरगामी प्रभाव का उल्लेख करते हुए निर्णय किया जाता तो अधिक संगत रहता।

(५) शिक्षा-मन्त्रालय की वर्त्तनी-समिति के निर्णय की धारा १२ में, जहाँ चन्द्रबिन्दु लगाये जा सकते हैं वहाँ प्रयोग करने की सिफारिश की गई है।

प्रकाशक-संघ के प्रारूप में भी इसी प्रकार का सुझाव प्रस्तुत किया गया था। किन्तु प्रश्न यह है कि वर्तमान स्थिति में चन्द्रबिन्दु का पूरा लाभ हिन्दी में, नागरी लिपि में, प्राप्त नहीं किया जा सकता। हमें चन्द्रबिन्दु के शत-प्रतिशत सही उच्चारण को लिपिबद्ध कर सकने का कोई हल ढूँढ़ना चाहिए था।

(६) उक्त निर्णय की धारा १५ में अंग्रेजी के जिन शब्दों में अर्ध-विवृत 'ऑ' ध्वनि का प्रयोग होता है, उनके शुद्ध रूप को लिखने के लिए अर्ध-चन्द्र (ॅ) का संकेत लगाने की सिफारिश की गई है।

प्रकाशक-संघ के प्रारूप में भी ऐसा ही सुझाव दिया गया था, किन्तु साथ ही 'ə' के विशिष्ट उच्चारण को सही रूप में बाँधने के लिए न तो प्रकाशक-संघ के प्रारूप में

ही संकेत दिया गया है, और न ही मन्त्रालय की निर्णय-समिति ने उल्लेख करने का कष्ट किया है। जबकि 'पुस्तक-जगत' के जनवरी '६१ के अंक में एक लेख में इस प्रश्न को भी प्रारूप में शामिल करने की जोरदार अपील की गई थी और समस्या का एक हल भी प्रस्तुत किया गया था।

संक्षेप में, वर्त्तनी-समिति के हाल ही में दिये गये निर्णयों को उक्त पृष्ठभूमि पर रखकर देखते हैं तो सहसा ही श्री अनन्तगोपाल शेवड़े का एक कथन याद हो आता है—"जो सोचते हैं, विचारते हैं, चिन्तन करते हैं; उनकी समाज में या देश में कोई प्रतिष्ठा नहीं है।' सभी गुण शासन में समाहित हैं, और सत्ता की परिधि से बाहर कुछ भी नहीं है—ऐसी धारणा (हमारे देश में) बल पकड़ती जा रही है।" (भग्न-मन्दिर, पृ० २८४)।

उक्त धारणा को प्रश्रय देते जाना निस्संदेह राष्ट्र के लिए हानिकारक होगा; अतः मेरा विश्वास है कि निर्णायकगण इन त्रुटियों का ठंडे मन से परीक्षण करके उनमें यथोचित संशोधन करने में संकोच नहीं करेंगे और भविष्य में अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाएँगे। इससे राष्ट्रभाषा का बहुत हित होगा।

ब्लाक नं० १२, क्वार्टर नं० १०,
पन्त नगर, जंगपुरा,
नई दिल्ली-१४

★

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह : मनाने की योजना

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ द्वारा प्रचारित

लक्ष्य—पुस्तकें महान् आत्माओं के सन्देश की वाहक होती हैं। मनुष्य के बौद्धिक विकास के लिए पुस्तकों की वृद्धि आवश्यक है। बौद्धिक विकास एक-दूसरे के विचारों को समझाता तथा मानव-मात्र के भ्रातृत्व का मार्ग प्रशस्त करता है। आज के समाज में, जो अनेक प्रतिकूल सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों में जकड़ा हुआ है, इस भावना को विकसित करने की बहुत आवश्यकता है। आज के मानव को, जो घोर व्यस्तता का जीवन व्यतीत कर रहा है और जिसका परिणाम उन्मादग्रस्त अविश्रान्ति है, थोड़ी शान्ति प्रदान करने के लिए भी यह भावना आवश्यक है।

विदेशों में पुस्तकों का प्रचार—विदेशों में राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह राज्य-स्तर पर मनाए जाते हैं। उन्हें सफल बनाने के लिए राष्ट्र की सभी सरकारी तथा गैर-सरकारी संस्थाएँ काम में जुट जाती हैं। ऐसे अवसरों पर विशिष्ट तथा सामान्य रुचियों की सभी प्रकार की पुस्तकों का व्यापक प्रचार किया जाता है, जिससे पुस्तकें उनके जीवन का एक आवश्यक अंग बन जाएँ। समारोह को सफल बनाने के लिए प्रकाशक, मुद्रक, पुस्तक-विक्रेता तथा पुस्तकालय-संघ, सब मिलकर अपने-अपने देश की सरकारों के सहयोग से कार्यक्रम तैयार करते हैं।

शान्ति-स्थापन के लिए पुस्तकों का विकास आवश्यक—भारत सभ्यता का केन्द्र रहा है। उसका इतिहास गौरवमय रहा है और वह सदा से मानव की भलाई के लिए ज्ञान का प्रचार करता रहा है। किन्तु उस पर अनेक मुसीबतें आईं और वह दो सौ साल से अधिक काल तक विदेशी दासता की जंजीर में जकड़ा रहा, जिसका परिणाम यह हुआ कि ज्ञान का स्वतन्त्र प्रवाह अवरुद्ध हो गया है। किन्तु, अब राष्ट्रीय सरकार के जनतान्त्रिक सिद्धान्तों के कारण जो मुक्त वातावरण तैयार हो गया है, उससे देश में पुस्तक-विकास सप्ताह मनाने की तीव्र भावना उत्पन्न हो गई है जिससे भारत भी उन देशों के समक्ष, जो मानव-मात्र में भ्रातृत्व की भावना पैदा करने के निमित्त शान्ति-स्थापना का प्रयास कर रहे हैं, अपने विचार रख सके, और योगदान कर सके। विभिन्न ग्रहों पर पहुँचने के लिए अन्तरिक्ष में जो उड़ानें की जा रही हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि सम्पूर्ण विश्व एक है और वह इस बात का भी संकेत करता है कि हम विश्वराष्ट्र-युग के प्रवेश-द्वार पर खड़े हैं।

पुस्तक-विकास-योजना भारत सरकार द्वारा प्रेरित—भारत सरकार ने प्रकाशकों, मुद्रकों तथा पुस्तक-विक्रेताओं के साथ मिलकर संयुक्त रूप से पुस्तक-विकास सप्ताह मनाने का निर्णय किया है।

भारत सरकार की अपील पर अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह को अखिल भारतीय स्तर पर संघटित करने का काम सक्रिय रूप से कर रहा है।

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह कैसे मनाया जाए ?

राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह जिन सिद्धान्तों के आधार पर मनाया जाएगा, वे निम्नलिखित हैं—

(१) पाठकवर्ग को प्रोत्साहित करना तथा उसकी संख्या बढ़ाना।

(२) अप्रकाशित नाटकों तथा उच्चकोटि के नाटकों के अभिनय द्वारा सांस्कृतिक समारोह आयोजित करना।

(३) प्रकाशकों, पुस्तक-विक्रेताओं तथा मुद्रकों की ओर से संयुक्त रूप से सार्वजनिक सभाएँ आयोजित करना और उनमें यह बताना कि पुस्तकें तैयार करने में अलग-अलग वे क्या भूमिका अदा करते हैं।

(४) पुस्तक-गोष्ठियाँ तथा पुस्तकालय संघटित करने का आन्दोलन चलाना और केन्द्रीय सरकार तथा राज्य सरकारों की संयुक्त सहायता से विशेष छूट देने की सुविधा प्रदान करना।

(५) पारिवारिक पुस्तकालय-आन्दोलन संघटित करना और विशेष पुस्तक-कूपन जारी करना।

(६) लोकप्रिय पुस्तकों के सस्ते संस्करण तथा उच्चकोटि के ग्रन्थ सस्ते दाम पर उपलब्ध करना और किसी विषय का पूरा सैट खरीदने पर प्रोत्साहन के तौर पर किताबें रखने के लिए रैक तथा आलमारियाँ देना।

(७) लेखकों, पढ़ने में सर्वाधिक रुचि रखने वाले पाठकों, मुद्रकों तथा प्रकाशकों को इस क्षेत्र में उनके योगदान के अनुसार पुरस्कृत करना।

(८) शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं से सहयोग का अनुरोध करना।

(९) पुस्तक-व्यापार पर विशेष स्मृति-पत्र प्रकाशित करना।

(१०) विभिन्न शहरों, विशेषकर राजधानियों में प्रदर्शनियाँ आयोजित करना।

(११) पुस्तक-विक्रेताओं, प्रकाशकों तथा मुद्रकों के संस्थानों को उचित नारों, रंग-बिरंगी झंडियों आदि से सजाना, जिससे जनसाधारण का ध्यान आकर्षित हो।

(१२) पुस्तकों के विकासार्थ स्थानीय समितियाँ संघटित करने के लिए सभी संस्थाओं तथा जनसाधारण के हाथ 'पुस्तक-झंडियाँ 'तथा' टिकट' बेचना।

(१३) पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए चलचित्रों, दीवारों आदि पर चिपकाने के लिए विज्ञापन-पत्रों तथा आकर्षण की अन्य वस्तुओं की व्यवस्था करना।

(१४) वयस्कों तथा बालक-बालिकाओं में ऐसी आदत विकसित करना जिससे वे जीवन-भर कुछ-न-कुछ पढ़ते रहें।

(१५) पाठकों की संख्या, उनके पते तथा उनकी रुचियों के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखना।

(१६) केन्द्रीय सरकार से निम्नलिखित सुविधाओं के लिए माँग की जा सकती है—

(क) आकाशवाणी द्वारा पुस्तक-सप्ताह मनाया जाए।

(ख) इस अवसर की स्मृति में विशेष डाक-टिकट जारी किये जाएँ।

(ग) पुस्तकालय-आन्दोलन के लिए आर्थिक सहायता दी जाए।

(घ) राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह को प्रोत्साहित करने वाले विशेष वृत्तचित्र दिखाए जाएँ और प्रदर्शनियाँ संघटित की जाएँ।

(ङ) रेल-मन्त्रालय से निम्नलिखित सुविधाओं के लिए अनुरोध किया जाए—

(१) प्रदर्शनी-रेलें चलाई जाएँ जो विभिन्न शहरों में घूम-घूमकर पुस्तकों का प्रचार करें।

(२) रेलवे स्टेशनों पर विज्ञापन-पत्र लगाने की अनुमति दी जाए।

(३) उक्त कार्यों में भाग लेने वालों के लिए किराये आदि में रियायत की जाए।

(१) पाठक-वर्ग को प्रोत्साहित करना तथा उसकी संख्या बढ़ाना।

यह आन्दोलन नारों द्वारा आरम्भ किया जाए—पुस्तक विशिष्ट रुचि वाले व्यक्तियों के लिए तथा जन-साधारण के लिए, पुस्तक चिह्नांकन-पत्र तथा निम्नलिखित नारों के विज्ञापन-पत्र, जैसे—

(क) जागिए और पढ़िए।

(ख) प्रकाशकों तथा मुद्रकों के लिए—'जो व्यक्ति अध्ययन करता है वह दो के बराबर है।'

(ग) पुस्तक-विक्रेताओं के लिए—'जो आप स्वयं अनुभव नहीं कर सकते उसे पढ़िए।'

(घ) गृहिणियों के लिए—'पुस्तकें भी पौष्टिक होती हैं—भोजन के बाद पुस्तक।'

(ङ) यात्रा-एजेंसियों तथा स्टेशनों के लिए—'पुस्तक यात्रा को आनन्दमय बनाती है।'

(च) डाकखानों के लिए—'अपने अभिनन्दन के साथ एक पुस्तक भेज रहा हूँ।'

(छ) होटलों के लिए—'पुस्तक है, तो आप अकेले नहीं हैं।'

(ज) प्राथमिक स्कूलों के लिए—'पुस्तक से मनोरंजन कीजिए।'

(झ) माध्यमिक स्कूलों, पेशेवरों तथा विश्वविद्यालयों के छात्रों के लिए—'बिना अध्ययन के सच्ची सभ्यता नहीं।'

(ञ) पाठकों को निम्नलिखित विषयों की पुस्तकों में से सर्वोत्तम पुस्तकों का चुनाव करने पर योग्यता-क्रम के अनुसार पारितोषिक दिये जाएँ—

(१) कला और साहित्य, (२) उपन्यास और कथा-साहित्य, (३) कई अन्य वर्ग।
इन पुस्तकों के सम्बन्ध में निर्णय कुछ अवधि के बाद प्रकाशित किये जाएँ।

(ट) पाठकों को पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहन दिया जाए।

(ठ) सभी वर्गों के लोगों के लिए प्रकाशन-कार्यक्रम तैयार किये जाएँ।

(२) अप्रकाशित तथा उच्चकोटि के नाटकों को अभिनीत कर सांस्कृतिक समारोह आयोजित करना।

प्रख्यात लेखकों के नाटकों को अभिनीत करना और अप्रकाशित नाटकों को प्राथमिकता देना।

विशेषज्ञों की एक समिति अप्रकाशित नाटकों की पाण्डुलिपियों की जाँच करे, ऐसी कृतियों की सूची तैयार करे और उनके प्रकाशन अथवा उन्हें अभिनीत करने के सम्बन्ध में अपनी रिपोर्ट दे।

(३) प्रकाशकों, पुस्तक-विक्रेताओं तथा मुद्रकों की ओर से संयुक्त रूप से सार्वजनिक सभाएँ आयोजित करना और उनमें यह बताना कि वे पुस्तक तैयार करने में अलग-अलग क्या भूमिका अदा करते हैं।

ये सभाएँ किसी प्रख्यात लेखक या प्रकाशक या मुद्रक द्वारा आयोजित की जानी चाहिएँ, जिनमें मुख्यतः इन विषयों पर विचार-विमर्श होना चाहिए—पुस्तक-व्यापार पर विचार-गोष्ठियाँ; स्वतन्त्र भारत में पुस्तक-व्यापार की भूमिका; पुस्तक-विकास की समस्याएँ तथा उनके हल के उपाय; लेखकों, मुद्रकों तथा प्रकाशकों का पारस्परिक सम्बन्ध तथा चित्रों की डिजाइनें।

इन व्यापारों से सम्बन्धित विभिन्न संघों को इसे सफल बनाने में हाथ बटाना चाहिए।

(४) पुस्तक-गोष्ठियाँ तथा पुस्तकालय संघटित करने का आन्दोलन चलाना और केन्द्रीय सरकार तथा राज्य-सरकारों की संयुक्त सहायता से विशेष छूट देने की सुविधा प्रदान करना।

पुस्तक-गोष्ठियों तथा पुस्तकालयों का संघटन पुस्तक-विकास-कार्यक्रम का मुख्य अंग है। सार्वजनिक पुस्तकालयों में किताबों की जितनी अधिक खपत होगी, उतनी ही उनकी माँग बढ़ेगी। पुस्तकालयों तथा पुस्तक-गोष्ठियों का संघटन सामाजिक कार्य का एक अंग है। इनका संघटन पाठकों की संख्या के आधार पर होना चाहिए। बालक-बालिकाओं तथा वयस्कों के लिए पुस्तकों का वर्गीकरण करने की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। बच्चों के अन्दर पुस्तकें पढ़ने की आदत पैदा करना प्रथम लक्ष्य होना चाहिए। इससे पुस्तक-विकास-कार्यक्रम को भविष्य में आगे बढ़ाने में सहायता मिलेगी।

बच्चों को पढ़ने के लिए पर्याप्त किताबें उपलब्ध होनी चाहिएँ। पुस्तक-गोष्ठियों तथा पुस्तकालयों के विकास के लिए सरकार को समान शर्तें तथा नियम बनाने चाहिएँ।

पाठकों की गणना होनी चाहिए। उनकी जीवनचर्या, उनकी पसन्द तथा उनके मनोरंजन के तरीकों का अध्ययन होना चाहिए। कितनी जनसंख्या पर एक पुस्तक-गोष्ठी तथा एक पुस्तकालय होंगे, यह निर्धारित कर देना चाहिए।

पुस्तकालयों के लिए ऐसी भूमि, जिसमें खुली जगह भी हो, प्राप्त करने तथा इमारतें बनाने की सुविधाएँ मिलनी चाहिएँ। इमारतें ऐसी होनी चाहिएँ कि भविष्य में उनका विस्तार किया जा सके। विभिन्न श्रेणी के पुस्तकालयों के नकशे तैयार किये जाने चाहिएँ और सरकार की अनुमति के बाद ही उन्हें कार्यान्वित करना चाहिए।

(५) पारिवारिक पुस्तकालय-आन्दोलन संघटित करना तथा विशेष पुस्तक-कूपन जारी करना।

पारिवारिक पुस्तकालय पुस्तक-विकास-कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग है। दक्षिण भारत में गृह-पुस्तकालय-योजना का प्रयोग किया जा रहा है। 'पारिवारिक पुस्तकालय' की योजना 'आन्ध्र प्रदेश पुस्तक-वितरक' ने मई सन् १९६० में चलाई। अबतक लगभग ३५०० व्यक्ति इस योजना की ओर आकर्षित हुए हैं। ये अठारह मास तक ५ रुपये मासिक देते हैं। इस प्रकार ये कुल ९० रुपये देते हैं जिसके बदले इन्हें सौ रुपये की अपनी पसन्द की पुस्तकें मिलती हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें ६ पुस्तकें तथा मासिक-पत्रिका की अठारह प्रतियाँ मुफ्त मिलती हैं। डाक-खर्च आदि भी नहीं लिये जाते। जो लोग अठारहों किश्त दे चुकते हैं उन्हें जीवन-भर के लिए पाँच अतिरिक्त सुविधाएँ दी जाती हैं जिनमें 'आन्ध्र प्रदेश पुस्तक-वितरक' द्वारा वितरित की जाने वाली पुस्तकों पर दस प्रतिशत छूट तथा कुछ ऐसी सुविधाएँ भी शामिल हैं, जिनसे वी० पी० पी० का खर्च बचाया जा सके।

सर्वेक्षण से कुछ अन्य रोचक बातें भी मालूम हुईं। एक तो यह पता चला कि उक्त योजना से लाभ उठाने वाले व्यक्तियों में से बहुत अधिक लोग ऐसे स्थानों में रहते हैं, जहाँ किताब की दूकानें हैं ही नहीं। हर चार में एक व्यक्ति ऐसी जगह में रहता है जहाँ दस मील की दूरी तक किताब की दूकान नहीं है।

अनुभव से पता चला है कि इन व्यक्तियों को ग्राहक बनाने में साप्ताहिक पत्रिकाओं में विज्ञापन देना बहुत प्रभावकारी सिद्ध हुआ है। ३५०० से अधिक ग्राहकों में से ३००० व्यक्ति केवल एक तेलुगु साप्ताहिक पत्रिका में विज्ञापन पढ़कर ग्राहक बने। एक पुस्तक की दो हजार प्रतियाँ फरवरी १९६० में प्रकाशित की गईं। किन्तु, परिवारिक पुस्तकालय-योजना के अन्तर्गत बने ग्राहकों की माँग के कारण इस पुस्तक की सारी प्रतियाँ अगस्त १९६० में ही बिक गईं जिन्हें बिकने में सामान्यतः दो वर्ष लगते।

आन्ध्र के एक छोटे-से गाँव से एक महिला ग्राहक लिखती है — आप सम्भवतः इस बात की कल्पना नहीं

कर सकते कि हमारे इस छोटे-से गाँव में आपकी पुस्तकों के आने से मेरे ऊपर क्या प्रभाव पड़ा है। आपने अन्धकार में प्रकाश ला दिया है।'

पारिवारिक पुस्तकालय एक अभिनव प्रयास है। वह अभी बाल्यावस्था में है और उसने एक वर्ष भी पूरा नहीं किया है। अभी बहुत-सी संघटन तथा व्यवस्था-सम्बन्धी समस्याएँ हल करने को हैं।

"जो भी हो, एक बात बिलकुल स्पष्ट है कि पुस्तकों की माँग बहुत है। मुख्य समस्या यह है कि पाठकों को उनकी आर्थिक क्षमता के अनुसार पुस्तकें किस प्रकार उपलब्ध की जाएँ। पारिवारिक पुस्तकालय-योजना की अबतक की सफलता ने यह सिद्ध कर दिया है कि दूर-दर्शिता तथा लगन द्वारा इस कार्य में सफलता प्राप्त की जा सकती है। ऐसी स्थिति में, आन्ध्र में पारिवारिक पुस्तकालय-योजना का विस्तार-कार्य उन सबके देखने योग्य है जो पुस्तकों के विकास में रुचि रखते हैं।"

(देखिए--राष्ट्रसंघीय शैक्षिक, वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक संघटन का सूचना-पत्र, भाग ३, नं० १, अप्रैल, १९६१, 'दक्षिण भारत के लिए नई पुस्तक-योजना'—लेखक आर्थर आइसेनबर्ग, फोर्ड फाउंडेशन की ओर से दक्षिण भारतीय भाषा पुस्तक न्यास, मद्रास, भारत के वरिष्ठ परामर्शदाता)

उक्त उद्धरण से यह पता चलता है कि पुस्तक-विकास के लिए पारिवारिक पुस्तकालय-योजना कितनी महत्त्वपूर्ण है। नियोजित ढंग से कार्य करने से पुस्तक-विकास के कार्य में अवश्य सफलता मिलेगी। ज्यादा अच्छा हो कि इस कार्यक्रम के लिए एक योजना बनाई जाए और राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह के अवसर पर उसे कार्यान्वित किया जाए।

'विशेष पुस्तक-कूपन' जारी करना भी पुस्तक-विकास-कार्यक्रम का एक आवश्यक अंग है। इन कूपनों को खरीदने वालों को विशेष छूट दी जाती है और उनसे पैकिंग आदि का खर्च नहीं लिया जाता। इनके अतिरिक्त कूपनों की लाटरी भी निकाली जानी चाहिए और विजेता को विशेष पुरस्कार दिया जाना चाहिए।

(६) लोकप्रिय पुस्तकों के सस्ते संस्करण तथा उच्चकोटि के ग्रन्थ सस्ते दाम पर उपलब्ध करना और किसी विषय का पूरा सेट खरीदने पर प्रोत्साहन के तौर पर किताब रखने के लिए रैक तथा आलमारियाँ देना।

भारत में अनेक प्रकार के उच्चकोटि के ग्रन्थ हैं, जिनका वर्गीकरण साहित्य के विकास के काल के अनुसार किया जा सकता है। इस श्रेणी में आधुनिक युग की उत्कृष्ट कृतियाँ भी रखी जा सकती हैं। दफ्ती की जिल्द के सस्ते संस्करण भी छापे जा सकते हैं। राज-संस्करण के भी ऑर्डर लिये जा सकते हैं और किसी विषय का पूरा सेट खरीदने पर विशेष प्रकार के रैक तथा आलमारियाँ भी दी जानी चाहिएँ। इन सबसे इस सप्ताह में पुस्तकों की बिक्री बढ़ेगी। इस सप्ताह में ऑर्डर लिये जा सकते हैं। उनकी पूर्त्ति ऑर्डरों के अनुसार की जानी चाहिए।

(७) लेखकों, पढ़ने में सर्वाधिक रुचि रखने वाले पाठकों, मुद्रकों तथा प्रकाशकों को पुरस्कार देना।

इस व्यापार में जो लोग लगे हैं, उन सबको प्रोत्साहन देना आवश्यक है—

(क) लेखकों को उनकी सर्वोत्कृष्ट कृतियों के लिए पुरस्कृत करना चाहिए।

(क) पाठकों को सर्वाधिक पढ़ने के लिए।

(ग) समालोचकों को सर्वोत्तम समालोचना के लिए जिससे साहित्य का स्वस्थ विकास हो।

(घ) पुस्तक-विक्रेताओं को सबसे अधिक किताब बेचने के लिए।

(ङ) प्रकाशकों को चुनी हुई पुस्तकों के प्रकाशन करने के लिए।

(च) मुद्रकों को सर्वोत्तम किस्म की किताब छापने के लिए।

इन सबसे हमारे देश में पुस्तक-व्यापार की अभिवृद्धि होगी और किताबों का जितना ही प्रचार बढ़ेगा, शिक्षा तथा सभ्यता के क्षेत्र में उतनी ही उन्नति होगी।

(८) शैक्षिक तथा सांस्कृतिक संस्थाओं से सहयोग का अनुरोध करना।

पूरे कार्यक्रम को एक उत्सव का रूप देना चाहिए। अतः सभी संस्थाओं का सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है।

निम्नलिखित संघटनों से योगदान करने का अनुरोध करना चाहिए—

(क) शैक्षिक संस्थाएँ।

(ख) भारत के पुस्तकालय-संघ।

(ग) भारत के सांस्कृतिक संघटन।

(घ) सिनेमा-प्रदर्शक-संघ,......निम्नलिखित कार्यों के लिए—

(१) विज्ञापन-पत्र निःशुल्क प्रदर्शित किये जाएँ।

(२) पुस्तक-विकास-सम्बन्धी स्लाइडों की दरों में ५० प्रतिशत छूट दी जाए।

(३) पुस्तक-समारोह के लिए धन एकत्र करने के निमित्त स्पेशल शो किये जाएँ।

(ङ) समाचार-पत्र तथा समाचार-समितियाँ—समाचार-पत्र इस अवसर के अनुकूल परिशिष्टांक प्रकाशित करें और सम्पादक भारत में पुस्तक-समारोह के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए अग्रलेख लिखें।

समाचार-समितियाँ इस अवसर पर किये गए भाषणों तथा निर्णयों को देश-भर में प्रचारित करें।

इस सप्ताह के लिए विज्ञापन-शुल्क घटा दिए जाएँ जिससे प्रकाशक अपनी पुस्तकों तथा प्रकाशनों का व्यापक प्रचार कर सकें।

विशेष कालम—इस सप्ताह में पुस्तकों की समालोचना प्रकाशित की जाए। अप्रकाशित पाण्डुलिपियों की सूची के लिए एक कॉलम निर्धारित कर दिया जाए और उसमें उनके प्रकाशनाधिकारियों के पते भी छापे जाएँ।

समस्त विषयों की प्रकाशित पुस्तकों के सम्बन्ध में आँकड़े सहित सूचना प्रकाशित करना।

(९) पुस्तक-व्यापार पर विशेष स्मृति-पत्र प्रकाशित करना

स्मृति-पत्र में पुस्तक-विकास पर लेखकों के अतिरिक्त सभी प्रकाशन-संस्थाओं का विज्ञापन तथा उनका संक्षिप्त इतिहास हो तथा उनके कार्यक्षेत्र का पूरा वर्णन हो। इस प्रकार के स्मृति-पत्र से पुस्तक-विकास-कार्यक्रम की हर वर्ष की प्रगति का पता चलता रहेगा।

(१०) विभिन्न शहरों में प्रदर्शनियाँ संघटित करना—प्रदर्शनियाँ बहुत आवश्यक हैं।

इन प्रदर्शनियों द्वारा पाठकों को प्रकाशित तथा उपलब्ध पुस्तकों की जानकारी होती है और वे प्रकाशन-कार्यक्रम से भी परिचित होते हैं। इन प्रदर्शनियों से दो लाभ हैं—

(क) यह पता चलता है कि किस प्रकार के प्रकाशन हो रहे हैं और प्रकाशन-व्यापार में क्या त्रुटियाँ हैं।

(ख) पाठक-वर्ग की रुचि का पता चलता है।

यदि पुस्तक-विक्रेता तथा प्रकाशक यह समझें कि प्रदर्शनी से उनकी पुस्तकों की अत्यधिक बिक्री होगी, तो यह गलत होगा। उन्हें केवल यह लाभ होगा कि उन्हें ऐसे अनुभव प्राप्त होंगे जिनसे वे भविष्य में पुस्तक-विकास का काम सफलतापूर्वक कर सकेंगे।

यद्यपि भारत के पाँच नगरों—कलकत्ता, मद्रास, दिल्ली, नागपुर तथा बम्बई में पुस्तक-समारोह-प्रदर्शनियाँ

आयोजित की जायँगी तथापि सब राज्यों की राजधानियों में भी इस प्रकार की प्रदर्शनियाँ संघटित करना आवश्यक है।

(११) पुस्तक-विक्रेताओं, प्रकाशकों तथा मुद्रकों के संस्थानों को उचित नारों, रंग-बिरंगी झण्डियों आदि से सजाना, जिससे जनसाधारण का ध्यान आकर्षित हो।

पुस्तक-समारोह को बड़े पैमाने पर मनाने के लिए पर्याप्त प्रचार आवश्यक है। चूँकि इस समारोह का उद्देश्य पुस्तकों का विस्तार करना है, अतः इस क्षेत्र से सम्बद्ध सभी लोगों को समारोह को सफल बनाने में योगदान करना चाहिए।

इस अवसर पर ऊपर वर्णित नारों को यथास्थान लिखकर प्रदर्शित करना चाहिए। दूकानों तथा अन्य संस्थानों को अवसर के अनुकूल सजाना चाहिए। झंडियाँ, तोरण, प्रदर्शन-कार्ड आदि से भी सजावट करनी चाहिए।

(१२) स्थानीय समिति के लिए धन एकत्र करने के निमित्त पुस्तक-झण्डियाँ तथा टिकट सभी संघटनों तथा जनसाधारण के हाथ बेचना।

टी० बी० सील के आकार की विशेष पुस्तक-झंडिया जिनमें आलपीनें लगी हों, दस नये पैसे या पाँच नये पैसे में बेची जाएँ। समारोह आरम्भ होने के तीन-चार मास पूर्व पुस्तकों पर टिकट चिपकाए जा सकते हैं और पाठकों से उन्हें खरीदने का अनुरोध किया जा सकता है। किन्तु, उनका मूल्य पाँच नये पैसे से अधिक नहीं होना चाहिए। पुस्तक-विक्रेताओं तथा प्रकाशकों के सहयोग से इस प्रकार काफी धन एकत्र किया जा सकता है।

(१३) पाठकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए चल-चित्रों, विज्ञापन-पत्रों तथा आकर्षण की अन्य वस्तुओं की व्यवस्था करना।

शहरों में चौराहों, मुख्य बाजारों आदि उपयुक्त स्थानों में विज्ञापन-पत्रों, विद्युत्-पटों तथा अन्य साधनों द्वारा प्रचार किया जाय।

सिनेमा-घरों में स्लाइड दिखलाए जाएँ, टेलीवीजन पर कार्य-क्रम प्रसारित किए जाएँ। प्रचार के साधनों से युक्त मोटरगाड़ियों का उपयोग किया जाए तथा प्रचार के अन्य सभी उपायों का सहारा लिया जाय।

(१४) वयस्कों तथा बालक-बालिकाओं में जीवन-भर कुछ-न-कुछ पढ़ते रहने की आदत विकसित करना।

प्रकाशकों का सबसे बड़ा कर्त्तव्य है लोगों में जीवन-भर कुछ-न-कुछ पढ़ते रहने की आदत विकसित करना। अमेरिका में इसके लिए पुस्तकालयों में काफी पुस्तकें वितरित की जाती हैं। यदि देश-भर में पुस्तकालयों का जाल बिछा दिया जाय और पुस्तकों की पूर्ति का ढंग अच्छा हो जाए, तो इस प्रकार की आदत पैदा की जा सकती है। कार्यक्रम के सम्बन्ध में बहुत-सी बातें कही जा सकती हैं किंतु इस समय आवश्यकता इस बात की है कि इस विषय पर दो सम्मेलन बुलाए जाएँ—एक ग्रीष्मकाल में तथा दूसरा शीतकाल में। इन सम्मेलनों में लोगों के जीवनचर्या सम्बन्धी अनुसन्धान के आधार पर पुस्तकों के प्रकाशन का कार्यक्रम तैयार करना चाहिए। पुस्तकों के विकास तथा प्रकाशकों को इस बात की जानकारी के लिए कि किस प्रकार की पुस्तकों की माँग है और वे किस प्रकार की पुस्तकें छापें, यह कार्य आवश्यक है।

(१५) पाठकों की संख्या, उनकी रुचियों आदि के आँकड़े सहित सूचना रखना।

पुस्तक की प्रत्येक दूकान तथा प्रकाशन-गृह में अनेक पाठक, लेखक तथा पढ़ने में रुचि रखनेवाले व्यक्ति आया करते हैं। यदि प्रश्नावलियाँ तैयार की जाएँ और इन लोगों से प्रश्नों के उत्तर एक फार्म पर लिखवा लिए जाएँ, तो उनकी रुचियों का आसानी से पता चल सकता है। सही किस्म की पुस्तकों के प्रकाशन के लिए यह आवश्यक है।

समारोह की सफलता के लिए पुस्तक-व्यापार में लगे लोगों के विभिन्न संघों का सहयोग

यह काम अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ, जो इस कार्यक्रम का जन्मदाता है, तथा निम्नलिखित संघों की सहायता से राज्य-स्तर पर किया जायगा—

(१) पश्चिमी बंगाल प्रकाशक-संघ।
(२) प्रकाशक तथा पुस्तक-विक्रेता संघ, बम्बई।
(३) दक्षिण भारत की पुस्तक-व्यापार-परिषद्, मद्रास।

(४) बड़े मुद्रकों का अखिल भारतीय संघ, मद्रास।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ के छठवें अधिवेशन में, जो पटना में श्री कृष्णचन्द्र बेरी की अध्यक्षता में हुआ, राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह मनाने के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया गया—

'अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ का यह अधिवेशन देश में शिक्षा तथा साहित्य के प्रचार के लिए राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह की योजना को महत्त्वपूर्ण समझता है और इस कारण वह इस बात को आवश्यक समझता है कि राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह पूरे देश में काफी बड़े पैमाने पर तथा पूरे उत्साह तथा खुशी से मनाया जाए। इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकाशक-संघों, साहित्यिकों, पत्रकारों, सांस्कृतिक संघटनों तथा केन्द्र एवं राज्य की सरकारों से सहयोग प्राप्त करने का प्रयास किया जा सकता है। पुस्तक-विकास-कार्यक्रम को संघटित करने के लिए निम्नलिखित व्यक्तियों की एक उपसमिति संघटित की जा रही है।

(१) श्री रामलाल पुरी
(२) श्री लक्ष्मीचन्द जैन
(३) श्री ए० के० बसु
(४) श्री वाचस्पति पाठक
(५) श्री मार्तण्ड उपाध्याय
(६) श्री ओंप्रकाश
(७) पं० जयनाथ मिश्र
(८) श्री तेजनारायण टंडन
(९) श्री गोकुलदास 'धूत'

उपसमिति को अन्य सदस्यों को चुनने का अधिकार होगा।

श्री रामलाल पुरी इस समिति के अध्यक्ष तथा श्री ए० के० बसु अवैतनिक मन्त्री होंगे।

केन्द्रीय समिति के कार्य

यह केन्द्रीय समिति पुस्तक-सप्ताह को व्यापक ढंग से तथा सफलतापूर्वक मनाने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से आर्थिक सहायता तथा अन्य सुविधाओं के लिए वार्त्ता, पत्र-व्यवहार आदि करेगी।

यह समिति समस्त राज्यों की राजधानियों में स्थानीय समितियाँ संघटित करेगी, उन्हें प्रदर्शनियाँ आयोजित करने में सहायता देगी और राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह की सफल समाप्ति के लिए समय-समय पर निर्देश देती रहेगी।

केन्द्रीय समिति सरकारों तथा अन्य संस्थाओं से पत्र-व्यवहार करेगी, सदस्यों को सुविधाएँ देगी और पूरा कार्यक्रम इस प्रकार तैयार करेगी कि पाँचों शहरों तथा राज्यों की राजधानियों में होने वाले सब समारोह एक साथ हों।

धन की आवश्यकता तथा केन्द्र एवं राज्य सरकारों से सुविधाएँ

पूरे कार्यक्रम को सफलतापूर्वक कार्यान्वित करने के लिए धन के अतिरिक्त राज्य तथा केन्द्र की सरकारों से विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ तथा उनका सहयोग बहुत आवश्यक है। अतः इस बृहत् योजना को आरम्भ करने से पहले उसे अन्तिम रूप देने के लिए केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों के अधिकारियों की संयुक्त बैठक आवश्यक है।

★

रचना-प्रकाशन : एक समस्या लेखकीय दृष्टिकोण

श्री गोपालजी 'स्वर्णकिरण'

रचनाओं के प्रकाशन के सम्बन्ध में अलग-अलग लेखकों के अलग-अलग मत हैं। कुछ लेखक अपनी रचना पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित नहीं करते अथवा करवाते। उनकी धारणा कदाचित् यह होती है कि पत्र पत्रिकाओं में प्रायः सामाजिक चीजें ही अधिक रहती हैं, स्तरीय चीजें नहीं निकल पातीं अथवा निकलती भी हैं तो बहुत कम। ऐसे लेखक या तो स्वयं अपनी रचनाएं संकलित रूप में प्रकाशित करते हैं अथवा किसी प्रकाशक के माध्यम से कराते हैं। कभी-कभी यह काम कुछ सहयोगी बन्धुओं की कृपा से भी हो जाता है। मुझे ऐसे लेखकों से एक तरह सहानुभूति ही है, पर उनकी इस धारणा से कि पत्र-पत्रिकाओं में स्तरीय चीजें नहीं निकल पातीं अथवा निकलती भी हैं तो बहुत कम--मैं सहमत नहीं। मेरा अपना अनुभव है कि इस प्रकार के लेखकों में बहुधा वे लेखक भी होते हैं जिनकी रचनाएँ पत्र-पत्रिकाओं में नहीं छप पातीं अथवा छपती भी हैं तो बहुत कम। ऐसे लेखकों का पत्र-पत्रिकाओं से क्षुब्ध रहना स्वाभाविक है। उनकी दृष्टि में 'खट्टे अँगूर' की तरह पत्र-पत्रिकाएँ प्रायः खट्टी हुआ करती हैं। कुछ लेखक पत्र-पत्रिकाओं में अपनी चीज इसलिए नहीं भेजते कि बाद में पाठकों के सम्मुख बासी चीजें परोसनी होंगी। वे कदाचित् अपने पाठकों के प्रति ईमानदारी का भाव बरतते हैं और पाठकों के पैसों और समय को अधिक महत्त्व देते हैं। जहाँ तक एक रचना के दो अथवा दो से अधिक बार प्रकाशन का सम्बन्ध है, इसपर अलग से विचार अपेक्षित है, पर यहाँ इतना ही कहना युक्तिसंगत है कि सारी चीजें एक बार छप जाने पर ही बेकार नहीं हो जातीं, बल्कि इस विचार से तो कोई असहमत नहीं हो सकता कि कला के क्षेत्र में कुछ भी पुराना, कुछ भी बासी नहीं। बहुत बार तो ऐसा होता है एक बार जिस रचना में कुछ त्रुटियाँ रह जाती हैं, रचना के पुनःप्रकाशन में वे सब दूर हो जाती हैं। कभी-कभी उनमें यथोचित संक्षेपण अथवा सम्बर्द्धन भी हो जाता है। कुछ लेखक पत्र-पत्रिकाओं को प्रायः निजी रचनाओं अथवा प्रकाशनों के विज्ञापन का एक साधन समझते हैं और अपनी रचनाएँ वैसी पत्र-पत्रिकाओं में नहीं भेजते, बल्कि उपेक्षाभाव से कहते हैं : यह भी कोई पत्रिका है! कुछ गुटबन्दी की शिकार पत्रिकाओं में ऐसा दोष सम्भव है, पर सोलहो आने पत्र-पत्रिकाओं को प्रायः निजी रचनाओं अथवा प्रकाशनों के विज्ञापन के लिए एकमात्र दोषी नहीं ठहराया जा सकता। कुछ लेखक बन्धु इस विचार के आग्रही होते हैं कि पुरानी पत्र-पत्रिकाएँ परम्परा का परिपोषण करती हैं, नवीन प्रतिभाओं को कुतर डालती हैं (अतएव इनमें लिखना ठीक नहीं)—कुछ नयी हैं भी तो उनमें स्थानाभाव है, फलतः, पत्र-पत्रिकाओं में न लिखकर स्वतन्त्र रूप से अपनी प्रतिभा का विकास करना चाहिए; या तो स्वान्तःसुखाय लिखते जाना चाहिए, अन्त में एक ही बार सबका मूल्यांकन होगा—इस विश्वास पर कि 'उत्पत्स्यते कोऽपि समानधर्मा···'—या छोटी-मोटी गोष्ठियों, संस्थाओं अथवा मण्डलों का निर्माण कर, साहित्येतिहास में अपना स्थान सहज रूप में सुरक्षित कर लेना चाहिए।

रचना-प्रकाशन एक समस्या है। कुछ नये लेखक तो अपनी रचना को प्रकाशित देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक रहते हैं; एक ही रचना कई पत्रिकाओं में भेजते हैं; कभी शीर्षक बदल कर, कभी कुछ अपेक्षित परिवर्तन करके। यदि रचना सामयिक हुई तो एकबार ही एकाधिक पत्रिका में प्रकाशित हो गई, कभी कुछ समय का अन्तराय देकर प्रकाशित हुई। एक प्रतिष्ठित आलोचक, लेखक की इस प्रवृत्ति को 'छपास रोग' से आक्रान्त मानते हैं। उगती प्रतिभा यदि प्रारम्भ में, छपास-रोग से आक्रान्त ही रहे तो क्या दोष! हाँ, इस प्रवृत्ति पर थोड़ी रोक होनी चाहिए। वास्तव में, एक ही रचना के एकाधिक बार प्रकाशन के मुख्यतः तीन कारण हैं : एक तो रचना की सामयिकता, दूसरे, सम्पादक की अपूर्णता, और तीसरे

रचना के प्रति सम्पादकीय अनवधानता अथवा असमर्थता। सामयिकताप्रधान रचनाओं को लेखक इस कारण एकाधिक पत्र-पत्रिकाओं में भेजता है कि तत्काल उसका उपयोग नहीं होने पर उसमें लगाया गया श्रम (और पैसा!) बेकार हो जाएगा। कुछ अपेक्षित सुधार के साथ जब एक ही रचना लेखक एकाधिक बार छपाता है—कभी एक ही समय, कभी कुछ समय का अन्तराय देकर; कभी एक ही शीर्षक से, कभी बदले हुए शीर्षक से—तो इसमें बहुत अंशों में प्रायः लेखक दोषी है। कारण, लेखक को कुछ लिखने अथवा कहने के पूर्व भलीभाँति सोच-विचार कर लेना चाहिए। ऐसा दावा तो कदाचित् कोई भी नहीं कर सकता कि एकबार जो लिख दिया वह पत्थर की लकीर बन गया, उसमें परिवर्त्तन-परिवर्द्धन सम्भव नहीं; पर इसका यह मतलब नहीं है कि शीघ्रप्रकाशन-लोभ से परिचालित होकर हम असंयमित बन जाएँ। कभी-कभी लेखक की ईमानदारी परिस्थितियों के कारण ढँक-सी जाती है। इस अवसर पर, पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों पर कुछ दोष चला आता है। इस प्रकार के सम्पादकों के दो वर्ग सम्भव हैं। एक वर्ग उन सम्पादकों का है जो लेखक को, अपनी अनवधानता अथवा आलस्य के कारण, रचना-स्वीकृति की सूचना नहीं देते और लेखक द्वारा प्रेषित डाक-टिकट अथवा डाक-टिकट-साटा पता लिखा हुआ लिफाफा प्रायः हजम कर जाते हैं तथा दोष प्रायः डाक-विभाग के मत्थे सौंप देते हैं। दूसरे वर्ग में वे सम्पादक हैं जो प्रायः निर्धन एवं असमर्थ हैं। वे डाक-टिकट-प्राप्त अस्वीकृत रचनाओं को तो लौटा देते अथवा सूचित कर देते हैं, शेष के बारे में मौन रहते हैं; छठे-छमासे अथवा वर्ष-डेढ़-वर्ष बाद भी जब लेखक अथवा लेखक की रचना का भाग्योदय होता है, निकाल देते हैं। बेचारे लेखक को ऐसे अवसर पर कुछ भ्रम भी होता है। भ्रम स्वाभाविक है। पर कभी-कभी लेखक पत्र-पत्रिका की नीति पढ़कर आश्वस्त हो जाता है कि अमुक रचना निर्धारित अवधि में न लौटी, न उसके बारे में कुछ सूचना मिली, अर्थात् वह नष्ट कर दी गई। अतएव, लेखक अपने पास रखी रचना की मूल प्रति की प्रतिलिपि फिर करता अथवा करवाता है तथा अन्यत्र उसको प्रकाशित कराता है। कई बार डाक की गड़बड़ी से सचमुच रचना-स्वीकृति की सूचना नहीं मिलती, न रचना लौट कर आती है; यद्यपि सम्पादक अपना कर्त्तव्य पूरा कर चुके रहते हैं। यदि धैर्य खोकर लेखक अपनी रचना अन्यत्र प्रकाशित करवाए और दैवयोग से वही रचना पूर्वप्रेषित पत्रिका में भी छप जाए तो किसको दोष दिया जाए? कभी-कभी एक ही रचना को पारिश्रमिक के लोभ से लेखक एकाधिक पत्रिका में प्रकाशित करवाते हैं—स्थान के अन्तराय से अथवा समय के अन्तराय से यह कभी-कभी पच भी जाता है और लेखक महोदय तो अपना स्वार्थ साध ही लेते हैं। इस प्रकार के कुछ लेखक ऐसी दलील देते हैं कि प्रत्येक पत्र-पत्रिका का अपना क्षेत्र होता है, अपने पाठक होते हैं। अतः एक ही रचना दो पत्र-पत्रिका में निकले तो दोनों क्षेत्रों के पाठकों को लाभ होता है; यद्यपि ऐसा करने में वे कुछ हिचकते भी हैं और स्थान तथा समय के सिद्धान्त को अपनी आँखों से कभी ओझल नहीं होने देते। मेरी धारणा इस सम्बन्ध में यह है कि जिस रचना पर लेखक को किसी प्रकार पारिश्रमिक नहीं मिलता, उसको एकाधिक बार अथवा एकाधिक पत्र-पत्रिका में छपवाने में क्या अपराध! यदि बिना पारिश्रमिक दिये कोई सम्पादक अपनी पत्रिका के प्रति कठोर नियम बरतता है और "मौलिक, अप्रकाशित एवं अप्रसारित" रचनाओं के लिए आवाहन अथवा आग्रह करता है, तो वास्तव में, यह उसका दुराग्रह है। उगती अथवा नवीन प्रतिभाओं के विकास के लिए, एक प्रकार से, यह अपेक्षित है, पर अनिवार्य नहीं। पारिश्रमिक दे देने पर, सम्पादक बहुत-कुछ अपने दायित्व से मुक्त हो जाता है. किन्तु लेखक अपने नैतिक बन्धन से प्रायः बँध जाता है।

अनेक नवोदित अथवा उगते लेखक बन्धु, जो कि कभी-कभी समृद्ध भी होते हैं, अपनी रचना की एकाधिक कार्बन-कॉपी करा लेते हैं और अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों से स्नेह-सम्बन्ध जोड़ लेते हैं। एक आलोचक का, ऐसे लेखकों के प्रति, यह अभिमत है कि ये लेखक अन्य लेखकों का दरवाजा बन्द करते हैं, खासकर उस अवसर पर जब लेखक परिश्रमपूर्वक गद्य-रचना की प्रतिलिपि करता है और उसे सम्पादक अपनी पत्रिका की नीति के प्रतिकूल

होने के कारण, तत्काल नष्ट कर देता है। मेरा इस सम्बन्ध में विनम्र अभिमत है कि लेखक को पत्रिका की नीति से पहले अवगत होना चाहिए तत्पश्चात् उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़ना चाहिए तथा सम्पादक को थोड़ी दया दिखलानी चाहिए और लेखक की अस्वीकृत रचना को, पर्याप्त डाक-टिकट के अभाव में कम-से-कम बैरंग भी, वापस कर देने का कष्ट उठाना चाहिए।

कहते हैं, लेखक जब दुष्ट ग्रह से आवृत रहते हैं, उनके साथ दूसरी भी कठिनाइयाँ उठ खड़ी होती हैं। कभी लेखक की ओर से थोड़ी असावधानी हो जाती है, कभी सम्पादक की, और कुछ समय के बाद, आक्रोशी आलोचक (!) लेखक की ओर उँगली उठाने लगते हैं। व्यवस्थापक महोदय कहीं लापरवाह हुए तो एक छोटी-सी घटना पहाड़ का रूप धर लेती है। सम्पादक महोदय कभी-कभी स्नेहवश, लेखक का नाम रचना के साथ नहीं लिखते अथवा गलत लिख देते हैं (अथवा नाम या पता कुछ संशोधित कर देते हैं, कौन जाने!) तो इसका भी बाद में बुरा प्रभाव पड़ता है। मैं अनुभव के आधार पर ये बातें लिख रहा हूँ। कभी-कभी लेखक 'कोई अनुवाद आदि पत्र-पत्रिका में भेजता है तो उसकी दुर्गति बन जाती है; विशेषतः उस समय जबकि सम्पादक, लेखक को अभिन्न-हृदय अथवा अनन्य-हृदय समझता है और अपनी पत्र-पत्रिका का स्तर बढ़ाने अथवा पाठकों को प्रभावित करने के लिए अनुवादक महोदय का नाम उड़ा देता है। इस सम्बन्ध में भी मेरा निजी अनुभव है। मैं कह नहीं सकता कि ऐसा करने में दोष सम्पादक का रहता है अथवा बेचारे लेखक का जोकि दुर्भाग्य के द्वारा परिचालित है।

हमारे एकांकी नाटक

ज्ञानपीठ के एकांकी नाटकों में ऐसे ध्वनि-रूपक हैं जिन्होंने रेडियो पर से श्रोताओं को आकर्षित किया है, मंच पर से दर्शकों को रोमांचित किया है, अनेक अवसरों पर अनेक मर्मज्ञ पाठकों को हिन्दी-साहित्य की इस नयी देन ने परिचित-प्रमुदित किया है—

जनम कैद	गिरिजाकुमार माथुर	२·५०	बारह एकांकी	विष्णु प्रभाकर	३·५०
कहानी कैसे बनी ?	कर्तारसिंह दुग्गल	२·५०	कुछ फीचर :		
पचपन का फेर	विमला लूथरा	३·००	कुछ एकांकी	भगवतशरण उपाध्याय	३·५०
तरकश के तीर	श्रीकृष्ण	३·००	सुन्दर रस	लक्ष्मीनारायण लाल	१·५०
रजतरश्मि	डॉ० रामकुमार वर्मा	२·५०	सूखा सरोवर	"	२·००
और खाई बढ़ती गयी	भारतभूषण अग्रवाल	२·५०	नाटक बहुरंगी	"	४·५०
चेखव के तीन नाटक	राजेन्द्र यादव	४·००	भूमिजा	सर्वदानन्द	१·५०

हमारा यात्रा-साहित्य

घुमक्कड़ी एक प्रवृत्ति ही नहीं, एक कला भी है। देशाटन करते हुए नये देशों में क्या देखा, क्या पाया, यह जितना देश पर निर्भर करता है, उतना ही देखनेवाले पर भी। एक नजर होती है जिसके सामने देश भूगोल की किताब के नक्शे जैसे या रेल-जहाज के टाइम-टेबिल जैसे बिछे रहते हैं। एक दूसरी होती है—जिसके स्पर्श से देश एक प्राणवान प्रतिमा-सा आपके सामने आ खड़ा होता है। भारतीय ज्ञानपीठ का यात्रा-साहित्य ऐसा ही है—

सागर की लहरों पर	डॉ० भगवतशरण उपाध्याय	४·००	एक बूँद सहसा उछली	श्री स० ही० वात्स्यायन	७·००
पार उतरि कहँ जइहौ	श्री प्रभाकर द्विवेदी	३·००	हरी घाटी (यात्रा, डायरी-संस्मरण)	डॉ० रघुवंश	४·५०

एक साथ कविता, कहानी, उपन्यास का आनन्द

सीढ़ियों पर धूप में	श्री रघुवीर सहाय	४·००	पत्थर का लैम्प-पोस्ट	श्री शरद देवड़ा	३·००
काठ की घंटियाँ	श्री सर्वेश्वरदयाल सक्सेना	७·००			

१९६१ के नये प्रकाशन

१.	एक बूँद सहसा उछली	अज्ञेय	७·००
२.	रेडियो वार्ताशिल्प	सिद्धनाथ कुमार	२·००
३.	नाटक बहुरंगी	डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल	४·५०
४.	वीणापाणि के कंपाउण्ड में	केशवचन्द्र वर्मा	३·००
५.	हरी घाटी	डॉ० रघुवंश	४·५०
६.	नरमए-हरम	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	४·००
७.	लो कहानी सुनो !	अयोध्याप्रसाद गोयलीय	२·००
८.	आधुनिक हिन्दी हास्य-व्यंग्य	सं० केशवचन्द्र वर्मा	४·००

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

हिमाचली लोकगीत : एक झलक

श्री के० एस० राणा 'परदेशी'

'देवभूमि हिमाचल' की सुरम्य घाटियों में आज भी सदियों पुरानी धार्मिक इमारतें, देवालय, धार्मिक स्थान, मठ पाये जाते हैं। प्राचीन बौद्ध धर्म की खोज के लिए यह प्रदेश अति-महत्त्वपूर्ण है। स्थान-स्थान पर बने हुए बौद्ध मठ, मन्दिर तथा उसके अवशेष अपने बीते युग की महानता को प्रकट करते (मूक भाषा में) प्रतीत होते हैं। इस प्रदेश की हरी-भरी घाटियाँ, हिम से ढकी पहाड़ों की चोटियाँ, एकान्त वातावरण, झरनों की झरझर ध्वनि, बल खाती उछलती-इतराती दूध के समान श्वेत जल की निर्मल नदियों की कल-कल ध्वनि मनुष्य तो क्या देवताओं तक को आकर्षित करने के लिए काफी है। इसी कारण यहाँ की लोककथायें, लोकगीतों पर भी धर्म की गहरी छाप है। निम्न लोक-गीत में जब स्त्री-पुरुष मिलकर गाते तथा नृत्य करते हैं, तब ब्रह्मानन्द का वातावरण बँध जाता है—

"मालीकेस लोतोस, ठेकेदाराली भोमा।
ठेकेदार भोमा, हामविमो याली मानो।
हामबिमो याली मानीया, तींथङ बीमो बदांक।
तीर्थङ बीमों बदाकाया, खासरू याली तीथंङ।
खास रुली तीथंङ हाय, लोफोन जी चु जालीखां
ठेकेदारीस लोतोस हाय, बालजे मोनी के हाय।"

अर्थ : मोनीके (एक लड़की या स्त्री का नाम) अपने मामा से कहती है : "मामाजी ! हे, ठेकेदार मामाजी ! कहीं अन्य जगह के लिए नहीं, बल्कि तीर्थ-यात्रा के लिए (धर्म-उपार्जन के लिए) मैं जा रही हूँ। लोफेनजी के दर्शन करूँगी।" तब ठेकेदार मामा कहता है :

"बानूजे मोनी के हाय, झरो मौन बौन तोसतङ।
झरोली मौन बौन तोसतङ तीथङ माली झाजायें।
मोनीके बान्डी नीस लोतोस ठेकेदार भोमा या।
या ठेकेदार भोमा हाय, दुरखीरो तीथंङ मानीया,
दुखीयारो तीथंङ मानीया, दुरखीरो तीथंङ हाय
तोचीस या फूलातो हाय, सुनीयारो ले पेसा।"

"घर में माता-पिता के होते हुए भी तीर्थ करने की क्या आवश्यकता है ? क्योंकि जिस घर में माता-पिता हों, उस घर के सदस्यों को तीर्थ-यात्रा करने की जरूरत नहीं। क्योंकि माता-पिता भी देवतुल्य हैं।" मोनीके कहती है : "यह तीर्थ-यात्रा दुःख के लिए नहीं बल्कि यह तो सुख के लिए है। इस तीर्थस्थान पर जो धनी होगा वह तो स्वर्ण-मुद्रायें भेंट करेगा, जो मध्यम श्रेणी का होगा वह दीपक ही जलायेगा, जो बेचारा बिल्कुल निर्धन होगा वह मात्र आँटा बाँटेगा।"

"हाय माचीस फूलतो हाय, खौरी भंडली दूयंङ।
हे ली दायमायचीस फूलतो हाय, सोलो बङ सायपा।
दो शोङ-शोङ बीमा, खासरो यादेन शोङ हाय।
खासरो देन शोङ हाय, मोनीके पहुँचायादारा।
खासरो देन शोङ खमाया, लोचा रीन बोछो।
ओमसाली ओमसा, आमे लोचा रीन बोछे हाय।
थूम साली यू मसा हाय, आने नुड़ाई नीजा चेला।
शुभ जब डोलिङ तोश, मोनीके बान्डी नस।
मोनगेस फूलगयो हाय, सुनी यारो ले पेसा।
सुनीयासे पेस हाय, खोरी भङ लो दूयंङ।
खोरी भङ लो दूयंङ, पावङ मारछाय दूयंङ।
मोनीकेस फूल गयोस हाय, सोश्र चो सामपा।
हाचीस शुटेरे बदांरा, मोनीके बान्डीन हाय॥

अर्थ : दृढ़संकल्पा मोनीके रिवालसर (मण्डी नगर जो हिमाचल प्रदेश में एक जिला है उसकी एक झील जहाँ तीन भूमि-खण्ड तैरते रहते हैं और धीरे-धीरे चलते हैं। यह स्थान मण्डी से मोटर द्वारा मिलाया गया है। यहाँ पर एक बहुत पुराना बौद्ध-मठ है जिसमें तिब्बती बौद्ध भिक्षु (लामा) रहते हैं, तथा पूजा-पाठादि करते हैं। इस मन्दिर में "पद्मसम्भव" की अगणित मूर्तियाँ हैं। यहाँ के लोगों की ऐसी धारणा है कि 'पद्मसम्भव' का जन्म इसी झील में एक कमल के पत्ते पर आज से हजारों-लाखों

साल पूर्व हुआ था। ये एक भारतीय पंडित थे, जिन्हें सर्व-प्रथम तिब्बत में बौद्ध मत के प्रचार करने का श्रेय है। इस मंदिर के भित्तिचित्र तथा अन्य प्राचीन लेख एवं धार्मिक ग्रंथ तथा चित्रादि देखने योग्य हैं। इस झील के दूसरे किनारे पर एक ऊँची चोटी पर औरंगजेब के समय में बनाया गया गुरुगोविन्द सिंह द्वारा स्थापित एक गुरुद्वारा भी है। यहाँ का दृश्य अति सुन्दर है। अति प्राचीन मठ और हिन्दू मंदिर जो अब खण्डहर मात्र रह गये हैं अपने युग की कहानी मूक भाषा में कहते प्रतीत होते हैं।) पहुँची। वहाँ पर लोचाजी तालाब के बीच खड़े थे (लोगों के कथनानुसार: लोचाजी के धर्मपरायण भक्तों के यहाँ पहुँचते ही वे स्वयं चक्कर काटने लगते हैं)। मोनीके के पहुँचते ही लोचाजी चक्कर लगाते हैं, उनके शिष्य भी उनके पीछे-पीछे चक्कर काटते हैं। मोनीके ने तीन बार लोचाजी को प्रणाम किया और सोने की अशर्फियाँ भेंट चढ़ायीं, घी का दीपक जलाया तथा निर्धनों को आटा दान किया। तीर्थयात्रा के पश्चात् वह घर लौटी।" इसी प्रकार लोक-गीतों में प्रसिद्ध लोक-कथा भी सन्निहित रहती है। जिला चम्बा तथा महासू के निचले भागों में निम्नलिखित गीत अत्यधिक प्रसिद्ध है:

"माये नी मेरिये जमुयें दी राहे
चम्बा ए कितणी क दूर ओए।
उड़-उड़ कागा तू लेई जा संदेशा मेरा
सजना से मिलना जरूर ओए॥"

विरह-ज्वाला से आकुल नायिका अपनी सुध-बुध खो कर, लोक-लज्जा त्याग, बड़ों के सामने किस प्रकार बोलना चाहिए नहीं जानती। माता-पिता के आगे ही उन्मादावस्था में अपने प्राणों से प्यारे प्रियतम से मिलने की इच्छा से व्याकुल हो माँ से ही पूछ बैठती है: "हे माँ, तू ही मुझे बता दे कि जमुये के मार्ग से चम्बा जाने का मार्ग कितनी दूर है? (क्योंकि मेरा प्रियतम वहीं तो रहता है) मुझे उससे मिलने जाना है। ऐ कागराज! तुम ही मेरे ऊपर तरस खाओ और मेरा यह संदेश (समाचार) मेरे प्रियतम तक उड़ कर पहुँचा दो; क्योंकि मुझे पता नहीं कि वह वहाँ किस स्थान पर रहता है। और यह भी सम्भव नहीं कि मैं वहाँ जा सकूँ। परन्तु मिलना जरूरी है। यदि मैं न जा सकूँ तो तुम ही यह काम कर दो।"

"डूँगी-डूँगी नदियाँ ते ऊची-ऊची रिड़ियां
होयी जाना कालजू रा चूर ओए।
मण्डीयां नी बसणा, सकेता नी बसणा
बसी जाना चम्बे जरूर॥"

चम्बा-मण्डी-सकेत ये तीनों ही पहले अलग-अलग रियासतें थीं परन्तु भारत के स्वतंत्र होने के पश्चात् ये रियासतें भी हिमाचल प्रदेश में मिला दी गई हैं। अब चम्बा जिला, सिरमौर जिला, मण्डी जिला, महासू जिला और बिलासपुर—पाँच जिलों के अन्तर्गत ३१ पहाड़ी रियासतें हिमाचल प्रदेश में हैं। "पहाड़ी नदियाँ ऊँची-नीची धरती में जलप्रपात बनाती हुई बहती हैं और बहुत भयावह गहराई लिये हैं। जिस प्रकार नदी का जल ऊपर से गिरकर चट्टानों को चूर-चूर करता है, उसी प्रकार भावनाओं की बाढ़ एवं विरहाग्नि के कारण मेरा कलेजा चूर-चूर है। मैंने तो यह निश्चय कर लिया है कि न तो मैं मण्डी में बसूँगी, न सुकेत में ही। मैं तो चम्बे में ही जाकर रहूँगी (जहाँ मेरा वह मनचाहा प्रियतम रहता है, जिसके कारण चम्बा नगरी मेरे लिए विशेष आकर्षण बन गई है)।" एक अन्य लोकगीत में शिक्षा के विषय में प्रकाश डाला गया है, जिसमें दृढ़निश्चयता की छाप है कि वे अपने पुत्र को हर हालत में जरूर पढ़ायेंगे:

"पढ़ाये रा गम्य न तू करी गूँजिये,
भाऊ लैणा पढ़ाई लो।
बचन जो दित्ता तैं सजज़नां,
इस जो देयां निभाई लौ॥
क[illegible] बी चकी के,
हिम्मत बी करी के
भाऊ लैणा पढ़ाई लौ!
मेरिये जानी..................!"
"करजे रा गम्य ना तूं करी सजज़नां,
करजा देहंगा कमाई लौ।
फेरी दुनियाँ च नांव तेरा लाड़ी होई जानां,
मिज्जो बोलणां लाड़ा लौ।
मेरिये जानी..........."

पति अपनी पत्नी से कहता है : "हे प्रिये ! तू लड़के की पढ़ाई के विषय में चिन्ता न कर।" उत्तर में पत्नी कहती है : "हे प्रियतम ! तुमने मुझे जो वचन दिया है कि मैं लड़के को अवश्य पढ़ाऊँगा सो अपनी प्रतिज्ञा जरूर पूरी करना, चाहे कुछ भी हो। चाहे कर्ज ही क्यों न लेना पड़े, परन्तु हिम्मत करके इसे जरूर पढ़ाना है (जिससे यह शिक्षित, लायक होकर अपने देश के कार्यों में भाग ले सके।)। 'हिम्मत भी करीके' हमें निम्न पंक्तियों की याद दिलाता है : "I'm the mastar of my soul, I'm the Captain of my fate".

"हे, प्रियतम ! तुम कर्ज की चिन्ता मत करना, हम कठिन परिश्रम कर पैसा कमाकर उसे चुकता कर देंगे।" "ऐसा कार्य करने से मेरी प्रिये ! तुम्हारा नाम हो जायेगा। उस खुशी में तुम्हारे लिए यह उपयुक्त होगा कि मुझे लाड़ा कहना (अर्थात दूल्हा मैं बनूँगा और तुम दुल्हन बनना)।" उपर्युक्त लोकगीत में दृढ़ता, कठिन परिश्रम एवं एक महान् उद्देश्य को प्रश्रय दिया गया है, जो कि भारतीय ग्रामीणों के जीवन में मूलमंत्र का कार्य करते हैं। ग्रामीण जीवन सुख-भोग, ऐश-आराम के लिए नहीं, बल्कि असाध्य कठिन परिश्रम द्वारा राष्ट्र तथा देश के अगणित लोगों को अन्न-वस्त्र सभी कुछ देने के लिए है। परिश्रम उनका प्राण, सेवा उनका शरीर और उदारता एवं भोलापन उनके आभूषण हैं। वास्तव में हम अंधे हैं जो कृषकों की दीन अवस्था, पददलितता, असहायता देखकर भी चुप हैं। हम उनसे दूर रहते हैं, घृणा करते हैं, और उन्हें गँवार-अनपढ़-देहाती कहकर मुँह बिचकाते हैं। जहाँ हमें उन पर गर्व करना चाहिए था वहाँ हम भारत की, राष्ट्र की रीढ़ की हड्डियों पर निर्ममता-पूर्वक (कल-कारखानों को प्रश्रय देकर कुटीर-उद्योग-धंधों का उन्मूलन कर) प्रहार कर रहे हैं। भारत एक कृषि-प्रधान देश है :

"पधरे मदान माँ बंगलू बणाणा कने बगीचड़ी लाणी हो।
उच्चे तां उच्चे बैन मंगाणे खेती तां अपणी बसाणी हो॥
घड़िये दूधावाली धागो मंगाणी खड़-खड़ करदी दृधानी हो।
सांभी लौ अपणें गहणें तां कपड़े मैं बेसिक स्कूलां जो जाणी॥
खाउँगी कमाउँगी मुंडवा पढ़ाउँगी जिंदड़ी तां अपनी
बणाणी हो।"

भारत जैसे गरीब देश की उन्नति खेती की उन्नति, कुटीर-उद्योग में प्रगति एवं बेसिक (बुनियादी शिक्षा) शिक्षा के बिना सम्भव नहीं। इसीलिए भारत के बड़े-बड़े नेता, महान् पुरुषों ने बेसिक शिक्षा एवं कृषि की उन्नति की ओर सरकार का ध्यान दिलाया। गाँधीजी, मौलाना आजाद, नेहरूजी तथा अन्य सभी यही चाहते रहे। बेकारी-भूखमरी की समस्या के समाधान के लिए आज "भूदान यज्ञ" चल रहा है। आचार्य विनोबा भावे तथा अन्य वर्तमान नेतागण—सभी ग्रामीण उद्योग-धंधों को बढ़ावा देना चाहते हैं और दे रहे हैं उपर्युक्त गीत में इसी विषय पर कहा गया है। एक ग्रामीण बाला किस प्रकार एक नवीन जीवन की कल्पना करती है :

"सुन्दर और उपजाऊ मैदान में एक बँगला (मकान) बना कर एक छोटा-सा बाग लगाना है। फिर अच्छी-से-अच्छी नसल के बैल मँगाकर खेती करूँगी। उनके लिए रंगीन और दूध के समान उजले धागे मँगाकर रस्सा बनाकर या लस्सी बनाने के लिए विलोवन बनाने हेतु सफेद धागे लाकर उन्हें बाटकर मैं रोज लस्सी विलोऊँगी। उसे खेत में ले जाऊँगी। तुम अपने गहने (जेवर) तथा ये कीमती कपड़े सम्भाल लो; क्योंकि मुझे तो बेसिक ट्रेनिंग स्कूल में जाना है। वहाँ मैं शिक्षा ग्रहण करूँगी......, अपने जीवन में खाऊँगी, खूब कमाऊँगी, लड़कों को पढ़ाऊँगी और अपने जीवन को सुखी बनाऊँगी।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक लोक-गीत हिमाचली लोगों के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हुए हमें अनेक सामाजिक, धार्मिक, वैयक्तिक झाँकी का ज्ञान कराते हैं। वास्तव में प्रत्येक प्रान्त और देश के लोक-गीतों का वही मूल्य है, जो वहाँ के इतिहास का। उपर्युक्त लोक-गीतों में जहाँ व्यक्तिगत प्रेम के दर्शन होते हैं, वहाँ हमें धार्मिक और जैविक अवस्था का भी ज्ञान होता है।

लोककथा एवं लोकगीत यहाँ के लोगों के जीवन की अमूल्य निधि हैं।
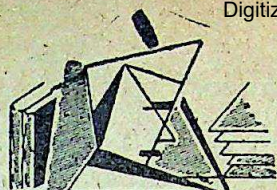
जिल्दसाजी की बात

श्री सुप्रिय पाठक

"पुस्तक की छपाई-बँधाई और प्रच्छद अत्यन्त सुन्दर है"—प्रायः पुस्तक की समालोचना के अन्त में यह बात जोड़ दी जाती है। जो पुस्तक खरीदते हैं, छपाई-बँधाई और प्रच्छद उन्हें बहुत अधिक प्रभावित करनेवाली चीजें हैं, किन्तु केवल बँधाई देखकर पुस्तक खरीदनेवाले क्रेताओं की संख्या करोड़ में शायद एक भी हो।

पुस्तकालय से चार महीने की पुरानी पुस्तक आप ले आवें; पायेंगे कि उसकी नयी और अकृत्रिम मलाट-जिल्द जन्मान्तरवाद का प्रमाण हो चुकी है, दफ्तरीखाने से पुनर्जन्म पाकर प्रच्छद अपने शिल्पी के मनःकष्ट का कारण हो चुका है। ऐसा क्यों होता है? लाइब्रेरियन से जाकर पूछें, वह दोष देगा पाठक और दफ्तरी को। पुस्तक को लेकर किस प्रकार पढ़ना चाहिये, इसे अधिकांश पाठक जानते नहीं हैं, और जानने पर भी नहीं मानते हैं। इसके अलावा, ऐसे ही अजीब पाठक कम-से-कम पच्चीस की संख्या में प्रतिमास उस एक पुस्तक को पढ़ा करते हैं। फलस्वरूप, प्रायः डेढ़ सौ बार पुस्तक को हाथ में लेना, उसके एक-एक पृष्ठ को टिका-टिका कर खोलना, पढ़ाई-अटक के चिह्नस्वरूप पृष्ठों को मोड़ छोड़ना, बन्द करना आदि विभिन्न प्रक्रियाओं का धक्का झेलकर उन्हें अकाल में ही बूढ़ा हो जाना पड़ता है। इसके अलावा दफ्तरीखाने के विरुद्ध गैरजवाबदेह हरकतों को लेकर अलग अभियोग तो है ही।

पाठकों की ओर से इसका क्या उत्तर होगा, नहीं जानता। किन्तु, जो लोग जिल्दबन्दी के व्यवसाय में लगे हैं, उनकी बात जानता हूँ। हाँ, उस चिरन्तन समस्या में ये लोग भी ग्रस्त हैं, अर्थात् आर्थिक समस्या में। जबकि व्यवसाय है, तो प्रतियोगिता से कतरा जाने का कोई चारा नहीं होता। इनकी प्रमुख प्रतियोगिता रहती है, विदेशागत व्यवसायियों के साथ। ये होते हैं पाकिस्तानी व्यवसायी।

भारत से यदि एक सौ रुपये पाकिस्तान भेजे जायँ, तो विनिमय-दर के अनुसार वही रुपये पाकिस्तान में एक सौ तीस से भी अधिक का मूल्य पा जायेंगे। मान लीजिये कि भारतीय व्यवसायी यदि अपने इस कार्य के लिये साठ रुपयों की माँग करे, तो पाकिस्तानगत व्यवसायी इसी के लिये पचास रुपये ही चाहेगा। इतना कम चाहने पर भी उसे कुछ नुकसान नहीं है, क्योंकि उस रुपये को हिन्दुस्तान से विनिमय-दर के किसी सुयोग में भँजाकर वह असल में और दर तक में भारतीय व्यवसायी के मुकाबले लाभ ही उठा लेगा। इस प्रकार, जिल्दबंदी के काम में अधिकतर वैसे ही लोग हैं, जोकि ऐसा फायदा उठा सकते हैं, और इसके फलस्वरूप भारत के इस व्यवसाय करनेवालों के सारे कामों को ये ही छीन लेते हैं।

इसके बाद की समस्या है दक्ष कारीगरों की। इनकी संख्या बहुत ही कम है, और इस संख्या को बढ़ाने का भी कोई कर्मपन्थ नहीं है। जो इस कार्य में दक्ष थे, देश के बँटवारे के बाद वे पाकिस्तान चले गये हैं और उनका शून्य स्थान आज भी नहीं भर पाया है। एक उदाहरण है। पूर्व-पाकिस्तान के मात्र कई-एक गाँवों के एक विशिष्ट श्रेणी के कुछेक लोगों के द्वारा पुस्तकों की जिल्दबन्दी का यह शिल्प सारे पूर्वी भारत में चालित होता था। प्रायः उत्तराधिकार-प्रणाली के आधार पर वे लोग इस शिल्प की धारा को अव्याहत रखते थे। जान-पहचान के द्वारा काम की अच्छाई-बुराई परख कर वे अपने लिये या अपने उत्तराधिकार को स्थापित करने की परम्परा के लिये नये श्रमिकों और कारीगरों को संग्रहित तथा शिक्षित करते रहते थे। वे उनके शागिर्द बनकर रहते-रहते एक दिन दक्ष कारीगर हो उठा करते थे। अब इस पुरानी कारीगर-श्रेणी का ही अवलोप हो गया है। फिर भी, जो कई-एक इनमें से बाकी हैं, उनके नहीं रहने पर,

उनके रिक्त स्थान को भरने के लिये उपस्थित होगा केवल यन्त्र।

किन्तु यन्त्र का दाम बहुत अधिक होता है। यदि बहुत संख्या में काम निकालना पड़े, तो बहुत अधिक दाम का यन्त्र विदेश से मँगा लेना लाभ का ही रोजगार होगा। इस समय, इस शिल्प में लगे हुए कारखानों में से केवल पाँच-दस कारखानों के पक्ष में ही केवल यन्त्र के लिए पैसे खर्च कर सकना संभव है। पूर्व-भारत के प्रायः पाँच हजार और पश्चिम बंग के प्रायः दो हजार पुस्तक-बँधाई के कारखानों के पक्ष में उन्नत प्रकार के यन्त्रों को खरीदने का कोई सामर्थ्य नहीं कहा जा सकता। यूरोप में पुस्तक-बँधाई का कार्य बहुत पहले से ही यन्त्रों की सहायता से होता है। वहाँ दस हजार से लेकर पचीस हजार तक, पुस्तकों के संस्करण आजकल हमेशा ही होते रहते हैं।

पुस्तकों की सिलाई और बँधाई टूट जाने का गुरुत्व-पूर्ण कारण, पुस्तकों के दाम सस्ते रखने की चेष्टा ही कही जा सकती है। सस्ती चीजें जल्द-जल्द और ज्यादा संख्या में बिकती हैं—यह बात सभी व्यवसायी जानते हैं और पुस्तकों के प्रकाशक भी जानते हैं। मान लीजिए, डिमाई साइज के १५० पन्नों की १०० पुस्तकों की मलाट-जिल्द-बन्दी कराने का खर्च हुआ तीस रुपया। पुस्तक का दाम रखा गया अढ़ाई रुपया। इसी पुस्तक को यदि मजबूत किरमिच-कपड़े में बाँधा जाय तो १०० प्रति की बँधाई का खर्च पड़ेगा बासठ रुपया, अर्थात् प्रति एक सौ प्रति पर बत्तीस रुपये अधिक। मजबूत बँधाई के नाम पर अढ़ाई रुपये की पुस्तक का दाम १०-१२ रुपये हो जाने पर बिक्री का मामला प्रकाशक के लिए बड़ी चिन्ता का विषय हो उठेगा। प्रकाशक का दायित्व पुस्तकों की बिक्री तक ही यहाँ हुआ करता है। किसी पुस्तक के रद्दी जिल्द के कारण एक हफ्ते में ही भँगट जाने पर प्रकाशक को कहीं भी जवाबतलबी के लिये नहीं पेश होना पड़ता है। इसीलिए पुस्तक का दाम बढ़ाकर प्रकाशक पूँजी-फँसाऊ होना नहीं चाहता। सुतरां, इस हालत के बीच, पुस्तक-बँधाई का काम करनेवाले ही बदनामी के भागी होते हैं।

पाठक का पत्र : लेखक के नाम

★

सेवामें : श्री मन्मथनाथ गुप्त, नयी दिल्ली

आदरणीय गुप्तजी !

पत्र इस प्रकार खुलेआम लिख रहा हूँ जिसे न सिर्फ आप बल्कि 'पुस्तक-जगत' के अन्य सभी पाठक भी पढ़ेंगे। मैं इसके लिये माफी चाहता हूँ और उम्मीद ही नहीं वरन् विश्वास है कि आप माफ कर देंगे। आप यह पूछ सकते हैं कि पत्र ही लिखना था तो लिफाफे में डालकर भेज देते, यह इस तरह लिखने का क्या तात्पर्य है कि पत्र तो मेरा है पर सभी इसे पढ़ेंगे ! मेरा निवेदन है कि पत्र पढ़ लें, तात्पर्य स्पष्ट हो जायगा।

सर्वप्रथम मैं एक प्रश्न करना चाहता हूँ। वह यह कि अगर कोई व्यक्ति गलती करता है, छोटी या बड़ी, और वही गलती कोई दूसरा व्यक्ति करता है तो क्या दोनों के अपराध में कोई अन्तर होगा ? क्या दोनों को दो प्रकार की सजा मिलेगी ? आप यह कह सकते हैं कि यह तो परिस्थिति पर निर्भर करता है कि किन परिस्थितियों में पड़ कर दोनों व्यक्तियों ने गलती की। खैर, मैं भूमिका के फेर में न पड़कर सीधी बात ही कहूँ तो अच्छा हो।

हिन्द पॉकेट बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, जी॰ टी॰ रोड, शाहदरा-दिल्ली से आपका एक उपन्यास प्रकाशित हुआ है जिसका नाम है 'जाल'। व्यापारिक सफलता के लिए 'सुरा और सुन्दरी' के प्रयोग पर आधारित यह एक उपन्यास है जिसमें रहस्य है, रोमांस है, और है पाखण्डी बाबा लोगों की धूर्त्तता का चित्रण। एक बात और है, जाल किसी को फँसाने के लिये फेंका जाता है। पर उसमें शिकार फँसेगा ही, यह जरूरी नहीं, और कभी-कभी तो फेंकने वाला भी अपने ही जाल में उलझ जाता है, जैसे आप स्वयं अपने 'जाल' के जाल में उलझ गये हैं। इसमें शायद कोई संदेह नहीं, 'जाल' समाज के शिकारी-(लेखक ?) वर्ग और उसकी जालसाजियों का रोचक और रहस्यपूर्ण नमूना है। आप शायद इन बातों का रहस्य समझ सकने में अपने को असमर्थ पा रहे हैं। मैं स्पष्ट किए देता हूँ। जिस समय आपका यह उपन्यास दिल्ली से निकला, लगभग उसी समय आगरे से एक कहानी-मासिक 'नीहारिका' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। किसी भी नयी पत्रिका के शुरू के दो-चार अंकों में अगर (तथाकथित) बड़े लेखकों की रचनायें न रहें तो उनका टिक पाना मुश्किल ही नहीं असम्भव होता है। आप तो बहुत बड़े लेखक हैं, हिन्दी पाठकों के जाने-पहचाने। उपन्यास, कहानी, इतिहास, आलोचना, काम-विज्ञान आदि सभी विषयों पर आपने एक-पर-एक सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। 'नीहारिका' को भी नया होने के नाते, आपके सहयोग की अपेक्षा थी। आपने बड़ी आसानी से 'जाल' के प्रथम परिच्छेद या अध्याय को एक पात्र के नाम में थोड़ा हेर-फेर करके एवं एक बढ़िया-सा शीर्षक देकर 'नीहारिका' में छपने के लिये भेज दिया। 'नीहारिका' ने आपकी इस कहानी को सर-आँखों पर लिया और 'इन्ट्रो' एवं चित्रों के साथ अपने प्रथम अंक में छाप दिया। मैंने पढ़ा, अन्य पाठकों ने पढ़ा और तटस्थ भाव से आगे इसी के फिर से दुहराने की प्रतीक्षा करते रहे। मन में थोड़ा संदेह अवश्य था कि अब पुस्तक प्रकाशित हो गयी है, गुप्तजी आगे शायद ऐसा न करें। पर ज्यादा प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं पड़ी। 'नीहारिका' के अगले ही अंक में फिर आपकी एक कहानी प्रकाशित हुई। और इस बार उपन्यास का दूसरा अध्याय 'समाधान' शीर्षक कहानी के रूप में छपा। 'सलोत्रा' का नाम आपने 'मल्होत्रा' कर दिया और पहले अध्याय की कहानी को संक्षेप रूप में देने के लिये आपको चन्द पंक्तियाँ ज्यादा लिखनी पड़ीं। उपन्यास में तो सूत्र टूटता नहीं था पर कहानी के रूप में लिखने पर सूत्र बनाये रखने के लिये आपने एक पात्र के कथन को दो हिस्सों में बाँट दिया और बीच में जोड़ा—"आफ़त कोई मामूली नहीं थी। एक उच्च अफसर मल्होत्रा को शराब पिला कर यह धोखा दिया गया था कि उसे उसकी मनपसन्द सुन्दरी मिलेगी, और इसी नाते उससे बहुत बड़ा काम कराया गया था। वह सुन्दरी उसके सुपुर्द कर दी

गयी थी, पर उसने मल्होत्रा को इतनी शराब पिला दी कि उसे सुधबुध ही नहीं रही। और अब उससे कहा गया था कि तुमने तो उस फूल-सी बच्ची को इस बुरी तरह मसला कि उसे नर्सिंग होम में दाखिल कराना पड़ा।" इसी उपर्युक्त आशय की कहानी आपने 'नीहारिका' के प्रथम अंक एवं 'जाल' के प्रथम अध्याय में लिखी है। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि किन परिस्थितियों में पड़कर आपको ऐसा करने को बाध्य होना पड़ा? क्या 'नीहारिका' में कहानी भेजना आवश्यक था? और यदि यह मान भी लिया जाय कि सम्पादक ने कहानी के लिये आपको बहुत अधिक तंग किया होगा तो क्या आपका कहानी का स्टॉक इस प्रकार समाप्त हो गया था कि उपन्यास में से कहानी बनाकर भेजना पड़ा? यदि ऐसा करना ही था तो पहले के किसी उपन्यास में से फेर-बदल करते, सद्यःप्रकाशित उपन्यास को इस तरह 'दूहना' किसी भी दृष्टि से अच्छा नहीं हुआ। आपके जैसे लेखक को यह सब कतई शोभा नहीं देता। अगर कोई छोटा-मोटा लेखक ऐसी हरकत करता तो आप सभी मिलकर उसका बहिष्कार कर देते, उसकी आलोचनाएँ करवाते। पर आपको हम क्या कहें?

इतना ही नहीं, 'मल्लिका' के कहानी-विशेषांक (जून १९६१) में आपकी एक कहानी 'चेंज' प्रकाशित हुई है। मुझे याद है कि यह कहानी मैं वर्षों पहले किसी दूसरी पत्रिका में (शायद 'सरिता' के किसी अंक में) पढ़ चुका हूँ। 'मल्लिका' के इसी अंक में सुश्री रजनी पनिकर की भी एक कहानी छपी है—'जिंदगी प्यार और रोटी'। जहाँ तक मेरी स्मरण-शक्ति काम कर रही है, मैं इस कहानी को भी इससे पहले किसी दूसरी पत्रिका में पढ़ चुका हूँ। यह सब कैसा गड़बड़ है, मेरी समझ में नहीं आता। मैं किसे दोषी ठहराऊँ—लेखक को या सम्पादक को? या पाठक ही दोषी है जो इन गलतियों पर अपनी आँखें मूँदे नहीं रह सकता और खामखाह मीन-मेख निकालता रहता है! अगर सम्पादक का दोष है तो लेखक को चाहिये कि वह इसका खुलकर प्रतिवाद करे। और यदि लेखक की गलती है तो फिर भगवान ही मालिक है।

गुप्तजी, क्षमा करेंगे मेरी गुस्ताखी को। जब आँखें मूँदे रहना मुश्किल हो गया तो यह पत्र लिखना पड़ा है। उत्तर की अपेक्षा रहेगी। वैसे आप इसे आसानी से नजरअन्दाज कर सकते हैं।

विनीत
—विचारकेतु
(द्वारा—'पुस्तक-जगत', ज्ञानपीठ प्रा० लि०, पटना-४)

*
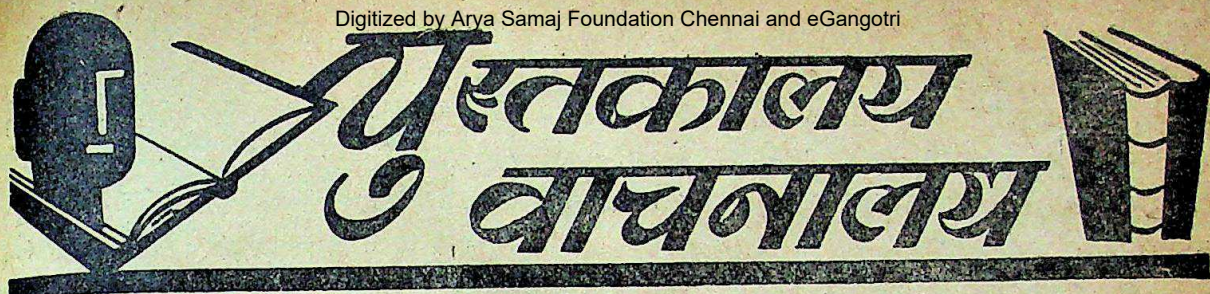
पुस्तक पढ़ने का सुयोग और सुविधा

श्री अभि दास

जो बुद्धिजीवी हैं, पुस्तक पढ़ना उनके लिये एक अनिवार्य और उचित चीज है। बहुतों के लिये तो वह हवा-पानी की तरह जीने का साधन है। वह नहीं होने पर वे जी नहीं सकते। ऐसे दार्शनिक और साहित्यिक हो चुके हैं, जो आहार-निद्रा तक को भूलकर दिन-पर-दिन पुस्तक पढ़ते चले गये हैं। फिर, बहुतेरे कर्ज करके, यहाँ तक कि अपनी धन-सम्पत्ति तक को बेचकर भी पुस्तकें खरीदते-पढ़ते रहे हैं। क्यों नहीं, आखिर धन-सम्पत्ति का मूल्य ही कितना है? वह क्या दे सकती है? और, विषय-वस्तु की कीमत दाँव पर लगाकर भी क्या ज्ञान का परिमाप हो सकता है?

ऐसे लोग आज भी नहीं हों, ऐसी बात नहीं है। आज के इस प्रचंड वैषयिक युग में विषय-ज्ञान के समाज के सारे स्तरों में प्रविष्ट हो जाने के बावजूद इस प्रकार के पाठकों की जाति बची हुई है। यह नहीं कि वे बड़े ही लोग हों, बल्कि यह भी हो सकता है कि वे किसी व्यापार-एजेंसी के छोटे कार्यालय में कनिष्ठ कर्मचारी हों। वे क्या वेतन पाते होंगे—यह सहज ही अनुमेय है। किन्तु महीने के पहले सप्ताह में ही वे काफी मोटी पूँजी—खासकर अपने नाते महँगी पूँजी—की पुस्तकें खरीद ही डालते हैं। वैषयिक विचार के नाते संसार के अभावों की विवेचना में यह उनका अपने प्रति अन्याय ही है। फिर भी वे अन्याय करते ही हैं। आफिस में यूनियन का पुस्तकालय है, मुहल्ले में तरुण-संघ की लाइब्रेरी है—किन्तु इन दोनों जगहों पर जनप्रिय लेखकों की जनप्रिय पुस्तकों से भी उनकी पिपासा शान्त नहीं होती। वे और पढ़ना चाहते हैं।

पहले की अपेक्षा आज के युग में ग्रंथों के प्रकाशन की संख्या कई गुना बढ़ गयी है। आमदनी भी क्रमशः बढ़ रही है। और, प्रकाशकों तथा ग्रंथ-विक्रेताओं की संख्या भी काफी बढ़ गयी है। किताबों के बाजार में रुपयों का जो आदान-प्रदान होता है, वह भी कोई निहायत कम नहीं है।

पुस्तक खरीद कर पढ़ने को पहला महत्त्व देने पर यह कहा जा सकता है कि प्रकाशन-उद्योग के स्फीत हो उठने के बावजूद बिक्री की कोई अच्छी व्यवस्था अबतक नहीं बन पायी है। ग्रंथों की प्रचार-व्यवस्था तो और भी शोचनीय है। निहायत शीर्षस्थानीय कुछ लेखकों को बाद देकर (वह भी सभी क्षेत्रों में नहीं), किसकी कौन नयी पुस्तक प्रकाशित हुई है, कौन पुस्तक पुनमु द्रित अवस्था में नहीं है, कौन नये लेखक साहित्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं—यह सब जानने का चारा किसी भी साधारण पाठक के पक्ष में नहीं हो पा रहा है। पुस्तक की दूकान में जाकर भी दस-बीस पुस्तकों को उलट-पुलट कर पसन्द करने की फुर्सत किसी के पास बहुत कम ही होती है। और, हमारे पुस्तक-विक्रेताओं में विक्रेता-योग्य गुणों का अभाव भी कम लक्ष्यणीय नहीं है। यूरोप के ज्यादातर देशों में नियम है कि विशेष रूप से शिक्षित कर्मचारियों के अलावा, पुस्तकों की दूकान में और कोई साधारण व्यक्ति विक्रेता का काम नहीं करता। क्योंकि वहाँ के व्यवसायी जानते हैं कि विक्रेता के दोष से पाठक के ग्रंथ-पठन से विमुख होने पर या किसी विपथ पर चले जाने पर केवल पुस्तक-व्यवसाय की ही क्षति होगी, इतनी ही बात नहीं, बल्कि इससे समग्र जाति की क्षति होगी। हमारे

देश में, जहाँ कि पाठकों के ग्रंथ-पठन से विमुख होने की सम्भावना बहुत अधिक है, पुस्तक-विक्रेताओं के लिये अविलम्ब एक वैसी ही शिक्षण-व्यवस्था का आयोजन होना नितान्त आवश्यक है।

और भी एक दिशा है : मूल्यवान वाल्यूम वाले ग्रंथों के प्रकाशन और विक्री की ओर हमारे प्रकाशकों का कोई उद्योग नहीं हो रहा है। और फिर, दरिद्र और अल्प-सम्पन्नों के लिए साहित्य, विज्ञान और कला आदि विषयों की उल्लेखयोग्य पुस्तकों के यथार्थ सुलभ संस्करणों के प्रकाशन के विषय में अबतक कोई विशेष चेष्टा नहीं दीख रही है। फिर भी, यह हर्ष की बात है कि कोई-कोई प्रकाशक इस ओर अब चेष्टा कर रहे हैं। उनकी यह चेष्टा सफल होगी।

ग्रंथ पढ़ने के अवसर के विषय में, इसके बाद ही, ग्रंथागारों की बात आती है। राष्ट्रीय प्रचेष्टा के कारण जो कतिपय राष्ट्रीय ग्रंथागार तैयार हो उठे हैं, प्रकाशन के कानून के अनुसार उनमें भारत में प्रकाशित सभी पुस्तकें इकट्ठी हो जाती हैं। फलस्वरूप, इन सब ग्रंथागारों ने गवेषक, साहित्यकार और निष्ठावान पाठकों के आगे अध्ययन का अपूर्व सुयोग उपस्थित कर दिया है।

राष्ट्रीय ग्रंथागारों के अलावा भी मौजूदा सरकारी और गैर-सरकारी उद्योगों से शहरों और गाँवों में ग्रंथा-गारों की अच्छी भरमार हो रही है। यहाँ तक कि कहीं कहीं चलायमान ग्रंथागार भी जारी हुए हैं। आजकल छोटे ग्रंथागार प्रायः प्रत्येक शिक्षालय, छात्रावास, आफिस और कारखाने के अपरिहार्य अंग हैं। इस प्रकार, ग्रंथ-पठन का सुयोग बहुत ही बढ़ गया है, इसमें कोई संदेह नहीं है। किन्तु पाठकों की संख्या इससे भी अधिक है, उनकी माँग तो और भी अधिक है।

यह बात बहुत सत्य है कि शहरी अंचलों की तुलना में ग्रामीण अंचलों में पाठकों की संख्या कम होती है। फिर भी, ग्रामीण अंचलों के लिये आजतक जो व्यवस्था की गयी है, वह काफी चिन्तनीय है। बहुतेरे ग्रामों में कोई भी पुस्तकालय नहीं है। जहाँ है, वहाँ पुस्तकों की संख्या बहुत ही कम है। उनके वितरण की संख्या भी अनुपयुक्त ही है। ग्रामवासियों में पठन-तृष्णा जगा देने के लिये कोई चेष्टा भी दिखाई नहीं देती।

जनबहुल नगरांचलों में कुछ-संख्यक ग्रंथागार हैं। इसके बावजूद, बहुतेरे स्थानों में, यहाँ तक कि कलकत्ता जैसे शहरों में, सभी ग्रंथ-पठन का सुयोग नहीं पा रहे हैं। इस अभाव की पूर्त्ति के लिये कलकत्ते के चौरंगी मुहल्ले के कई प्रकाशक-विक्रेताओं ने मिलकर चन्दे के द्वारा पाठकों के पास मुफ्त पुस्तक पहुँचाने की व्यवस्था की है। इससे पाठकों को यह सुविधा होती है कि वे अपनी पसंद के मुताबिक नयी-नयी पुस्तकें हर समय पा सकते हैं। दूसरी ओर, व्यवसायियों को भी यथेष्ट लाभ होता है।

इस समय शहरों के फुटपाथों के पुरानी पुस्तकों के विक्रेताओं में से अनेकों ने पढ़ने का भाड़ा लेकर पाठकों को सुलभ संस्करणों की पुस्तकें देना जारी कर रखा है। उनका नियम है कि पुस्तक लेने के समय पुरानी पुस्तक का मूल्य जमानत के तौर पर देना होता है। पढ़कर पुस्तक लौटाने के समय चार आने या छह आने (पुस्तक के दाम के अनुसार) पुस्तक-पढ़ने का भाड़ा काटकर वे दाम वापस कर देते हैं। इस व्यवस्था से पाठक और विक्रेता दोनों ही लाभवान होते हैं। किन्तु दुःख की बात तो यह है कि ऐसे भी सुयोग की व्यवस्था, कहीं-कहीं को छोड़ कर, हर जगह नहीं है।

इस प्रसंग में पारिवारिक पुस्तकालय से, चंदा लेकर पाठकों को पुस्तक उधार देने की एक अत्यन्त सुविधा-जनक व्यवस्था की बात उल्लिखित करने का प्रयोजन मन में आता है। यूरोप के अनेक देशों में यह प्रथा चालू है। वहाँ ऐसे अनेक परिवार हैं, जिनका पुस्तकालय अच्छा-खासा है। पढ़ने के कमरे या बैठक में पुस्तकों को वे आल-मारियों में सजाये रखते हैं और परिचित, बन्धुबान्धव या मुहल्ले के सामान्य लोगों को, कुछ मामूली पैसे जमानत में लेकर और कुछ मासिक चन्दा लेकर, वे पुस्तक पढ़ने का सुयोग दिया करते हैं और इस प्रकार दोनों ही उपकृत होते रहते हैं। एक ओर किसी के पुस्तक ले जाने पर उसके नहीं लौटाने की आशंका नहीं रहती, परिवार की आय बढ़ती है, और कुछ और लगाकर ग्रंथ-संग्रह बढ़ाने की गुंजाइश बनी रहती है; तो दूसरी ओर पाठक भी आसानी से पुस्तक पढ़ने का सुयोग पा जाते हैं। हमारे शहरी अंचलों में परीक्षा के तौर पर भी इस प्रथा के जारी कर देखने में आखिर हर्ज भी क्या है?

कसौटी

शेष पांडुलिपि
लेखक—बुद्धदेव बसु
अनुवादक—अनूपलाल मंडल
प्रकाशक—पराग प्रकाशन, पटना-४
मूल्य—२·५०

मासिक 'पुस्तक-जगत' ने इस बँगला उपन्यास के संबंध में निम्नलिखित विज्ञापन प्रकाशित किया है :

"संस्मरणात्मक शैली में लिखे हुए इस श्रेष्ठ साहित्य-शिल्प में साहित्यकार की सारी चिन्ताधारा तमाम घटनाओं और आघातों के मूवी-कैमरे में नेगेटिव होकर चित्रित हुई है, जिसको सकारने या पाजिटिव रूप देने का निर्मम भार सहृदय पाठक के मन को अभिभूत करता है। किसी विचारशील शिल्पी के सारे निस्संग कृत्यों-अकृत्यों को इस कृति से अधिक शायद ही कहीं तटस्थता-पूर्वक उपस्थित किया गया हो।"

अंतिम वाक्य के बारे में प्रस्तुत समीक्षक का यह कहना है कि अध्ययन का अपना ऐसा दावा नहीं कि इस वाक्य को काटा जाय। हाँ, उपन्यास के लेखक ने भूमिका में इस सिलसिले में रूसो का नाम लिया है और रूसो का नाम लेकर स्वयं भी कुछ ऐसा ही सिद्ध करने का प्रयास किया है। नेगेटिव को पाजिटिव का रूप देने का भार सहृदय पाठकों पर ठीक-ठीक नहीं पड़ता, क्योंकि वह रूप स्वयं लेखक ने दे दिया है, जिसे हम 'परिणाम' कह सकते हैं। यदि उपन्यास का नायक वीरेश्वर गुप्त अपने सारे कृत्यों-अकृत्यों के कारण किसी परिणाम की ओर परिणत न होता तो नेगेटिव की धुलाई की आवश्यकता होती। जब हम वीरेश्वर के मानसिक विघटन की चर्चा करेंगे तो इसपर और विचार करेंगे।

शिल्प की बात वस्तुतः मान्य है। बुद्धदेव बसु सन् १९३० से उपन्यास लिख रहे हैं और इस समय बँगला के लेखकों में बहुत शक्तिशाली हैं। इतना सुगठित सशक्त गद्य 'कल्लोल-गुट' के इने-गिने लेखकों के पास ही है। किन्तु शिल्प की दृष्टि से इस उपन्यास में एक बात बड़ी खटकती है। ठीक बीच से उपन्यास के दो फाँक हो जाते हैं और अन्त के आकस्मिक क्लाइमेक्स के बावजूद दोनों फाँक जुट नहीं पाते। उपन्यास का गौरी वाला प्रसंग जितना सशक्त और अकृत्रिम मालूम पड़ता है उतना अर्चना वाला प्रसंग नहीं और दूसरी बात कि अन्त-अन्त तक अर्चना और प्रफुल्ल से संबंधित कथा अवान्तर कथा जैसी ही लगती है।

तब, एक असाधारण चरित्र का जितना सफल निर्वाह हुआ है वह स्वयं एक ऊँची कलात्मकता है। किन्तु साथ ही ध्यान उस ओर भी जाता है कि जगह-जगह अद्भुत जाल रचे गये हैं, एक श्रेष्ठ शिल्पी द्वारा अपने एक श्रेष्ठ उपन्यास के प्रति साधारण पाठकों को आतंकित करने के लिये। यह लेखक की एक अद्भुत क्षमता है।

प्रफुल्ल और अर्चना का प्रसंग, जो आधे उपन्यास से शुरू होता है, संभवतः इसलिये लाया गया है कि वीरेश्वर के पारिवारिक जीवन में और था ही क्या उपन्यास को आगे निकालने के लिये। और शायद इसलिये भी कि "घरौआ बातचीत, लोग जिसे कहते हैं 'गप्प करना'; उन सब नगण्य तुच्छ बातों का आदान-प्रदान, जिनके व्यवहार से उपन्यास का चरित्र जीवन्त हो उठता है" के प्रति वीरेश्वर को स्पष्ट ही वितृष्णा थी। इसीलिये सातवें और आठवें परिच्छेद में रवीन्द्रनाथ, विश्वास, आर्ट आदि पर लम्बी बहसें हैं जिन बहसों के बीच से वीरेश्वर और अर्चना का प्रेम चुपचाप जन्म लेता है। यह तो तब अधिक विश्वास-योग्य घटना होती जब प्रफुल्ल स्वयं बुद्धिजीवी नहीं होता और अर्चना जैसी 'माडर्न लेडी' इन बहसों से अभिभूत हो जाती अथवा अर्चना एक ऐसी स्त्री होती कि वीरेश्वर का साहित्य पढ़कर ही प्रेम-दीवानी हो जाती। प्रेम यूँ ही हो गया है, ऐसा भी नहीं है।

वीरेश्वर गुप्त का चरित्र वस्तुतः एक आत्म-संघर्ष है। उसकी शारीरिक भूख को भी उसी रूप में कर दिया गया है। इसीलिये यह आत्म-संघर्ष कहीं-कहीं एक कल्पित स्थिति मालूम पड़ता है। प्रायः वीरेश्वर इतना निरीह है कि वह सोचता है कि भवितव्यता के वश से ही सब कुछ हो रहा है (जीवन में फ्रस्ट्रेशन—कुछ करने का इरादा ही नहीं तो फ्रस्ट्रेशन क्या।—के कारण अथवा फ्रस्ट्रेशन

के लिये खूब शराब पीना और शराब पीकर वेश्याओं के पहलू में लुढ़कना फिल्म और साहित्य की दृष्टि से एक मान्यताप्राप्त मनोवैज्ञानिक सत्य है और यथार्थवादी भूमिका में 'भवितव्यता' इसी सत्य से जन्म लेती है) और इस भवितव्यता के चलते शारीरिक संसर्ग प्रेम का एक अनिवार्य और मानसिक विघटन उपस्थित करने वाली (दोनों बातें इस उपन्यास की कसौटी पर) स्थिति हो जाता है। यही वह कल्पित स्थिति है। लेखक द्वारा संयोजित इस कल्पित स्थिति ने चरित्र-नायक के व्यक्तित्व को और भी विखंडित, विचूर्ण कर दिया है और इस व्यक्तित्व के माध्यम से एक आदर्श चरित्र-नायक का निर्माण कर लिया गया है। इस आदर्श के पीछे शायद वीरेश्वर का यह कथन दर्शन का काम करता है कि 'यदि में ध्वस्त न होता तो कुछ भी न होता।' यानी ध्वस्त होकर वह जो कुछ हुआ, वह भी नहीं होता।

वीरेश्वर का यह विखंडित व्यक्तित्व एक प्रकार के घेरे में उपन्यास को कस देता है और एक उत्तेजना का वातावरण हर जगह छाया रहता है। 'रास खिंचे रेस के घोड़े की तरह टलमल' करते रहने वाले वीरेश्वर की उत्तेजना कहीं-कहीं असह्य भी हो जाती है किन्तु लेखक की अनूठी, परकाय-प्रवेशी, पारदर्शी, फ्लैश-बैक वाली शैली और भावानुगामिनी भाषा का ऐश्वर्य उसी क्षण अनुभूति को मार्मिक बना देता है।

किन्तु जिस चरित्र-नायक का निर्माण लेखक ने किया है उसके चलते उपन्यास का कोई सामाजिक धरातल बनने से रह जाता है, वीरेश्वर के पिता और गौरी के बेमेल विवाह वाले प्रसंग—जो कि एक हद तक तुर्गनेव के 'फर्स्ट लव' की याद दिलाता है—के बावजूद। इस प्रसंग से उतना भर होता है कि समाज-चित्र की नग्नता थोड़ी उभरती है, वास्तविकता थोड़ी उग्र होकर किंचित समय के लिये सामने आ जाती है, जैसा कि बुद्धदेव वसु के अधिकांश उपन्यासों में भी है। बस। इस प्रसंग को इतना खींच कर ऐसा सोचना मुनासिब नहीं मालूम होता कि इस उपन्यास ने इस प्रसंग को लेकर कोई सामाजिक प्रश्न खड़ा किया, क्योंकि प्रसंग ही उपन्यास से निकल कर गायब हो जाता है। वीरेश्वर के अवचेतन में इसकी प्रतिक्रिया कहीं रही हो तो क्यों रहे? अपने पिता के लिये कितना-सा स्थान रह गया था उसके हृदय में और उसने कब किस चीज को सीरियस ढंग से सोचा ही! और फिर स्वयं वीरेश्वर ही कितना सामाजिक प्रतिनिधि है! यानी लेखक ने वीरेश्वर को व्यक्ति के रूप में ही देखा है। कहा जाता है कि वसु अपने अन्य दो समकालीन लेखकों—प्रेमेन्द्र मित्र और अचिन्त्यकुमार सेनगुप्त जिनके साथ बुद्धदेव वसु को शामिल कर अति आधुनिक बँगला साहित्य की त्रयी बनायी जाती है—की ही भाँति विशेषतः शहर की निम्न-मध्य-वित्त श्रेणी की ग्लानि, दुख और गरीबी के चित्रकार हैं। किन्तु इस उपन्यास में वीरेश्वर गुप्त जिस वर्ग से आता है, उस वर्ग का सामूहिक वीरेश्वर वह नहीं हुआ है —अपनी कुछ अति व्यक्तिगत विशेषताओं के कारण और क्योंकि उसकी मूल समस्या भी आर्थिक नहीं है। वीरेश्वर समाज का फेंका हुआ पात्र नहीं है, बल्कि लेखक का इच्छित पात्र है, जिसे लेखक ने समाज पर आरोपित करना चाहा है (इसके प्रमाण स्वयं वीरेश्वर के जगह-जगह के वक्तव्य हैं)। हाँ, यह सच है कि जिस चरित्र की सृष्टि लेखक ने की है उस चरित्र का उसने गंभीर अध्ययन किया है।

अब एक दूसरी चीज पर विचार किया जाय। एक कोरा आदर्शवादी दृष्टिकोण अपनाने से उपन्यास अगर बेजान हो सकता है तो यथार्थ के नाम पर मात्र विघटन के तत्वों को ही जीवन-दर्शन मान लेने के कारण भी उपन्यास निष्प्राण हो सकता है (इतनी उत्तेजनाओं के बावजूद!)। इससे तो वह कोरा आदर्शवाद ही बेहतर होता है, क्योंकि उसमें समाज का अहित होने की गुंजाइश अपेक्षाकृत कम रहती है। पात्रों की अकर्मण्यता भी उस आदर्शवाद की अपेक्षा इस यथार्थ में अधिक उभरती है, क्योंकि इसमें भवितव्यता का मैदान ज्यादा साफ रहता है। यही अकर्मण्यता बुद्धदेव वसु के वीरेश्वर गुप्त में है और मानना पड़ता है कि शरद बाबू का श्रीकान्त, वीरेश्वर गुप्त की अपेक्षा, अधिक समझदार, मानवीय प्रेरणाओं से प्रेरित एवं कर्मठ नायक है।

उक्त प्रकार का यथार्थ दूसरी ओर एक खयाली दुनिया को खड़ा करता है। खयाली दुनिया केवल रूमानी

दुनिया ही हो, सो बात नहीं। यथार्थवादी कथानक में जब लेखक उक्त प्रकार के यथार्थ का सृजन करने लगता है तो यह खयाली दुनिया रूमानी दुनिया वाले उपन्यासों की अपेक्षा कभी-कभी अधिक भोंड़ी लगने लगती है। ऐसी ही एक खयाली दुनिया इस उपन्यास में दिखायी देती है, जिसे हम वह जाल भी कह सकते हैं जिसका उल्लेख मैंने शुरू में किया है (इस तरह की खयाली दुनिया की सृष्टि दर्द पैदा करने के लिये की जाती है)। जहाँ तक खयाली दुनिया का रूमानी पक्ष है, इसके लिये बुद्धदेव बसु की अनेक आरंभिक कविताओं में से उदाहरण दिये जा सकते हैं, जिनमें उनकी 'आर किछु नाहि साध' वाली कविता भी एक है।

उपन्यास का अनुवाद साधारण है। कहीं-कहीं लिंग की अशुद्धियाँ हो गयी हैं और कुछ हिज्जे-संबंधी गलतियाँ भी।

अब हमें यह भी विचार कर लेना चाहिये कि वीरेश्वर गुप्त को क्या चाहिये। मेरी दृष्टि में वीरेश्वर गुप्त को निम्नलिखित तीन बातें मुख्य रूप से चाहिये :

(क) वीरेश्वर गुप्त को साहित्य की अपेक्षा औरत चाहिये। थोड़ा-बहुत साहित्य अगर चाहिये भी तो रवीन्द्रनाथ का नहीं (आश्चर्य है कि वीरेश्वर गुप्त अपने किसी समकालीन लेखक की चर्चा नहीं करता!)।

(ख) वीरेश्वर गुप्त को गौरी जैसी पत्नी चाहिये। गौरी नहीं तो अर्चना जैसी प्रेमिका चाहिये। लेकिन सुधा जैसी पत्नी नहीं चाहिये क्योंकि जवानी उतर जाने के बाद तो सुधा के चेहरे पर सिर्फ भोंडापन ही झलकता है। पत्नी ऐसी चाहिये कि चार-पाँच बच्चे पैदा कर लेने के बाद भी उसके चेहरे पर जवानी और-और निखरती चली जाय, जैसे अर्चना; चाहे उसका पुरुष जितना भी नालायक और नृशंस हो (यही वीरेश्वर गुप्त की सांस्कृतिक चेतना का आधार है, जिसपर उसकी प्रतिहिंसा और उसका मानसिक विघटन उपन्यास के उत्तरार्ध को खड़ा करता है)।

(ग) वीरेश्वर गुप्त प्रतिक्षण जितनी उत्तेजना में बहता रहा है उससे और अधिक उत्तेजना उसे चाहिये।

अतः उपन्यास पठनीय है।

—प्रभाकर मिश्र

नागफनी

लेखक—कृष्णचन्द्र शर्मा 'भिक्खु'
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली—६
मूल्य—तीन रुपये पचास नए पैसे
पृष्ठ-संख्या—२२३

नारी अगर एक ओर कुसुम से भी कोमल है तो दूसरी ओर कुलिश से भी कठोर है। उसे मायाविनी कहा गया है। चाहे अंगारे हों, उपल या फूल—सभी कुछ से जीवन का शृंगार करने में वही एक समर्थ है। कभी तृषा को तृप्ति देती है तो कभी तृप्ति में तृषा भरती है। लता-सा है उसका स्वभाव! पनपने को वृक्ष का सहारा उसे चाहिये ही, वह चाहे करील का ही क्यों न हो। फिर भी अपने आप में इतनी पूर्ण और निरपेक्ष कि आकाश-बेल की तरह मूल की भी अपेक्षा नहीं। उदारता में पवन-विहारी पुष्प-सुवास से भी अधिक मुक्त! रसदान में आषाढ़ी मेघ से भी मुक्तहस्त!

नारी के हृदय का सूत्र सीधा ही है। उसकी नाना भंगिमा और व्यंजना के नीचे कहीं विशेष जटिलता नहीं है। लेकिन वह सूत्र हाथ कब आता है? इससे पुरुष के भाग्य की तरह स्त्री के चरित्र को अतर्क्य मान लिया जाता है। तर्क उसमें है, पर स्त्रीत्व का है।

पर यह नारी जब बाहर के प्रहारों से स्वयं का आकुंचन करती है तो ठीक नागफनी-सी बन जाती है। मरु में भी जीवन-धारण करने में समर्थ। अपने रस को अपने ही भीतर निविड़ कर उसी के पुष्ट तीक्ष्ण काँटों से अपनी रक्षा में सन्नद्ध।

इस उपन्यास की नायिका रेवती नागफनी है। नागफनी को देखते हुए कहती है—"लोग इसे कहते हैं, 'सत्यानासी'। जहाँ इसके पाँव जमे वहाँ और कुछ थोड़े ही उगेगा। न उगे। वह क्यों इसकी परवाह करे। लोग तो रूप को भी कहते हैं सत्यानासी। अपनी कमजोरी को नहीं कोसते। दूसरों की ताकत को गलियाते हैं। नागफनी सत्यानासी नहीं सखी है, मेरी प्यारी सखी।" पर रेवती के मन में एक सन्देह उठ खड़ा होता है। उसके नागफनी-जैसे काँटे कहाँ हैं। पर फिर उसे लगता है कि उसके अंदाज, चितवन, ऐंठन क्या नागफनी के काँटों से

कम तीखें हैं! वह नागफनी में अपना साम्य देखती है, "अपनी ताकत तू आप है। किसी की छाया भी तुमपर पड़ जाए तो बिंध जाए। हाय, मैंने भी तो भोले-भाले दिलों को बेध डाला है।" हाँ, रेवती के पास जो भी आया बिंध गया—चन्द्रकान्त, जयन्त, सुन्दरम्!

रेवती का स्वभाव नागफनी-सा होते हुए भी वह नागफनी-सी असुन्दर नहीं। वह बेहद सुन्दर है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि उसे अपनी सुन्दरता का एहसास है। रेवती के चरित्र को ऊंचा उठाया जा सकता था, पर लेखक ने उसे स्वस्थ ही कब होने दिया। उसे हमेशा बीमार ही दिखाया है--काम-ज्वर-ग्रस्त! क्या नारी का यही एक रूप है? सब ओर से आँखें मूँदकर, काम-भावना की प्रधानता का चित्रण और उसे तड़पती हुई दिखाना कहाँ तक उचित है, यह व्यक्तिगत दृष्टिकोण पर निर्भर करता है।

नारी लाख रूपगर्विता ही क्यों न हो, उसे कितना भी अहं क्यों न हो, उसे पुरुष के प्रति आत्म-समर्पण करना ही पड़ता है--हाँ, समर्पण की क्रिया में हेर-फेर हो सकता है, विधान में अंतर हो सकता है। रेवती चंचल है। किसे वह आत्मसमर्पण करे—कौन उसके उपयुक्त है—यह तय नहीं कर पाती। भीतर रस भर कर और बाहर काँटे लगाकर वह जीना चाहती है। उसे सहारे की जरूरत नहीं।

अगर एकांगी चित्रण को नजर-अन्दाज कर दिया जाय और जो चित्रण लेखक ने किया है उसपर ही गौर किया जाय तो कहा जा सकता है कि लेखक सफल रहा है।

एकाध भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ हैं, जैसे--'छेड़कानी', 'किसकी इन्तजार है'।

अजय की डायरी

लेखक—डॉ० देवराज
प्रकाशक—राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली-६
मूल्य—पाँच रुपये
पृष्ठ-संख्या ३३४

डायरी के रूप में लिखा जाकर भी कोई उपन्यास रोचक हो सकता है इसका उदाहरण है 'अजय की डायरी'। वैसे, डायरी पढ़ते-पढ़ते तबीयत ऊब जाती है पर प्रस्तुत पुस्तक पढ़ते समय ऐसा कभी महसूस नहीं हुआ कि मन को जबरन एकाग्र करना पड़ रहा है। हाँ, तारीख वगैरह पर कभी ध्यान नहीं दे पाया।

यह एक सशक्त प्रेम-कथानक पर आधारित है। इसमें संवेदनशील मनुष्य की गहनतम आवश्यकताओं का उद्घाटन करते हुए आज के समाज और उसकी संस्थाओं की सूक्ष्मतम कमजोरियों पर मार्मिक टिप्पणी प्रस्तुत की गयी है।

"मानव-अनुभूति के दार्शनिक-आध्यात्मिक आयाम के संकेतों की गूढ़ता, नैतिक-मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की सूक्ष्मता, सशक्त चरित्र-चित्रण, मूर्त्त विवरणात्मकता, घटना-प्रसंगों की स्मरणीयता, कलात्मक गुम्फन की जटिल एकता—इस उपन्यास में क्या नहीं है।" 'अजय की डायरी' द्वारा लेखक का (व्यक्तिगत) जीवन-दर्शन जाना जा सकता है।

डॉ० अजय एवं हेम का चरित्र-चित्रण अच्छा हुआ है। डॉ० अजय के चरित्र के स्पष्टीकरण के लिये तो उसकी डायरी है ही पर हेम के चरित्र की झाँकी देने के लिये उसके नोटबुक के कुछ अंश दे देने से उसकी भावनाओं की झलक मिल जाती है। डॉ० अजय को 'अंतर्राष्ट्रीय रूप' देने की कोशिश की गयी है, पर सफलता नहीं हो पायी है। अतः प्रकाशक का इस उपन्यास को 'हिन्दी का पहला अन्तर्राष्ट्रीय उपन्यास' का फतवा देना उचित नहीं जान पड़ता।

कहानी बी० नगर की कही गयी है, पर यह स्पष्ट है कि यह कल्पित बी० नगर नाम इलाहाबाद का दिया गया है।

छपाई साफ एवं प्रच्छद-पट आकर्षक है। लेखक को सुन्दर कृति के लिये और प्रकाशक को अच्छे ढंग से इसे उपस्थित करने के लिये बधाई।

—विचारकेतु

जो भी कुछ देखती हूँ (कविता-संकलन)

कवयित्री—कान्ता
प्रकाशक—नवहिन्द पब्लिकेशन्स, हैदराबाद
मूल्य—३·००

५६ छोटी कविताओं में स्त्री-सुलभ 'समर्पण' ही अधिक ध्वनित है। कहने के ढंग के फर्क से ऐसी एकरसता बहुत पुरानी चीज है—गीतांजलि से लेकर महादेवी

तक में। कविता के क्षेत्र को और विस्तृत करना भी 'नई कविता' का लक्ष्य होना चाहिए, क्योंकि उसके आगे आलंबनों के रूप में कुछ भी अस्पृश्य या ग्राम्य नहीं है। स्त्री-स्वभाव इनसे अधिक अपने तईं होता है और बाज-बाज पुरुष भी निर्गुनिया होने के धोखे में ऐसा ही हो जाता है। 'बँध गई हूँ किनारे से—बाँध से, क्योंकि मैं प्यार करती हूँ', 'उदास···सब—मेरी आँखों में नमी बन उतर आया; मुझे लगा कि मेरी पीड़ा समर्पित हुई', 'ताल के जल में मुझे अपनी आँखों में बन्द तुम नजर आते हो', 'और बिखर-बिखर जाते हैं स्वप्न आत्मीय जनों के', 'कितना बिखरा है सुख···समर्पित बेला के सौरभ-विस्तार में', 'अँधेरे वक्ष पर माथा टेक रो चुकी हूँ, सहज हूँ'—आदि पदों से चार बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात : हर बात स्त्री कह रही है। दूसरी बात : उसका समर्पण लाचारी का है, इसी से उसमें सुख सपने जैसा है और इसीलिये दुख की छाया लिये हुए है। तीसरी बात : कहने के लिये हर जगह बात का रस एक ही है। चौथी बात : इन बातों में सांसारिकता है, सहानुभूति है; महानुभूति नहीं।

यह लाचारी क्यों है कि 'वत्सलता जगी नहीं मुझमें आज पहली बार किलकते शिशु की आकाश-भर छा जाती छनछनाती हँसी सुन' जैसी बात हो गुजरी? इसका उत्तर ऐसी कवितायें नहीं ही दिया करतीं। और, इसीलिये इनमें कुछ निविड़-जैसा रस होता है, जिसमें 'और स्वयं तुम भी दूर के प्रतिध्वनि सरीखे अपरिचित अकस्मात' होता रहता है। अलिंग-अनुभूति जैसी ऊँचाई यह नहीं है, और तब है क्या जो इतना क्रूर और ऐसा कंटक है?

प्रसन्नता है कि इस अवसाद को भी मैं पढ़ और झेल गया।

गीतांजलि

अनुगायक—श्री हंसकुमार तिवारी
प्रकाशक—मानसरोवर, गया
मूल्य—५.५० : पृष्ठ—१६६

अनुगायक श्री हंसकुमारजी का कहना है कि 'यह न केवल पद्यानुवाद है, न सिर्फ इसमें तुक, अंत्यानुप्रास, गति की ही रक्षा की कोशिश है, बल्कि छंद भी करीब-करीब वही हैं।' यह बात काफी सही है और इस नाते अनुगायक के आगे जो कठिनाई आ सकती है वह इस तरह की होती है : बँगला छंदों की नागर नहीं, आंचलिक प्रवृत्ति होती है और वही रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि में भी है। अर्थात्, किसी भी शब्द की लिखित मात्रा और तदनुकूल यति, मात्रा के वैयाकरणिक ह्रस्व-दीर्घ में नहीं, बल्कि इच्छित उच्चारण में होती है; जैसे 'आषाढ़संध्या घनिये एल, गेल रे दिन वये' में उच्चारण में 'एलो' 'गेलो' जैसे आरोपित उच्चारण-दैर्घ्य के अलावा 'दिन' को 'दीन' की तरह कहकर काम चलाना पड़ता है और तब लय के लिये मात्रानुकूलता आती है। यह तरीका लोक-लयों और लोकधुनों का है, छंदों का नहीं। हिन्दी, जोकि नितान्त नागर है, संस्कृत के छंद और यतिगुणों वाली है; उसमें शब्दों की यथार्थ मात्रा को उच्चारण की गोलाई और लम्बाई से घटाने-बढ़ाने की कोई छूट नहीं है। अनुगायक को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा है, क्योंकि उन्हें हिन्दी का होने के नाते, मूल के लेखक जैसी उस प्रकार की आसानी का लाभ नहीं मिला है। मूल का कदम-ब-कदम लय पकड़ने के कारण कम-से-कम सत्तर प्रतिशत गीत एक ही लय के हुए हैं, क्योंकि लय के मामले में मूल भी वैसा ही एकरस है। गीतिप्राण कवीन्द्र रवीन्द्र के ये सभी प्रार्थना-पद ही हैं; और तब यह बड़ी बेठीक बात लगती है कि "अंतर मम विकशित करो·····निर्मल करो, उज्ज्वल करो, सुन्दर करो हे! जाग्रत करो, उद्यत करो, निर्भय करो हे" जैसे प्रार्थना-प्रसंग में प्रस्थान-गान या मार्चिङ्ग-सौंग जैसा 'ताल से कदम' वाला लय काहे लिया गया। इस पद में कविता भी नहीं है, क्योंकि कवि के आगे उन जैसी कविता के अयोग्य इस लय ने मजबूरी पैदा कर दी होगी। प्रार्थना-प्रसंग के बावजूद ऐसे बेठीक लय और भी हैं। दूसरी बात तो यह है ही कि कवि की यह पूरी किताब, प्रार्थना में भी बहुरस होने की गुंजाइश के बावजूद, एकदृष्ट और एकरस है। यों, प्रबन्ध और दृश्य को सामने रखने के कारण नाट्यकीयता का गुण तो कवि लाते ही हैं। पता नहीं, हिन्दी में इस एक ही किताब के अनुवाद पर क्यों इतना जोर है, 'चित्रांगदा', 'बलाका', 'नदीवन्दा', 'कर्ण-कुन्ती', 'कच-देवयानी'

आदि कथ्यात्मक भावों की नाटकीयता की और भी श्रेष्ठ चीजें हैं। 'नॉबेल प्राइज' का मान विश्वसाहित्य के पाठकों को अबतक बहुत ही कम प्रभावित कर सका है और हिन्दी के भजन-रसिकों को पूर्वसूरि कवियों ने गीतांजलि से भी अधिक भावप्रवणता और बहुरस दिये हैं।

मूल से मिलाकर शुरू के दो कोड़ी पद ठीक-ठीक पढ़ लेने के बाद इस अनुगायन के लिये कुछ बातें कह रहा हूँ। इसके अलावा भी कहीं-कहीं कुछ पढ़ लिया है। एक बात पहले कही है कि मात्रा पचाने और खींचकर बढ़ाने की बँगला जैसी बात हिन्दी में नहीं चलती है। हिन्दी में अगर चलायी जाय तो वह उर्दू जैसी किरकिरी ला देगी। अनुवाद में भी कहीं-कहीं वही हुआ है : 'न रज के घरौंदे में रक्खो घृणा को' (१४६) में 'में' को बुरी तरह से ह्रस्व पढ़ने की शिद्दत उठानी पड़ती है; बुरी तरह से इसलिये कि एक तो वह गुणस्वर है और दूसरे अनुस्वार के कारण दुहरा दीर्घ है और तीसरे उसके बाद 'रक्खो' जैसा महाप्राण झटका अलग से झेलना होता है। गीत में हमारे यहाँ यह अच्छी बात नहीं समझी जाती है, गजल की बात गजलवाले जानें। ऐसे ही 'ढो' (वहन करना) धातु का प्रयोग भी बहुत बार हुआ है। अनुवाद में कुछ बातों के प्रयोग--'कौन जार-बेजार रुलाता' (५१) में 'जार-बेजार' जैसा नौटंकिया शब्द, 'बैठ पैठ जगती के' (२४) में 'पैठ' स्त्रीलिंग की जगह 'पैठ' और वह भी पुंल्लिंग, 'और नहीं छलने का......प्राण नहीं गलने का... तुरत नहीं फलने का' (२३) जैसी दग्ध भाषा, 'आरती' के अर्थ में 'आरति' (५०), 'वह भी अच्छा लागे, ये नैना नित जागे, रुला रही अनुरागे' (२८), 'बहा सुजीवन-वाह अथक में' (२१), 'बाजिलो गान गभीर सुरे' के 'कोई गीत जगा गहरा स्वर' जैसे अनुवाद में सप्तमी विभक्ति के योग्य अर्थ को प्रकट करने के लिये 'गहरे-स्वर' का नहीं किया जाना और 'इससे तो वह मरण कहीं था आला' में 'आला' जैसा शब्द (१७), 'पाषाण-गाला सुधा ढेले' का 'शिला-निचोड़ी रस भर' जैसा क्लिष्ट अनुवाद और तिसपर 'शिला-निचोड़ी' जैसे विशेषण के नाते 'रस' का स्त्रीलिंग में प्रयोग (१३); 'निर्मल' का 'अमल' नहीं बल्कि 'निलज' जैसा अर्थ—काफी बुरे हो गये हैं।

अर्थ के मामले में कहीं-कहीं काफी छूट और काफी अनर्थ होने का कारण भी यही लगता है कि अनुवाद को अच्छी तरह अर्थ लेने के लिये जबकि कुछ काफी लम्बे छन्दों में होना चाहिये था तो मूल के छन्द में ही उसे अँटाया गया है, और तब अर्थ का काफी अंग, सँकरे में आने से, रह गया है। कुछ उदाहरण हैं। 'ए जे पाताय आलो नाचे सोनार वरण' = 'पात-पात पर नाच रहा जो यह कंचन कर' यहाँ 'एइ' छूटा और 'सोनार वरण' का 'कंचन कर' जैसा अनर्थ भी हुआ। 'प्रभात-आलोर धाराय आमार नयन भेसेछे' = 'प्रात प्रभा के अरुण स्रोत में खोये मेरे नैन' यहाँ 'भेसेछे' का 'खोये' जैसा प्रसंगहीनतापूर्ण अनर्थ हुआ है और 'प्रात प्रभा के अरुण स्रोत' में प्रभा के 'प्र' और स्रोत के 'स्रो' पर छन्ददग्धता अलग से (पद ३०)। 'कत सुखे कत काजे' = 'खुशी-खुशी कितने कामों में' यहाँ 'सुखे' और 'काजे' दोनों की अलग-अलग विभक्तियाँ गायब कर 'खुशी-खुशी' जैसा कर्त्ता और क्रिया दोनों में दुहारा जाने वाला विशेषण दे मारा गया है। अगर 'कितने सुख, कितने कामों में' कहा जाता तो भी चलता (पद २८)। 'उतल हाओया' = 'मचला पवन पछाहीं' यहाँ उतल जैसे उत्ताल के अपभ्रंश का 'मचला' अर्थ और 'पछाहीं' अर्थात् 'पछियाँहीं' या 'पछाँहीं' जैसा अपनी ओर से जोड़ा गया पवन का विशेषण यह अनर्थ पैदा करता है कि घाट पर गगरी भरने जाने वाला आती हुई 'तरणी' को देखे तो वह 'पछाहीं' हवा होने के कारण पश्चिम से आने वाले यात्री, जोकि कोई बनारसी भैया होगा, उसी से यारी के लिये ही तो यह कहेगा : "किससे तो परिचय होगा चिर, जाने लौटूँगा कि नहीं फिर"। और तब यह बात बँगला स्वभाव के निर्गुन के प्रति कितनी कुसंस्कृत लगती है (पद २६)? 'कत प्रेमे हाय, कत वासनाय' = 'प्रेम-वासनाओं के ऊपर' (पद २५), 'एबार बलो, आमार मनेर कोणे देबे धरा, छलबे ना' = 'अब तो कहो, बँधोगे मन से और नहीं छलने का' (पद २३), 'व्याकुल वेगे धेये' = 'उन्मन हो वह आती' (पद २२), 'भासाले आमारे जीवनेर स्रोते' = 'बहा सुजीवन-वाह अथक में' (पद २१), 'परान दिये प्रेमेर दीप ज्वालो' = 'सुलगा उसे लगा [illegible] ज्वालो' और 'प्रेमाभिसारे' = 'प्यार-

मिलन को' (पद १७), 'परान आमार केंदे बेड़ाय दूरन्त वातासे' = 'करते फिरते प्राण पवन में व्याकुल हाहाकार' और 'चेये थाकि' = 'उदास बैठा हूँ अपलक' (पद १६), 'हृदयसभा जुड़िया तारा बसिबे नाना साजे' = 'कब ये सभा लगा बैठेंगे रूप धरे भर अंतर' और 'जे पथ दिया चलिया जाब सबारे जाब तूषि' = 'जिस होकर निकलूँगा, होगी सबकी तुष्टि सुखद चित' और 'सब काजे' = 'सर्वस पर' (पद १५)—आदि एक तरफ से ही, बढ़ी हुई या छूटी हुई या यों ही-सी बातें उपस्थित हैं। यह होने का कारण भी यही है कि अनुवादक न होकर अनुगायक होने का प्रयास इसके कर्त्ता का रहा है।

—'लालधुआँ'

यदि अन्य वस्तुओं को भाँति कलाकृतियों की परख—जैसा कि अधिक अपरिष्कृत सामाजिक यथार्थवादी चाहते हैं—इस कसौटी पर करनी हो, कि समकालीन, सामाजिक, समस्याओं के सन्दर्भ में वे कितनी सत्य हैं, तो इससे कलाकार की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचेगा। अनुत्तरदायी प्रयोग की, स्वतन्त्र आत्म-शोध की, अनुपस्थिति इतनी निष्क्रिय कर देने वाली होगी कि जीवन असम्भव हो जाएगा।...हमें इस दावे को तिल मात्र भी स्वीकार नहीं करना है कि कलाकृतियों की परख उनकी सामाजिक प्रवृत्ति द्वारा होनी चाहिए।

—प्रोफेसर स्टुअर्ट हैम्पशायर

आचार्य नलिनविलोचन शर्मा

श्रद्धांजलि

आयु, मृत्यु और योग्यता इन तीनों के सम्बन्ध को सोचने पर आचार्य श्री नलिनविलोचन शर्मा का आकस्मिक निधन मन पर प्राणहारक मुक्के के समान मर्मान्तिक लगता है। ४४ वर्ष की साधारण अवस्था में सारे साहित्य का आनुषंगिक अध्ययन, समीक्षण और शिक्षण; अद्वितीय आदर्श के रूप में हिन्दी गद्य-लेखन का प्रतिष्ठापन; कविताकथादि हिन्दी के रस-साहित्य की सर्वोन्नत रसज्ञता हमारे नलिनजी के ही वश की बात थी। सारी हिन्दी को और हिन्दीमाता के हर पुत्र को उनकी कलम, बोध और सहृदयता का सहारा था। सबसे बड़ी बात, वे हर हिन्दी के पाठक और लेखक के वैसे नितान्त अपने थे जैसा किसी का हो सकना बहुत दूर की चीज है। हम उनके निधन से हतप्रभ हैं। विश्वास नहीं होता कि वे हमारे पास नहीं हैं। प्रभु से उनकी अदोष और कृतकृत्य आत्मा की शान्ति के लिये हम प्रार्थना करते हैं। उनकी पत्नी, पुत्र और परिवार-परिजन के दुःख में हम सहानुभूति निवेदित करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे इस दुःख को सहने का साहस और स्वस्थ तन-मन पावें।

'पुस्तक-जगत' के नियम

* 'पुस्तक-जगत' में समीक्षार्थ प्रकाशन की एक ही प्रति भेजने की जरूरत है।
* 'पुस्तक-जगत' हर महीने की पहली तारीख तक प्रकाशित होता है।
* वार्षिक मूल्य ३) रु० मात्र है; डाक-व्यय अलग से नहीं लिया जाता। फुटकर साधारण अंक का मूल्य २५ नए पैसे है।
* विज्ञापन-संबंधी झगड़ों का निपटारा पटना की अदालतों में ही होगा।
* 'पुस्तक-जगत' का आकार डबल-क्राउन अठपेजी है और दो कॉलमों में यह कम्पोज होता है।
* साधारण अंकों में विज्ञापन की दरें इस प्रकार हैं—

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	:	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	:	५०·००
,, द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	:	४५·००
भीतर का पूरा पृष्ठ	:	३५·००
,, आधा पृष्ठ	:	२०·००
,, एक चौथाई पृष्ठ	:	१२·००

चौथाई पृष्ठ से कम विज्ञापन स्वीकार करने में हम असमर्थ होंगे।

विज्ञापन-विभाग,

पुस्तक-जगत, ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

राजस्टर्ड नं० : पी० ८०४

जनवरी १९६२ के अंक के रूप में

'पुस्तक-जगत'

हिन्दी में राजनीति-साहित्य विशेषांक

[अ० भा० कांग्रेस के पटना-अधिवेशन के अवसर पर]

नियमतः हमें सितम्बर ६१ के अंक को विशेषांक के रूप में देना चाहिए था। किन्तु, उक्त अवसर और उक्त विषय के सम्बन्ध के प्रभाववश हमने यह निश्चय किया। अभिनन्दनीय पाठकों, लेखकों एवं सहयोगियों से आग्रह है कि इस विशेषांक में वे सभी हमें यथावत सहयोग देने की कृपा करें।

विशेष स्तम्भ

- विभिन्न भारतीय राजनीतिक दलों के प्रकाशित अपने-अपने साहित्यों पर प्रकाश।
- भारतीय आर्थिक पहलू और राजनीति, सामाजिक पहलू और राजनीति, विश्ववाद और राजनीति, न्याय और राजनीति, उद्योग और शिक्षा की वैयक्तिकता और राजनीति आदि विषयक पुस्तकों और निबन्धों का अलग-अलग आकलन।
- भारतीय राजनीति विषयक विश्वभारती, भारतभारती, पुस्तकालय-वाचनालय, कसौटी (पुस्तक-समीक्षा) आदि स्थायी स्तम्भ।
- देश के माननीय राजनीति-मनीषियों और लेखकों के निबंध।

देश भर में प्रसारित इस संग्रहणीय अंक में

विज्ञापन के लिये आज ही स्थान सुरक्षित करायें

विज्ञापन-दर : केवल इस विशेषांक के लिये

आवरण प्रथम पृष्ठ (आधा)	७५·००	भीतरी पूरा पृष्ठ	५०·००
आवरण अंतिम पृष्ठ (पूरा)	७५·००	भीतरी आधा पृष्ठ	३०·००
आवरण द्वितीय एवं तृतीय पृष्ठ	६०·००	भीतरी चौथाई पृष्ठ	१६·००

१/८ डबल क्राउन का मौजूदा आकार : सफेद कागज :

बहुचित्रित छपाई, वृहद् रूप, विशेष सजधज

★

व्यवस्थापक 'पुस्तक-जगत'

ज्ञानपीठ प्राइवेट लिमिटेड, पटना-४

अखिलेश्वर पाण्डेय द्वारा संपादित, सीताराम पाण्डेय द्वारा ज्ञानपीठ (प्रा०) लि०, पटना-४ में मुद्रित एवं प्रकाशित

पुस्तक-जगत
हिन्दी प्रकाशन का प्रतिनिधि पत्र

वर्ष ८ : अंक ४
दिसंबर, १९६१

प्रेमचंद - स्मृति - दिवस १९६१

इस पुनीत अवसर पर आज यह विज्ञापित करते हुए हमें बड़ा हर्ष है कि जिस एकान्त मनोयोग और अथक परिश्रम से अमृतजी पिछले पाँच वर्षों से प्रेमचंद की सम्पूर्ण प्रामाणिक जीवनी पर काम कर रहे हैं, उसके फलस्वरूप ऐसी बहुत-सी सामग्री प्रकाश में आयी है जो अब तक पाठकों को उपलब्ध नहीं है और हिन्दी में पहली बार पुस्तक के आकार में छप रही है। इसमें पचास के ऊपर कहानियाँ और मुंशीजी के आरंभिक उपन्यास हैं जो किसी कारण से उर्दू से हिन्दी में रूपान्तरित होने से रह गये और जिनका उद्धार उर्दू की पचास-साठ साल पुरानी पत्रिकाओं से किया गया है। इसी तरह, साहित्यिक-सामाजिक-राजनीतिक विषयों पर दर्जनों, कोड़ियों लेख हैं जो उन्हीं पुरानी पत्रिकाओं में खोये पड़े हैं। 'हंस' और 'जागरण' के लेख और विशद संपादकीय टिप्पणियाँ भी संकलित करके प्रकाशित की जा रही हैं। देश भर से एकत्र करके प्रेमचंद के पत्र भी दो भागों में प्रस्तुत हैं।

यह सब सामग्री हिन्दी में पहली बार आ रही है और इनके बिना प्रेमचंद का
हर अध्ययन और हर पुस्तकालय अधूरा है

हंस प्रकाशन : ६३ जीरो रोड : इलाहाबाद

नए प्रकाशन और पांडुलिपि-परीक्षण

श्री हिमांशु श्रीवास्तव

नए प्रकाशनों का मूल्यांकन संख्याबोध की दृष्टि से किया जाय अथवा गुण-बोध की दृष्टि से, इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करना प्रकाशन-व्यवसाय से संबद्ध प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य हो जाता है। मैंने 'प्रकाशन-व्यवसाय' शब्द का प्रयोग किया है, इसलिये मोटे तौर पर कहा जा सकता है कि इस प्रश्न पर विचार करना केवल प्रकाशकों का काम है। लेकिन, मैं समझता हूँ कि ऐसा गुरुतर भार केवल प्रकाशकों के कंधों पर ही डालना उचित नहीं है। यदि प्रस्तुत प्रश्न पर गंभीर दृष्टि डाली जाय, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि प्रकाशन-व्यवसाय में केवल प्रकाशक का ही नहीं, बल्कि लेखक, कवि, नाटककार, उपन्यासकार, निबंधकार और आलोचक का भी हाथ होता है। प्रकाशन का कार्य एक यूनिट का कार्य है, एक ग्रुप का कार्य है, जिसमें साहित्यकार, प्रकाशक और प्रूफ-रीडर प्रधान पार्ट अदा करते हैं। सही मानी में तो प्रकाशक मात्र प्रोड्यूसर होता है।

मैं अन्य भाषाओं के प्रकाशकों और लेखकों की बातें नहीं करता, किंतु हिंदी के प्रकाशन-व्यवसाय का क्षेत्र बहुत बड़ा है, प्रकाशकों की संख्या भी बहुत अधिक है। सोचना यह है कि इतना व्यापक क्षेत्र होते हुए, प्रकाशकों की इतनी लंबी कतार होते हुए, कितने प्रकाशक हैं, जो किसी भी नई पुस्तक को प्रेस में देने से पूर्व पांडुलिपि-परीक्षण स्वयं कर लेते या करा लेते हैं या ऐसे कितने लेखक हैं, जो प्रकाशक को यह अधिकार देते हैं कि पुस्तक को प्रकाशनार्थ लेने से पहले वह पांडुलिपि-परीक्षण करा ले? इस संबंध में अनेक श्रद्धालु प्रकाशक बंधुओं से मेरी बातें हुईं और पांडुलिपि-परीक्षण की चर्चा चलने पर उन्होंने अनेकों प्रकार की असमर्थता प्रकट की। निष्कर्ष यह निकलता आया कि जिनका थोड़ा नाम हो गया है, (स्मरण रहे, किसी लेखक की ख्याति में प्रकाशक का साधारण योग नहीं होता) सरस्वती के वे वरद-पुत्र इस बात के लिए तैयार नहीं होते और साथ ही यदि किसी प्रकाशक ने स्नेहपूर्ण शब्दों में कोई ग्रंथ प्रकाशनार्थ माँगा, (भले ही वह ग्रंथ अभी साहित्यकार के दिमाग में ही हो) कि वरद-पुत्र ने अग्रिम की समस्या सामने रख दी। ऐसी स्थिति में प्रकाशकों का बुरा हाल होता है। प्रकाशक सरस्वती का वरद-पुत्र तो नहीं होता, लेकिन व्यवसायी होता है और व्यवसायी होने के नाते चले हुए लेखकों के आगे वह सिर न टेके, तो फिर कहाँ जाय? क्योंकि चले हुए लेखक अपनी पुस्तकों को 'बेयरर चेक' की संज्ञा देते हैं। प्रकाशकों को तो वैसे अनचले लेखकों की पुस्तकों का भी प्रकाशन करना होता है, जो ऐसे-ऐसे ओहदों पर बैठे हैं कि चाहें तो रात भर में प्रकाशक का भला कर दें। इन पंक्तियों का लेखक ऐसे लेखकों को भी जानता है, जो तथाकथित प्रभावशाली पद पर जाने से पूर्व कुछ भी लिखना नहीं जानते थे, मगर उस प्रभावशाली पद पर जाते ही रातों-रात लेखक हो गए। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि प्रकाशकों ने उन्हें रातों-रात लेखक बना दिया। मैं यह निवेदन करना चाहता हूँ कि प्रकाशन-व्यवसाय की दृष्टि से यह तरीका भले ही जादू का काम करे; किन्तु भाषा और साहित्य की उन्नति की दृष्टि से यह प्रवृत्ति अत्यंत ही घातक और लज्जाजनक है।

वस्तुतः महत्त्व इस बात को नहीं दिया जाना चाहिये कि नए प्रकाशन बड़ी तेजी में हो रहे हैं या प्रकाशन-व्यवसाय छलाँगें मार रहा है, महत्त्व की बात तो यह होनी चाहिये कि विषयवस्तु और गुणबोध की दृष्टि से नए प्रकाशनों की क्या उपलब्धि है। और, जहाँ 'उपलब्धि' की बात आएगी, वहाँ पांडुलिपि-परीक्षण की बात अवश्य आनी चाहिए।

कुछ ऐसे प्रकाशक अवश्य हैं, जो पांडुलिपि-परीक्षण पसंद करते हैं और कई अर्थों में ऐसी परम्परा चला रहे हैं। लेकिन, प्रकाशन-व्यवसाय की दृष्टि से, वे पूर्वग्रह से बिलकुल रहित हों, ऐसी बात नहीं है। जो प्रकाशक ऐसा करते हैं, मोटे तौर पर उनके यहाँ ऐसा ही होता है कि वे विशेषज्ञ को किसी लेखक से मिली हुई पांडुलिपि को देखने के लिए दे देते हैं। कुछ दिनों तक तो पांडुलिपि

उस विशेषज्ञ के यहाँ पड़ी रहती है। लेखक की ओर से जब अधिक तक़ाजे होने लगते हैं, तब प्रकाशक महोदय विशेषज्ञ से शीघ्रता करने का निवेदन करते हैं। फिर फ़ुर्सत मिलने पर विशेषज्ञ महोदय रात-भर में पांडुलिपि के कुछ पृष्ठ देखकर परीक्षण का कार्य समाप्त कर देते हैं।

संख्या की दृष्टि से नए प्रकाशनों को देखकर चकित होना पड़ता है और गुण की दृष्टि से देखने पर क्षुब्ध। इसके कई व्यावसायिक और मनोवैज्ञानिक कारण होते हैं। उनमें कुछ कारण निम्न हैं :—

१. लेखक विशेषज्ञ का मित्र निकल जाता है।
२. बहुत सस्ते मूल्य पर लेखक प्रकाशक को कापीराइट देने को तैयार हो जाता है और प्रकाशक सोचता है—चलो, इतने प्रकाशनों के साथ यह भी निकल जाएगा।
३. पांडुलिपि किसी प्रभावशाली लेखक या आलोचक की सिफारिश पर आई होती है।
४. कुछ ऐसे लेखकों की पांडुलिपियाँ, जिनके प्रभाव के कारण थोक खरीद में पुस्तक की काफी प्रतियाँ निकल जाने की आशा रहती है, आती हैं।
५. ऐसे लेखक की पांडुलिपि प्रकाशक शीघ्र स्वीकार कर लेते हैं, जिनसे प्रकाशन-व्यवसाय में, अन्य रूपों में, सहायता मिल सकती है।
६. पांडुलिपि जाँचने के लिए विशेषज्ञों को प्रकाशकों की ओर से कोई निश्चित पारिश्रमिक नहीं मिलता। और,
७. लेखक से प्रकाशन-संस्था के स्वत्वाधिकारी (संस्था के लिमिटेड होने पर) या मैनेजिंग डायरेक्टर का मधुर संबंध होता है।

उक्त प्रकार की प्रवृत्तियों से बचने के लिए तो कोई कानून नहीं ही बनाया जा सकता; क्योंकि हृदय के साथ नहीं देने पर मनुष्य सारे संविधान तक का उल्लंघन कर जाता है। मगर, इसपर निष्पक्ष भाव से विचार अवश्य किया जा सकता है। इसके लिए सबसे आवश्यक यह है कि अपने विशेषज्ञ को कोई पांडुलिपि-परीक्षणार्थ देते समय प्रकाशक उसे लेखक का नाम न बतलावे। विषय और पांडुलिपि के अनुसार प्रकाशक विशेषज्ञ को पारिश्रमिक दे, साथ ही पर्याप्त समय भी। इसके लिए यह आवश्यक होगा कि प्रकाशक लेखक को अपना निर्णय देने के लिए पर्याप्त समय माँग ले। यदि पांडुलिपि एक शहर से दूसरे शहर को (विशेषज्ञ के पास परीक्षणार्थ) भेजी जाय, तो उस पेज को निकाल लिया जाय, जिसपर लेखक का नाम और पता हो, क्योंकि ऐसा नहीं करने पर इस बात की चिंता बनी रहेगी कि यदि लेखक विशेषज्ञ का मित्र निकला, तो वह अवश्य ही स्वीकृति की मुहर लगाकर पांडुलिपि वापस करेगा। दूसरा खतरा यह रहता है कि यदि लेखक से विशेषज्ञ का कोई वैमनस्य रहा, तो वह उस पांडुलिपि को 'दो कौड़ी की पुस्तक' कह कर वापस करेगा। साहित्यिक दृष्टिकोण का ऐसा वैमनस्य प्रकाशकों का अहित कर देता है। मान लीजिए, लेखक और विशेषज्ञ दोनों दिल्ली में ही रहते हैं, तो ऐसी स्थिति में, यदि संभव हो तो, परीक्षणार्थ पांडुलिपि किसी ऐसे ही विशेषज्ञ के पास भेजी जाय, जो दिल्ली में न रहता हो। मैं तो कई ऐसे विशेषज्ञों को जानता हूँ, जो लेखकों पर अपनी धाक जमाने और व्यक्ति-पूजा पाने की दृष्टि से यह कहते हैं कि 'मैं अमुक प्रकाशक के यहाँ प्रकाशनार्थ आई पांडुलिपियाँ देखा करता हूँ।' ऐसे रोग से विशेषज्ञों को भी बचना चाहिए और प्रकाशकों के लिए भी यह उचित है कि वे लेखकों से ऐसा न कहें—'मेरे यहाँ आई हुई सारी पांडुलिपियों की जाँच......जी करते हैं, मैं आपकी पांडुलिपि उन्हें दिखाऊँगा; यदि उन्होंने राय दी, तो पुस्तक अवश्य प्रकाशित कर दूँगा।'

प्रकाशक बन्धुओं को यह बात याद रखनी चाहिए कि ऐसा करके वे विशेषज्ञ की स्थिति को बहुत नाजुक कर देते हैं; क्योंकि विशेषज्ञ मौके-बेमौके आपका यह काम अवश्य कर देते हैं, मगर वे उन्हीं लेखकों के बीच रहते हैं और उन्हीं के वातावरण में साँस भी लेते हैं।

अपने मधुर संबंधों के कारण प्रकाशकों को ऐसी धारणा भी नहीं बना लेनी चाहिए कि उनके जो विशेषज्ञ महोदय हैं, वे पुस्तक-रूप में प्रकाशित होने वाले सारे विषयों के विशेषज्ञ हैं—विशेषज्ञ से केवल विषय-विशेषज्ञ का ही अर्थ लेना चाहिए। कोई बहुत अच्छा उपन्यासकार छंद-शास्त्र का विशेषज्ञ नहीं हो सकता, कोई बहुत अच्छा

जीवनी-लेखक समाज-शास्त्र का विशेषज्ञ नहीं हो सकता। इतना ही नहीं, उचित तो यह है कि किसी गंभीर विषय की पांडुलिपि के परीक्षण के लिए विषय-विशेषज्ञ-समिति भी गठित की जानी चाहिए और यदि किसी सुधार की आवश्यकता हो, तो लिखित रूप में, लेखक से, सुधार कर देने के लिए निवेदन करना चाहिए। संभवतः यही नीति अपनाने पर साहित्य का कल्याण और नए प्रकाशनों का उचित मूल्यांकन हो सकेगा।

उपन्यासों, नाटकों, काव्यों और कहानी-संग्रहों की बात छोड़ दीजिए—आजकल धड़ल्ले से शिक्षा-साहित्य और मनोविज्ञान-साहित्य का प्रकाशन हो रहा है। उनमें यदि एक पुस्तक को हाथ में लें और पाद-टिप्पणी वाले अंशों को हटा दें, तो ४०० पृष्ठों की पुस्तक मुश्किल से ७५ पृष्ठों या १०० पृष्ठों की रह जाएगी। इसका मुख्य कारण यह है कि लेखक की ओर से 'स्वयं की खोज' नाम की कोई चीज नहीं होती। वह तो केवल उद्धरणों से पुस्तक-लेखक बन जाता है, जबकि सचाई यह है कि एक रेडियो-नाटक-लेखक की भाषा में, 'वह लेखक नहीं, मात्र नैरेटर' ही होता है। ऐसे लेखक उद्धरणों के द्वारा यह बतलाते हैं कि प्रस्तुत समस्या के संबंध में अमुक महान विचारक या लेखक के विचार इस प्रकार हैं, अमुक ने यह कहा है—मगर स्वयं लेखक क्या कहना चाहता है, इसका कुछ पता ही नहीं चलता। और, ऐसे सारे दुष्परिणाम मात्र इसलिए होते हैं कि हम पांडुलिपि-परीक्षण का कार्य आवश्यक नहीं समझते।

प्रकाशन का कार्य, प्रभाव से परे होकर करना चाहिए। कोई आवश्यक नहीं है कि एक ख्यातिप्राप्त लेखक घटिया चीज नहीं लिख सकता और अप्रसिद्ध लेखक अच्छी चीज नहीं लिख सकता। यह भी आवश्यक नहीं है कि अच्छी रचना को दस वर्षों तक सँवारने की दरकार है। मैं व्यक्तिगत तौर पर कई ख्यातिप्राप्त लेखकों की प्रसिद्ध रचनाओं के संबंध में जानता हूँ, जो बहुत थोड़े दिनों में तैयार की गई थीं और कई ऐसी रचनाओं को भी जानता हूँ, जिन्होंने दसों वर्ष का समय लगाकर एक चीज लिखी और प्रकाशित होने पर उसका स्वागत न तो सर्वसाधारण द्वारा हुआ और न सुधी समीक्षकों द्वारा। लेकिन, मेरे

उक्त कथन का यह अर्थ नहीं कि लेखकगण अपने लेखकोचित परिश्रम से मुँह मोड़ लें। अपनी प्रतिभा के अनुसार तो उन्हें अपने प्रत्येक शब्द में ईमानदारी की साँस भरनी ही चाहिए।

आज राष्ट्रभाषा हिंदी के व्यापक क्षेत्र में ऐसे भी प्रकाशक हैं, जो समझ-बूझकर नए प्रकाशन को हाथ में लेते हैं और ऐसे प्रकाशकों का भी अभाव नहीं, जो एक रुपए प्रति पृष्ठ की दर से कॉपीराइट पाने पर कुछ भी प्रकाशित कर दे रहे हैं। साहित्य के विकास की प्रतिद्वन्द्विता में जब आप देशी या विदेशी प्रकाशकों से हाथ मिलाना चाहेंगे, तब निश्चय ही श्रेष्ठ साहित्य का प्रकाशक आपके घटिया प्रकाशनों की ओर भी इंगित करेगा, इसे कदापि न भूलें; क्योंकि प्रत्येक प्रतिद्वन्द्वी अपने प्रतिद्वन्द्वी की दुखती नसों पर ही उँगली रखना चाहता है।

प्रेस में मुद्रणार्थ देने से पूर्व पांडुलिपि-परीक्षण नहीं करने के कई दुष्परिणामों से मैं परिचित हूँ। लेकिन, यहाँ उनका वर्णन करना उचित नहीं है। मैं तो यही कहूँगा कि

इस संबंध में प्रकाशकों को अपने विशेषज्ञ के साथ भी वही निष्पक्ष व्यवहार करना चाहिए; जिसकी चर्चा पहले की जा चुकी है। आप यह भी मान लें कि आपका विशेषज्ञ जिस विषय का विशेषज्ञ है, उस विषय पर जो पुस्तक लिख रहा है या लिखकर आपको देनेवाला है या दे चुका है, उसे आपको किसी दूसरे, उसी विषय के विशेषज्ञ से दिखला लेना है। एक कहावत है कि जिस बच्चे को दूसरे परिवार में खाना खाने का अवसर नहीं मिला होता है, वह बच्चा समझता है कि उसकी माँ ही सबसे अच्छा भोजन बनाती है। आप प्रकाशक हैं, तो आपकी धारणा ऐसे बच्चे के समान नहीं होनी चाहिए और यदि आप लेखक हैं, तो आपमें ऐसा अहंकार नहीं होना चाहिए कि लेखनी छिड़क दें, तो दस साहित्यकार पैदा हो जायेंगे।

अंततः मुझे यह कहना है कि प्रकाशक के नाते 'प्रोत्साहन देने के नाम पर' घटिया पुस्तकों का प्रकाशन मत करें। पांडुलिपि की जाँच करा लें, यदि वह रचना खोटी न हो, तो लेखक को पर्याप्त कॉपीराइट का मूल्य या रायल्टी देकर रचना प्रकाशित करें; क्योंकि प्रत्यक्षतः आप प्रोत्साहन देने के नाम पर कुछ सस्ती पुस्तकें छाप तो लेंगे, लेकिन अप्रत्यक्षतः भाषा और साहित्य का अहित ही करेंगे। प्रकाशक को बहुत-से लोग साहित्यसेवी नहीं मानते, मगर, जो प्रकाशक विचार-विनिमय के माध्यम से साहित्य का प्रकाशन कर रहे हैं, उन्हें मैं असाधारण साहित्यसेवी स्वीकार करता हूँ। साहित्य चाहे जितना महान, गंभीर या शाश्वत क्यों न हो, साहित्य के रथ का सारथी प्रकाशक ही होता है।

नई कहानी :
शिल्प और स्थापत्य

श्री मधुकर सिंह

वर्तमान कहानी संक्रमण-काल की संस्थितियों, भ्रान्तियों और प्रयोगशील सम्प्रेषणीयता के अक्षम प्रभावों से गुजर रही है। पूँजीवादी नकाब में जीवन-क्रम के प्रति जो अराजक संवेदना आई है, उसे कुछ आलोचकों द्वारा कथा-विकास-क्रम की नई संवेदना कहा गया है। कथानक के साथ विविध मुद्राओं, बिखरावों, समस्याओं और परिस्थितियों का अन्तर्गुम्फन आज के लिये बहुत बड़ी समस्या है। फलस्वरूप शिल्प-प्रयोग और प्रतीक-योजनाओं के आधार की चामत्कारिक क्षमता को ही नई कहानी की 'गागारिन-सफलता' मान लिया गया है।

सन् १६५० से आजतक लिखी गई कहानियों को एक घेरा देकर उनके अनगढ़ स्वरूप के फोटोग्राफिक प्रस्तुतन और रिपोर्टर-शैली को नई कहानी की उपलब्धि कह दिया गया है। इस बीच के कथा-आलोचकों में डॉ० नामवर सिंह और डॉ० शिवप्रसाद सिंह के अलावा बहुत कम आलोचक हैं, जो नई कहानी की आत्मा के साथ पूरी ईमानदारी का व्यवहार कर सके हैं। प्रायः आलोचकों की सम्प्रेषणीय दृष्टियाँ और व्यापक निष्कर्ष के प्रयास दिग्भ्रमित होकर उभरे हैं अथवा यों कहा जाय कि प्रगति के खोखले व्यामोह में इक्के-दुक्के कथाकारों की पीठ थपथपाकर समस्त हिन्दी नई कहानी को गुमराह करने की भगीरथ-चेष्टायें की गई हैं। राजेन्द्र यादव द्वारा वर्गीकृत ग्रामीण और शहरी-कस्बों के परिप्रेक्ष्य में संवलित उन्हीं की कहानियाँ सही दिशा-संकेत दे रही हैं, जिस पुरजोर असर के कथाकार मोहन राकेश, मन्नू भंडारी आदि अबाध गति से लिखते जा रहे हैं। ठीक यही बात मोहन राकेश के आलोचक के सम्बन्ध में दुहरायी जा सकती है। लेखक और पाठक के बीच एक सम्बन्ध-सूत्र की मौलिक खोज प्रस्तुत करते हुए मोहन राकेश ने मानसिक धरातल पर उभरी नई उपलब्धियों की जीत में राजेन्द्र यादव की 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़' को पकड़कर ही ढिंढोरा है कि मानव-मन की विकृतियाँ, असुन्दर का विश्लेषण और वातावरण की भयावहता ही नई उपलब्धियाँ हैं। क्या मैं पूछ सकता हूँ कि 'कहानी के नाटकीय अन्तर्द्वन्द्व का स्वरूप' बदलकर पाठकों के लिये यह कहाँ तक ग्राह्य है? यह ठीक है कि क्लाइमेक्स के लिये घटना या चरित्रों की आकस्मिक मोड़ कहानी की प्रभावसिद्धि आज नहीं रह गई है, किन्तु क्या प्रतीकात्मक ढंग के सपाट रिपोर्टों के आधार को ही यह मान लिया जाय कि चेखव, मोपासाँ और ओ'हेनरी की तरह आज भी पाठकों पर संवेदनात्मक प्रतिक्रिया होती है? तो क्या आज के कथाकारों और पाठकों के साथ खिलवाड़ नहीं किया जा रहा? क्या आज की कहानी चन्द आलोचकों और कथा-आलोचकों के रागात्मक सम्बन्धों की 'कहानियाँ' नहीं रह गई हैं? सच पूछा जाय तो यही रागात्मक सम्बन्ध 'नई कहानी' है और कहानीकार-पाठकों के बीच की रागात्मक संवेदना प्रेमचन्दोत्तर रूढ़ियाँ (!) हैं, जिन्हें काटकर आज के चन्द कहानीकार-आलोचक नई संभावनाओं को सँजोने में लगे हुए हैं।

मेरे एक मित्र ने मेरी एक कहानी 'जलती कुन्तल और नई पौध' की, जो 'ज्योत्स्ना' में प्रकाशित हुई थी, कटु आलोचना की और बताया कि इसकी सबसे बड़ी कमजोरी यही है कि प्रेमचन्दयुगीन कथानक को नई बोतल में ढाला गया है। क्षणवाद का आज की कहानियों में नितान्त अभाव है। उसने एक आश्चर्यजनक बात बतलाई। उसने कहा कि पिछले वर्ष की तीन-चार कहानियों को मिलाकर अपनी एक कहानी तैयार की है। उक्त कहानी किसी प्रमुख पत्रिका में प्रकाशित भी हुई है और शायद बहुचर्चित भी। मित्र का दावा है कि उक्त कहानियों के एक करने में उसे विशेष दिक्कत नहीं हुई है। केवल क्षेपक के लिये मात्र एक-दो पंक्तियाँ और मिलानी पड़ी हैं। किन्तु यह शोचनीय प्रश्न है कि आज का सामान्य पाठक

उक्त कथाकार की संवेदना के मूल को किस रूप में ग्रहण कर सकता है। इसका जवाब तो रमेश बक्षी ही अच्छी तरह दे सकते हैं।

कुछ आलोचक यह कहते हैं कि नई कहानी अपनी पुष्ट, समर्थ और स्वस्थ परम्परा का विकसित रूप है। जहाँ तक शिल्प-विधान और टेकनिक का प्रश्न है, वहाँ तक तो मैं भी मानता हूँ कि नई कहानी जरूर आगे बढ़ी है और इतनी दूर तक बढ़ गई है कि महज इसकी इस अकाट्य प्रगति को देख कर कभी-कभी घोर आश्चर्य होने लगता है। राजेन्द्र यादव की कहानी 'नया मकान और प्रश्नवाचक पेड़' इसी खोखले प्रयोग का सटीक प्रमाण है।

हिन्दी में अभी तक प्रेमचन्द की 'कफन' और चेखव की 'कुत्तेवाली महिला' पैटर्न की कहानियाँ एकाध ही आ सकी हैं। महज वस्तु पर 'नई' का तमगा लगाकर कहानियों के साथ कबतक खिलवाड़ किया जा सकता है? नई कविता की तरह नई कहानी भी आज पथभ्रान्त भटक रही है; जिसकी असंवेदनात्मक संवेदना 'नई कहानी' की दबोच में छटपटा रही है।

डॉ० नामवर सिंह की यह बात भी ठीक ही है कि 'कथा-सूत्र' निकालने का काम पाठक करता है; किन्तु कथाकार को निर्दोष कैसे कहा जाय जबकि अपने प्रक्रियान्तर्गत वह स्वयं के लिये स्पष्ट नहीं है? श्रीकान्त वर्मा ने 'कहानी' के माध्यम से नई कहानी में जटिलता को लेकर अपनी भारी चिन्ता व्यक्त की है। 'कहानी' ने उन्हें कथाकार भी जरूर स्वीकारा है; (क्योंकि मात्र 'कहानी' के माध्यम से ही अबतक उनकी तीन-चार कहानियाँ पढ़ने को मिली हैं) किन्तु क्या 'ब्लफर बादशाह' को छोड़ कर उनकी अन्य कहानियाँ स्वयं जटिलता प्रमाणित करने के लिये पर्याप्त नहीं हैं? क्या नई कविता के खंडित क्षणों, बिम्बों और विभक्त आयामों में एकसूत्रता लाने का प्रयास नई कहानियाँ नहीं हैं? किन्तु प्रश्न तो दरअसल यह है कि आलोचक का द्वय-व्यक्तित्व ही इसके लिए दोषी है या उसकी अपनी दृष्टि? पाठकों की ओर से भी यह प्रश्न हो सकता है कि क्या उनके लिए 'कथा-सूत्र' ढूँढना आज की अनिवार्य देन है? 'कथानक पाठकों के दिमाग की उपज' अगर है, तो ऐसी बहुत-सी कहानियाँ पिछले दशक में आई हैं, जिनके बल पर दशक की प्रगति का दावा रखा जा सकता है। किन्तु सचाई तो यह है कि कथाकार-आलोचकों ने हिन्दी कहानी के लिए त्रिशंकु की स्थिति पैदा कर दी है। फलस्वरूप, कहानी में असंवेदनशीलता, बिखराव और निखालिस प्रतीकात्मक प्रसंगों को कहानी की मौलिकता और वास्तविक आत्मा कह दिया गया है; जबकि पाठक उन 'काठ की घंटियों' से कोई भी रस नहीं ले पाता।

कुछ लोगों ने इस दशक को अनेक 'फ्लैट' और 'प्लास्टिक' कहानियाँ दी हैं, जो म्युनिसिपैलिटी के उखड़े रोड़ों की तरह कथा-भंडार में मिलावट ही पैदा कर रही हैं। ऐसी ही कहानियों के आलोचकों से हिन्दी कहानी को बचाना है।

हिन्दी के नये कथाकार और नयी कहानियाँ

श्री श्यामसुन्दर घोष

कोई नवीन साहित्य-आन्दोलन मात्र आन्दोलन न होकर जीवन के प्रति एक अभिनव दृष्टिकोण का परिणाम होता है और साहित्य के विविध क्षेत्रों में अपनी समग्रता के साथ व्यक्त होता है। जीवन के प्रति यह अभिनव दृष्टिकोण ही नये मान-मूल्यों का प्रवर्त्तन करता है, शिल्प के नये आयाम उद्घाटित करता है और साहित्य की नवीनता और मौलिकता का प्रस्तोता सिद्ध होता है। छायावाद के संबंध में यह सिद्ध हो चुका है कि वह मात्र काव्य-आन्दोलन नहीं था वरन् साहित्य के विभिन्न क्षेत्रों में उसका सम्यक् प्रतिफलन हुआ था।

स्वतंत्रताप्राप्ति के बाद के वर्ष हिन्दी साहित्य के अत्यंत महत्त्वपूर्ण रहे हैं। इस काल में प्रगति-प्रयोग-युगीन एकांगी प्रवृत्तियाँ क्रमशः क्षीण हुई हैं और वे प्रवृत्तियाँ जिनके अंकुर चौथे दशक में फूटने प्रारम्भ हुए थे, खूब उठ उभर कर सामने आई हैं। इस काल में साहित्य वादों की संकीर्ण परिधि से मुक्त होने के लिये सचेष्ट रहा है। प्रगतिवादी और प्रयोगवादी साहित्यकारों की जो विशेषताएँ थीं, मात्र वहीं तक सीमित न होकर नये लेखकों ने पूर्वकालीन विशेषताओं को आयत्त कर कुछ ऐसे नवीन मान-मूल्य और शिल्प-शील प्रस्तुत किये हैं जो अपने में अभिनव उपलब्धि कहे जा सकते हैं।

नया साहित्य-आन्दोलन जीवन के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का ही परिणाम है। इसीलिये जहाँ काव्य-क्षेत्र में नई कविता की प्रवृत्ति पीनतर होती रही है वहाँ कथा-साहित्य के कई कहानी और नये उपन्यास बहुत अपरिचित रूप नहीं रहे। नाटकों के क्षेत्र में भी इस नयेपन का प्रादुर्भाव हुआ और इधर कुछेक वर्षों में जो नाटक प्रकाशित हुए हैं वे प्रसाद और लक्ष्मीनारायण मिश्र के नाटकों से सर्वथा भिन्न एक नई परम्परा के ही सूचक हैं। डॉ० लक्ष्मीनारायण लाल का 'मादा कैक्टस', मोहन राकेश का 'आषाढ़ का एक दिन' और 'दूध के दाँत' तथा नरेश मेहता का 'सुबह के घंटे' इसी मंतव्य की पुष्टि करते हैं।

इस पाँचवें दशक की दूसरी बड़ी विशेषता यह रही कि शिल्प और वस्तु के क्षेत्र में ऐसे नवीन कलात्मक अनुसंधान हुए कि दोनों ही पक्ष पुष्ट से पुष्टतर होते गये। यह प्रायः स्वाभाविक ही है कि नया भाव-बोध पुराने शिल्प को अपनी अभिव्यक्ति के लिये अपर्याप्त पाये और नवीन शिल्प की माँग के फलस्वरूप नवीन अनुसंधान में प्रवृत्त हो। हिन्दी के नये लेखकों में यह प्रवृत्ति बड़ी स्पष्ट रही है। कहानी, नाटक और उपन्यास सभी विधाओं में शिल्प का यह अभिनव रूप देखा जा सकता है।

कहानियों में आंचलिकता की विवृति इस काल की सर्वमान्य विशेषता रही है। यद्यपि ऐतिहासिक दृष्टि से इसके सूत्र बहुत पूर्व, द्विवेदी-युग के उत्तरार्द्ध में ढूँढ लिये जा सकते हैं; पर यह अपनी संपूर्णता और समग्रता के साथ समसामयिक साहित्य में ही व्यक्त हो सके हैं। आंचलिकता को लोकप्रिय बनाने वाले अधिकांश लेखकों ने इस उपकरण को उपन्यास और कहानियों में प्रमुखता दी है। फणीश्वरनाथ रेणु, नागार्जुन, मधुकर गंगाधर, हिमांशु श्रीवास्तव, रणधीर सिन्हा और श्यामसुन्दर घोष की कहानियों में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है।

आंचलिकता अपने आप में कोई बहुत बड़ी उपलब्धि नहीं है। यह एक माध्यम है, जिससे अंचलविशेष के जीवन की मार्मिक अनुभूतियों की अभिव्यक्ति सम्भव है। इस तथ्य को आज के नये लेखक स्वीकार करते हैं, इसीलिये जहाँ उनकी कहानियों का वाह्य विधान आंचलिक है वहाँ वह युग के नवीन भावबोध से परिचालित भी है। रेणु की 'तीसरी कसम अर्थात मारे गये गुलफाम', मधुकर गंगाधर की 'कागभाखा' और 'खून' और रणधीर सिन्हा की 'बहेंगवा' कहानी में ये गुण सहज ही देखे जा सकते हैं।

आंचलिक शब्दों के प्रयोग से कथा में आंचलिकता का समावेश सम्भव है, पर हिन्दी कथा-साहित्य के लिये यह नितान्त नई बात नहीं है। ऐसे आंचलिक शब्द प्रेमचन्द के कथा-साहित्य में नगीने की भाँति जड़े हैं और अपनी

चमक से साहित्य-रसिकों को विमोहित कर चुके हैं। कुछ नये लेखक तो आंचलिक शब्दों का वैसा सुन्दर और सटीक प्रयोग कर भी नहीं पाते, आंचलिकता के दुराग्रह में पड़, अच्छे-खासे व्यंजक शब्दों को भी तोड़-मरोड़ डालते हैं। यदि इससे भिन्न आंचलिकता का वह रूप लिया जाय जहाँ मात्र द्वन्द्व ही नहीं, कथा का सम्पूर्ण ढाँचा आंचलिक है, तो हम संतोष की साँस ले सकते हैं। ऐसी कथा-कृतियों में लोकगीत, लोककथा और लोक-शब्दों के साथ लोक-मानस का जो अटूट भाव-विन्यास उपस्थित हुआ है, वह अपूर्व है। नये लेखकों ने बहुधा लोक-साहित्य और शिष्ट साहित्य के जीवंत उपकरणों से ऐसे शिल्प का निर्माण करना चाहा है, जिसमें सद्यः-प्रस्फुटित पुष्प जैसी ताजगी और मोहकता है।

पहले कहा जा चुका है कि नई कहानियाँ नये जीवन-बोध को लेकर विकसित होती हैं और वह नया जीवन-बोध नई अभिव्यक्ति का आकांक्षी होता है। शिल्प और भाव-बोध का यह अभिनव रूप नलिनविलोचन शर्मा, राधा कृष्ण प्रसाद, नरेश, शिवचन्द्र शर्मा, सुधीर कुमार, राजकमल चौधरी और राजेन्द्र किशोर जैसे लेखकों में सहज ही देखा जा सकता है। जहाँ नई आंचलिक कृतियाँ ग्रामीण संवेदना की वाहिका हैं, वहाँ इस नये भाव-बोध की कहानियों में आज के जटिल, विघटित और विशृंखल जीवन का सफल कलात्मक चित्रण हुआ है। 'विष के दाँत' और 'ब्रह्मपुत्र' और अन्य संकलनों में ऐसी अनेक कहानियाँ संग्रहीत हैं जो इस मंतव्य की पुष्टि करती हैं। ऐसी कहानियाँ विभाजन की दृष्टि से कई कोटियों में रखी जा सकती हैं—जैसे (क) ड्राइंग-रूम की कहानियाँ (ख) सड़कों, गलियों और फुट-पाथों की कहानियाँ (ग) होटल-रेस्तराँ और क्लबों की कहानियाँ। लेकिन यह विभाजन भी सुविधामूलक ही होगा। ऐसी कहानियों में जीवन का कटु यथार्थ अधिक निर्ममता से व्यक्त हुआ है। यदा कदा व्यंग्य का सम्यक् पुट इन कहानियों को और भी प्रभावशाली बना देता है। राजकमल चौधरी की 'श्रीमती मदालसा सुन्दरम्', राजेन्द्र किशोर की 'लिजा की माँ', राधाकृष्ण सहाय की 'ठंड, रात और छिपकिली', डॉ॰ नर्मदेश्वर प्रसाद की 'निकटम विवस्त्र', शांता सिन्हा की 'सिम्फनी' और श्यामसुन्दर घोष की 'बीमार' जैसी कहानियों में अत्याधुनिक सम्वेदना नवीन शिल्प के साथ व्यक्त हुई है। उपर्युक्त लेखकों में से कुछ की अपनी सीमायें भी हैं। बकौल राजेन्द्र यादव के, इनमें से कुछ लेखक जब ऐसी कहानियाँ लिखने लगते हैं, जिनमें पात्र निश्चेष्ट और निरुपाय होकर मरने और घुलने को छोड़ दिये जाते हैं और लेखक उसमें एक शहीदाना आनन्द लेता और चित्रण में अतिरिक्त घुटन का समावेश कर देता है, तो वह नीरस और जड़ प्रयोगवादी कथा-शिल्प को अपनाने की चेष्टा करता प्रतीत होता है। वहाँ कहानियों के प्रभाव की पकड़ ढीली प्रतीत होने लगती है।

नई कहानियों में हास्य और व्यंग्य का पर्याप्त पुट है। नागार्जुन, अलबर्ट कृष्णअली और मधुकर गंगाधर अपनी इस विशेषता के कारण सहज ही आलोच्य हो जाते हैं। मधुकर की कहानियों में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य की प्रधानता है जबकि अलबर्ट कृष्णअली में व्यंग्य और हास्य दोनों साथ-साथ चलते हैं। मधुकर की व्यंग्य करने की शक्ति बड़ी पैनी है। 'तीन रंग तेरह चित्र' में ऐसी कितनी ही कहानियाँ हैं जो अपनी व्यंग्यात्मकता के कारण सहज ही प्रसिद्ध हो चुकी हैं। नागार्जुन की 'हीरक जयन्ती' का व्यंग्य बड़ा व्यापक और चुटीला है। समाज के सभी तबके के लोगों पर निर्भय भाव से व्यंग्य करना नागार्जुन की ही विशेषता है। इस क्रम में वे अपने सहयोगी साहित्यकारों को भी नहीं छोड़ते। चापलूसी, खुदगर्जी, मक्कारी के तो वे जानी दुश्मन हैं। सत्ताधारी समूह के दुर्गुणों के प्रति मन में जो क्रोध और घृणा है, वह जहाँ नागार्जुन को प्रगतिवादी कथाकारों के खेमे में डालती है वहाँ शिल्प की अभिनव रूपसज्जा के कारण वे नये लेखकों के समीप पड़ते हैं।

यह नहीं है कि आज का नया लेखक त्रिकोणात्मक प्रेम-कहानियाँ नहीं लिखता। वैसी विषय-वस्तु को लेते हुए भी वह उसके पीछे आज के किसी-न-किसी गम्भीर मसले को देखता है। प्रेम-संबंध आज के कहानीकारों के लिये नितान्त वैयक्तिक नहीं रह गये हैं, उनके पीछे प्रायः सामाजिक स्थिति का विवेचन या मूल्यांकन भी है। इस प्रकार, व्यक्ति को अपने परिवेश से विच्छिन्न न करते हुए,

अपनी कहानी के लिए स्वीकार कर लेना, नये लेखकों की विशेषता है। ऐसी कहानियों में, जहाँ पात्रों का सहानभूतिपूर्ण मनोवैज्ञानिक अध्ययन है, वहाँ उनकी कमजोरियों पर निर्मम व्यंग्य-प्रहार से भी नहीं चूका गया है।

ऊपर कहानियों के नवीन शिल्प की बात कही गई है। लेकिन यह नया शिल्प छायावादी और प्रयोगवादी शिल्प से सर्वथा भिन्न है। यहाँ भाषा की रंगीनी और चमक-दमक प्रधान नहीं है। नया लेखक सजी-सँवारी लाक्षणिक भाषा का सहारा लिए विना ही अधिक खुल कर सामने आता है। उसका शिल्प या तो सहज शिल्प है या वस्तु की अनुरूपता का चरितार्थक है।

नई कहानियों में नये मन और पुरानी रूढ़ियों का संघर्ष भी अत्यन्त प्रमुख है। यों तो ये संघर्ष पहले की कहानियों में भी हैं, पर नये लेखकों ने प्रत्यक्ष और परोक्ष वर्जनाओं का उल्लंघन अधिक तत्परता से किया है और निषिद्ध क्षेत्रों में जाकर अपनी कला की किरणें फेंकी हैं। और, यह किसी आदेश के फलस्वरूप नहीं किया गया है, अपितु दृष्टि के कारण ही लेखक उन निषिद्ध क्षेत्रों में धँसा है और उनका खाका खींचता गया है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि—हे विद्वन् ! ग्रामों का रक्षण करना तुम्हारा मुख्य कर्त्तव्य है। १-४४-१०

अथर्ववेद में भी ऐसे ही अभिप्राय वाला एक मन्त्र आता है—हमें जगाने के लिये परमेश्वर श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य को भेजता है। समर्थ आचार्य ही प्रजा का तारक कहा जाता है। ५-३-१०

ऋग्वेद में एक स्थान पर और कहा गया है—समर्थ आचार्य ही प्रजा को तारता है। १-३६-५

आचार्य भी गाँव-गाँव में सच्चा वैदिक उपदेश पहुँचाने की भगवान् वेद से आज्ञा माँगता है—हे वेदवाक् ! इस भूतल पर जो जो ग्राम हैं, वन हैं, सभाएँ, संग्राम और समितियाँ हैं; उन सब स्थानों में तेरा जगत्-उद्धारक यश हम फैला दें। अथ० १२-१-५६

हिन्दी की नयी आलोचना

श्री नरेन्द्र बक्शी

दूसरी कई चीजों की तरह आलोचना की प्रवृत्ति भी हिन्दी को संस्कृत से ही विरासत के तौर पर मिली है। 'सूर सूर तुलसी ससी' और 'सतसइया के दोहरे अरु नावक की तीर' जैसी सूक्तियों में उस समय की आलोचना-प्रवृत्तियों का परिचय मिलता है। बीसवीं शती के आरंभ में, पाश्चात्य सभ्यता और साहित्य के प्रभावस्वरूप, हिन्दी-आलोचना की भी प्रणाली बदली। पहले तो पत्र-पत्रिकाओं में 'रिव्यू' निकलने लगे, तदनन्तर साहित्यालोचन संबंधी पुस्तकें भी धीरे-धीरे प्रकाश में आने लगीं। मिश्रबंधु, महावीर प्रसाद द्विवेदी, रामचन्द्र शुक्ल, गुलाबराय जैसे सुख्यात लेखक, हिन्दी आलोचना के प्रारंभिक युग के ही आलोचक हैं।

आलोचकों की दूसरी पीढ़ी, नंददुलारे वाजपेयी, डा० नगेन्द्र, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, डा० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों के नाम से प्रतिष्ठित हुई। इस जमाने की आलोचनात्मक दृष्टि में 'विशेषज्ञता' मुख्य विशेषता थी। पहली पीढ़ी के आलोचक जहाँ साहित्य के सामान्य आलोचक थे, वहाँ यह नयी पीढ़ी, साहित्य के अंगोपांग-विशेष में, 'विशेषज्ञता' की सूक्ष्म दृष्टि लेकर आयी। इसी परम्परा में डा० सुधीन्द्र, डा० सत्येन्द्र, परीख मीतल, मुंशीराम शर्मा, विश्वनाथ प्रसाद मिश्र आदि के भी नाम उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयों में आज जो धड़ल्ले से डाक्टर बन-बन कर निकल रहे हैं, 'विशेषज्ञता' का दावा रखनेवाली आलोचकों की श्रेणी में ही परिगणनीय हैं।

मगर इतना होने के बावजूद, हिन्दी-आलोचना अभी हाल-हाल तक किसी भिन्न और स्वतंत्र दिशा में आगे नहीं बढ़ पा रही थी। या तो लोग छन्द और रस में ही डूबे हुए थे या बहुत तो मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचंद और जैनेन्द्र तक पर विचार कर लिया करते थे। मगर वैसा कोई आलोचक दीख नहीं रहा था जो चली आती हुई परम्परा को मोड़ दे सके, तंग और गंदी नालियों से होकर बहनेवाली हिन्दी आलोचना को नयी दिशा की ओर प्रवाहित कर उसे उसकी नयी राह दिखा सके। बिहार में नलिनविलोचन शर्मा और बिहार के बाहर हजारी प्रसाद द्विवेदी ने नयी प्रतिभाओं को उनकी पुस्तकों की भूमिका लिखकर कुछ प्रोत्साहन तो जरूर दिया, लेकिन उनकी आलोचना-दृष्टि में केवल प्राचीन साहित्य और प्राचीन साहित्यकार ही आ सके। मगर अब वह समय आ गया था कि मैथिलीशरण गुप्त, प्रेमचन्द और जैनेन्द्र के बाद की प्रतिभाएँ, अपनी शक्ति-सामर्थ्य का प्रबल संकेत देने लगीं थीं, उनके नाम के साथ हिन्दी का साहित्य लोकप्रिय और गौरवान्वित हो रहा था। सौभाग्य या संयोग की ही बात समझिये, ऐसे में हिन्दी आलोचना को बिलकुल एक नयी मोड़ दी समर्थ साहित्यकार प्रो० दीनानाथ 'शरण' ने। गीत और कहानियों के माध्यम से 'शरण' जी का साहित्य में प्रवेश यों बहुत पूर्व हो चुका था, लेकिन सन् १९५७ में प्रकाशित 'हिन्दी काव्य में छायावाद' शीर्षक पुस्तक से, प्रो० शरण, आलोचक के रूप में प्रथम बार साहित्य-जगत में सुपरिचित हुए। स्वल्प काल में छायावाद पर उनकी दूसरी पुस्तक भी आयी। लेकिन छायावाद के विशेषज्ञ होने भर का यश उन्हें जैसे नहीं मिलना था। शीघ्र ही सन् १९५८ में जयपुर के दैनिक 'नवयुग' में उनकी एक समीक्षा छपी 'उपन्यासकार चन्द्र और उनका खम्मा अन्नदाता' और हिन्दी आलोचना को जैसे एक नयी ही मोड़ प्राप्त हुई। पहली-पहली बार किसी आलोचक ने किसी नये उपन्यास-लेखक पर इतनी विस्तृत, इतनी गंभीर और इतनी निर्भीक समीक्षा नहीं दी थी। आलोचना के इतिहास में वह घटना वास्तव में 'युगांतरकारी' सिद्ध हुई, जबकि एक नये उपन्यास-लेखक पर, एक स्वतन्त्र लेख ही छपा[1] और उसका इतना प्रभाव भी पड़ा कि राजस्थान की राज्य सरकार ने उस उपन्यास-लेखक को ५०० रुपये के सरकारी पुरस्कार से सम्मानित किया।

१. नवयुग, दैनिक, जयपुर (राजस्थान), रविवार, २७ अप्रैल, १९५८।

समर्थ समालोचक प्रो० दीनानाथ 'शरण' ने उपन्यास-लेखक, श्री यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र' के अलावा, उसी प्रकार की विशद एवं स्वतंत्र समीक्षाएँ कविवर श्री रामचन्द्र शर्मा 'किशोर' और श्री विश्वनाथ शर्मा 'अर्क' पर भी लिखीं जो क्रमशः 'प्रकाश' साप्ताहिक (देवघर) के पंद्रह अगस्त १९५९ तथा 'विश्वमित्र' दैनिक (पटना) के २३ जून, १९६१ के अंक में देखने में आयी। इस प्रकार पंत, प्रसाद और प्रेमचन्द को छोड़कर सर्वथा नवीन प्रतिभाओं पर इस कदर विस्तृत और स्वतंत्र समीक्षाओं का लिखा जाना, वास्तव में हिन्दी-आलोचना में नयी बात थी। प्रो० 'शरण' की इस समालोचना-दृष्टि ने परवर्त्ती अनेक लेखकों को प्रभावित किया और धीरे-धीरे उस तरह की और समीक्षाएँ भी पत्र-पत्रिकाओं में दिखाई देने लगीं। उदाहरण के लिए, हाल में 'योगी' (साप्ताहिक, पत्रिका) में प्रकाशित हरेन्द्रदेव नारायण के लेख "उपन्यासकार अनूपलाल मंडल" और 'नयी धारा' (मासिक, पटना) के कई अंक में प्रकाशित, श्री सुरेन्द्र प्रसाद जमुआर के लेख 'कवि रामगोपाल शर्मा रुद्र' के नाम लिए जा सकते हैं। पटने की 'नयी धारा', कलकत्ते की 'गल्प-भारती' और आगरे की 'युवक' आदि पत्रिकाओं ने तो इस प्रकार की समीक्षा के लिए नया स्तंभ ही चालू कर दिया है।

इधर, हाल से, प्रो० शरण ने हिन्दी आलोचना में एक और नयी प्रवृत्ति जाग्रत की है और वह है एक ही समीक्षात्मक प्रबंध में उपेक्षित और नवीन अनेक महत्त्वपूर्ण प्रतिभाओं का उल्लेख और उनका आकलन। इस प्रकार की उनकी प्रथम समीक्षा 'सन्मार्ग' (दैनिक, कलकत्ता) के पहली मई, १९६० के अंक में प्रकाशित हुई थी और तदनंतर 'रश्मि' (मासिक, त्रिवेणीगंज) के मार्च जून, १९६१ अंक में प्रकाशित 'नयी हिन्दी कविता : तथ्य और उल्लेख्य' लेख में भी वह प्रवृत्ति प्रबल होती दिखाई दी। अनेक पत्र-पत्रिकाओं में वैसे समीक्षात्मक लेख लिखने के अलावा, प्रो० 'शरण' ने यह आवश्यक समझा कि हिन्दी साहित्य का इतिहास भी नये ढंग से लिखा जाये, ताकि उपेक्षित और नवीन सब प्रकार की प्रतिभाओं को

समान महत्त्व मिले, उन्हें उनका वह स्थान मिल सके, जो उन्हें मिलना चाहिए। "नयी स्थापनाएँ : नये निष्कर्ष" शीर्षक से प्रो० शरण का नये प्रकार का इतिहास, ज्ञात हुआ है, प्रकाशन के लिए लगभग तैयार है। हिन्दी की वर्त्तमान सीढ़ी के उपेक्षितों और नवीन साहित्यकारों के लिए वह दिन सचमुच सौभाग्य का दिन होगा, जब युगांतरकारी आलोचक का वह इतिहास प्रकाशित होकर हिन्दी जगत के सामने आयेगा। आज की नयी पीढ़ी और वर्त्तमान उपेक्षित पीढ़ी के साहित्य और साहित्यकारों की इतनी सूक्ष्म, स्वतंत्र और उपयुक्त समीक्षा देने का दावा रखनेवाले वे उत्साही और प्रभावशाली समालोचना-लेखक हैं। हिन्दी-आलोचना के क्षेत्र में यह नवीनतम प्रवृत्ति जो आज तीव्रगति से प्रवाहित होने लगी है, उससे हिन्दी के प्रेमियों एवं पाठकों को आज के साहित्य से नयी-नयी आशायें बँधने लगी हैं।

चलते-फिरते पुस्तकालय : हंगरी

श्रीमती लीलावती जैन 'प्रभाकर'

[इधर के वर्षों में भारत में साक्षरता बढ़ी है। पत्र-पत्रिकाओं की संख्या बहुत बढ़ गई है, उनके ग्राहक भी ज्यादा हो गये हैं। पुस्तक-प्रकाशन-कार्य भी पहिले से काफी बढ़ा है। नये-नये पुस्तकालय-वाचनालय देश भर में कायम किये गये हैं और गाँव में इनको खोलने का प्रयत्न है। विदेशों में इससे कहीं ज्यादा काम हो रहा है। वहाँ पुस्तकों की लोकप्रियता बहुत है और जनता की ज्ञानपिपासा शान्त करने के लिये पुस्तकों को मोटर में भरकर देश के दूर-दूर इलाकों में भेजा जाता है, जिससे वह जनसाधारण के लिये सुलभ हो सके। यूरोप के एक छोटे, एक करोड़ की आबादीवाले देश हंगरी में मोटरों द्वारा पुस्तकें पाठकों के गाँवों में पहुँचाई जाती हैं। वहाँ यह सब कैसे होता है—इस लेख में बताया गया है।]

१९५९ के वसन्त के दिनों में हंगरी को १६ मोटर-गाड़ियाँ मिलीं जो चलते-फिरते पुस्तकालय बनाने के लिये तैयार की गई थीं। इनको देश के १६ प्रदेशों में बाँट दिया गया। प्रत्येक मोटर में एक पुस्तकाध्यक्ष के लिये कमरा था, जिसमें ग्रामोफोन और १६ मिलीमीटर का प्रोजेक्टर लगा था। पुस्तकों के रखने के लिये अलग स्थान था। इनमें से एक चलता-फिरता पुस्तकालय बोरसोड कौन्डी की फेरेन्क राकोजी पुस्तकालय के पास भेज दिया गया था। सप्ताह में तीन दिन; बुध, शुक्र और रविवार को यह चलता-फिरता पुस्तकालय ६ दूर-दूर बसे गाँवों में और २७ फार्मों पर जाता है, जहाँ अभी बिजली, रेल या बस-मोटर नहीं जाती-आती। तीसरे पहर यह पुस्तकालय वहाँ पहुँचता जबकि खेतों पर काम होता। औसतन एक दिन में यह दो जगह जाता। पहिले महीने में ८६६ स्त्री-पुरुषों ने, जिनमें २०२ बच्चे थे, इस पुस्तकालय की सभासदी के कार्ड लिये और १२६४ किताबें लेकर पढ़ी गईं।

मैदान में लापलो नामक एक अलग फार्म पर बनी हुई इमारत है। इसके पास होकर अक्सर बस गुजरा करती है और एक अलग खड़ी इमारत से होकर गुजरती है जो एक स्कूल है। यहाँ पर स्त्रियों और बच्चों का झुण्ड था। हालाँकि वह सब किसान औरतें थी, वह सर में रुमाल नहीं बाँधे थीं और न एक भी नंगे पैर थीं। फार्म पर काम करनेवाले पुरुष अभी वहाँ पर काम कर ही रहे थे, इसलिये स्त्रियाँ मोटर पर आ गईं, अपने लिये, अपने बच्चों व पतियों के लिये नई किताबें लेने के लिये। कुछ देर बाद पुरुष भी अपने काम से सीधे यों ही गर्द-गर्द में भरे कपड़े पहिने आ धमके। अबसे बीस वर्ष पूर्व इनमें से कोई भी एक पुस्तकालय में पैर रखने तक की हिम्मत नहीं कर सकता था। अब पुस्तकालय स्वयं उनके पास आता है।

पुराने जमाने में सेन्डोर ग्रेविजा, जो पहिले खेतों पर मजदूरी करता था और अब दूकानदार है तथा स्थानीय पंचायत का पंच है, कभी पुस्तकालय के अन्दर नहीं गया था। तब यह सबेरे से शाम तक काम करता था और पढ़ने का कोई समय ही नहीं निकाल पाता था। वह बड़े घृणात्मक ढंग से कहता कि 'आपको जानना चाहिये कि उस जमाने में एक गरीब आदमी का जीवन क्या था? बिना इसे जाने आपको क्या पता चलेगा कि यह अब कितना सुधर गया है।' उसने चारों ओर देखा और मुस्कुराया क्योंकि उसने अपने सामने लड़कियों को नये गरमी के फ्रॉक और लड़कों को साफ ठीक बने पतलून पहिने देखा। उसने कहा कि 'यह अन्तर है। स्वतंत्रता से पूर्व हमारे मालिक के लड़के ही ऐसे कपड़े पहिनते थे। इसके अर्थ यह नहीं हुए कि हम अच्छी तरह रहना जानते ही न थे। अब हम उस तरह से नहीं रह रहे हैं। वास्तव में मनुष्य अधिकाधिक चाहता है। आज जबकि उसके पास पहिले से ज्यादा है, जब वह केवल भरपेट भोजन चाहता था, फिर भी और चाहता है।' उसने कविता की दो पुस्तकें लेकर अपनी बगल में दबा लीं और नमस्ते करके चला गया।

लापलो की तुलना में एग्रोहोमक तो बड़ा शहर है। इसमें एक प्रमुख सड़क है, दूकानों का बाजार है और स्कूल के हाते के चारों ओर तार लगा हुआ है। जब पुस्तकालय की

मोटर वहाँ पहुँची तो एक मेज पड़ी थी और कितने ही स्त्री-पुरुष उसका इन्तजार कर रहे थे। बिल्कुल अन्धेरा हो चुका था। स्कूल का अध्यापक एक पेट्रोल की लैम्प ले आया जिससे पुस्तक-वितरण का कार्य हो सके। उपस्थित जनता ने इन्हें चारों ओर से घेर लिया। अधीर बालकों ने एक के कान में धीरे-धीरे कहा कि वह उनकी पसन्द की किताबें दिलाने की कृपा करे। पूछताछ की कि अगली कौन-सी पुस्तक उन्हें पढ़ने को लेनी चाहिये। उन्होंने सावधानी से पुस्तकों को उठाया, धरा और देखा। सारा दृश्य मजेदार था। लैम्प की हल्की-सी रोशनी और अनेकों किताबें माँगते हुए हाथ। इसके एक कार्यकर्ता के लिये यह दृश्य नया नहीं था, क्योंकि उसने इसी इलाके में अबसे २० वर्ष पूर्व दौरा किया था जबकि जमीन बाँटने की खबर फैली हुई थी।

गाँव के बाहर के हॉल तथा उसके चौक में रात्रि के समय भूमिहीन किसान एकत्रित थे। वह तीनों गाँवों से आये थे और यह शिकायत करना चाहते थे कि उनको अभीतक कुछ नहीं मिला है। मेज के तीन ओर वह अर्धचन्द्र के ढंग से खड़े थे और लैम्प की रोशनी उस व्यक्ति के मुँह पर पड़ रही थी जो बोल रहा था। रात्रि के अंधेरेपन में अनेक आदमियों की भीड़ खड़ी थी। सबके हाथ बढ़े हुए थे और इसके साथ इशारे भी वैसे ही थे। भिखमंगों की तरह वह एक एकड़ भूमि माँग रहे थे। यह हृदयविदारक दृश्य उसे कई दिनों तक याद रहा। परन्तु अब यह दृश्य गायब हो गया है। इस समय यह लोग जमीन माँगने नहीं आये थे। उनके हाथ भीख के लिये पुस्तकों के लिये खुले हुए थे। उसके पास जाकर एक बुड्ढे किसान ने एक किताब वापिस की और दूसरी ली। उसने वापिस की हुई किताब को गौर से देखा और पूछा कि 'क्या तुम थॉमस मान की रचना पढ़ रहे थे?' उसने हाँ करते हुए कहा कि इसमें आश्चर्य की कौन-सी बात है? उसने बताया कि वह तो खूब पढ़ता है। उसकी अवस्था ६२ वर्ष की है और वह पूर्ववत काम नहीं कर सकता। उसकी अवस्था में मनुष्य बैठकर पढ़ना ज्यादा पसन्द करता है। उसे तो पुस्तकों का बहुत शौक है। अब वह कोई ऐतिहासिक पुस्तक पढ़ना पसन्द करेगा पर वह प्रसन्न करनेवाली हो। उसने मार्क ट्वेन का एक उपन्यास लेना तय किया। जब पुस्तकों का लेनदेन समाप्त हो गया तो गाँव के सभी लोग प्रसन्नतापूर्वक घर वापिस गये और यह पुस्तकालय भी चला गया।

भारतीय ग्रामीण भी उस दिन की बाट देख रहे हैं जब उन्हें इस प्रकार की सुविधायें प्राप्त हों।

हिन्दी प्रकाशन और उसकी आवश्यकताएँ

श्री कृष्णचन्द्र बेरी

तब की बात

देश का पहला "राष्ट्रीय पुस्तक समारोह" आजादी के १४ वर्षों बाद, १९६१ के स्मरणीय वर्ष में होने जा रहा है। इस अवसर पर मेरी स्मृति १९३० की कलकत्ते की हिन्दी प्रकाशन की धारा को देखने लगी है। उस समय बंगला तथा मराठी के अनुवादों, राजनीतिक साहित्य, पौराणिक, ऐयारी तथा जासूसी उपन्यासों की ओर प्रकाशकों, लेखकों तथा पाठकों का झुकाव था। मुझे याद आता है, आर० एल० वर्मन कम्पनी के "हिन्दू पंच" अखबार का वह दफ्तर जहाँ से सती सीरीज (सती शकुन्तला, सती दमयन्ती), जासूसी सीरीज, ऐयारी उपन्यास आदि प्रकाशित होते थे। निहालचन्द एण्ड कम्पनी द्वारा प्रकाशित मिस मेयो की "मदर इण्डिया" का जवाब रंगा ऐयर लिखित "फादर इंडिया" और "पंजाब का भीषण हत्याकाण्ड" की दसों हजार प्रतियाँ छपते ही पाठकों द्वारा हाथोंहाथ खरीद ली गयी थीं। 'मतवाला' पत्र का दफ्तर भी कलकत्ता में था, जहाँ से उग्रजी की रचनाएँ "दिल्ली का दलाल", "बुधवा की बेटी" आदि प्रकाशित हुई थीं। वैसे तो देश में और भी अनेकानेक गण्यमान्य प्रकाशन-संस्थाएँ थीं, परन्तु कलकत्ते से जो प्रकाशन होते थे, हिन्दी के वे ही प्रतिनिधि प्रकाशन समझे जाते थे। कलकत्ते से हटकर काशी में गोपालरामजी गहमरी का जासूस कार्यालय, "भारत जीवन" प्रेस, नागरी प्रचारिणी सभा आदि, कानपुर में गणेशशंकरजी विद्यार्थी का प्रकाश पुस्तकालय, लखनऊ में दुलारेलालजी की गंगा-पुस्तकमाला तथा मुंशी नवलकिशोर प्रेस, बम्बई में नाथूरामजी प्रेमी का हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय तथा सेठ खेमराज श्रीकृष्णदासजी का वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस—पुराने प्रकाशनों की आज भी हमें याद दिलाते हैं।

उन दिनों हिन्दी में पुरुष-पाठकों की अपेक्षा स्त्री-पाठकों की बहुलता थी। लेखकों की रुचि पौराणिक उपन्यास, जासूसी तथा ऐयारी वृत्तान्तमाला, राजनीतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक पुस्तकें लिखने की ओर ही थी। विज्ञान, तकनीक, आलोचना आदि विषयों पर पुस्तकें नहीं के बराबर थीं। हिन्दी प्रकाशन के इस युग में एक और अजीब चीज पायी जाती थी। राजे-रजवाड़ों के नाम से भी रचनाएँ लिख डाली जाती थीं। उन दिनों लेखक को पुस्तकों के लिखने से कुछ विशेष आर्थिक लाभ तो नहीं होता था, परन्तु ख्याति की दृष्टि से पुस्तकें लिखना अच्छा समझा जाता था।

१९२१ से ४० तक छपे प्रकाशनों को देखने से मालूम होता है कि इस युग में हिन्दी के प्रकाशन बंगला साहित्य के प्रकाशनों से प्रभावित थे। हिन्दी पुस्तकें सजधज के साथ प्रकाशित होने लग गई थीं। यह तो नहीं कहा जा सकता कि उस समय की पुस्तकों की रूपसज्जा आज के प्रकाशनों के बराबर थी, परन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि प्रकाशक तन्मयता के साथ उन दिनों (१९२० के पूर्व वाले प्रकाशन के युग के ढर्रे को त्याग कर) आगे बढ़ना चाहता था। हिन्दी पुस्तकों में तिरंगे कवर और भीतर आर्ट पेपर पर चित्रों को देने की प्रथा-सी चल पड़ी थी। उपहार-भेंट करने के लिए रेशमी जिल्दों की और सोने के ठप्पे लगी हुई पुस्तकें उस समय उपलब्ध होती थीं जो आजकल नहीं दिखाई देतीं।

आधुनिक मोड़

१९३५ में हिन्दी प्रकाशनों को आधुनिक मोड़ देने वाले एक महान साहित्यकार ही थे। वे थे पं० चन्द्रशेखर पाठक, जिन्होंने हिन्दी में २०० से अधिक पुस्तकें लिखीं और उनकी लेखन-शैली ने पुराने पौराणिक ढंग के उपन्यासों की जगह ऐतिहासिक उपन्यासों को पढ़ने के लिए जनता का ध्यान आकृष्ट किया।

आज का पाठक कवितापुस्तकों में, पाठ्यपुस्तकों को छोड़कर, शायद ही दिलचस्पी रखता हो। मुझे याद है कि उस समय राष्ट्रीय कवि माधव शुक्ल के कविता-संकलन

"राष्ट्रीय झंकार" की "मेरी माता के सर पर ताज रहे" नामक कविता बच्चे-बच्चे की जुबान पर थी। इस पुस्तक की हजारों प्रतियाँ हाथोंहाथ बिक गयीं। गान्धीजी के असहयोग-आन्दोलन के दिनों में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की "भारत भारती" ने घर-घर में स्थान पा लिया था। १६३३ में जापान के प्रसिद्ध कवि नोगुची कलकत्ते आये थे। उन दिनों कलकत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट-हाल में कविवर श्री रामधारी सिंह जी दिनकर से मेरी पहली मुलाकात हुई थी। वहीं उन्होंने अपनी प्रसिद्ध कविता "हिमालय" (मेरे नगपति मेरे विशाल) पढ़ी थी। उन दिनों प्रायः कम पूँजी वाले लोग ही प्रकाशन-क्षेत्र में आये थे। गुलाम देश था, हमारी संस्कृति पर गुलामी की छाप पड़ी हुई थी, परन्तु गान्धीजी के असहयोग-आन्दोलन ने उस समय प्रकाशकों पर भी अपनी छाप छोड़ रखी थी। देशभक्तिपूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करने की प्रकाशकों में ललक-सी थी। ऐसे प्रकाशक भी थे जो स्वयं पुस्तकें भी लिखते थे, प्रूफ भी देखते थे, दौड़-धूप कर छपवाते भी थे और शहरों व मेलों में घूम-फिर कर बेचते भी थे।

नयी चेतना

१६४० तक के हिन्दी प्रकाशन का विश्लेषण मैंने थोड़े शब्दों में ऊपर किया है। उसके बाद हिन्दी प्रकाशन के क्षेत्र में एक नयी चेतना दीख पड़ी। इस चेतना के कर्णधार थे इण्डियन प्रेस के श्री चिन्तामणि घोष के सुपुत्र स्वर्गीय पाटल बाबू। उन्होंने "सरस्वती सीरीज" तथा अन्य साहित्यिक कृतियाँ आधुनिकतम ढंग से प्रकाशित कर हिन्दी प्रकाशन में नये प्रयोग उपस्थित किये। पं० सोहनलालजी द्विवेदी की कविताएँ इण्डियन प्रेस ने सजधज के साथ छापीं और उसे पाठकों ने सराहा भी। इस युग में भारती भण्डार प्रयाग द्वारा प्रकाशित पुस्तकें भी जनता द्वारा समादृत होने लगी थीं। स्वतंत्रता का युग आते-आते देश में हिन्दी-प्रकाशन के क्षेत्र में कलकत्ते का महत्त्व कम होने लगा था। आजादी के साथ पटना, इलाहाबाद तथा बनारस हिन्दी प्रकाशन के गढ़ बन रहे थे। हरिऔधजी, महावीरप्रसादजी, बाबू श्याम-सुन्दरदासजी, राजा राधिकारमण सिंहजी, कविवर दिनकरजी, प्रसादजी, महादेवीजी, भगवतीचरणजी वर्मा, निरालाजी, नरेन्द्रजी आदि की रचनाएँ इन्हीं केन्द्रों से प्रकाशित होती थीं।

१६५० के बाद, हिन्दी प्रकाशन में एक नई क्रान्ति का आविर्भाव हुआ। वह था लाहौर से आये हुए प्रकाशकों का हिन्दी में वैज्ञानिक रीति से दिल्ली से धुँआधार प्रकाशन। हिन्दी के राष्ट्रभाषा होने के कारण प्रकाशकों ने अपने प्रकाशन-क्षेत्र को और भी व्यापक बनाया। पुरानी प्रकाशन-परम्परा समय के साथ दफनायी-सी गयी। अब जासूसी, सती सीरीज, पौराणिक उपाख्यान, राष्ट्रीय पुस्तकें पढ़ने वालों की संख्या नगण्य-सी हो गई। आजादी के बाद का पाठक दुनिया में मौजूद वैज्ञानिक संचरणसाधनों के कारण इतनी अधिक व्यापक जानकारी रखनेवाला हो गया कि उसे पुस्तकों के नाम पर पुरानी परम्परा की पुस्तकें पढ़ने से सन्तुष्टि नहीं प्राप्त होती। समय की गति को हिन्दी के प्रकाशकों ने पहचाना और उनका हिन्दी में विज्ञान, तकनीक, भूगोल, इतिहास, नवसाक्षर साहित्य, बच्चों के लिए वयक्रम से पुस्तकें आदि प्रकाशित करने का कार्य आरम्भ हो गया। आजादी के बाद अच्छे लेखक भी हिन्दी को मिले। बाल-साहित्य में भी अनेक लेखकों की कृतियाँ आयीं। बाल-साहित्य में अंग्रेजी से ग्रिम की कहानियाँ; हैंसएन्डरसन की कहानियाँ हिन्दी में अनूदित होकर आयीं। यूनेस्को के तत्त्वावधान में कई बाल-पुस्तक-मालाएँ भी छपीं। बाल-साहित्य के क्षेत्र में, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, राजपाल एण्ड संस, आत्माराम एण्ड संस, राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, सस्ता साहित्य मण्डल आदि संस्थाओं ने काफी अच्छे प्रकाशन किये। इधर एक अजीब-सी चीज प्रकाशकों में देखने को आ रही है। वह है, प्रकाशकों द्वारा कवियों की कृति को प्रकाशित करने में नाक-भौंह सिकोड़ना। फलतः प्रतिभाशाली कवियों की कृतियों के प्रकाशन में कठिनाई पड़ रही है। हिन्दी प्रकाशक इस विषय में यदि शीघ्र ही सजग एवं सचेष्ट नहीं हुए तो मुझे भय है कि वे कितने ही रवीन्द्र और गेटे खो बैठेंगे। अच्छा हो, कविता-पुस्तकें सजधज के साथ प्रकाशित हो जायँ और प्रकाशक उनका विशेष रूप से प्रचार करें।

शिक्षा का प्रसार होने के कारण कॉलेज स्तर पर प्रत्येक विषय में हिन्दी पुस्तकों की माँग शुरू हो गयी है। लिहाजा कृषि, मूर्तिकला, वस्त्रोत्पादनकला, भूगर्भशास्त्र, भौतिकशास्त्र आदि विषयों में हिन्दी में उच्चस्तरीय प्रकाशन हो रहे हैं। हिन्दी में प्रान्तीय भाषाओं के अनुवाद भी धड़ल्ले से आ रहे हैं। साहित्य अकादमी भी विभिन्न भाषाओं की चुनी हुई पुस्तकों के अनुवाद प्रकाशित करने में प्रयत्नशील है। हिन्दी के प्रकाशनों में आज जितने विविध प्रकार के विषय देखे जाते हैं, उतने १६२० और ४० के युग में तो थे ही नहीं। उस समय की तुलना में ५०-६० का युग प्रकाशन की दृष्टि से दो सौ गुना बढ़ा है, परन्तु जिस गति से देश में शिक्षा बढ़ रही है, उस गति से हिन्दी के प्रकाशनों की माँग नहीं बढ़ रही है। कहा जा सकता है कि देश की आर्थिक विषमताओं के कारण मानव इतना अशान्त है कि उसका ध्यान पढ़ने की ओर जा ही नहीं पा रहा है। परन्तु 'अन्तरिक्ष यात्रा' के इस युग के हिन्दी प्रकाशक और लेखक को इस युग के पाठकों का ध्यान आकृष्ट करने के लिए ऐसा साहित्य प्रस्तुत करना है जिससे पुस्तकों की ओर पाठक की रुझान बढ़े, घटे नहीं।

आज की आवश्यकताएँ

हिन्दी में विविध विषयों की पुस्तकें लिखने के लिए शब्दों की आवश्यकता है। इसके लिए केन्द्रीय सरकार का हिन्दी निदेशालय काफी काम कर रहा है। यों तो सभी प्रादेशिक सरकारें हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन की दिशा में उन्मुख हैं, पर उत्तर प्रदेश सरकार की हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का स्वतंत्रता के बाद के प्रकाशनों में विशेष स्थान है। स्थायी मूल्य के साहित्य का इतना विविधतापूर्ण प्रकाशन कल्पना तथा श्रम का समन्वित प्रतीक है। कोशों के प्रकाशन में काशी के ज्ञानमण्डल लि० का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। १६४१ के पूर्व के दो दशकों में प्रकाशन-व्यवसाय की जो सामाजिक स्थिति थी, उस समय से अब की स्थिति में बड़ा अन्तर आ गया है। पहले जहाँ हिन्दी-प्रकाशन का कार्य हिन्दी-सेवा तक ही सीमित था, वहाँ अब इसे समाज-सेवा कहा जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी। हिन्दी पहले हिन्दी भाषा-भाषियों की भाषा थी, परन्तु आज भारत की राष्ट्रभाषा है। इस बदलती हुई सामाजिक परिस्थिति में प्रकाशकों को पाठकों की रुचि, पुस्तक विक्रय-कला, प्रचार-प्रसार पद्धति, लेखक-प्रकाशक संबंध और प्रकाशन-स्तर में सुधार आदि पर ध्यान देना आवश्यक है।

पाठकों की रुचि प्रकाशन का मेरुदण्ड है। इसके दो पहलू हैं। एक तो स्थायी साहित्य का प्रकाशन और दूसरा सामयिक साहित्य का। स्थायी साहित्य के प्रकाशन के लिए प्रकाशकों को उतना सजग और सचेष्ट रहने की आवश्यकता नहीं है, जितना सामयिक साहित्य के लिए। मिसाल के तौर पर मेजर यूरी गागरिन की अंतरिक्ष यात्रा पर पाठक पुस्तकें पढ़ना चाहते हैं, नेहरूजी की अमेरिका-रूस यात्रा पर पुस्तकें पढ़ने का कुतूहल होता है। ऐसी पुस्तकें जब निकलेंगी, तो वे सामयिक कही जायेंगी। इन पुस्तकों के प्रकाशन में बड़ी सतर्कता से काम लेना होगा।

स्थायी साहित्य के लिए यह बात नहीं है। साहित्य के किसी भी अंग पर छपे ग्रन्थ का प्रकाशन-मूल्य सर्वदा एक-सा रहता है। स्थायी साहित्य के प्रकाशन में भी पाठकों की रुचि के अनुकूल सम्पादन होना आवश्यक है। बालक तथा महिला पाठकों की रुचि के संबंध में लेखक को और सजग एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। पाठकों के ये दो वर्ग बड़े ही कोमल होते हैं।

महिलाओं और बच्चों के अलावा, हिन्दी के पाठकों में एक वर्ग और आ रहा है, "इन्टेलीजेंसिया" बनने की चेष्टा करने वाला वर्ग। हिन्दी प्रकाशनों को ऐसे वर्ग के अनुकूल बनाया जा सके, तो काफी विकास होगा।

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ ने हिन्दी प्रकाशनों को आधुनिकतम स्वरूप देने के लिए अनेकानेक विचार-गोष्ठियाँ की हैं। लेखक-प्रकाशक-सहयोग के लिए अनेकानेक योजनाएँ बनायी हैं, पाठकों को सभी विषयों पर हिन्दी में पुस्तकें सुलभ हों, इसके लिए संघ योजनाएँ बना रहा है। हिन्दी प्रकाशन के प्रचार-प्रसार के लिये राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का संघ द्वारा आयोजन इस बात का द्योतक है कि देश में हिन्दी प्रकाशनों का भविष्य बहुत ही आशापूर्ण है।

हमारा काव्य साहित्य

ज्ञानपीठ के कविता-संग्रहों में आधुनिक काव्य का सर्वांगपूर्ण प्रतिनिधित्व है।

जिन्हें पिछले वर्षों की कविता-प्रगति में रुचि है, उनके लिए हमारे कविता-संकलन अद्वितीय हैं।

ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से वस्तु और शैलीशिल्प की नई भावभूमियों को देखने और परखने के लिए ज्ञानपीठ के कविता-संग्रहों को देखना आवश्यक है।

वर्द्धमान (महाकाव्य)	अनूप शर्मा	६·००
धूप के धान	गिरिजाकुमार माथुर	३·००
मेरे बापू	'तन्मय' बुखारिया	२·५०
पंचप्रदीप	शान्ति एम० ए०	२·००
सौवर्ण	सुमित्रानन्दन पन्त	२·५०
वाणी	,,	४·००
आवाज़ तेरी है	राजेन्द्र यादव	३·००
लेखनी बेला	वीरेन्द्र मिश्र	३·००
आधुनिक जैन कवि	रमा जैन	३·७५
कनुप्रिया	डॉ० धर्मवीर भारती	३·००
सात गीत वर्ष	,,	३·५०
देशान्तर	सं—डॉ० धर्मवीर भारती	१२·००
अरी ओ करुणा प्रभामय	अज्ञेय	४·००
तीसरा सप्तक	सम्पादक—अज्ञेय	५·००
अनुक्षण	डॉ० प्रभाकर माचवे	३·००
वेणु लो गूँजे धरा	माखनलाल चतुर्वेदी	३·००
रूपाम्बरा	सम्पादक—अज्ञेय	१२·००
वीणापाणि के कम्पाउंड में	केशवचन्द्र वर्मा	३·००

हमारा उर्दू साहित्य

उर्दू साहित्य हमारी ही धरती की उपज है। उर्दू और हिन्दी भाषा में भाषाशास्त्रीय अन्तर नहीं है। किन्तु लिपि-भेद के कारण गैर-मुस्लिम भारतीय जनता के लिए उर्दू साहित्य अपरिचित है।

भारतीय ज्ञानपीठ ने सबसे पहले नागरी लिपि में उर्दू-साहित्य का प्रामाणिक प्रकाशन आरम्भ किया।

ज्ञानपीठ ने उर्दू-साहित्य के विद्वान् श्रीअयोध्याप्रसाद गोयलीय और श्रीरामनाथ सुमन द्वारा १६ जिल्दों में सम्पूर्ण उर्दू-साहित्य को नागरीलिपि में सुलभ कर देश का बड़ा उपकार किया है। इसमें—

१. उर्दू के सभी शायरों को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है।
२. उर्दू के सभी शायरों की रचनाओं के उत्कृष्ट अंशों का संकलन है।
३. उर्दू काव्य का ऐतिहासिक और साहित्यिक विवेचन है।
४. उर्दू काव्य पर मार्मिक टिप्पणियाँ हैं।
५. कठिन शब्दों के सरल और सुबोध अर्थ हैं।

श्री अयोध्याप्रसाद गोयलीय द्वारा रचित

शेर-ओ-शायरी	८·००
शेर-ओ-सुखन (भाग १ से ५)	२०·००
शायरी के नये दौर (भाग १ से ५) प्रत्येक	३·००
शायरी के नये मोड़ (भाग १, २) प्रत्येक	३·००
नग़मए-हरम	४·००

श्रीरामनाथ सुमन द्वारा आलोचनात्मक ग्रन्थ

मीर ६·०० गालिब ८·००

१९६१ के नवीनतम प्रकाशन

१. एक बूँद सहसा उछली — अज्ञेय — ७·००
२. रेडियो वार्ता शिल्प — सिद्धनाथकुमार — २·००
३. नाटक बहुरंगी — डॉ० लक्ष्मीनारायणलाल — ४·५०
४. हरी घाटी — डॉ० रघुवंश — ४·५०
५. लो कहानी सुनो — अयोध्याप्रसाद गोयलीय — २·००
६. आधुनिक हिन्दी हास्य व्यंग्य — सं०—केशवचन्द्र वर्मा — ४·००
७. पलासी का युद्ध — तपनमोहन चट्टोपाध्याय — ३·५०
८. सन्तविनोद — नारायणप्रसाद जैन — २·००
९. मेरे कथागुरु का कहना है [२] — रावी — ३·००
१०. अपने अपने अजनबी — अज्ञेय — ३·००
११. जिन्दगी और गुलाब के फूल — उषा प्रियंवदा — २·५०
१२. नये रंग नये ढंग — लक्ष्मीचन्द्र जैन — २·००
१३. शायरी के नये दौर [५] — अयोध्याप्रसाद गोयलीय — ३·००

भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, वाराणसी-५

पुस्तकालय और राष्ट्रीयता

श्री परमानन्द दोषी

पुस्तकालय का स्वरूप उपयोगितावादी होता है। अतएव किसी प्रकार के हानिकारक कार्य उसके द्वारा हो जाँय, ऐसी आशंका सर्वथा निर्मूल है। पुस्तकालय मानव-कल्याण के अन्यान्य कार्य तो करता ही रहता है, संबंधित लोगों में राष्ट्रीयता की भावना के उद्रेक में भी वह महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकता है।

पुस्तकालय की राष्ट्रीय उपयोगिता अथवा राष्ट्र को पुस्तकालय से प्राप्त होनेवाले लाभ के विषय में जितना कुछ कहा जायेगा, थोड़ा ही होगा। सभी उन्नत देशों में पुस्तकालयों के ऐसे स्वरूप के दर्शन किए जा सकते हैं। लोगों में राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार-प्रचार में उन देशों के पुस्तकालयों ने काफी योगदान दिया है। इस बात की पुष्टि उन देशों के पुस्तकालयेतिहास के अध्ययन से भली-भाँति की जा सकती है।

पुस्तकालय इस तरह के कार्य करने में जब एक देश में सक्षम हो सकता है, तब अन्य देशों में उससे इस प्रकार के कार्यों की भली-भाँति आशा की जा सकती है। प्रस्तुत लेख में हम विशेष रूप से अपने देश को लेकर देखेंगे कि पुस्तकालयों के द्वारा इसके नागरिकों में किस हद तक और कैसे राष्ट्रीयता की भावना का बीज-वपन किया जा सकता है।

हम सभी जानते हैं कि पुस्तकालयों में पाठ्य-सामग्रियों के रूप में मुख्य रूप से पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ संग्रहीत रहा करती हैं। इनमें महान् विचारकों, लेखकों, चिन्तकों, मनीषियों, अन्वेषकों आदि के सुचिंतित एवं विचारणीय अनुभव एवं विचार ही ग्रंथित रहा करते हैं। इन अनुभवों एवं विचारों को पढ़ कर, उनका मनन कर तथा अपने जीवन में चरितार्थ कर कोई भी व्यक्ति अपने को उन्नत और महान् बना सकता है। युगधर्म की पुकार पर, राष्ट्र और देश के आह्वान पर, कर्त्तव्य की चुनौती और ललकार पर व्यक्ति को आगे बढ़ कर अपेक्षित कार्य करने की प्रेरणा पुस्तक-पाठ से अच्छी तरह मिल सकती है। और, हाथ कंगन को आरसी क्या? हमने अपने पिछले स्वतंत्रता-संग्राम के दिनों देखा ही कि किस प्रकार कविवर मैथिलीशरण गुप्त, श्री माखनलाल चतुर्वेदी 'भारतीय आत्मा', स्व० बालकृष्ण नवीन, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह दिनकर प्रभृति कवियों की रचनाओं ने आलसी एवं निष्क्रिय व्यक्तियों के रक्त में भी गर्मी ला दी थी, बाबू सुन्दरलाल की पुस्तक 'भारत में अंग्रेजी राज्य' ने हजारों नागरिकों में स्वतंत्रता-प्राप्ति की दुर्दमनीय आकांक्षा पैदा कर दी थी। सुप्रसिद्ध पत्र 'चाँद' के फाँसी-अंक ने न मालूम कितने आजादी के दीवानों को प्रेरित किया था। स्व० गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पादकीय अग्रलेखों तथा भगत सिंह, राजगुरु आदि के संस्मरणों ने मातृभूमि की बलिवेदी पर कुर्बान होने की तमन्ना करोड़ों लोगों में उत्पन्न की थी।

तो, जब लोगों के हृदय-परिवर्त्तन करने में इक्की-दुक्की पुस्तकों एवं रचनाओं का इतना बड़ा हाथ रहता है, तब पुस्तकालय जिसमें ऐसी-ऐसी पुस्तकों एवं रचनाओं का अम्बार रहा करता है, उससे लोगों को कितना प्रभावित किया जा सकता है, इसकी सहज में ही कल्पना की जा सकती है।

पुस्तकों एवं पुस्तकालयों की राष्ट्रीय शक्ति का अनुमान कर लेने के बाद हमें इस बात को स्वीकार करने में कतई संकोच नहीं होना चाहिए कि जन-सामान्य में राष्ट्रीय चेतना उत्पन्न करने की पूरी सामर्थ्य पुस्तकालयों को है।

हम ऊपर की पंक्तियों में निवेदन कर चुके हैं कि जब हमारा देश पराधीन था तो किसी प्रकार पराधीनता-पाश को काटकर स्वतंत्रता अर्जित करना ही हमारा राष्ट्रीय कार्य समझा जाता था। सौभाग्य से आज हम स्वतंत्र हैं। अतएव आज हमारे किन उपक्रमों से हमारी राष्ट्रीय जागरूकता का प्रमाण मिल सकता है, ऐसा प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है। इस प्रश्न ने न केवल हमारे राजनीतिक जगत् में हलचल मचायी है, साहित्यिक जगत् में भी आज लोग राष्ट्रीयता के स्वरूप के विषय में तरह-

तरह की बातें किया और कहा करते हैं। जो बात साहित्य के साथ होती है, प्रायः वही बात पुस्तकालय के साथ भी रहती है, क्योंकि पुस्तकालय सबसे पहले साहित्यागार है बाद में और कुछ। साहित्य ही तो संगृहीत रहा करता है पुस्तकालय के क्रोड़ में।

वर्त्तमान स्वतंत्र भारत में राष्ट्रीयता के स्वरूप पर विचार करने वाले प्रायः सभी लोग इस बात को एक स्वर से मानते हैं कि लोगों में स्वदेश-प्रेम का अस्तित्व, नागरिकता के मान्य सिद्धान्तों का प्रचलन, आजादी के बिरवे को निरंतर बचाए रखकर उसे अपने श्रम और त्याग के अनवरत अभिषिंचन के द्वारा उत्तरोत्तर विकसित करते रहने की भावना ही आज की राष्ट्रीयता है। अब देखना यह है कि इन भावनाओं को पुस्तकालय किन अंशों में क्रियान्वित कर सकता है।

पुस्तकालय ऐसी पुस्तकों को ही संगृहीत करे, जिनमें मानव-जीवन को उन्नत और विकसित करने की शक्ति हो; ऐसी पुस्तकें जो देश के गौरव का उद्‌घोष करें, पुस्तकालय में होनी चाहिएँ। अपने शासन के प्रति ममता और सहानुभूति, मानव-मात्र के प्रति सहिष्णुता का वर्त्ताव, योजनाओं को सफलीभूत बनाने की अभिलाषा, अच्छे नागरिक बनने की धुन तथा इसी प्रकार के अन्यान्य अच्छे-अच्छे गुण जिन पुस्तकों के दरस-परस तथा अध्ययन-मनन से सर्वसाधारण प्राप्त कर सकें, ऐसी उत्तमोत्तम पुस्तकों को अपने प्रांगण में स्थान देकर पुस्तकालय लोगों को राष्ट्रीय भावना से ओतप्रोत करने में सहायक हो सकता है।

पुस्तकालय के पास ऐसे कार्यकर्त्ताओं की सेना होनी चाहिए, जो पुस्तक लेन-देन का यांत्रिक-कार्य ही लोगों के बीच नहीं करके, उनके साथ अपनत्व और ममत्व के भाव से व्यवहार करके उन्हें हर संभव ढंग से उन्नत बनाने में बद्धपरिकर रहें।

पुस्तकालय ऐसी संस्था नहीं है जहाँ लोग निरुद्देश्य जाकर अश्लील पुस्तकों की कामोद्दीपक वाक्यावलियों एवं तस्वीरों को देखकर मन में सिहरन और पुलकन का अनुभव करें। पुस्तकालय अश्लील-साहित्यरूपी कनक-कटोरे में जनता को प्राणान्तक विष नहीं पिलावे, बल्कि उसे प्रेरक साहित्य के द्वारा जीवन संग्राम में जूझनेवाली संजीवनी-शक्ति देकर ओज, बल और स्फूर्त्ति से सम्पन्न करे।

पुस्तकालय के संगठन एवं संचालन के जिस पहलू को देखें, आपको उसमें उसका राष्ट्रीय स्वरूप दृष्टिगोचर होगा। पुस्तकालय राष्ट्रीय सम्पत्ति होने के कारण राष्ट्र के हित और कल्याण के लिए हुआ करते हैं, न कि उसके अहित और सर्वनाश के लिए। इसीलिए पुस्तकालय को राष्ट्र का गौरव, देश का भूषण और जनता का प्रेरक-उद्‌बोधक स्थल कहा जाता है।

आप भी पुस्तकालय के राष्ट्रीयवादी स्वरूप की पहचान करके राष्ट्रीय संगीत में अपने सुमधुर स्वर द्वारा सहयोग दीजिए।

वाराणसी में आयोजित राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह

श्रीमती महादेवी वर्मा का भाषण

१४ नवम्बर से आयोजित प्रथम राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह के अवसर पर अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए हिन्दी की मूर्धन्य कवयित्री श्रीमती महादेवी वर्मा ने कहा कि राजनीतिक दृष्टि से तो निश्चय ही हम आज स्वतन्त्र हैं, किन्तु मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र हम तभी हो सकते हैं जब हमारा रागात्मक संस्कार हो, मानव-मानव के बीच रागात्मक तादात्म्य स्थापित हो तथा हम अखण्ड मानवता के अंग बनें। यदि हम मानसिक दृष्टि से स्वतन्त्र न हुए तो राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं। विविध भाषा-भाषी भारत की आत्मा सदा अखण्ड रही है। सांस्कृतिक, नैतिक और दार्शनिक दृष्टि से भारत सदा एक रहा। अतः राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होकर यदि हम सांस्कृतिक दृष्टि से देश को स्वतन्त्र नहीं रख सके तो अहं स्फीत होगा और हम विकास कुछ भी न कर सकेंगे। अतः हमें वही पुस्तकें चाहिए जो इस पीढ़ी के मनुष्य को मनुष्य बना सकें, हमारी भावी पीढ़ी को रागात्मक तादात्म्य की अमूल्य निधि प्रदान कर सकें, उसे नैतिक दृष्टि से पंगु और विकलांग न होने दें। एक ही उत्कृष्ट पुस्तक अनन्त युग तक मानव को सच्चा भाव, उदात्त विचार, उत्कृष्ट जीवन-दर्शन तथा सच्चा स्वप्न दे सकती है। अतः हमें यह देखना होगा कि कैसी पुस्तकें हमारे विद्यार्थियों को पढ़ायी जाती हैं, कैसी पुस्तकों का हमारे पुस्तकालयों में संग्रह हो रहा है। तभी ऐसे समारोहों की उपयोगिता है। अन्यथा यदि उत्कृष्ट बहिरंगवाली इतनी पुस्तकें आप प्रकाशित कर लें जिनसे समुद्र पट जाये, तो भी उसका कोई अर्थ नहीं। यद्यपि भारत बहुभाषा-भाषी देश है, किन्तु भाषा तो केवल माध्यम मात्र है, भावों और विचारों को वहन करनेवाला वाहन मात्र है। वाहन के प्रश्न को लेकर संघर्ष का सूत्रपात होने पर साहित्य की पराजय हो जायगी। साहित्य तो भाषा को रूपरेखा प्रदान करता है। भाषा साहित्य नहीं है।

उत्कृष्ट पुस्तक की पहचान बताते हुए आपने कहा कि महान पुस्तक वही है जो समष्टि को स्पर्श कर सके, अन्तर्राष्ट्रीय हो सके। जिस ग्रन्थ के विचार को प्रत्येक मानव कल्याणकारी समझे तथा जिस पुस्तक की भावना को वह अपनी भावना समझे वही उत्कृष्ट है। पुस्तक ऐसा साधन है जो मनुष्य को ऐसे ढाल पर लाकर खड़ा कर सकता है जहाँ से वह लुढ़कता हुआ अतल गर्त में पहुँच सकता है अथवा ऐसी ऊँचाई की ओर अग्रसर हो सकता है कि वह गौरीशंकर के उच्च शिखर पर पहुँच सके।

आपने कहा कि राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह जैसे आयोजनों के अवसर पर हमें उन राष्ट्रों की पुस्तकों को भी देखना चाहिये जो राष्ट्र बन रहे हैं, विकसित हो रहे हैं और प्रगति कर रहे हैं। हमें यह देखना चाहिये कि वे देश अपनी वर्तमान और भावी पीढ़ी को कैसे ग्रन्थ और कैसी पुस्तकें प्रदान कर रहे हैं। प्राविधिक और यांत्रिक शिक्षा की भी आवश्यकता है। पर, हमें मनुष्य को यंत्र नहीं बनाना है। यंत्र चाहे कितना भी रहस्यमय और महत्त्वपूर्ण हो, पर उसका चालक मनुष्य ही होगा। उसे हमें मनुष्य बनाना होगा और मनुष्य बनाने के लिए हमें देश को रागात्मक एकता प्रदान करनी होगी। प्रकाशकों से हमारा यही निवेदन है कि वे अपने लेखकों की उपेक्षा न करें। आपको मूल्यवान विचार, उत्कृष्ट ज्ञान, कोमल भाव और सुन्दर स्वप्न प्रदान करनेवाला न तो मुद्रक दे सकता है, न पुस्तक-विक्रेता दे सकता है और न ग्राहक दे सकता है। अतः आप अपने लेखक की कभी भी उपेक्षा न करें। किस्सा-गुलबकावली और तोतामैना से मनुष्य की उदात्त भावना जाग्रत नहीं हो सकती है। अतीत के लक्ष्य में एकता स्थापित रखते हुए साहित्य, विज्ञान और संस्कृति के क्षेत्र में हमें अग्रसर होना है। मेरे निकट सबकुछ मानव-सापेक्ष है। निरपेक्ष ब्रह्म भी हमारे भीतर आकर सापेक्ष हो जाता है। पुस्तक-प्रणयन के पाँचों अंगभूत साधनों — १. लेखक, २ प्रकाशक, ३ मुद्रक, ४ विक्रेता, ५ क्रेता — को सम्मिलित करना है। बिना सत्साहित्य के किसी भी राष्ट्र का उत्थान सम्भव नहीं है, क्योंकि सत्साहित्य

ही अहं की ग्रन्थि को खोल सकता है, उसे समष्टि में समाहित कर सकता है। पुस्तकों का बहिरंग ही उसके लिए सब कुछ नहीं है। तुलसीदास हमारे स्पदन हैं, सूरदास हमारे जीवन के माधुर्य हैं, मीरा हमारी संवेदना को अपने रसमय गीतों से झकझोर देती है। उनकी कृतियों का आधार अच्छा कागज, छपाई या चित्रमयता नहीं है। उनकी कृतियों की संवेदना, राग और ज्ञान-तत्त्व हमारे विचारों को झकझोर देते हैं और हृदय को छू लेते हैं।

आज उच्च साहित्य के प्रणयन की समस्या कितनी जटिल हो गयी है, इस विषय पर प्रकाश डालते हुए आपने कहा कि आज पुस्तक की स्थिति लेखक, प्रकाशक, मुद्रक, विक्रेता और ग्राहक के बीच पाँचों पांडवों की द्रौपदी जैसी हो गयी है। सभी उसका मूल्यांकन अपनी-अपनी दृष्टि से करते हैं। उनकी दृष्टि प्रायः बहिरंग ही रहती है। ऐसी स्थिति में लेखक भी उनकी दृष्टि में ही लिखने को बाध्य होता है। वह अपने मन की बात नहीं कर पाता। पुराने समय में बात दूसरी थी। लेखक आत्माभिव्यक्ति के लिए लिखता था। अभिव्यक्ति की प्रेरणा उसे परम्परा से सहज में प्राप्त थी। उसके पास ज्ञान, संवेदना और अनुभूति की जो सम्पदा होती थी वह सहज ही दूसरों को दे देने के लिए बाध्य था। गंगा में जिस प्रकार फूल अर्पित कर दिये जाते हैं, मानो उसी प्रकार वह अपने भाव-सुमनों को महाकाल के प्रवाह में अर्पित कर देता था। फिर उससे युग-युग को जो लेना हो ले लें। हमारे प्राचीन युग के अतुलनीय बहुमूल्य विचार भोजपत्रों पर, तालपत्रों पर अंकित हैं। उनमें कौन-सी बाह्य सज्जा है? आज लोग मेक-अप, गेट-अप और मुद्रण-कला को देखकर पुस्तकें लेते हैं। प्रकाशक इन ऊपरी बातों का ध्यान रखते हैं। कोई पुस्तक की अन्तरात्मा में प्रवेश करने की कोशिश नहीं करता। इस तरह हमारा साहित्य अन्तःसंपदा से रिक्त हुआ जा रहा है। लेखक भी प्रकाशकों और ग्राहकों की निम्न रुचि के अनुकूल लिखने के लिए विवश हुआ जा रहा है, क्योंकि आज उसके लिए लेखन आत्माभिव्यक्ति का नैसर्गिक साधन न रहकर जीविकोपार्जन का साधन बन गया है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र का वास्तविक निर्माण नहीं हो सकता। सीपी का महत्त्व तो उसके अन्दर रहनेवाले मोती के कारण ही है। पुस्तक का महत्त्व भी उसमें प्रतिष्ठित आत्मा ही है। हमें यह देखना है कि पुस्तक में उस महान आत्मा की कितनी प्रतिष्ठा हुई है। पुस्तक की आत्मा तो लेखक ही है। पुस्तक को रागतत्त्व, संवेदना और प्राण की संपदा प्रकाशक, मुद्रक, विक्रेता कोई नहीं दे सकता। ग्राहक तो ऊँचा ज्ञान प्राप्त करने की प्रतीक्षा में ही है। उसे वह ज्ञान लेखक के बिना और कौन दे सकता है?

शिक्षामन्त्री का भाषण

सम्मेलन का शुभारम्भ करते हुए प्रदेश के शिक्षामन्त्री आचार्य श्री युगलकिशोर ने कहा कि राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह का उद्देश्य यही है कि हमारी राष्ट्रभाषा में जो पुस्तकें प्रकाशित होती हैं, उन्हें हम पाठकों तक कैसे पहुँचायें।

आपने कहा कि आज हमें पाठकों में पुस्तक पढ़ने की रुचि पैदा करनी है और साथ ही यह भी देखना है कि हमारे प्रकाशन में क्या त्रुटियाँ हैं। विदेशों के प्रकाशकगण इस काम के लिए काफी समय देते हैं और योजनाएँ बनाते हैं, जनता और सरकार का इसमें सहयोग प्राप्त करते हैं। विदेशों में पुस्तक पढ़नेवालों की संख्या बहुत अधिक है। यहाँ यद्यपि कम पुस्तकें छपती हैं, फिर भी पढ़नेवालों की संख्या बहुत कम है। अतः हमें यह देखना होगा कि किस प्रकार की पुस्तकें हम प्रकाशित करें और किस प्रकार की पुस्तकों की जनता की माँग है।

आपने कहा कि राष्ट्रभाषा के माध्यम से उच्च शिक्षा के लिए जिस प्रकार की पुस्तकों की विश्वविद्यालयों और कॉलेजों को आवश्यकता है वैसी उच्च कोटि की पुस्तकें अभी तैयार नहीं हुई हैं। प्रकाशकों और सरकार दोनों को चाहिए कि 'क्लासिकल' पुस्तकों का अनुवाद कराकर विद्यार्थियों और अध्यापकों के सामने प्रस्तुत करें। अन्य प्रदेशों की मातृभाषा में भी उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक पुस्तक प्रकाशित की जाय। हमने इस बात का प्रयास किया कि बी॰ ए॰ तथा एम॰ ए॰ में विभिन्न विषयों की शिक्षा हिन्दी के माध्यम से हो, किन्तु बावजूद हमारी कोशिश के पुस्तकें उस पैमाने और स्तर की उपलब्ध नहीं हो सकीं जिसके द्वारा हिन्दी के माध्यम से शिक्षा दी जा सकती। सरकार के सहयोग से प्रकाशक इस अभाव को दूर करें।

स्वागताध्यक्ष का भाषण

अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक संघ की राष्ट्रीय पुस्तक-समारोह-समिति की ओर से आगतों और अतिथियों का स्वागत करते हुए स्वागताध्यक्ष श्री सत्येन्द्रकुमार गुप्त ने कहा कि भारत ऐसे देश में जहाँ से सारे संसार में ज्ञान, आलोक तथा सभ्यता और संस्कृति फैली, पुस्तकों का अपेक्षाकृत कम प्रसार खटकनेवाली बात है। आधुनिक समय के अति विशाल और व्यापक ज्ञान-भण्डार को केवल श्रुति के सहारे ग्रहण कर लेना अथवा केवल स्मृति में ही संजो रखना सम्भव नहीं है। इसको सुलभ और सुरक्षित रखने का साधन पुस्तकें हैं। यह बड़े हर्ष का विषय है कि अब इसकी ओर ध्यान दिया गया है। आपने पुस्तकों का प्रसार बढ़ाने के लिए इस बात की ओर भी ध्यान आकर्षित किया कि अपने देश में अनेक भाषाओं के साथ-साथ अनेक लिपियाँ भी प्रचलित हैं। साधारणतः हम बोलचाल में तो अन्य भाषा-भाषी लोगों की बातें सुनकर बहुत कुछ समझ लेते हैं परन्तु लिपि की विभिन्नता के कारण पुस्तकों में संग्रहीत ज्ञान तथा विचारों को उस लिपि को न जानने वाले लोग ग्रहण नहीं कर पा रहे हैं। श्री गुप्त ने कहा कि यह कार्य साहित्य का नहीं, बल्कि प्रकाशकों का है कि एक भाषा की पुस्तक को अन्य भाषा की लिपियों में भी प्रकाशित करें।

यह हाल की बात है कि जीवन के इस महत्त्वपूर्ण और बहुत अंशों में उपेक्षित अंग के पोषण के लिए अखिल भारतीय हिन्दी प्रकाशक-संघ ने यह प्रशंसनीय कदम उठाया है। हमें इससे अधिक इस बात की खुशी है कि सारे देश के प्रकाशकों ने भाषा आदि के भेदभाव को भुलाकर इस समारोह को एक साथ मनाने का निश्चय किया है। मुझे आपको सूचित करते हुए प्रसन्नता हो रही है कि बंगाल, मद्रास और बम्बई के प्रकाशक-संघों का भी इस समारोह में सहयोग है तथा देश के साहित्यकारों, साहित्यिक एवं सांस्कृतिक संस्थाओं, जननायकों तथा सरकार के विभिन्न अधिकारियों ने इस आयोजन में अपना योग दिया है। आज का यह समारोह हमारे राष्ट्रीय जीवन की प्रगति का बहुत ही महत्त्वपूर्ण कदम है।

दुनिया के इतिहास को देख डालिये, कभी भी मानव-मस्तिष्क को इतना अधिक सोचने का अवसर नहीं पड़ा जितना कि आज का मानव सोचता है। किसी शताब्दी में मानव-मस्तिष्क इतनी व्यापक सूचनाओं और व्यस्त विचारधाराओं से परिपूर्ण नहीं रहा जितना कि वह आज है। सूचना का आधुनिक संचरण आज इतना व्यापक हो गया है कि दुनिया भर के संवाद और विचारधाराएँ जबरदस्ती हमारे सामने आ खड़ी होती हैं। परिणाम यह हो रहा है कि विश्व के लाखों लोग जाग्रत हो उठे और उनके मन में पढ़ने-लिखने की भावना बढ़ती जा रही है। ऐसी स्थिति में प्रकाशकों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे साहित्यकारों के सहयोग से ऐसा साहित्य प्रकाशित करें जिससे पढ़ने के लिए उत्सुक जनता को समयोचित और ज्ञानवर्द्धक साहित्य प्राप्त हो।

प्रकाशकीय तथा लेखकीय दृष्टिकोण

१६ नवम्बर को 'भारत में पुस्तक-प्रकाशन' विषय पर आयोजित विचारगोष्ठी में एक ओर जहाँ अखिल भारतीय प्रकाशक-संघ के अध्यक्ष श्री कृष्णचन्द्र बेरी ने प्रकाशकीय दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए प्रकाशकों से पुस्तकों के विषय, बाजार का अनुभव, सम्पादन, प्रेसों का चयन, प्रूफरीडिंग आदि विषयों में सचेष्ट रहने का अनुरोध किया, वहाँ दूसरी ओर लेखकीय दृष्टिकोण से तर्कपूर्ण विचार उपस्थित करते हुए साप्ताहिक हिन्दुस्तान के सम्पादक श्री बाँके बिहारीलाल भटनागर ने प्रकाशकों से अपील की कि वे व्यावसायिक दृष्टिकोण का परित्याग करके लेखकों की वय, प्रतिष्ठा और नाम का ध्यान किये बिना उनकी योग्य सामग्रियों का चयन किया करें। गोष्ठी श्री देवनारायण द्विवेदी की अध्यक्षता में सायं-काल ४॥ बजे हुई थी। श्री बेरी ने प्रकाशकीय दृष्टिकोण से बोलते हुए बताया कि प्रकाशन में भारत उत्तरोत्तर उन्नति की ओर बढ़ रहा है। इस समय वह विश्व में प्रकाशन की दृष्टि से चौथे स्थान पर आ गया है। पहला स्थान जर्मनी का और दूसरा रूस का है। आपने कहा कि जब कोई पाण्डुलिपि प्रकाशक के सम्मुख आती है, तो उसके सामने समस्यायें आती हैं सम्पादन की, टाइप चयन

की, मशीन तथा जिल्दसाजी की तथा प्रकाशन के उपरान्त उसकी बिक्री की। पांडुलिपि साफ-सुथरी लिखी हुई अथवा टाइप की हुई हो और उसका उचित रीति से सम्पादन किया गया हो।

अच्छे प्रकाशकों के सम्बन्ध में श्री बेरी ने कहा कि उन्हें पुस्तक का नाम या उपनाम, लेखक की अन्य कृतियों के नाम, लेखक का नाम, अनुवादक का नाम, किस भाषा से अनुवाद किया गया, समर्पण, भूमिका-लेखक का नाम, चित्रकार का नाम, कापीराइट का विवरण, विषय सूची, कितनी प्रतियाँ मुद्रित हुईं, पुस्तक का मूल्य, पुस्तक का कवर-पृष्ठ और मुद्रक का नाम आदि १४ सूत्रों की जाँच सावधानीपूर्वक कर लेनी चाहिए। आपने कहा कि प्रकाशकों को पुस्तकों के सम्पादन की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। श्री बेरी ने कहा कि लेखक से बढ़कर विद्वान व्यक्ति से सम्पादन कराया जाय। श्री भटनागर ने लेखकीय दृष्टिकोण उपस्थित करते हुए कहा कि लेखक कलाकार है, उसकी अपने स्वप्नों की दुनिया है, जिसे वह लेखनी के द्वारा साकार रूप देता है, जिसमें वह कभी सफल होता है और कभी असफल। मानव की सहानुभूति उसके साथ होती है और वह समाज के जीवन का निर्माण करता है। श्री बेरी द्वारा उपस्थित किये गये तर्क 'लेखक से योग्य सम्पादक' की आवश्यकता से असहमति प्रकट करते हुए आपने कहा कि यह संभव नहीं है और न इसकी आवश्यकता है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि सम्पादक की लेखक पर श्रद्धा हो और वह हिन्दी साहित्य में श्रद्धा रखता हो तथा लेखक के प्रति श्रद्धा, सहयोग और मैत्री की भावना रखता हो।

श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन का भाषण

१७ नवम्बर को डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री की अध्यक्षता में आयोजित प्रकाशकीय विचारगोष्ठी में भारत में पुस्तक-व्यवसाय की समस्याओं तथा पुस्तकों के प्रचार और प्रसार के मार्ग की कठिनाइयों और बाधाओं पर प्रकाश डालते हुए भारतीय ज्ञानपीठ के अध्यक्ष श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन ने कहा कि हमारे यहाँ विद्या के लिए प्राचीनतम वेदशास्त्र कोश हैं। उनके संरक्षण, प्रचार और प्रसार के लिए हमारे देशवासियों ने क्या किया। क्या कारण है कि वेद आज के पञ्जाब में अवतरित हुआ किन्तु उसका प्रचार सारे देश में हुआ। प्रचार, प्रसार और मुद्रण आदि किसी भी साधन के उपलब्ध न रहते हुए भी वेदशास्त्रों का प्रचार सारे देश में कैसे हुआ। इस सम्बन्ध में हमारे उन पूर्वजों की बुद्धि का चमत्कार देखिये जिन्होंने वैदिक ज्ञान का, मन्त्रों का संरक्षण करने के लिए उन्हें कण्ठाग्र करने की ऐसी अभिनव और वैज्ञानिक पद्धति निकाली जिसके द्वारा पदपाठ, घनपाठ, वृत्ति, अनुवृत्ति, वृत्यावृत्ति, शब्दक्रम आदि के द्वारा वेद को समूचे देश में प्रचारित और प्रसारित करने में सफलता मिली। हमें उनकी स्मृति, स्मरणशीलता, अध्ययन और अध्यवसाय पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है। वेदों का संरक्षण अनेक शाखाओं और उपशाखाओं में उपर्युक्त पद्धति द्वारा हुआ और समूचे देश में उनका प्रचार-प्रसार भी हुआ। वेदों के उपरांत सम्पूर्ण वेदशास्त्रों के ज्ञान का सार मस्तिष्क में सुरक्षित रखने, परम्परानुसार उसका संरक्षण करने तथा उसका प्रचार-प्रसार करने की दृष्टि से ब्राह्मण - ग्रन्थों के समय सूत्रशैली का चमत्कार सामने आया। एक-एक शब्द और मात्रा के सम्बन्ध में सावधानी बरती जाने लगी। कालान्तर में जब इन सूत्रग्रन्थों के पाठों के सम्बन्ध में भेद उत्पन्न होने लगा तब उस समय सभाएँ होतीं और उन सभाओं में देशभर के विद्वान् पाठों के सम्बन्ध में विचार और निर्णय करते। खासकर जिन वचनों पर धर्म की मान्यता है उनके सम्बन्ध में विचार होता था। अतः आश्चर्य होता है कि इतने विपुल और विविध ज्ञान का संरक्षण उन्होंने लेखन-कला शुरू होने के पूर्व तक कैसे किया।

आपने कहा कि कालांतर में जब लेखन-कला प्रारम्भ हुई तब संग्रहालयों का सूत्रपात हुआ। तक्षशिला और नालन्दा आदि के संग्रहालयों में लाखों की संख्या में ग्रन्थों का संग्रह हुआ। जैन शास्त्र-भण्डारों तथा अन्य ग्रन्थागारों में मैंने बेठनों में सुरक्षित शास्त्रों को देखा है। इन ग्रन्थागारों के लिए ग्रन्थों से प्रतिलिपि करनेवाला लिपिक दृष्टि स्थिर कर गर्दन झुकाये सुन्दर अक्षरों में शास्त्रों को सुरक्षित करने के बाद मानो अन्य लोगों से कहता था कि इन्हें

सुरक्षित रखो और मननपूर्वक पढ़ो। ग्रंथों के प्रचार-प्रसार और संरक्षण की हमारी यही परम्परा रही है।

आपने आगे कहा कि हमारी ग्रन्थ-संरक्षण की उपर्युक्त पद्धति और परम्परा में हमारे उस ऐतिहासिक क्रम से ऐसा समय आया जब सम्पूर्ण शास्त्र और कलाकृतियाँ नष्ट हो गयीं। मानव-सभ्यता के विकास-क्रम में ऐसे समय बहुत आते हैं। इस विनाशलीला के बाद कुछ स्थिरता आने पर पुनः शास्त्र-ग्रन्थों की प्रतियों की खोज होने लगी। जहाँ कहीं भी एक प्रति उपलब्ध हो जाती उसकी कई प्रतियाँ की जातीं। फिर व्रत-समारोहों और उत्सवों में गृहस्थ यह प्रतिज्ञा करता कि हम अमुक शास्त्र की ५० प्रतियाँ या १०० प्रतियाँ अथवा हजार प्रतियाँ करायेंगे और देश के संग्रहालयों को उन्हें समर्पित कर देंगे। जब हमारे पूर्वज यह भलीभाँति जानते रहे हों कि साधनों के अभाव में शास्त्रों, पुस्तकों तथा सद्ग्रन्थों का संरक्षण और प्रचार कैसे हो सकता है तब हमें नयी परिस्थितियों और नये परिवेश में ग्रन्थों के प्रचार-प्रसार के सम्बन्ध में कुछ सोचना आवश्यक है।

अतः अब प्रश्न यह है कि जिसका प्रचार-प्रचार करने की विधि के सम्बन्ध में विचार करने के लिए हम यहाँ एकत्र हुए हैं उसके सम्बन्ध में प्रत्येक लेखक, प्रकाशक और पुस्तक-व्यवसायी पहले यह सोचे कि हम किसका उन्नयन और प्रचार कर रहे हैं। प्राचीन समय में जनसंख्या कम थी, विज्ञान के सब प्रकार के साधन कम थे, पर उस समय के लोगों में इतनी लगन थी कि पढ़ने-सुननेवाले को ग्रन्थ मिल जाते थे। प्राचीन समय में गुरु को बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त था। गुरु और शास्त्र को पहले जमाने में बराबर रखते थे। देव, गुरु और शास्त्र की हम पूजा करते थे, विद्या कंठ में और पैसा गंठ में—हमारा सिद्धान्त-वाक्य था। ज्ञान केवल वही नहीं था जो संग्रहालयों में हो। संग्रहालयों के ज्ञान को तो हम संदर्भमय ज्ञान कहते और समझते हैं। अतः अब विज्ञान के सभी साधनों से सम्पन्न इस युग में हमें जिन पुस्तकों का प्रचार करना है उनके गुणतत्त्व पर हमें ध्यान देना है। जनसंख्या जिस अनुपात से बढ़ रही है, हमें उसी अनुपात से ग्रन्थों का सर्जन करना है। आज ४ लाख १० हजार संस्थाओं में ४ करोड़ विद्यार्थी पढ़ते हैं, उनके लिए पाठ्य-ग्रन्थ चाहिये। आज पाठ्य-ग्रन्थों का सबसे अधिक प्रचार हो रहा है, पर पाठ्य-पुस्तकों में जो धाँधली चल रही है वह सर्वविदित है। लिखनेवाले को यह पता नहीं कि वह क्या लिख रहा है, छापनेवाले को विदित नहीं कि वह क्या छाप रहा है। अशुद्ध, गलत और बिना परिश्रम लिखी पुस्तकें चल रही हैं। हम जो पुस्तकें प्रकाशित करते हैं उनके सम्बन्ध में हमें यह पता नहीं कि जिनका हम प्रचार-प्रसार कर रहे हैं वे कैसी हैं। हमें यह देखना है कि वे हमें क्या जीवन-दृष्टि दे रही हैं। पुस्तक-प्रकाशन से ज्ञान का प्रश्न भले ही हल हो जाय पर जबतक जीवन-दृष्टि नहीं मिलती हम अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सकते। प्रचार-प्रसार के पहले हमें वह जीवन-दृष्टि चाहिये जो हमें हमारी मूढ़ता, परंपरा की मूढ़ता आदि बताये। दलगत राजनीति से उत्पन्न मानसिक दासता फैलानेवाले साहित्य से हमें सावधान रहना है। यह लेखकों और प्रकाशकों का सबसे बड़ा दायित्व है।

हमें यह देखना है कि संसार को आज जिस भय ने ग्रस लिया है उसके लिये साहित्य क्या कर सकता है? जब हम यह मान लेते हैं कि अमुक पुस्तक अच्छा साहित्य है तब हमें यह सोचना चाहिये कि इसका प्रचार-प्रसार कैसे हो? आज देश में अशिक्षा बहुत है और विज्ञान के साधन इतने हैं कि कुशिक्षा का खतरा बहुत है। आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान, भावना और प्रेरणा की दृष्टि से सही साहित्य का सृजन और प्रचार हो। बच्चों के लिए विपुल मात्रा में साहित्य का सृजन हो रहा है। उसकी उत्कृष्टता, चित्रमयता और मनोरञ्जकता का भी हमें ध्यान रखना चाहिए। साथ ही हमें सस्ते मूल्य वाली पुस्तकमाला का अधिकाधिक प्रकाशन करना चाहिए जिससे अल्पवित्तवाले भी पुस्तकें खरीद सकें।

आपने कहा कि पुस्तक मात्र व्यवसाय नहीं वरन् मिशन भी है, अतः हमें ग्राहकों के साथ अच्छा सलूक करना चाहिये और सचाई तथा निष्ठा के साथ उनकी ज्ञान-सम्बन्धी जरूरतें पूरी करनी चाहिये।

श्री देवनारायण द्विवेदी का भाषण

ज्ञानमण्डल लिमिटेड के प्रकाशन-विभाग के व्यवस्थापक श्री देवनारायण द्विवेदी ने कहा कि बंगाल, गुजरात तथा

अन्य प्रदेशों में पुस्तकों का प्रचार-प्रसार अधिक है। पर हिन्दीभाषियों की संख्या अधिक होते हुए भी राष्ट्रभाषा की पुस्तकों का प्रचार-प्रसार अपेक्षाकृत कम है। इस संदर्भ में अक्सर यह कहा जाता है कि हिन्दीभाषियों में पढ़ने कि रुचि बहुत कम है। इसमें पाठकों का ही दोष नहीं है, लेखक और प्रकाशक भी इस काम के लिए उत्तरदायी हैं। पाठक की क्या रुचि है, किस प्रकार की पुस्तकें वे पढ़ना चाहते हैं। रामचरितमानस की लाखों प्रतियाँ आज भी प्रतिवर्ष बिक जाती हैं। शरत-साहित्य के पचासों अनुवाद निकले हैं। काफी संख्या में उनकी बिक्री हुई है। जिस प्रकार की पुस्तक जनता के लिए उपादेय और उसकी रुचि के अनुकूल हो उसका ही प्रकाशन होना चाहिये।

आज लेखक न तो जनरुचि की परख कर साहित्य का सृजन करते हैं और न प्रकाशक वैसी कृतियों के छापने का प्रयास करते हैं। आज तो पाण्डुलिपियाँ आते ही बिना निरीक्षण-परीक्षण के ही प्रकाशक छपाई में हाथ लगा देते हैं। हमारे पूर्वज वैदिक वाङ्मय के बाद जनरुचि और उसके ज्ञान-गांभीर्य के अनुसार उपनिषदों, ब्राह्मणग्रन्थों और स्मृतिग्रन्थों के रूप में पुस्तक-सर्जन का क्रम बदलते रहे। वैदिक कहानियाँ सुन्दर, उद्बोधक, रसमय और नीतिपरक हैं। यदि हम कहानी का ही प्रकाशन करें तो नैतिक दृष्टि न छूटने पाये। केवल घटना-वैचित्र्यों को लेकर हमारे पाठक अपने को तल्लीन नहीं कर पाते।

पुस्तकों के प्रचार-प्रसार के उपायों की चर्चा करते हुए आपने कहा कि प्रचार एक कला है। जो इसमें विज्ञ हैं वे अच्छा प्रचार कर लेते हैं। कोई एक साधन सब पुस्तकों के लिए उपयोगी नहीं हो सकता। पुस्तक-प्रचार के लिए अच्छी पत्र-पत्रिकाओं में आलोचनाएँ प्रकाशित होनी चाहिए। अच्छे प्लेकार्ड, पोस्टर, नोटिस, आदि के द्वारा भी पुस्तक का प्रचार-प्रसार हो सकता है।

अध्यक्ष का भाषण

डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए कहा कि हिन्दी-जगत में हम अभी उत्कृष्ट और उपयोगी पुस्तक के प्रकाशन की दृष्टि से काफी पिछड़े हैं। पाठ्य-पुस्तकों का अवश्य अधिक प्रकाशन और प्रचार-प्रसार होता है, किंतु उसमें कितनी कमियाँ हैं, कितनी अनीति उसमें बरती जाती है। अतः पाठ्य-पुस्तकों के निरीक्षण-परीक्षण-अधिकारी, प्रकाशक और लेखक मिल-जुलकर उत्कृष्ट पुस्तकों का प्रकाशन आरम्भ करें तो धीरे-धीरे हिन्दी-प्रकाशकों का स्तर ऊँचा हो सकता है।

आपने कहा कि पुस्तकों के प्रचार-प्रसार के लिए हर ग्राम-नगर में पुस्तकालय होना चाहिए। हर सम्पन्न व्यक्ति के घर में अच्छे पुस्तकालय होने चाहिए। आध्यात्मिक साहित्य के प्रकाशन के क्षेत्र में अभी बहुत कम काम हुआ है। वेदों का ऐसा अनुवाद प्रकाशित होना चाहिए, जिसमें मूल का भी आनन्द मिले। उपनिषदों और दर्शनों के प्रामाणिक अनुवादों की सस्ती पुस्तकमालाएँ प्रकाशित होनी चाहिए। जर्मनी आदि में पुस्तकों के सस्ते-सस्ते संस्करण उपलब्ध हैं। नागरिकता, कर्तव्यपालन, शील और सदाचार का प्रचार करनेवाले ग्रन्थों की अतीव आवश्यकता है।

श्री करुणापति त्रिपाठी का भाषण

१८ नवम्बर को 'राष्ट्रीय एकता में पुस्तकों की भूमिका' विषय पर भाषण करते हुए श्री करुणापति त्रिपाठी ने कहा कि राष्ट्रीय एकता की भूमिका का तात्पर्य है कि राष्ट्रीय एकता के हेतु क्या आधार प्रस्तुत किये जा रहे हैं। छल-कपट-विहीन सरल बालकों के संस्कारों को प्रारम्भ से ही राष्ट्रीय एकता के हेतु जाग्रत करें। शिक्षा का प्रमुख साधन होने के कारण इस दृष्टि से पुस्तकों की रचना करनी होगी कि वे देश में भावात्मक एकता के लिए भूमि प्रस्तुत कर सकें। आज आर्य और अनार्य के संघर्ष के कारण ही एकता की समस्या है। ५ सौ वर्ष पूर्व आर्य-अनार्य की कोई चर्चा नहीं थी किन्तु इतिहास प्रस्तुत करने के दृष्टिकोण ने इसे बढ़ाया। अंग्रेजों ने इसे प्रज्वलित किया। अतः आवश्यकता इस बात की है कि पुस्तकों की रचना ऐसी दृष्टि से की जाय जो इस प्रकार के भेदों को मिटाकर एकत्व स्थापित कर सकें। शिक्षा के पाठ्य-ग्रन्थों का ऐसा निर्माण हो जिनसे हम उन्हें सुसंस्कृत कर सकें, भेद-बुद्धि मिटा सकें। पाठ्यग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य प्रकार के साहित्य द्वारा भी एकत्व की भावना उत्पन्न करें। आज राष्ट्रीय एकता को उत्पन्न करने में

पुस्तकों को अपना महत्त्वपूर्ण अभिनय प्रस्तुत करना है। लेखक इस महायज्ञ में अपनी आहुति दें।

डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा का भाषण

अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए डाक्टर जगन्नाथ प्रसाद शर्मा ने कहा कि 'राष्ट्रीय एकता की स्थापना में पुस्तकों की भूमिका' शब्द से अभिप्राय यह है कि साहित्य तथा पुस्तक-प्रणयन के माध्यम से इस विशाल देश को कैसे एक सूत्र में बाँध सकते हैं। आज एकता के नाम पर अनेकता को प्रश्रय मिल रहा है। इस विशाल प्रखंड पर एकता स्थापित करना ही कठिन हो रहा है। अपनी सीमा के भीतर हम किस प्रकार संघर्षमयी स्थिति एवं विरोधी तत्त्वों के अतिक्रमण को रोक सकते हैं। पुस्तक दो ही क्षेत्रों में निर्मित एवं प्रसारित होती है। वह है साहित्यसर्जना और शिक्षा का क्षेत्र। इस क्षेत्र में यदि योजनापूर्वक कार्य करें तो बहुत-कुछ सफलता मिल सकती है। रहन-सहन, वेशभूषा, आचार-विचार तथा स्थान की विभिन्नता इस देश में यद्यपि अनेक है किन्तु सबका हृदय, सबके संस्कार, सबके जीवन का दर्शन एक-सा है। इस आन्तरिक एकत्व को उभारकर साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में अपना सकें तभी हमारा कल्याण होगा। भेद-बुद्धि करनेवाले तत्त्वों को आज हमें रोकना होगा। इस विशाल देश की अपनी संस्कृति है, पार्थक्य होते हुए भी एकत्व। देश के सभी भूभाग के निवासियों को हम अपने उपन्यास, नाटक, कहानी के पात्र बनायें; उनके जीवन तथा परिस्थितियों पर साहित्य की रचना करें। इस साहित्यिक तथा सांस्कृतिक निधि को हम रचनात्मक साहित्य के माध्यम से प्रस्तुत करें।

गत १०० वर्ष के भारतीय साहित्य के इतिहास का तुलनात्मक अध्ययन करें तो एक प्रकार की चेतना, एक ही प्रकार का जागरण, एक ही अभिरुचि मिलेगी। मलयालम, उड़िया, हिन्दी सभी के साहित्य में, उनके उपन्यासों में एक ही जीवन बोलता है। युगधर्म की सुरक्षा एवं चेतना सभी साहित्य में दीखती है। नगर-ग्राम की तुलना, उनकी परिस्थितियाँ प्रेमचन्द के समान मलयालम के साहित्य में भी मिलती है।

दूर-दूर फैले हुए भू-भाग के लोगों के अन्तर और बहिः दोनों की चेतनाशक्ति की अभिव्यक्ति करना है। सब साहित्यों के मूलस्रोत संस्कृत की चेतना को हम ग्रहण करें। संस्कृत हमारे देश की भावात्मक एकता की एकमात्र प्रतीक है। कालिदास के प्रकृति-वर्णन को पढ़कर विभिन्न प्रांतों के भिन्न-भिन्न भाषाभाषियों के हृदय में एक-सी भावना उत्पन्न होती है। राजनीतिक कुचक्र, धार्मिक विरोध-भावनाओं के रहते हुए भी हम उत्कृष्ट पुस्तकों के द्वारा राष्ट्रीय एकता स्थापित कर सकते हैं।

२० नवम्बर को श्री राजाराम शास्त्री की अध्यक्षता में 'जीवन में कला का स्थान' विषय पर एक विचारगोष्ठी का आयोजन किया गया था। गोष्ठी के मुख्य वक्ता डाक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने विषय की स्थापना करते हुए कहा कि जीवन में कला का क्या स्थान है, यह विषय हम सबके लिए मूल्यवान है। कला का जीवन के साथ निकटतम सम्बन्ध है। यद्यपि कला की परिभाषाएँ अनेक है, किंतु कला की सामान्य परिभाषा यह है कि सौन्दर्य के रूप में जो अभिव्यक्ति है उसे कला कहते हैं। प्रकृति तथा प्रत्येक वस्तु में रूप प्रधान है। बिना रूप के कोई रचना या सृष्टि नहीं होती। रूपों का समुदाय हमारे चारों ओर स्थित है। मानसी सृष्टि का तात्पर्य इन्हीं रूपों में है। मनुष्य ने सृष्टि के आरम्भ में इन्हीं रूपों की सृष्टि की है, जो उसके जीवन के अंग हैं। आपने कला के स्वरूप-विधान का विश्लेषण करते हुए कहा कि पहले मनुष्य अपने चित्त में कल्पना करता है कि किस प्रकार रूप बनायें, तब वह विभिन्न माध्यमों से उसको अभिव्यक्त करता है। कलाकार का अन्तःस्पर्श उसकी कला की अभिव्यक्ति द्वारा होता है। सत्यं, शिवं, सुन्दरं हमारे सर्वसुन्दर रूप की कल्पना हैं। शिल्पी अपने मन के सौन्दर्य को अपने शिल्प में गढ़ता है। शिल्प हमारे यहाँ एक धार्मिक कर्म है; प्रभु की प्रतिमा की नव रूपमय अभिव्यक्ति है।

आपने आगे कहा कि गौतम बुद्ध को रूपसत्त्व कहते हैं, अर्थात् उन्होंने उस युग को रूप प्रदान किया। शिल्प एवं स्थापत्य के द्वारा हमारे समस्त देश में गुप्त-कला का प्रसार हुआ है। छोटे-छोटे खिलौने, जो राजघाट की

खोदाई से मिले हैं, वे उसी रूपसत्व के परिचायक हैं। कालिदास तथा बाणभट्ट की कृतियों में व्यक्त सौंदर्य उन खिलौनों में दीखता है। सर्वसुलभ मिट्टी के माध्यम से जन-मानस अपने भावों को रूप प्रदान करता है।

आपने कहा कि जनतन्त्र के इस युग में कला सर्व-सुलभ होनी चाहिये। महँगी कला जनता के लिए नहीं होती। हमारे छोटे-छोटे पात्रों के रूप में जो प्रतिदिन के प्रयोग की वस्तुएँ थीं, उनमें भी कितना सौंदर्य है, कितना रूप है। ये पात्र नेत्रों को सुखकर होते हैं, जिनसे मन उत्फुल्ल होता है। प्राचीन समय में भारतीय वस्त्र संसार में प्रसिद्ध थे। गुजरात और काठियावाड़ के छपे वस्त्रों की कलात्मकता सर्वप्रशंसित थी तथा उसकी सर्वत्र माँग थी। अलंकरण कथा की बारह-खड़ी है। छापे की बूटियाँ वस्त्र की कलात्मकता का अलंकरण है। कश्मीर के शाल-दुशालों में भी पहले भारतीय अलंकरण की विशेषता थी। इधर सस्ते अलंकरण का प्रयोग भी यत्र-तत्र दिखायी पड़ता है।

आपने कहा कि वर्तनों, वस्त्रों आदि पर जो कलात्मक चित्र बनाये जाते थे या छपाई होती थी, उसी प्रकार हमारी स्थापत्य-कला भी अति महत्त्वपूर्ण थी। नयी इमारतों के बनाने में भारतीय-स्थापत्य परम्परा है या नहीं, यह भी हमें देखना है। भारत की परम्परा बड़ी बलवती है, जिसके कारण आज भी हमारा समाज प्राणवान है। यदि हम उसको पहचानें और समझें, उसके अर्थ को पहचानें और परखें तथा फिर से राष्ट्र के जीवन में उसे उतारें तो कला की वास्तविक साधना होगी तथा देश का कल्याण होगा। आज तो स्थिति यह है कि प्राचीन भारत के स्थापत्य के इञ्जीनियरिंग के शिक्षा-क्रम में न कोई प्रश्नपत्र हैं और न पढ़ाने की कोई व्यवस्था है। चित्रकला, नृत्यकला, अभिनय-कला, छपाई की कला, मूर्तिकला आदि अनेक ऐसी कलाएँ हैं, जिनमें स्थूल प्रतीकों पर आध्यात्मिकता का आरोपण है। हमारे यहाँ प्राचीन मन्दिरों में कला के द्वारा सारे समाज और देश की भावना व्यक्त की गयी है। अतः हमें कला की भारतीय परम्परा की रक्षा करते हुए साधना करनी है। इसी साधना द्वारा हम कुरूपता से जीवन को बचा सकते हैं। आज जीवन को चारों ओर से कुरूपता ग्रस रही है। उसे इससे बचाने के लिए भारतीय संस्कृति और कला-साधना को ग्रहण करना चाहिए तथा कला के प्रति चेतना को तीक्ष्ण बनाना चाहिए।

शुरुआत हमेशा मुश्किल होती है, क्योंकि अपूर्ण भाषा में से एक ऐसा पूर्ण शब्द छाँटना आसान काम नहीं जो चिरजीवी रहे। हर कविता, हर कहानी, हर उपन्यास और हर निबंध ठीक हर सपने की तरह उस भाषा का शब्द है जिसका हमने अबतक अनुवाद नहीं किया और जो रात के व्यापक अनकहे विवेक, व्याकरणरहित तथा अनंतकाल के नियमहीन शब्द-भंडार की तरह है। धरती की ओर-छोर नहीं, लेकिन इससे भी बड़ा है अहं, जिससे ईश्वर और विश्व दोनों की सृष्टि हुई।

—विलियम सारोयान

—लखनऊ, १८ नवम्बर। उत्तरप्रदेश सरकार ने जनवरी १९६० के बाद लिखी गयी हिन्दी, उर्दू और संस्कृत की पुस्तकों पर पुरस्कार देने का निर्णय किया है। ये पुरस्कार हिन्दी साहित्य-कोष से दिये जायेंगे। हिन्दी की पुस्तकों पर दिये जाने वाले पुरस्कार दो श्रेणियों में होंगे। प्रथम श्रेणी में पाँच-पाँच हजार रुपये के पुरस्कार निम्नलिखित विषयों पर दिये जायेंगे—तुलसी एवं रवीन्द्र पुरस्कार— हिन्दी साहित्य, मोतीलाल नेहरू पुरस्कार—कानून, बीरबल साहनी पुरस्कार—विज्ञान, डॉ० भगवानदास पुरस्कार—दर्शन, मदनमोहन मालवीय पुरस्कार—शिक्षा तथा पंत पुरस्कार—राजनीति एवं अर्थशास्त्र। द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत निम्नलिखित विषयों की पुस्तकों पर ढाई-ढाई लाख रुपयों के पुरस्कार दिये जायेंगे—प्रेमचन्द पुरस्कार--कहानी या उपन्यास, निराला पुरस्कार—महाकाव्य, प्रसाद-पुरस्कार—नाटक, नरेन्द्रदेव पुरस्कार—इतिहास, डॉ० बहल पुरस्कार—विज्ञान एवं बालकृष्ण 'नवीन' पुरस्कार—कविता-संग्रह अथवा आधुनिक साहित्य। इनके अतिरिक्त, हिन्दी में विभिन्न साहित्यिक विषयों पर लिखी पुस्तकों पर पाँच-पाँच सौ रुपये के बीस और पुरस्कार भी दिये जायेंगे। उर्दू की पुस्तकों पर १५०० रुपये का गालिब पुरस्कार, १२०० रुपये का अकबर इलाहाबादी पुरस्कार तथा ८०० रुपये का रामप्रसाद 'बिस्मिल' पुरस्कार दिया जायेगा। इनके अतिरिक्त पाँच-पाँच सौ रुपयों के पाँच और पुरस्कार भी दिये जायेंगे। संस्कृत की पुस्तकों पर तीन पुरस्कार दिये जायेंगे। पहला १५०० रुपये का कालिदास पुरस्कार, १२०० रुपये का गंगानाथ झा पुरस्कार तथा ५०० रुपये का तीसरा पुरस्कार।

—केन्द्रीय वैज्ञानिक अनुसन्धान और संस्कृति मन्त्रालय ने संविधान में उल्लिखित भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी में 'भारतीय एकता' विषय पर १ अप्रैल के बाद लिखे गए नाटकों पर पुरस्कार देने का निश्चय किया है। प्रत्येक भाषा के नाटक पर ४-४ हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया जायगा। नाटक अभिनीत करने पर २ घंटे का होना चाहिए। मंत्रालय किसी भी पुरस्कृत नाटक को अपनी ओर से प्रकाशित कर सकता है। लेखकों को अपनी सहमति लिखित रूप में देनी होगी। प्रकाशनोपरांत पुरस्कार के अतिरिक्त उन्हें रायल्टी भी प्रदान की जायगी। ऐसे नाटक २८ फरवरी १९६२ तक उक्त मन्त्रालय में पहुँच जाने चाहिएँ।

—केन्द्रीय सरकार ने संस्कृत के अध्यापकों के शिक्षण और संस्कृत पढ़ाने के उत्तम उपायों के अन्वेषण के लिए तिरुपति में एक 'केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ' खोलने का निश्चय किया है। इस विद्यापीठ का प्रबन्ध एक स्वशासी संस्था करेगी, जिसका नाम 'केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ तरुपति सोसाइटी' होगा। इस सोसाइटी के अध्यक्ष सहित ११ सदस्य रहेंगे। इन सदस्यों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार करेगी और धन भी केन्द्रीय सरकार ही देगी।

—शिक्षा-मंत्रालय की एक विज्ञप्ति में सातवीं बाल-साहित्य प्रतियोगिता के २८ लेखकों को पुरस्कृत करने की घोषणा की गई है। सात लेखकों को एक-एक हजार रु० के और २१ को पाँच-पाँच सौ रुपए के पुरस्कार दिए जाएँगे। हिन्दी भाषा के पुरस्कृत लेखकों और उनकी पुस्तकों के नाम इस प्रकार हैं—

श्री केशवसागर—आवाज १०००)
(राजपाल एण्ड सन्ज द्वारा प्रकाशित)
श्री रामचन्द्र तिवारी—अपना देश ५००)
(राजपाल एण्ड सन्ज द्वारा प्रकाशित)
श्री राजेश्वर प्रसाद नारायण सिंह
हमारे वन्य पशु ५००)
श्री धर्मपाल शास्त्री
दुनिया के आश्चर्य ५००)

विविधा—३

सम्पादक—बैजनाथ यादव

प्रकाशक—श्रेष्ठ साहित्यागार, पटना-१

मूल्य—पचास नए पैसे

विविधा—३, सम्पादक-प्रकाशक का परिवर्त्तन इस अंक में हुआ है।

कविता-संकलन इधर काफी धड़ल्ले से निकल रहे हैं। इस अंक की प्रायः सभी कविताओं में जीवन-मूल्यों की, थकानेवाली, खोज दृष्टिगत होती है।

प्रभाकर मिश्र की कविता अपने आवयविक संगठन में जीवन्त है; कथ्य-मुखर शिल्प की पहचान उन्हें है। आग्नेय की कविता में सर्वथा अछूते बिम्बों के द्वारा भोक्ता ने वस्तुगत सह-सम्बन्धों में व्यक्ति को सामने रखा है।

सम्पादकीय में शब्द फुदकाये गये हैं; कहीं तथ्यपूर्ण मतव्य-प्रकाश नहीं है।

सबसे दिलचस्प बात, इस संकलन को लेकर, यह कही जा सकती है कि तथाकथित प्रतिष्ठित कवि और नव-लेखन के रणधर्मी संकलनकर्त्ता श्री रणधीर सिनहा की एक कविता श्री टी० ई० ह्यूम की कविता का हिन्दी-रूपान्तर है।

श्री रणधीर सिनहा की कविता यों है—

"आसमान के आँगन में
तारक-बच्चों के बीच
चाँद
उड़ता हुआ गुब्बारा है।"

'स्पेकुलेशन्स' नामक एक पुस्तक है श्री टी० ई० ह्यूम की। इस पुस्तक के अंत में 'Above the Dock' शीर्षक से ह्यूम की यह कविता द्रष्टव्य है—

"Above the quiet dock in mid-might,
Tangled in the tall mast's corded height
Hangs the moon. What seemed so far away
Is but a child's baloon, forgotten after play."

इन दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि श्री रणधीर सिनहा ने अपहरणमूलक नवधर्म का परिचय दिया है, जो नवलेखन की दिशा में अवछनीय है तथा हम उनकी इस नयी शिल्प-क्षमता का स्वागत नहीं करते।

—शिवमणि सुन्दरम्

(१) अर्श मल्सियानी (जीवनी और संकलन)
(२) जगन्नाथ 'आजाद' (")

सम्पादक—प्रकाश पण्डित

प्रकाशक—राजपाल एंड सन्ज, दिल्ली

मूल्य—डेढ़ रुपया—प्रत्येक

(१) उर्दू का ही यह उत्साह बन सकता है कि कविता और उसके कवि के प्रति श्रद्धा तक को धड़ल्ले से दिया जाय। तब जीवनीदेने के प्रति अश्रद्धा की और बात क्या? 'न टटोलने की चीजें टटोलते, न बरतने की चीजें बरतते' जैसा कवि का परिचय, उनके मन के अनुषंग में न पैठनेवाले परिचयदाता की विषवैयोक्ति ही है। यों, काव्य के नाते भी, कवि के वक्तव्य रमणीयार्थ-प्रतिपादक या अनायासित जैसे गद्यगुणी भी नहीं हैं। "ब-गौर देखो तो दुश्मनी के करीब ही दोस्ती मिलेगी"—इस पद में 'ब-गौर देखो' जैसी उँगली-कोंच हिदायत आ जाने से वह भी बात जाती रहती है जिसे हिन्दीवाले 'निन्दक नियरे राखिये' के रूप में बिना किसी हिदायत के मानते आ रहे हैं। ऐसे ही, 'साँस इक चलती हुई तलवार है तेरे बगैर'—इस पंक्ति में साँस को तलवार जैसी दूसरे की गर्दन झटकने वाली चीज कहने का क्या तुक? यों, कहना ही था तो अपने ऊपर धीरे-धीरे रेतते या चीरते चलनेवाली आरी कह लेते साँस को। आखिर, उसमें

रेतते चलने की आवाज का भी साँस से साम्य हो जाता। संपादक ने इस कवि की जीवनी लिखते हुए, इस पद से कवि की रीतिबद्धता सिद्ध की है—"मरकर भी गिरफ्तार-ए-सफर है मेरी हस्ती, दुनिया मेरे पीछे है तो उक्वा मेरे आगे"। पर, यह तो बहुत बड़ी और प्रशंसनीय रीति-मुक्तता है, विशेषकर उर्दू की मोटी रीतियों के मुकाबले तो और भी बारीक रीतिमुक्तता।

"कोई देखे कफसवालों की हालत, उठा गुलशन की जानिब से धुआँ है"—उर्दू के लिये यह काफी प्रचलित 'रीति' है और इतना अधिक कही गयी है कि हिन्दी के भारतेन्दु ही इसपर 'किसी बुलबुल का दिल जला होगा' कहकर काफी ठट्ठा कर चुके हैं। ऐसे ही, "यहाँ हरदम नये जल्वे यहाँ हरदम नये मन्ज़र, ये दुनिया है नई इसको पुरानी कौन कहता है"--जैसी अपने मुँह कही गई परप्रच्छाओं पर "क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति" जैसी रमणीयार्थ ताड़ने की आँखें संकुत पहले ही डाल गया है।

यों, कहा जाय तो यह सारी किताब 'कुतो वा नूतनं वस्तुं" जैसे अर्थों से भरी गयी है, या संकलन में ही झटपट में कनपट्टी में सिन्दूर मार लिया गया है, या कवि ही ऐसा है। उदाहरण के लिये, शुरू की ही लंबी और धड़ंग दस कविताओं को पढ़ लिया जाय और कहा जाय कि 'रात से' 'जाने का' 'कसम' 'तेरे वगैर' आदि में कविता और खासकर 'रीति' वाली कविता के वगैर और सब कुछ ही भरा है कि नहीं?

(२) "अभी तो चश्मे-हसरत वक्त की रफ्तार देखेगी, अभी यह किस तरह कह दें सितमरानों। क्या गुजरी"—निराश वातावरण में आशान्वेषी वक्तव्य ही कवि की प्रमुख ध्वनि है। सम्पूर्ण संकलन के पदों में यही ध्वनि प्रमुख है। हर व्याजोक्ति में कवि इस तरह की ही बात कहता है। प्रातः की प्रतीक्षा में "जी र के इन्हें देख के बुझ जायेगी. इस वज्मे-नशातखेज की कंदील" जैसे कुछेक पद में, रात्रि की आनन्दप्रभा के दर्पों के प्रातःकाल बुझने की जो बात है वह भी अच्छे पश्चात्पद की ध्वनि न होकर अगले संयोग का उत्साह —और उर्दू-रीति से यह पहले वक्तव्य से कुछ अधिक सुगठित भी है। "मुहब्बत में उन्हें अहले-नजर तूफान की हर मौज को साहिल समझते हैं"—यह उर्दू का व्याप्त कथ्य है, क्योंकि यह उतना ही सरल है। और 'आजाद' भी ऐसे ही सरल कवि हैं। इन ऊपर की बातों में 'प्रगतिशीलता' नहीं, बल्कि उसका संस्मरण ही कहा जायगा। हाँ, "इससे पहले कि सुबह फूटे ऐ दोस्त.... इक लम्हा भी हाथों से न छूटे ऐ दोस्त" पूरी तैयारी के साथ 'प्रगतिशीलता' कही जायगी—वासना के प्रति, स्थिति के प्रति और स्थित्यन्तर तक के प्रति पूरी तैयारी के साथ। इस प्रकार, ये सभी प्रसन्न पद हैं।

हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत (१०० प्रसिद्ध कवियों के)
सम्पादक—क्षेमचन्द्र 'सुमन'
प्रकाशक—हिन्द पाकेट बुक्स, शाहदरा, दिल्ली
मूल्य—एक रुपया

'प्रेम' शब्द हिन्दी में वैदिक 'मित्र' शब्द की तरह नपुंसक है, 'आधेनवो धुनयन्ताम्' जैसा लिंगानुपाती या 'मिजाजी' नहीं। मगर संपादक ने 'मिजाजी' अर्थ में ही 'प्रेम' को समझा है, क्योंकि वह 'मानव-मन को गुदगुदा सकें' के अर्थ में ही संकलित कवियों के द्वारा अपने इस 'विचार का बड़े उत्साह से स्वागत' पा सका है; और तदनुसार 'रचनाएँ इस संकलन में समाविष्ट करने की अनुमति भी'। आश्चर्य तो यह है कि ऐसे 'प्रेम' को समझकर इन कवियों ने तदनुसार अपने गीत भी दे दिये। जो मर गये, उनसे 'अनुमति' लेना नहीं हो सकता था, क्योंकि वे ऐसे 'प्रेम' से परे हो गये थे; इसलिये 'प्रसाद' वगैरह 'हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेमगीत' रचने में भी, इस संकलन के द्वारा मुक्त के बजाय 'मुफ्त' मान लिये गये। उनका 'तुम कनक-किरण के अन्तराल से' और निराला का 'स्तब्ध दग्ध मेरे मरु का तरु क्या करुणाकर खिल न सकेगा' और राजेन्द्रकिशोर की 'माना अब न सही जाती तन की ज्वाला' इत्यादि अलिंग-सलिंग सभी इस 'प्रेम' के नाम पर इस संकलन में अँटा लिये गये हैं। 'ब्रज' के बगल के प्रकाशक और सम्पादक द्वारा 'ब्रिज'-किशोर-नारायण तक, इसी नाम से, इसकी सूची और संकलन में "करता भला मनुहार क्या रूठी रही जब रात में" इस ठस्स 'प्रेम' के साथ हैं।

(शेष पृष्ठ ३२ पर)